वीर संवत २५०९
विक्रम संवत् २०३९
ईस्वीसन् १९८३

– द्रव्य सहायक –
श्री श्रीपालनगर संघ ज्ञानखाता (मुंबई)

मूल्य
५० रूपये
प्रतिसंख्या-५००



– : संपादक :–

मुनि पद्मसेनविजय
मुनि मुनिचन्द्रविजय



– प्राप्तिस्थान :–

१. भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति
C/o रमणलाल लालचंद
१३५/१३७ झवेरी बाजार
मुंबई-४००००२

२. भारतीय-प्राच्य-तत्त्व प्रकाशन समिति
C/o शा. समरथमल रायचन्दजी
पिंडवाडा-३०७०२२
स्टे.-सिरोहीरोड (राज.)

३. भारतीय-प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति
शा रमणलाल वजेचन्द
C o दिलिपकुमार रमणलाल
मस्कती मार्केट
अमदाबाद-३८०००२

मुद्रक:-ज्ञानोदय प्रिन्टिंग प्रेस, पिंडवाडा-३०७०२२ (राज.)

प्रकाशकीय निवेदन

सपूर्ण एक युग (५ वर्ष) की दीर्घ तपश्चर्या के फलस्वरूप "प्रवचनसारोद्धार" ग्रन्थरत्न का मुद्रण कार्य समाप्ति का शिखरारोहण कर रहा है यह जान कर विद्वानों का वृन्द हर्ष का अनुभव करेगा इसमें कोई संदेह नहीं है।

सिद्धान्तमहोदधि चारित्र सम्राट् कर्मसाहित्यनिष्णात स्व. प. पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज के मगल सांन्निध्य में हमारी संस्था का श्रीगणेश हुआ। तदनन्तर कई मूल्यवान एवं भारतीय प्राचीन साहित्य के जाज्वल्यमान ग्रन्थरत्नों के प्रकाशनों का हमें अमूल्य लाभ प्राप्त हुआ। दिन-प्रतिदिन हमारी संस्था प्रकाशन के क्षेत्र में ठोस कदम बढा रही है इस का परम श्रेय न्यायविशारद उग्रविहारी प. पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी म०सा० एवं उनके शिष्याग्रणी आगम-प्रकरण रहस्यविद् प. पू. पं श्री जयघोषविजय गणिवर आदि शिष्य समुदाय को है। उनके अमूल्य मार्गदर्शन से हमें प्रकाशन कार्यों में अनेकविध सहायता प्राप्त होती रही है।

'प्रवचन सारोद्धार' टीकासहित ग्रन्थ दे. ला पु. फंड की ओर से चिरपूर्व प्रकाशित था जो कालकला से जर्जर एव दुर्लभ बन चुका था। प. पू. श्रुतोद्धारप्रेमी मुनिराज श्री पद्मसेनविजय महाराज एवं मुनिराज श्री-मुनिचन्द्रविजय महाराज ने नये सिरे से उसका सपादन कार्य हाथ में लिया। प. पू मुनिराजश्री मुनिचद्र-विजयजी ने अनेक हस्तप्रतों में से पाठांतरादि के संचय का महत्वपूर्ण परिश्रम किया। इन दोनों मुनिश्रीओं के उदार सहकार से आज नयी साजसज्जा के साथ प्रवचन सारोद्धार का दूसरा विभाग पूर्णता को प्राप्त कर चुका है

एतदर्थ उपरोक्त सभी संतपुरुषों के प्रति हम कृतज्ञ है। प्रस्तुतग्रन्थरत्न के द्वितीय भाग के संपूर्ण मुद्रणव्यय प्रथम भाग की तरह श्रीपालनगर जैन संघ ट्रस्ट (वालकेश्वर-मुंबई) के ज्ञाननिधि की उदार सहायता से किया गया है, एतदर्थ ट्रस्ट के ट्रस्टी गण और सदस्य धन्यवाद के पात्र हैं और उनकी इस श्रुतभक्ति की हम अनुमोदना करते है। तदुपरात पिंडवाडा प्रेस के संचालक श्री विजयराजजी मोदी और शंकरदासजी आदि अन्य कर्मचारिगण भी ग्रन्थ के सुंदर मुद्रण के लिए यशोभागी है। सहायता देने वाले सभी के प्रति हम कृतज्ञता व्यक्त करते है। शास्त्र के स्वाध्याय द्वारा मुमुक्षुगण अपनी आत्मा को कृतार्थ करें यही शुभेच्छा।

लि०-ट्रस्टीगण
भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति—पिण्डवाडा



महामहिम श्री महावीरस्वामिने नमः । अचिन्त्यचिन्तामणि श्री शङ्खेश्वर पार्श्वनाथाय नमः
परमतारक श्री धर्मनाथस्वामिने नमः
पूज्यपाद विजय सिद्धिसूरीश्वरेभ्यो नमः ।
पूज्यपाद श्रीमद् विजय भद्रसूरीश्वरेभ्यो नमः ।
पूज्यपाद श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरेभ्यो नमः ।

जिन प्रवचन का सार

❋ प्रवचन सारोद्धार ❋

परम कृपालु परमात्मा एवं सद्गुरुवर्यों की असीम कृपा से सम्पादित ग्रन्थरत्न 'प्रवचन सारोद्धार' के इस द्वितीय खण्ड को विद्वानो के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हम आज अतीव आनन्द महसूस कर रहे हैं।

व्याप में छोटा, कलेक्सन में अनूठा

२७६ द्वारो–Chapters में विभक्त करीबन १६०० गाथाओ से समृद्ध यह ग्रन्थरत्न, चर्च्य विषयों की अपेक्षा से, व्याप में छोटा होने पर भी कलेक्सन-संग्रह मे अनूठा है। गागर में सागर। अेन्साइक्लोपेडिया ऑफ जेनिजम् !

इस ग्रन्थरत्न मे इतने विषयो पर सूक्ष्मतम चर्चा की गई है कि इस ग्रन्थ मे क्या क्या आता है यह कहने के बजाय क्या क्या नहीं आता है यह कहना सरल होगा।

चर्च्य विषयो की सूचि–द्वारों एवं उपद्वारों के वर्णन के साथ–हमने विषयानुक्रम में दी है, जिस पर दृष्टि करने से ज्ञात होगा कि समंदर कितना गहरा है प्रवचन सारोद्धार का। और यह भी कहना पडेगा कि इस महान

शास्त्रों के समर्थज्ञाता वृत्तिकार

तत्त्व ज्ञानविकाशिनी टीका–वृत्ति यथार्थ नामवती है। तत्त्व पर प्रकाश अच्छी तरह से डाला है। वृत्ति इतनी तो विशद एवं सरल है कि सामान्य वाचक भी ग्रन्थ के हार्द तक पहुंच सकता है।

वृत्तिकार शास्त्रों के समर्थ ज्ञाता है ऐसा वृत्ति के अवगाहन से निश्चित होता है। वृत्ति में प्रसंग प्रसंग पर आते उद्धरणों की संख्या बहुत बडी है, ५०० से अधिक! कतिपय स्थलों पर ग्रन्थो के नामों के साथ उद्धरण उल्लिखित है, करीबन ६० से अधिक का नामोल्लेख किया है। कुछ स्थलों पर बिना ग्रन्थनाम उद्धरण दिये गये है। ऐसे उद्धरणो के मूलस्रोत की खोज भी हमने यथाशक्य की है एवं ऐसे मूलस्रोतों का उल्लेख उद्धरण के पीछे स्क्वेर ब्रेकेट में दिया हैं।

सभी उद्धरणो की अकारादि क्रम से सूचि—प्राप्त मूलस्रोतों के साथ-परिशिष्ट में दी है, जिस को देखने से खयाल आयेगा कि वृत्तिकार महर्षि ने कहां कहां से शास्त्रपाठ उद्धृत कर कर के एक साथ दे दिये है। श्रद्धा से हम उपकारी ग्रन्थकार के प्रति नतमस्तक हो जाएगे।

वृत्तिकार महर्षि समर्थ प्रतिभाशाली होने से मूलगत शब्दो के भाव को खुलकर, विशद रूप से, 'इदम् अत्र हृदयम्, अयं भावः' कह कर खोलते है,

जहां विशेष उहापोह की आवश्यकता होती है, वहां 'ननु' से शङ्कादल उठाकर, जमकर के उत्तर देते है।

जिस स्थल पर मूल आदर्श के पाठ में शास्त्रीयता से विसंवाद दीखा, वहां कह दिया है उन्होंने कि 'यहां आदर्श प्रति में यह पाठ है लेकिन वह ठीक जचता नहीं। 'यहां ऐसा पाठ होना चाहिए' यु कह कर उसकी व्याख्या करते है। एवं स्वव्याख्या को शास्त्राधारों से पुष्ट बनाते है [द्रष्टव्यः परमाणू रहरेणू ... द्वार २५४ गा. १३६१]

जहां व्याख्या दो प्रकार की देखी जाती हैं वहां लिखते है, यहां हम अपने गुरुदेव पास जिस तरह समझे हैं, उस रूप से व्याख्या करते है। अन्य लोग दूसरे रूप से व्याख्या करते है। [द्रष्टव्यः भा. २, पृ १५०, ५५०, ६१९]

वृत्तिः डायजेस्ट या मधुसन्चय

वृत्तिकार महर्षि, जहां सरल एवं विशद विवेचन की आवश्यकता होती है वहां, ऐसा विवेचन प्राचीन ग्रन्थों मे से मिल जाने पर अक्षरशः Note कर लेते है। यह बात इस बात को ध्वनित करती है कि प्रस्तुत कृति एक मधुसञ्चयात्मक कृति है, डायजेस्ट, जहां सम्पादक श्रेष्ठता को चोतरह से गृहित करता है।

विशेष रूप से मां के स्तनपान की उपमा जिसको दी गई है, ऐसी मलयगिरिसूरि महाराज की आगमीय वृत्तिओं में से बहुत चयन किया है। ऐसे स्थलों पर हमने टिप्पण मे निर्देश दिया है।

प्रवचन सारोद्धार के साथ लघु प्रवचन सारोद्धार

परिशिष्ट २ में हमने श्री चन्द्रसूरि महाराज निर्मित लघु प्रवचनसारोद्धार नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ-जिसमें प्रत्याख्यान सम्बन्धी व अशनादि एव अणाहारी चीजों की-चर्चा की गई है-दे दिया गया है।

ग्रन्थकार श्री चन्द्रसूरि महाराज का परिचय हीरालाल कापडिया ने इस तरह दिया है (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ४, पृ १७४)

"श्री चन्द्रसूरिजी मलधारी हेमचन्द्रसूरिजी के शिष्य थे। इन्होंने वि. सं. ११९३ मे 'मुणिसुव्वय चरियम्' भी लिखा है। इसके अतिरिक्त 'खेत्तसमास' ('णमिउं वीर' से प्रारंभ होनेवाला) भी लिखा है। आप पूर्वावस्था में लाट देश के किसी राजा के-सभवतः सिद्धराज जयसिह के-मन्त्री (मुद्राधिकारी) थे।

सखित्त सगहणी (संगहणि रयण) भी आप की कृति है। इस ग्रन्थ का अधिकतर पठन–पाठन हो रहा है।

सम्पादन-सशोधन के लिए हमने जिन दो हस्तप्रतो का उपयोग किया है, उनका परिचय इस तरह है।

D यह प्रत डेलानो उपाश्रय (दोशीवाडानी पोल, अमदावाद) स्थित भडार के डा. नं. १७८ क्रमांक ६४८२ की है।

आकार २७×५ सेण्टी मिटर

पत्र संख्या: १२

प्रति पत्र पक्ति : ६

प्रति पंक्ति अक्षरः ३६

स्तवक लिखने के लिए जगह छोडी हैं, लेकिन लिखा नहीं है। पार्श्व भाग में टिप्पण है।

अन्तभागः "इति श्री प्रवचन सारोद्धार नामकं प्रकरणं प्रत्याख्याने कल्पाकल्पभेदसूचकं सम्पूर्णम् । वाचनार्थं मुनि वल्लभविजयजी । संवत १९०६ ना वर्षे फागण शुदि ४ ॥"

L यह प्रत लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर (अमदाबाद) स्थित भण्डार के भेट क्रमांक :८८१७ की है।

आकारः २७.५×१३ सेन्टी मिटर

इति श्री प्रवचनसारोद्धारनामक प्रकरणं। प्रत्याख्याने कल्पाकल्पभेदसूचकं संपूर्णम् ॥ श्री ॥

मु. मुनिश्री मानविजय सपादित व वि. सं० १९९५ में आचार्य श्रीमद् विजयदानसूरीश्वरग्रन्थमाला (१५) में प्रकाशित संस्करण के पाठ भेदों मु. संकेतसे दिये गये है।

प्रस्तुत सम्पादन

प्रस्तुत ग्रन्थ ५६-६० वर्ष पूर्व देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड द्वारा प्रकाशित हुआ था । उसके सम्पादन में कौन सी हस्त प्रतें उपयुक्त की गई थीं उस पर प्रकाश उक्त संस्करण में नहीं डाला गया है ।

इस ग्रन्थ को संशुद्ध करने के लिए विविध स्थलों से प्राचीन हस्तप्रतें प्राप्त करने का प्रयास हमने किया।

दे ला संस्करण के पाठों से विशिष्ट या शुद्ध पाठ मिलने पर हमने उस पाठ को स्वीकार कर मूल में समाविष्ट किया एवं दे. ला संस्करण के पाठ को मु संकेत से टिप्पण में निविष्ट किया।

आगम प्रकरण आदि में जहां जहां प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ समता दृष्टिगोचर हुई, वहां टिप्पण में तुलना दी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ से अन्य ग्रन्थ में मतान्तर देखने पर उसका भी निर्देश टिप्पण में दिया हैं [द्रष्टव्यः भा. १।प. १५८]

कहीं कहीं टीकाकार स्वयं भी मतान्तर का निर्देश करते है, एके, अन्ये लिखकर। वहां एके अन्ये से कौन अभिप्रेत है, वह भी जहां जहां पता चला वहां ग्रन्थोल्लेख पूर्वक दिया है।

सम्पादनोपयुक्त हस्तप्रत:

सम्पादनोपयुक्त इन हस्तप्रतो का विस्तृत विवरण प्रथम खण्ड के प्राक्कथन में विस्तृत रूप से दिया है। संक्षेप में वह इस तरह है।

जे=जेसलमेर की १२९५ वि. सं. में लिखित प्राचीन ताडपत्रीय प्रत।

ता=पाटण, सघवी के पाडे की ताडपत्रीय प्रत।

पा= ,, ,, ,,

सि=आचार्य श्रीमद् विजय सिद्धिसूरीश्वरजी शास्त्रसग्रह की प्रत (जैन विद्याशाला, अमदावाद), वि. सं. १५५१ में लिखित।

वि=उपर मुताबिक वि. सं १५५३ में लिखित।

त्रि=उपर मुताबिक वि सं. १६०८ में लिखित।

पो=श्री जैन पोरवाल पंच ज्ञान भडार, पाडीव (राजस्थान), वि. स. १६४६ में लिखित।

स=सवेगी उपाश्रय, हाजा पटेल की पोल. अमदावाद, वि. सं. १६६२ में लिखित।

वि प.=(विषम पद) खंमात भण्डार, ताडपत्रीय। अनु १५६।

इस दूसरे खण्ड मे, उक्त हस्तप्रतों से अतिरिक्त जिन प्रतो का उपयोग किया गया है, उनका परिचय इस तरह है:

ख=खमात स्थित शान्तिनाथ जैन ज्ञान भण्डार की ताडपत्रीय प्रत.

१४"×२"। १३४ से २०६ द्वार तक। अनु. १५५।

R=राधनपुर (जैनशाला ज्ञानभण्डार), १०॥"×४।" डा० २५, अनु. ४४१, पत्र ३७१, प्रति पंक्ति ५३ अक्षर

D=उपर मुताबिक डा० १४, अनु० २८२।

एक गाथा के लिए

गाथा क्रमांक १०१३ (द्वार क्रमांक १५७ में 'मोत्तूण ओही...... ....गाथा आती है। इस द्वार की १००६ से १०२७ तक की गाथाए उत्तराध्ययन निर्युक्ति में से ली हुई है। इसमें १०१३ क्रमांक की गाथा की व्याख्या चूर्णिकार महर्षि ने नहीं की है। वादिवेताल शान्तिसूरि महाराज ने भी उत्तराध्ययन वृत्ति में लिखा है कि यहा 'मोत्तूण ... ..' गाथा है, लेकिन इसका अर्थ चूर्णिकार ने नहीं लिखा है इसलिए लिखते नहीं है।

इस प्रकार इस गाथा की व्याख्या कहीं भी दृष्टिगोचर न होने से हमारे लिए यह समस्या हुई कि इस गाथा के विविध पाठों में से किस पाठ को स्वीकृत करें। बाद में एक पाठ को उपर स्वीकृत कर दूसरे पाठों को टिप्पण में स्थान दिया लेकिन हमें सतोष नहीं हुआ।

पाटणस्थित हेमचन्द्राचार्य ज्ञानमन्दिर से उत्तराध्ययन निर्युक्ति की हस्तप्रतें नीकलवाकर देखी, तो भी समस्या ज्यों कि त्यो रही, क्योकि दो प्रतो मे भिन्न-भिन्न पाठ मिले।

तत्पश्चात्, प्रवचन सारोद्धार की श्री उदयप्रभसूरि कृत विषमपदवृत्ति को हस्तप्रत हमने देखी तों वहां उक्त गाथा का अर्थ मिला।

यह सामग्री प्रस्तुत द्वार छप जाने के बाद ध्यान में आने से वहां हम नही दे सके है। परिशिष्ट १-विशेष टिप्पण में उस सामग्री को रख दिया है। (द्रष्टव्यः पृ. ६७६)

आभार वचन

पूज्यपाद शासन प्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय ॐकारसूरीश्वरजी महाराजा, पूज्यपाद वर्धमान तपोनिधि आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजा एव आगम विशारद पूज्य पंन्यास प्रवर श्री जयघोष विजयजी महाराज की प्रेरणा से हमने प्रस्तुत सम्पादन कार्य शुरु किया था, जो देव-गुरुकृपा से आज परिपूर्ण हुआ।

महामनीषी आगम प्रज्ञ पूज्यपाद मुनिराज श्री जम्बू विजयजी महाराज साहब ने स्थलस्थल पर मार्गदर्शन दे कर हमें उपकृत किया है ।

सम्पादन के इस श्रमसाध्य कार्य में पूज्यपाद विद्वद्वर्य अरविन्द विजयजी महाराज. पूज्यपाद विद्वद्वर्य जयानन्द विजयजी महाराज, विद्वद्वर्य मुनिराजश्री यशोविजयजी म. सा. विद्वद्वर्य मुनिराजश्री जयसुन्दरविजयजी महाराज, मुनिराज श्री भाग्येश विजयजी महाराज एवं मुनिराज श्री महायशविजयजी महाराज का अच्छा सहयोग मिला ....साध्वीजी श्री सुव्रताश्रीजी, साध्वीजी श्री महायशाश्रीजी आदि ने भी संशोधन में सुचारु श्रम लिया था।

खंभात से ताडपत्रीय प्रत प्राप्त करवाने में पं छबीलदासभाई, डेला भण्डार व ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अमदावाद से हस्तप्रत प्राप्त कराने में मुनिराज श्री रैवत विजयजी (पू. आचार्यदेव श्री अरिहन्त-सिद्ध सूरि महाराजा के शिष्य) व पं. बाबुलाल सवचंदभाई ने अच्छा सहयोग दिया। सभी हस्तप्रत प्राप्त कराने वाले भिन्न भिन्न ज्ञान भण्डार के कार्यवाहकों को श्रुतभक्ति को साधुवाद देते है ।

जिन प्रवचन के सारभूत प्रकरण रूप इस ग्रन्थरत्न का अध्ययन श्रमण-श्रमणी संघ में बडे पैमाने पर हो यही शुभकामना के साथ–

पूज्यपाद संघस्थविर आचार्यदेव श्रीमद्
विजयभद्रसूरीश्वरजी महाराज के
शिष्यरत्न पू. मुनिराज श्री जिनचन्द्र
विजय महाराज के शिष्य
मुनि मुनिचन्द्र विजय

पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय
भुवनभानूसूरीश्वरजी महाराजा
के शिष्य
मुनि पद्मसेनविजय

❀ सम्पादनोपयुक्त ग्रन्थसूचिः ❀

१ अंगविज्जा (प्र. प्राकृतटेक्ष सोसायटी)
२ अगुल सत्तरी (मुनिचन्द्रसूरिविरचिता प्र. महावीर जैन सभा खंभात, इ. स. १९१८)
३ अनुयोगद्वारसूत्रम् (प्र. महावीर विद्यालय)
४ अनुयोगद्वारसूत्रम् (मलधारगच्छीयाचार्य-हेमचन्द्रसूरिकृतवृत्तियुतम् प्र दे ला.)
५ अभिधानचिन्तामणिः
६ आचाराङ्गसूत्रम् (श्रीशीलाचार्यवृत्तियुतम)
७ आवश्यकसूत्रम् (श्रीमलयगिरिसूरिविवरण-युतम् , प्र. आगमोदय समिति वि. सं. १९८४-९२)
८ आवश्यक निर्युक्तिदीपिका (माणिक्यशेखरसूरि-कृता, प्र. आचार्य श्रीमद्विजयदानसूरीश्वरजी ग्रन्थमाला गोपीपुरा, सूरत, वि. सं १९९७)
९ आवश्यकसूत्रम् (आवश्यकनिर्युक्ति-हरिभद्रसूरि-कृतवृत्तियुतम् , आगमोदयसमिति बि. स. १९७२-३)
१० उत्तराध्ययनसूत्रम् (श्रीशान्तिसूरिवृत्तियुतम् , प्र. देवचन्द्र लालभाई वि. सं. १९७२-३)
११ उपदेशपदप्रकरणम् (मुनिचन्दसूरिवृत्तियुतम् प्र. मुक्तिकमलजैनमोहनमाला वि. स. १९७६)
१२ उपासकदशांगसूत्रम् [सटीकम्]
१३ ओघनिर्युक्तिः (द्रोणाचार्यवृत्तियुता)
१४ औपपातिकसूत्रम (श्रीअभयदेवसूरिकृतवृत्तियुतम प्र. आगमोदयसमिति ई. स. १९१६)
१५ ऋग्वेद (पुरुषसूक्त सायणभाष्ययुक्तः वैदिक संशोधन मंडल पूना)
१६ कर्मग्रन्थः देवेन्द्रसूरिकृतस्वोपज्ञटीकायुतः वि. स. १९९० भा. १ कर्मग्रन्थ १–४ प्र. जैन आत्मानन्दसभा)
१७ कर्मग्रन्थः (भा. २, कर्मग्रन्थ ५-६, प्र. जैन-धर्मप्रचारकसभा वि. सं १९६८)

१८ कर्मग्रन्थ : (चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्थाः प्र. भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिंडवाडा)
१९ कल्पसूत्रम् (कल्पद्रुमकलिकावृत्तियुत्तम)
२० गोम्मटसार : (कर्मकाड, प्र. रायचन्द्र शास्त्रमाला मुंबई)
२१ चेइअवंदणमहाभास
२२ जइ जीयकप्पो (साधुरत्नसूरिवृत्तियुतः प्र.आगमोद्धारकग्रन्थमाला वि.स.२०२८)
२३ जम्बूद्विपप्रज्ञप्तिसूत्रम् (श्री शान्तिचन्द्रीयवृत्तियुतम् प्र. देवचन्द्र लालभाइ जैन पुस्तकोद्धारक सस्था, स.१९७६)
२४ जीतकल्पचूर्णिः
२५ जीवसमासप्रकरणम् (सटीकम् प्र. आगमोदयसमिति ग्रन्थोद्धारकसस्था सं१९८४)
२६ जीवाभिगमसूत्रम् (सटीकम्)
२७ ज्योतिष्करण्डक (वृत्तियुतः)
२८ ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्रम् (वृत्तियुतम)
२९ तत्वसग्रहपञ्जिका (प्र.ओरिअेन्टल सिरिज वडोदरा)
३० तत्वार्थभाष्यम्
३१ तत्त्वार्थसूत्रम् (सर्वार्थसिद्धिटीकायुतम , प्र भारतीय ज्ञानपीठ)
३२ तत्त्वार्थसूत्रम् (सिद्धसेनगणिटीकायुतम्)
३३ तन्दुलवैचारिकसूत्रम् वृत्त्यवचूरिसहितम्. प्र. देवचन्द्र लालभाई वि. स १९७८)
३४ त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरितम्
३५ दशवैकालिक सूत्रम् (हरिभद्रसूरिरचितवृत्तियुतम्, प्र. देवचन्द्र लालभाइ)
३६ दशाश्रुतस्कन्ध
३७ दसकालियसुत्तम् (अगस्त्यसिंहसूरिरचितचूर्णियुतम् , प्र. ऋषभदेव केशरीमल)
३८ देशी शब्दसंग्रह (आ श्री हेमचन्द्रसूरिरचित देशीनाममाला, प्र. युनिवर्सिटी ग्रथ निर्माण बोर्ड)
३९ धातुपारायणम (आ. श्री हेमचन्द्रसूरिरचितम्, प्र. गिरधरनगर जैन सघ अमदाबाद)
४० धर्मबिन्दुप्रकरणम
४१ धर्मरत्नप्रकरणम (स्वोपज्ञवृत्तियुतम्)
४२ धर्मसंग्रहः [स्वोपज्ञवृत्तियुतः प्र. देवचन्द्र लालभाइ भा १-२ वि. स.१९७१-४)

४३ धर्मसंग्रहः (गूर्जरानुवादसहितः प्र जैनविद्याशाला, अमदाबाद)
४४ धर्मसंग्रहणी वृत्तिः (प्र. आगमोदयसमिति, सूरत)
४५ ध्यानशतकम्
४६ नन्दिसूत्रम् (आ. श्री मलयगिरिसूरिवृत्तियुतम्, प्र. आगमोदय समिति, सूरत)
४७ नवतत्त्वप्रकरणम्
४८ निशीथसूत्रम् (भाष्य-चूर्णियुतम्, प्र. सन्मति-ज्ञानपीठ आगरा, वि. स. २०१४-२०१६)
४९ पक्खीसुत्त
५० पञ्चवस्तुकः (स्वोपज्ञवृत्तियुतः, प्र. देवचन्द्र लालभाइ वि. सं. १९८३)
५१ पञ्चसग्रहः (स्वोपज्ञ-मलयगिरिवृत्तियुतः प्र. मुक्ताबाइ ज्ञानमंदिर, वि. सं. १९९३)
५२ पञ्चाशकप्रकरणम् (अभयदेवसूरिकृतवृत्तियुतम्, प्र. जैन धर्मप्रसारकसभा वि. सं. १९६९)
५३ पञ्चाशकप्रकरणम् (चूर्णियुतम् प्र. देवचन्द्र-लालभाइ वि. सं. २००८)
५४ सिरि पयरणसंदोह (प्र. ऋषभदेव केशरीमल)
५५ पाणिनीयव्याकरणम्
५६ पिण्डविशुद्धिः (वृत्तियुता, प्र. आ. श्रीमद्विजय-दानसूरीश्वरजी ग्रन्थमाला वि. स. १९९५)
५७ पिण्डनिर्युक्तिः (मलयगिरिसूरिरचितटीकायुता प्र. देवचन्द्र लालभाइ वि स. १९७४)
५८ प्रज्ञापनासूत्रम् (मलयगिरिसूरिवृत्तियुतम्)
५९ प्रमाणमीमांसा (प्र. भारतीय प्राच्यविद्याभवन काशी
६० प्रशस्तिसंग्रहः
६१ प्रवचनसारः
६२ प्रश्नव्याकरणसूत्रम् (अभयदेवसूरिटीकायुतम् प्र. आगमोदय समिति, वि. स. १९७५)
६३ बोधिचर्यावतारः (असियाटिक सोसायटी कलकत्त)
६४ बृहत्कल्पसूत्रम् (निर्युक्ति-भाष्य-वृत्तियुतम्, प्र. जैन आत्मानन्दसभा वि स. १९८९-९८)

६६ बृहत्संग्रहणी [जिनभद्र-क्षमाश्रमणकृता, मलयगिरि-सूरिटीकायुता प्र. जैन आत्मानन्दसभा वि. स १९७३)

६७ बृहत्संग्रहणी (देवभद्रीयवृत्तियुता)

६८ भगवतीसूत्रम् (अभयदेवसूरिवृत्तियुतम् प्र. आगमोदयसमिति वि. स. १९७४-७७)

६९ महापच्चक्खाणपयन्नो

७० महाभारतम् (प्र निर्णयसागर प्रेस मुंबइ)

७१ योगबिन्दुप्रकरणम्

७२ योगशास्त्रम् [स्वोपज्ञवृत्तियुतम्, सम्पादक श्री जम्बू-विजयजी, भा. १-२, प्र. जैन-साहित्यविकासमण्डल वि सं. २०३३]

७३ योगशास्त्रम् [स्वोपज्ञवृत्तियुतम्, प्र. जैनधमप्रसारकसभा वि. सं. १९८२)

७४ लोकप्रकाशः

७५ वसुदेवहिण्डिप्रथमखण्डम् (प्र. जैन आत्मानन्दसभा वि. स. १९८६)

७६ विचारसारप्रकरणम् (प्रद्युम्नसूरिविरचितम् प्र. आगमोदयसमिति वि. स. १९७९)

७७ विंशतिवंशतिका

७८ विषमपदार्थावबोधः (प्रवचनसारोद्धारस्य टिप्पनकम् . हस्तलिखितम्)

७९ विशेषशतकम् समयसुन्दरगणिकृतम् प्र. शेठ लखमीचन्द अमरचन्द आगरा वि. स. १९७३)

८० विशेषावश्यकभाष्यम् (स्वोपज्ञविवरणयुतम्; कोट्याचार्यवादिगणिकृतपूर्तिरूप-विवरणसहितं च, प्र. ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर

८१ व्यवहारसूत्रम् (भाष्य-वृत्तियुतम्, प्र. वकिल त्रिकमलाल उगरचन्द्र अमदावाद वि. स. १९८४)

८२ शास्त्रवार्तासमुच्चयः (प्र. देवचन्द्र लालभाइ सूरत)

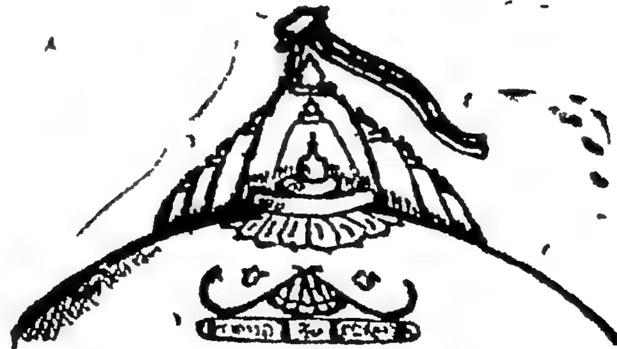
८३ श्रावकधर्मविधि प्रकरणम् (प्र. केशरबाइ जैन ज्ञानमंदिरपाटण वि. सं. १९७६)

८४ श्रावकप्रज्ञप्तिः (प्र. ज्ञानप्रसारमण्डल वि सं. १९६१)

८५ श्रावक व्रतभङ्गप्रकरणम्

८६ षड्दर्शनसमुच्चयः (गुणरत्नसूरिवृत्तियुतम्, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ)

॥ १५ ॥



॥ विषयानुक्रमः ॥

 **प्रवचन सारोद्धार:** 



॥ श्री जिनाय नमः ॥

श्रीमद्देवभद्रान्तिषच्छ्रीमत्सिद्धसेनसूरिसूत्रितटीकाविभूषितः

श्रीमन्नेमिचन्द्रसूरीश्वरविनिर्मितः



प्रवचनसारोद्धारः



[द्वितीयः खण्डः]

इदानीं 'दस पायच्छित्ताइं' ति अष्टनवतं द्वारमाह—

आलोयण १ पडिक्कमणे २ मीस ३ विवेगे ४ तहा विउस्सग्गे ५ ।
तव ६ च्छेय ७ मूल ८ [1]अणवट्ठिया य ९ पारंचिए चेव १० ॥७५०॥

[आव. नि. १४१८, पञ्चाशक १६।२ व्यवहारभा. ५३]

आलोइज्जइ गुरुणो पुरओ कज्जेण [2]हत्थसयगमणं १ ।
समिइपमुहाण मिच्छाकरणे कीरइ पडिक्कमणं २ ॥७५१॥

---

१ अणवठ्ठया-इति आव. निर्युक्तौ पञ्चाशके च पाठः । अणवठियाय-इति व्यवहारभाष्ये (गा. ५३) पाठः ॥
२ हत्थसयगमणे-मु. ॥

सद्दाइएसु [1]रागाइविरयणं [2]साहिउं गुरूण पुरो ।
दिज्जइ मिच्छादुक्कडमेयं मीसं तु पच्छित्तं ३ ॥७५२॥
कज्जो अणेसणिज्जे गहिए असणाइए परिच्चाओ ४ ।
कीरइ काउस्सग्गो दिट्ठे [3]दुस्सिविणपमुहंमि ५ ॥७५३॥
निव्विगयाई दिज्जइ पुढवाइविघट्टणे तवविसेसो ६ ।
तवदुद्दमस्स मुणिणो किज्जइ पज्जायवुच्छेओ ७ ॥७५४॥
पाणाइवायपमुहे पुणव्वयारोवणं विहेयव्वं ८ ।
ठाविज्जइ नवि एसुं कराइघायप्पदुट्ठमणो ९ ॥७५५॥
पारंचियमावज्जइ सलिंगनिवभारियाइसेवाहिं ।
अव्वत्तलिंगधरणे [4]बारसवरिसाइं सूरीणं १० ॥७५६॥
नवरं दसमावत्तीए नवममज्झावयाण पच्छित्तं ।
छम्मासे जाव तयं जहन्नमुक्कोसओ वरिसं ॥७५७॥
दस ता अणुसज्जंती जा चउद्दसपुव्वि पढमसंघयणी ।
तेण परं मूलंतं दुप्पसहो जाव चारित्ती ॥७५८॥

१ रागाइविरइयं-ता. ॥ २ साहियं-ता. । साहिय-सं. ॥ ३ दुस्सविण० मु. ॥ ४ बारसवरिसाई-सं. ॥

'आलोये'त्यादिगाथानवकम् । 'आङ्–मर्यादायां सा च मर्यादा इयम्–

/\ 'जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुअं भणइ । तं तह आलोएज्जा मायामयविप्पमुक्को य ॥१॥
[ओघनि. ८०१]

अनया मर्यादया 'लोचृ दर्शने' चुरादित्वात् णिच्, लोचनं लोचना–प्रकटीकरणं [2]आलोचना, गुरोः पुरतो वचसा प्रकाशनमिति भावः । यत्प्रायश्चित्तमालोचनामात्रेण शुद्ध्यति तदालोचनार्हतया कारणे कार्योपचारा[3]दालोचनम् १ ।

तथा प्रतिक्रमणं–दोषात्प्रतिनिवर्तनम् अपुनःकरणतया मिथ्यादुष्कृतप्रदानमित्यर्थः तदर्हं प्रायश्चित्तमपि प्रतिक्रमणम् । किमुक्तं भवति ?–यत् प्रायश्चित्तं मिथ्यादुष्कृतमात्रेणैव शुद्धिमासादयति न च गुरुसमक्षमालोच्यते, यथा सहसाऽनुपयोगतः श्लेष्मादिप्रक्षेपादुपजातं प्रायश्चित्तम्, तथाहि–सहसाऽनुपयुक्तेन यदि श्लेष्मादि प्रक्षिप्तं भवति न च हिंसादिकं दोषमापन्नस्तर्हि गुरुसमक्षमालोचनामन्तरेणापि मिथ्यादुष्कृतप्रदानमात्रेण स शुद्ध्यति तत्प्रतिक्रमणार्हत्वात्प्रतिक्रमणम् २ ।

यस्मिन् पुनः प्रतिसेविते प्रायश्चित्ते यदि गुरुसमक्षमालोचयति आलोच्य गुरुसन्दिष्टः प्रतिक्रामति पश्चाच्च मिथ्यादुष्कृतमिति ब्रूते तदा शुद्ध्यति तदालोचनाप्रतिक्रमणलक्षणोभयार्हत्वान्मिश्रम् ३ ।

/\ यथा बालो जल्पन् कार्यमकार्यं च ऋजुकं भणति । तथा तदालोचयेत् मायामदविप्रमुक्तश्च ॥१॥

१ तुलना-व्यवहारवृत्तिः (भा. १ गा. ५३, पृ. २०) । जइजीयकप्पसू. वृत्तिः प.४ ॥

२ आलोचनं-इति व्यवहारवृत्तौ (भा. १, पृ. २० B) जइजीयकप्पवृत्तौ अपि पाठः ॥ ३ ०दालोचना-मु. ॥

तथा विवेकः—परित्यागः, यत्प्रायश्चित्तं विवेक एव कृते शुद्धिमासादयति नान्यथा, यथा आधाकर्मणि गृहीते, तद्विवेकार्हत्वाद्विवेकः ४ ।

तथा व्युत्सर्गः—कायचेष्टानिरोधः, यद् व्युत्सर्गेण—कायचेष्टानिरोधोपयोगमात्रेण शुद्ध्यति प्रायश्चित्तं यथा दुःस्वप्नजनितं तत् व्युत्सर्गार्हत्वाद् व्युत्सर्गः ५ ।

'तवे'त्ति यस्मिन् प्रतिसेविते निर्विकृतिकादिषण्मासान्तं तपो दीयते तत्तपोऽर्हत्वात्तपः ६ ।

यस्मिन् पुनरापतिते प्रायश्चित्ते सन्दूषितपूर्वपर्यायदेशावच्छेदः शेषपर्यायरक्षानिमित्तं दुष्टव्याधिसन्दूषितशरीरैकदेशच्छेदनमिव शेषशरीरावयवपरिपालनाय क्रियते तच्छेदार्हत्वाच्छेदः ७ ।

'मूल' त्ति यस्मिन् समापतिते प्रायश्चित्ते निरवशेषपर्यायोच्छेदमाधाय भूयो महाव्रतारोपणं तन्मूलार्हत्वान्मूलम् ८ ।

येन पुनः प्रतिसेवितेन उत्थापनाया अप्ययोग्यः सन् कञ्चित्कालं न व्रतेषु स्थाप्यते यावन्नाद्यापि प्रतिविशिष्टं तपश्चीर्णं भवति पश्चाच्च चीर्णतपास्तद्दोषोपरतौ व्रतेषु स्थाप्यते तदनवस्थार्हत्वाद[1]नवस्थितप्रायश्चित्तम्, यद्वा यथोक्तं तपो यावन्न कृतं तावन्न व्रतेषु लिङ्गे वा स्थाप्यते इत्यनवस्थाप्यः, तस्यभावोऽनवस्थाप्यता ९ ।

'पारंचिए चेव' त्ति 'अंचू गतौ' यस्मिन् प्रतिसेविते लिङ्गक्षेत्रकालतपसां पारमञ्चति तत्पाराञ्चितम्, पाराञ्चितमर्हति 'तदर्हती'ति (पा० ५-१-६३) सूत्रेण डः पाराञ्चितम्, यद्वा पारम्—अन्तं प्रायश्चित्तानां

१ ०नवस्थताप्रायश्चित्तं-सं. । तदनवस्थित्वादनवस्थितप्रायश्चित्तं-इति व्यवहारवृत्तौ (भा. १, प. २०) पाठः ॥

तत उत्कृष्टतरप्रायश्चित्ताभावादपराधानां वा पारमश्नुति—गच्छतीत्येवंशीलं पाराञ्चि तदेव पाराञ्चिकमिति १० ॥७५०॥

अथैतानि स्वयमेव व्याचष्टे—'आलोज्जइ' इत्यादिगाथाषट्कम् , कार्येण—अवश्यकरणीयेन भिक्षाग्रहणादिना हस्तशतात्परतः—ऊर्ध्वं यद्गमनमुपलक्षणत्वादागमनादि च [1]तदालोचनार्हस्य गुरोः पुरत आलोच्यते—वचसा प्रकटीक्रियते। [2]इयमत्र भावना—गुरुमापृच्छ्य गुरुणाऽनुज्ञातः [3]सन् स्वयोग्यभिक्षा-वस्त्र-पात्र-शय्या संस्तारक-पादप्रोञ्छनादि यदिवा आचार्योपाध्याय स्थविर-बाल ग्लान-शैक्षक-क्षपका-ऽसमर्थ-प्रायोग्यवस्त्रपात्रभक्तपानौषधादि गृहीत्वा समागतो यद्वा उच्चारभूमेर्विहाराद्वा समागतः अथवा चैत्य-वन्दननिमित्तं पूर्वगृहीतपीठफलकादिप्रत्यर्पणनिमित्तं वा बहुश्रुतापूर्वसंविग्नानां वन्दनप्रत्ययं वा संशय-व्यवच्छेदाय वा [4]श्राद्धस्वज्ञात्यवसन्नविहाराणां श्रद्धावृद्ध्यर्थं वा साधर्मिकाणां वा संयमोत्साहनिमित्तं हस्तशतात्परं दूरमासन्नं वा गत्वा समागतो यथाविधि गुरुसमक्षमालोचयतीति। इयं चालोचना गमनागमनादिष्ववश्यकर्तव्येषु सम्यगुपयुक्तस्यादुष्टभावतया निरतिचारस्य छद्मस्थस्याप्रमत्तस्य यतेर्द्रष्टव्या। सातिचारस्य तूपरितनप्रायश्चित्तसम्भवात्। केवलज्ञानिनश्च कृतकृत्यत्वेनालोचनाया अयोगात्।

१ तदालोचर्हस्य—मु.॥ २ तुलना-व्यवहारवृत्तिः भा. १, भाष्य गा. ५७ पृ. २२ B ॥
३ सन् श्रुतोपदेशनोपयुक्तः स्वयोग्य० इति व्यवहारवृत्तौ (भा.१, पृ. २२ B) पाठः॥
४ श्राद्धस्य ज्ञात्य० इति व्यवहारसूत्रवृत्तौ (भा.१, पृ. २२ B) पाठः॥

आह—यानि नामावश्यकर्तव्यानि [1]गमनागमनादिनि तेषु सम्यगुपयुक्तस्यादुष्टभावतया निरतिचारस्य छद्मस्थस्याप्रमत्तस्य किमालोचनया ?, तामन्तरेणापि तस्य शुद्धत्वात्, यथासूत्रं प्रवृत्तेः, सत्यमेतत्, केवलं याश्चेष्टानिमित्ताः सूक्ष्मप्रमादनिमित्ता वा सूक्ष्मा आश्रवक्रियास्ता आलोचनामात्रेण शुद्ध्यन्तीति तच्छुद्धिनिमित्तमालोचना १ ।

तथा समितिप्रमुखाणां सहसाकारतोऽनाभोगतो वा कथमपि प्रमादे सति मिथ्याकरणे—अन्यथाकरणे प्रतिक्रमणं—मिथ्यादुष्कृतप्रदानलक्षणं प्रायश्चित्तं क्रियते । तत्र समितयः पञ्च, तद्यथा—ईर्यासमिति-र्भाषासमितिरेषणासमितिरादानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितिरुच्चारप्रश्रवणखेलसिङ्घानजल्लपारिष्ठापनिकासमितिश्च, प्रमुखग्रहणाद् गुप्त्यादिपरिग्रहः, गुप्तयश्च तिस्रस्तद्यथा—मनोगुप्तिर्वचनगुप्तिः कायगुप्तिश्च । [2]इयमत्र भावना—सहसाकारतोऽनाभोगतो वा ईर्यायां यदि कथां कथयन् व्रजेत्, भाषायामपि यदि गृहस्थभाषया ढड्डरस्वरेण वा भाषेत, एषणायां भक्तपानगवेषणवेलायामनुपयुक्तो भाण्डोपकरणस्यादाने निक्षेपे वा अप्रमार्जयिता अप्रत्युपेक्षिते स्थण्डिले उच्चारादीनां परिष्ठापयिता न च हिंसादोषमापन्नः, तथा यदि मनसा दुश्चिन्तितं स्यात्, वचसा दुर्भाषितं, कायेन दुश्चेष्टितं, तथा यदि कन्दर्पो वा हासो वा स्त्री-भक्त-चौर-जनपदकथा वा तथा क्रोध-मान-माया-लोभेषु गमनं, विषयेषु वा शब्द रूप-रस-गन्ध-स्पर्शलक्षणे[3]ष्व-भिष्वङ्गः सहसाऽनाभोगतो वा कृतः स्यात्तत एतेषु सर्वेषु स्थानेषु आचार्यादिषु च मनसा प्रद्वेषादिकरणे

१ गमनादीनि-मु. ॥ २ तुलना—व्यवहारसूत्रवृत्तिः भा.१, पृ.२३ B ॥ ३ ०ष्वनुषंगः-इति व्यवहारसूत्रवृत्तौ (भा. १, पृ. २३ B) पाठः ॥

वाचा अन्तरभाषादिकृतौ कायेन पुरोगमनादौ तथा इच्छामिथ्यातथाकारादिप्रशस्तयोगाकरणे च मिथ्यादुष्कृतप्रदानलक्षणं प्रायश्चित्तमिति २ ॥७५१॥

तथा शब्दादिषु—शब्दरूपप्रभृतिष्विष्टानिष्टविषयेषु 'रागादिविरचनं' रागस्य—अभिष्वङ्गलक्षणस्य आदिग्रहणाद् द्वेषस्य—अप्रीतिलक्षणस्य मनोमात्रेण करणं गुरूणां पुरतः [1]'साहिउं' ति कथयित्वा यद्दीयते मिथ्यादुष्कृतमेतत्प्रायश्चित्तं मिश्रमिति भणितम् । इयमत्र भावना—नानाप्रकारान् शब्दादीन् विषयान् इन्द्रियविषयीभूताननुभूय कस्यचिदेवं संशयः स्याद् यथा शब्दादिषु विषयेषु रागद्वेषौ गतो वा न वेति, ततस्तस्मिन् [2]शङ्काविषये मिश्रं—पूर्वं गुरूणां पुरत आलोचनं तदनन्तरं गुरुसमादेशेन मिथ्यादुष्कृतदानमित्येवंरूपं प्रायश्चित्तं भावतः प्रतिपद्यते । यदि हि निश्चितं भवति यथा अमुकेषु शब्दादिषु विषयेषु रागं द्वेषं वा गत इति, तत्र तपोऽर्हं प्रायश्चित्तम्, अथैवं निश्चयो—न गतो रागं द्वेषं वा, तत्र स शुद्ध एव न प्रायश्चित्तविषयः ३ ॥७५२॥

तथाऽनेषणीये—अशुद्धे अशनादिके—अशन-पान-खादिम-स्वादिमरूपे सकलौघिकौपग्रहिकलक्षणे च वस्तुनि गृहीते सति परित्यागः कार्यः । इदमुक्तं भवति—सम्यगुपयुक्तेन केनापि साधुना भक्तपानादिकं गृहीतं पश्चात्कथमप्यप्रासुकमनेषणीयं वा ज्ञातं तत्र प्रायश्चित्तं तस्य गृहीतस्य भक्तपानादेः परित्यागः । [3]उपलक्षणमेतत् तेन एतदपि द्रष्टव्यम्—अशठभावेन गिरि-राहु-मेघ-महिकारजःसमावृते सवितरि

१ साहियं-जे. ॥ २ संशयविषये-मु. । तुलना- व्यवहारसूत्रवृत्तिः भा. १, पृ. ३७ A ॥
३ तुलना- व्यवहारसूत्रवृत्तिः भा. १, पृ. ३८B ॥

उद्गतबुद्ध्या अनस्तमितबुद्ध्या वा गृहीतमशनादिकं पश्चाद् ज्ञातमनुद्गते अस्तमिते वा सूर्ये गृहीतं तथा प्रथमपौरुष्यां गृहीत्वा चतुर्थीमपि पौरुषीं यावद् धृतमशनादि शठभावेनाशठभावेन वा अर्धयोजनातिक्रमणेन नीतमानीतं वाऽशनादि तत्र विवेक एव प्रायश्चित्तमिति । शठाशठयोश्चेदं लक्षणं—इन्द्रियविकथामायाक्रीडादिभिः कुर्वन् शठः, ग्लान[1]सागारिकास्थण्डिलभयादिकारणतोऽशठः ४ ।

तथा दुःस्वप्नप्रमुखे दृष्टे सति तद्विशोधनाय क्रियते कायोत्सर्गः, तत्र दुःस्वप्नः—प्राणातिपातादिसावद्यबहुलः, प्रमुखग्रहणाद्गमनागमननौसंतरणादिपरिग्रहः, [2]एतेषु विषये कायोत्सर्गलक्षणं प्रायश्चित्तमिति भावः । उक्तं च—

●"गमणागमणवियारे सुत्ते वा सुमिणदंसणे राओ । नावा नइसंतारे [3]पायच्छित्तं विउस्सग्गो ॥१॥" [तु. आव.नि.१५३३, व्यवहारभा.पृ. १११]

अत्र '[4]सुत्ते व'त्ति सूत्रे—सूत्रविषयेषु उद्देश-समुद्देशाऽनुज्ञा-प्रस्थापन-प्रतिक्रमण-श्रुतस्कन्धा-ऽङ्गपरि-[5]वर्तनादिष्वविधिसमाचरणपरिहाराय प्रायश्चित्तं कायोत्सर्गः ५ ॥७५३॥

---

१ ०सागारिकस्थंडिल० इति व्यवहारसूत्रवृत्तौ (भा. १, पृ. ३८B) पाठः ॥ २ एतेष्वविषये-जे. ॥
● गमनागमनयोर्विचारे सूत्रे वा स्वप्नदर्शने रात्रौ । नावा नदीसंतरणे प्रायश्चित्तं व्युत्सर्गः ॥१॥
३ इरियावहिया पडिक्कमणं-इति आव. निर्युक्तौ पाठः ॥ ४ तुलना-व्यवहारसूत्रवृत्तिः भा. १ पृ. ३९A ॥
५ ०वर्तनादिश्च विधिसमा० इति व्यवहारसूत्रवृत्तौ (भा. १ पृ. ३९A) पाठः ॥

वा समुच्चये, तथा पृथिव्यादिविघट्टने–सचित्तपृथिवीकायादिसङ्घट्टने निर्विकृतिकादिकः षण्मासावसानस्तपोविशेषो दीयते छेदग्रन्थानुसारेण जीतकल्पानुसारेण वा, एतत्तपोलक्षणं प्रायश्चित्तमिति ६ ।

तथा तपसा दुर्दमस्य–विशोधयितुमशक्यस्य मुनेः क्रियते पर्यायव्यवच्छेदः महाव्रतारोपणकालादारभ्य अहोरात्रपञ्चकादिना क्रमेण श्रामण्यपर्यायच्छेदनम् , तत्र तपोदुर्दमो यः षण्मासक्षपकोऽन्यो वा विकृष्टतपःकरणसमर्थस्तपसा गर्वितो भवति यथा किं ममानेन प्रभूतेनापि तपसा क्रियते ? इति तपःकरणासमर्थो वा ग्लानासहबालवृद्धादिः तथाविधतपःश्रद्धानरहितो वा निष्कारणतोऽपवादरुचिर्वेति ॥७५४॥

तथा प्राणातिपातप्रमुखे–प्राणिवध-मृषावादादिकेऽपराधे सङ्कल्प्य कृते पुनर्व्रतारोपणं–भूयोऽपि व्रतस्थापनं विधातव्यम् । अयमर्थः–आकुट्टया पञ्चेन्द्रियजीववधे विहिते दर्पेण मैथुने सेविते मृषावादा-ऽदत्तादान-परिग्रहेषु च उत्कृष्टेषु प्रतिसेवितेषु आकुट्टया पुनः पुनः सेवितेषु वा मूलाभिधानमेतत्प्रायश्चित्तं भवतीति ८ ।

तथा करादिभिः–मुष्टियष्टिप्रभृतिर्घातो मरणनिरपेक्षतया आत्मनः परस्य वा स्वपक्षगतस्य परपक्षगतस्य वा घोरपरिणामतः प्रहरणं तेन प्रदुष्टमना–अतिसङ्क्लिष्टचित्ताध्यवसायो न व्रतेषु स्थाप्यते यावदुचितं तपो न कृतं स्यात् । उचितं च तपःकर्म उत्थाननिषदनाद्यशक्तिपर्यन्तम् , स हि यदा उत्थानाद्यपि कर्तुमशक्तस्तदा [1]अन्यान् प्रार्थयते–आर्या ! उत्थातुमिच्छामीत्यादि , ते तु तेन सह सम्भाषणमकुर्वाणास्तत्कृत्यं कुर्वन्ति । एतावति तपसि कृते तस्योत्थापना क्रियत इति ९ ॥७५५॥

१ तुलना–योगशास्त्रवृत्तिः ३।९०, प. ३१२ ॥

तथा पाराञ्चिकं नाम दशमं प्रायश्चित्तमापद्यते स्वलिङ्गिनी-नृपभार्यादिसेवाभिः, आदिशब्दाल्लिङ्गि-घातराजवधादिपरिग्रहः । एतच्च अव्यक्तलिङ्गधारिणां जिनकल्पिकप्रतिरूपाणां क्षेत्राद्बहिःस्थितानां सुविपुलं तपः कुर्वतां महासत्त्वानां सूरीणाम्– आचार्याणामेव जघन्यतः षण्मासान् उत्कृष्टतो द्वादश वर्षाणि यावद्भ-वति, ततश्च–अतिचारपारगमनानन्तरं प्रव्राज्यते नान्यथेति १० ॥७५६॥

अथात्रैव विशेषमाह– [1]"नवरं' गाहा, नवरं–केवलं दशमप्रायश्चित्तापत्तावपि सत्यां नवममेव–अन-वस्थाप्यलक्षणं प्रायश्चित्तमध्यापकानां–उपाध्यायानां भवति । अयमर्थः–येषु येष्वपराधेषु पाराञ्चिकमापद्यते तेषु तेष्वपि बहुशः समासेवितेषु उपाध्यायस्यानवस्थाप्यमेव प्रायश्चित्तं भवति, न तु पाराञ्चिकम् , उपाध्याय-स्यानवस्थाप्यपर्यन्तस्यैव प्रायश्चित्तस्य प्रतिपादनात् । एवं सामान्यसाधूनामप्यनवस्थाप्यपाराञ्चिकयोग्ये ष्वपराधेषु सत्सु मूलपर्यन्तमेव प्रायश्चित्तमवगन्तव्यम् , तच्चानवस्थाप्यं जघन्यतः षण्मासान् यावद्भवति उत्कृष्टतस्तु वर्षमिति । इदं च [2]आशातनानवस्थाप्यमाश्रित्योक्तम् , प्रतिसेवनानवस्थाप्यापेक्षया तु जघन्यतो वर्षमुत्कृष्टतो द्वादश वर्षाणि । उक्तं च–

"तत्थ आसायणाअणवट्ठप्पो जहन्नेणं छम्मासा उक्कोसेणं संवच्छरं, पडिसेवणाअणवट्ठप्पो जहन्नेणं बारस मासा उक्कोसेणं बारस संवच्छराणि" त्ति ।

तत्र तीर्थकरप्रवचनगणधराद्यधिक्षेपकारी आशातनानवस्थाप्यः । हस्तताडनसाधर्मिकान्यधार्मिकस्तै-न्यकारी तु प्रतिसेवनानवस्थाप्यः ॥७५७॥

१ 'नवर' मित्यादिगाथात्रयं-मु. ॥ २ आशातनानवस्थाप्या० सं. ॥

नन्वेतानि दशापि प्रायश्चित्तानि यावत्तीर्थं तावद्भवन्ति ? उत नेत्याह—'**दस ता**' गाहा, यावच्चतुर्दशपूर्वी प्रथमसंहननी च तावद्दश प्रायश्चित्तानि अनुपजन्ति—अनुवर्तन्ते, एतौ च चतुर्दशपूर्वि-प्रथमसंहननिनौ युगपदेव व्यवच्छिन्नौ, तयोश्च व्युच्छिन्नयोरनवस्थाप्यं पाराञ्चितं च व्यवच्छिन्नम्, ततः परेण—अनवस्थाप्य-पाराञ्चितव्यवच्छेदादनन्तरमालोचनादि मूलान्तमष्टविधं प्रायश्चित्तं तावदनुवर्तमानं बोद्धव्यं यावद् दुष्प्रसभनामा सूरिः, तस्मिंश्च कालगते तीर्थं चारित्रं च व्यवच्छेदमुपयास्यतीति ॥७५८॥९८॥

इदानीम् '**ओहम्मि पयविभागम्मि सामायारीदुगं**' ति नवनवतं शततमं [1]च द्वारमाह—

सामायारी ओहमि ओहनिज्जुत्तिजंपियं सव्वं ।
सा पयविभागसामायारी जा [2]छेयगंथुत्ता ॥७५९॥

'**सामायारी**' गाहा, [3]समाचरणं समाचारः—शिष्टजनाचरितः क्रियाकलापः, समाचार एव सामाचार्यम्, भेषजादित्वात् स्वार्थे ष्यञ् [पा०५-४-२३] स्त्रीविवक्षायां 'पिद्गौरादिभ्यश्चे'ति [पा० ४-१-४१] ङीप्, 'यस्ये' [यस्येति च पा० ६-४-१४८] त्यकारलोपः, यस्य हल (पा० ६-४-४९) इत्यनेन तद्धितयकारलोपः । परगमनं सामाचारी, [4]सा त्रिधा भवति—ओघसामाचारी दशधासामाचारी पदविभागसामाचारी च । तत्र ओघः—सामान्यं तद्विषयासामाचारी—सामान्यतः सङ्क्षेपाभिधानरूपा सा च ओघनिर्युक्तिजल्पितं सर्वं ज्ञेयम्, तत्र हि व्रतिनामोघतः सर्वसमाचारः प्रत्युपेक्षणादिकः कथ्यते इति ।

१ ना-शु. नास्ति ॥ २ छेयगंथुत्ती-जे. ॥ ३ तुलना-आव. मलय.वृत्तिः प. ३४१ B ॥ ४ तुलना. ओघनि.वृत्तिः प. १ B ॥

तथा सा पदविभागसामाचारी या छेदग्रन्थेषु-जीतकल्प-निशीथादिषूक्तेति, इह च साम्प्रतकालप्रव्रजितानां तथाविधश्रुतपरिज्ञानशक्तिविकलानामायुष्कादिह्रासमपेक्ष्य ओघसामाचारी नवमात्पूर्वात् तृतीयाद्वस्तुन आचाराभिधानात् तत्रापि विंशतितमात्प्राभृतात् तत्राप्योघप्राभृतप्राभृतात् [1]नियूढा। पदविभागसामाचार्यपि नवमपूर्वादेव [2]नियूढेति ॥७५९॥९९–१००॥

इदानीमेकशततमं 'चक्कवालसामायारी' त्ति द्वारमाह—

इच्छा १ मिच्छा २ तहक्कारो ३, आवस्सिया य ४ निसीहिया ५ ।
आपुच्छणा य ६ पडिपुच्छा ७, छंदणा य ८ निमंतणा ९ ॥७६०॥

[भगवतीसू. श. २५/उ.७,सू.८०१]

उवसंपया य १० काले, सामायारी भवे दसविहा उ ।
एएसिं तु पयाणं,पत्तेयपरूवणं वोच्छं ॥७६१॥[उत्तराध्ययननि.४८२-३,पञ्चाशकप्र.१२।२-३]

जइ अब्भत्थिज्ज परं कारणजाए करेज्ज से कोई ।
तत्थ य इच्छाकारो न कप्पइ बलाभिओगो उ १ ॥ ७६२ ॥

संजमजोए अब्भुट्ठियस्स जं किंपि वितहमायरियं ।
मिच्छा एयंति वियाणिऊण मिच्छत्ति कायव्वं २ ॥७६३॥

१ निर्व्यूढा-मु.। ओघनि.वृत्तौ [पृ.१] अपि नियूढा-इति पाठः ॥ २ निर्व्यूढेति-मु.॥

कप्पाकप्पे परिनिट्ठियस्स ठाणेसु पंचसु ठियस्स ।
संयमतवड्ढगस्स उ अविकप्पेणं तहक्कारो ३ ॥ ७६४ ॥
[आवनि. ६६६,६६७-६६८,६८२,६८८-पञ्चा.प्र.१२।१०,१४]
आवस्सिया विहेया अवस्सगंतव्वकारणे [1]मुणिणा ४ ।
तम्मि निसीहिया जत्थ सेज्जठाणाइ आयरइ ५ ॥ ७६५ ॥
आपुच्छणा उ कज्जे ६ पुव्वनिसिद्धेण होइ पडिपुच्छा ७ ।
पुव्वगहिएण छंदण ८ निमंतणा [2]होअगहिएणं ९ ॥७६६॥ [आव.नि.६६७]
उवसपया य तिविहा नाणे तह दंसणे चरित्ते य १० ।
एसा हु दसपयारा सामायारी तहऽन्ना य ॥७६७॥

'इच्छे' त्यादिगाथाष्टकम् , [3]एषणमिच्छा, करणं–कारः, कारशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, इच्छया बलाभियोगमन्तरेण करणं इच्छाकारः, तथा च इच्छाकारेण ममेदं कुर्विति । किमुक्तं भवति ?–इच्छाक्रियया न बलाभियोगपूर्विकया ममेदं कुर्विति १ ।

तथा मिथ्या वितथमनृतमिति पर्यायाः। मिथ्याकरणं मिथ्याकारो मिथ्याक्रियेत्यर्थः । [4]तथा च संयमयोगवितथाचरणे विदितजिनवचनसाराः साधवस्तत्क्रियाया वैतथ्यप्रदर्शनाय मिथ्याकारं विदधते मिथ्या-

१ मुणिणो–मु. ॥ २ होइअगहिएणं–ता. ॥ ३ तुलना–आवश्यकसूत्रस्य हारिभद्रीवृत्तिः (पृ.२५८B तः) मलयगिरीया वृत्तिः (पृ. ३४२ तः) ॥ ४ तथा संयम० मु. । आव. हारिभद्रयाम् आव. मलय. वृत्तावपि 'तथा च संयम०' इति पाठः ॥

क्रियेयमिति २। तथाकरणं तथाकारः, स च सूत्रप्रश्नादिगोचरो यथा भवद्भिरुक्तं तथैवेदमित्येवंस्वरूपः ३। तथा अवश्यम्—अवश्यशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति ततोऽवश्यस्य—अवश्यं कर्तव्यस्य क्रिया आवश्यिकी, चः समुच्चये ४। [1]तथा निषेधेन—असंवृतगात्रचेष्टानिवारणेन निवृत्ता तत्प्रयोजना वा या शय्यादिप्रवेशन-क्रिया सा नैषेधिकी ५। तथा आपृच्छनमापृच्छा, सा विहारभूमिगमनादिषु प्रयोजनेषु गुरोः करणीया, चः पूर्ववत् ६। तथा प्रतिपृच्छा—प्रतिप्रश्नः, सा च प्राग्नियुक्तेनापि करणकाले कार्या निषिद्धेन वा प्रयोजनतः कर्तुकामेनेति ७। तथा छन्दना—पूर्वगृहीतेनाशनादिना आमन्त्रणा विधेया ८। तथा निमन्त्रणा अगृहीते-नैवाशनादिना अहं भवदर्थमशनाद्यानयामीत्येवंरूपा ९। तथोपसम्पच्च [2]विधिना देया, [3]इयं काले—कालविषये सामाचारी भवेद् दशविधा। एवं तावत्समासत उक्ता, सम्प्रति प्रपञ्चतः प्रतिपदमभिधित्सुरिद-माह—एतेषां पदानां तुर्विशेषणे विषयप्रदर्शनेन प्रत्येकं पृथक्पृथक्प्ररूपणां वक्ष्ये—कथयिष्यामि ॥७६०-७६१॥

तत्रेच्छाकारो येष्वर्थेषु क्रियते तत्प्रदर्शनार्थमाह—'जई'त्यादि, यदीत्यभ्युपगमे अन्यथा साधूना-मकारणे अभ्यर्थनैव न कल्पते। ततश्च यदि अभ्यर्थयेत्परम्—अन्यं साधुं ग्लानादौ कारणजाते समुत्पन्ने सति, ततस्तेनाभ्यर्थयमानेन इच्छाकारः प्रयोक्तव्यः। यदिवा अनभ्यर्थितोऽपि कोऽप्यन्यः साधुः 'से' त्ति तस्य कर्तुकामस्य कस्यचित्साधोः कारणजाते कुर्यात्, तत्रापि तेनानभ्यर्थितेन साधुना तस्य चिकीर्षितं कर्तुकामेन इच्छाकारः प्रयोक्तव्यः। इह विरलाः केचिदनभ्यर्थिता एव परकार्यकर्तार इति कोऽपीतिग्रहणम्।

१ तुलना—पञ्चाशकवृत्ति प. १९४ B॥ २ विधिनाऽऽदेया—इति आव. हारिभद्रयां पाठः॥
३ एवं काले—इति आव. हारिभद्रयाम् आव.मलय. वृत्तौ च पाठः॥

अथ कस्मादिच्छाकारप्रयोगः क्रियते ?, उच्यते, बलाभियोगो मा भूदिति हेतोः । तथा चाह–यतो न कल्पते बलाभियोगः साधूनाम्, तत इच्छाकारप्रयोगः कर्तव्यः । तुशब्दः क्वचिद्बलाभियोगोऽपि कल्पते इति सूचनार्थः १ ॥७६२॥

सम्प्रति मिथ्याकारविषयप्रतिपादनार्थमाह–'संजमजोए' गाहा, [1]संयमयोगः-समितिगुप्तिरूपः तस्मिन् विषयेऽभ्युत्थितस्य सतो यत्किञ्चिद्वितथम्-अन्यथाऽऽचरितम्–आसेवितं भूतमिति शेषः, मिथ्या विपरीतमेतदिति विज्ञाय, किं ?- मिथ्येति कर्तव्यं–तद्विषये मिथ्यादुष्कृतं दातव्यमित्यर्थः, संयमयोग-विषयायां च प्रवृत्तौ वितथासेवने मिथ्यादुष्कृतं दोषापनयनाय समर्थम्, न तूपेत्यकरणविषयायां नाप्यसकृत्करणगोचरायामिति २ ॥७६३॥

इदानीं तथाकारो यस्य दीयते तत्प्रतिपिपादयिषुराह–'कप्पाकप्पे' गाहा, [2]कल्पो विधिराचार इति पर्यायाः, कल्पद्विपरीतस्त्वकल्पः, जिनस्थविरकल्पादिर्वा कल्पः, चरकसुगतादिदीक्षा पुनरकल्प इति । कल्पश्चाकल्पश्च कल्पाकल्पमित्येकवद्भावः तस्मिन्, परि–समन्तान्निष्ठितः परिनिष्ठितो ज्ञाननिष्ठां प्राप्तस्तस्य । अनेन च ज्ञानसम्पदुक्ता । तथा तिष्ठन्ति मुमुक्षवो येषु तानि स्थानानि–महाव्रतानि, तेषु पञ्चसु–पञ्चसङ्ख्येषु स्थितस्य–आश्रितस्य, अनेन च मूलगुणसम्पत्तिरुक्ता । तथा संयमः–प्रत्यु-पेक्षोत्प्रेक्षादिः, तपश्च–अनशनादि, ताभ्यामाढ्यस्य–सम्पन्नस्येत्यनेनोत्तरगुणयुक्ततामाह । तस्य,

१ तुलना–आव.हारिभद्रीयवृत्तिः (प.२६३ B) आव.मलय.वृत्ति. प. ३४६ B ॥
२ तुलना–आव.हारिभद्रीया वृत्तिः प. २६४ B, आव.मलय. वृत्तिः प. ३४७B, पञ्चाशकवृत्तिः प. १९८ ॥

किमित्याह—'अविकल्पेन' निर्विकल्पं तदीयवचने वितथत्वाशङ्कामकुर्वाणेनेत्यर्थः तथाकारः। कार्य इत्यध्याहारः। कोऽभिप्रायः १—एवंविधस्य गुरोर्वाचनादानादौ पृच्छनानन्तरमुत्तरदाने तथा सामाचारीशिक्षणादौ च यथा यूयं वदथ तथैवैतदित्यर्थसंसूचकस्तथाशब्दः प्रयोक्तव्यः ३ ॥७६४॥

इदानीमावश्यिकी-नैषेधिकीद्वारद्वयमाह—'आवस्सिया' गाहा, [1]आवश्यिकी विधेया वसतेर्निर्गच्छता साधुना अवश्यं गन्तव्ये ज्ञानादित्रयहेतुभूते भिक्षाटनादौ कारणे सति, अनेन निष्कारणगमननिषेध उक्तः ४। तथा बहिर्देशान्निवृत्तेन तस्मिन् स्थाने नैषेधिकी विधेया यत्र शय्यास्थानाद्याचरति। तत्र शय्या—वसतिस्तस्यां स्थानम्—अवस्थानं तच्च प्रस्तावात्प्रवेशलक्षणम् आदिशब्दाच्चैत्यप्रवेशादि परिग्रहः, बहिर्देशाद्वसत्यादौ प्रविशन् नैषेधिकीं विदध्यादिति भावः ५ ॥७६५॥

साम्प्रतमापृच्छादिद्वारचतुष्टयमेकगाथया प्राह—'आपुच्छणा' गाहा, [2]आपृच्छनमापृच्छा सा च कर्तुमभीष्टे कार्ये प्रवर्तमानेन गुरोः कार्या—भगवन्! अहमिदं करोमीति। द्वारम् ६। तथा पूर्वनिषिद्धेन सता यथा त्वयेदं न कर्तव्यमिति। उत्पन्ने च प्रयोजने कर्तुकामेन होइ पडिपुच्छ' त्ति भवति प्रतिपृच्छा पूज्यैरिदं निषिद्धमासीत् इदानीं तेन कार्येण प्रयोजनं यदि पूज्या आदिशन्ति तदा करोमीत्येवंरूपा। पाठान्तरं वा 'पुव्वनिउत्तेण होइ पडिपुच्छ' त्ति पूर्वं नियुक्तेन सता यथा भवतेदं कार्यमिति तत्कर्तुकामेन गुरोः प्रतिपृच्छा भवति कर्तव्या, अहं तत्करोमीति। तत्र हि गुरुः कदाचित्कार्यान्तरमादिशति समाप्तं

१ आवश्यकी—मु. ॥ २ तुलना—आवश्यकहारिभद्रीया वृत्तिः (प. २६७), आव. मलय. वृत्तिः प. ३५० A ॥

वा तेन प्रयोजनमिति । द्वारम् ७ । तथा पूर्वगृहीतेनाशनादिना छन्दना शेषसाधुभ्यः कर्तव्या, यथा मयेदमशनाद्यानीतं यदि कस्यचिदुपयुज्यते ततोऽसाविच्छाकारेण ग्रहण करोत्विति । द्वारम् ८ । तथा निमन्त्रणा भवत्यगृहीतेनाशनादिना, यथाऽहं भवतां योग्यमशनाद्यानयामीति । द्वारम् ९ ॥७६६॥

इदानीमुपसम्पद्द्वारमाह–'**उवसंपया य**' गाहा, उपसम्पदनमुपसम्पत्–कस्माच्चिदप्यपरगुरुकुलादपरस्य विशिष्टश्रुतादियुक्तस्य गुरोः समीपागमनमिति । सा च [1]त्रिधा-ज्ञाने-ज्ञानविषया एवं दर्शनविषया चारित्रविषया च । तत्र ज्ञान-दर्शनयोः सम्बन्धिनी त्रिधा भवति–वर्तना सन्धना ग्रहणं च । एतदर्थं हि उपसम्पद्यते इति । तत्र वर्तना पूर्वगृहीतस्यैवास्थिरस्य सूत्रादेर्गुणनमिति । सन्धना च–तस्यैव सूत्रादेः प्रदेशान्तरे विस्मृतस्य मीलना [2]घटना योजनेत्यर्थः । ग्रहणं पुनस्तस्यैव तत्प्रथमतया आदानम् । एतत् त्रितयमपि सूत्रार्थतदुभयविषयमवगन्तव्यम्, एवं ज्ञाने नव भेदाः । तथा दर्शनेऽपि दर्शनप्रभावकसंमत्यादिशास्त्रविषये एत एव भेदा विज्ञेया इति । तथा चारित्रविषया द्विधा सम्पत्–वैयावृत्त्यविषया क्षपणविषया च । अयमाशयः चारित्रार्थमन्यगच्छसत्काचार्याय कश्चिद्वैयावृत्त्यकरत्वं प्रतिपद्यते । स च कालतः कश्चिदित्वरकालम्, कश्चिच्च यावज्जीवमिति ।

अत्राह परः–ननु [3]किमत्रोपसम्पदा कार्यम्?, स्वगच्छ एवायं चारित्रार्थं किमिति वैयावृत्त्यं न

१ तुलना–आवश्यकहारिभद्रीया वृत्तिः (प. २६७ B तः) आव. मलय. वृत्तिः प ३५० B ॥
२ घट्टना–मु. । आव.हारिभद्र्यामपि (प.२६७ B) आव. मलय वृत्तौ (३५० B) अपि घटना इति पाठः ॥
३ तुलना–आव. हारिभद्रीयावृत्तिः प. २७०B । आव.मलय.वृत्तिः प ३५४ ॥

करोति १, सत्यम्, स्वगच्छे न तथाविधा निर्वाहादिसामग्री वैयावृत्त्यादिकरणक्षमा समस्ति ततः परगच्छोपसम्पदं करोतीति । तथा क्षपणविषयैवं भवति—यथा कश्चित्क्षपणार्थमुपसम्पद्यते, [1]स च क्षपको द्विविधः—इत्वरो यावत्कथिकश्च । यावत्कथिक उत्तरकालेऽनशनकर्ता । इत्वरस्तु द्विविधो—विकृष्टक्षपकोऽविकृष्टक्षपकश्च । तत्राष्टम-दशमादिकर्ता विकृष्टक्षपकः । षष्ठान्ततपःकारी तु अविकृष्टक्षपक इत्यादिस्वरूप-[2]मावश्यकादिभ्यो विज्ञेयमिति १० । एषा हुः—स्फुटं चक्रवाले—चक्रवालविषया चक्रवत्प्रतिपदं भ्रमन्ती दशविधा सामाचारी विज्ञेयेति शेषः । तथा अन्या च वक्ष्यमाणा सामाचारी दशविधा ज्ञेया ॥७६७॥

तामेवाह—

पडिलेहणा १ पमज्जण २ भिक्ख ३ रिया ४ [3]ऽऽलोय ५ भुंजणा ६ चेव ।
[4]पत्तगधुवण ५ वियारा ८ थंडिल ९ आवस्सयाईया १० ॥७६८॥ [पञ्चव. २३०]

'**पडिलेहणा**' गाहा, पूर्वाह्णेऽपराह्णे च वस्त्र-पात्रादीनां प्रत्युपेक्षणा विधेया १, तथा प्रमार्जना वसतेः पूर्वाह्णेऽपराह्णे च कर्तव्या २, तथा कृतकायिकादिव्यापाराः पात्राणि गृहीत्वा आवश्यकीकरणपूर्वं [5]वसतेर्निर्गत्याहारादिषु मुर्च्छामकुर्वन्तः पिण्डग्रहणैषणायां सम्यगुपयुक्ताः साधवो 'भिक्ख'त्ति भिक्षां गृह्णन्ति ३, तथा भिक्षाग्रहणानन्तरं नैषेधिकीपूर्वं वसतौ प्रविश्य 'नमः क्षमाश्रमणेभ्यः' इत्येवंरूपं वाचिकं नमस्कार-

१ तुलना—आवश्यकहारिभद्रीया वृत्तिः (प. २७१ A) आव. मलय. वृत्तिः प. ३५४ B ॥ २ आवश्यकनिर्युक्तिः ७१६-पञ्चाशकवृत्तिः [१२।४७] च द्रष्टव्या ॥ ३ ०ऽऽलोग-मु. ॥ ४ पत्तगधुयण-मु. ॥ ५ वसतेर्विनि० सं. ॥

मुच्चार्य योग्यदेशं चक्षुःप्रत्युपेक्षणापुरस्सरं रजोहरणेन प्रमृज्य 'ईरिय' त्ति ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामन्ति ४, कायोत्सर्गे च भिक्षाभ्रमणभाविनो निर्गमनादारभ्य प्रवेशपर्यन्तान् पुरःकर्मादीनतिचारान् गुरुनिवेदनार्थं चिन्तयन्ति । पारयित्वा च चतुर्विंशतिस्तवं पठन्तीति, तथा च चतुर्विंशतिस्तवपाठानन्तरं भावतश्चारित्रपरिणामापन्नाः सन्तो गुरोर्गुरुसम्मतस्य वा ज्येष्ठार्यस्य पुरतो यदोदनादि येन प्रकारेण करोटिकाप्रभृतिभाजनादिना गृहीतं तत्सर्वं तथैव प्रवचनोक्तेन विधिना 'आलोय' त्ति आलोचयन्ति निवेदयन्तीत्यर्थः । तदनन्तरं दुरालोचितभक्तपानयोर्निमित्तमेषणानेषणयोर्वा निमित्तं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति । ●'इच्छामि पडिक्कमिउं गोयरचरियाए भिक्खायरियाए जाव तस्स मिच्छामि दुक्कडं, तस्स उत्तरीकरणेणं जाव वोसिरामि' त्ति कायोत्सर्गं कुर्वन्ति च । ● तत्र नमस्कारं 'जइ मे अणुग्गहं कुज्जा [1]साहू हुज्जामि तारिओ' इत्यादि वा चिन्तयेत् । ★यदुक्तमोघनिर्युक्तौ—

'तहिं दुरालोइयभत्तपाणएसणमणेसणाए उ । अट्ठुस्सासे अहवा अणुग्गहाई व झाइज्जा ॥१॥
[तुलना-ओघनि.भा. २७४]

दशवैकालिके त्वस्मिन् कायोत्सर्गे 'अहो जिणेहिं असावज्जा' इतिगाथाचिन्तनं भणितम् , पारयित्वा च चतुर्विंशतिस्तवभणनम् , ★तदनु परिश्रमाद्यपनयनाय मुहूर्त्तमुपविष्टाः स्वाध्यायं विदधतीति ५ । तथा निःसागारिके स्थाने रागद्वेषविरहिताः सन्तो नमस्कारं पठित्वा 'सन्दिशत पारयाम' इत्यभिधाय च गुरुणा-

●●चिह्नद्वयमध्यवर्तिपाठः जे. नास्ति ॥ १ साहू' इत्यादि-मु. ॥ ★★चिह्नद्वयमध्यवर्तीपाठः जे. नास्ति ॥

ऽनुज्ञाता व्रणलेपाद्युपमया[1]'भुंजण'त्ति–भोजनं कुर्वन्ति ६ । तथा भोजनानन्तरमच्छोदकेन भाजनेषु समयप्रसिद्धं कल्पत्रयं दत्त्वा 'पत्तगधुवण' त्ति पात्रकाणां धावनं कुर्वन्ति, समयपरिभाषया त्रेप्यन्तीत्यर्थः ७ । तदनु यद्यपि प्रागेवैकाशनकं प्रत्याख्यातं तथाप्यप्रमादार्थं 'सागारिकाकारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं आउंटणपसारेणं पारिट्ठावणियागारेणं' इत्येषां प्रागगृहीतानामाकारणां च निरोधनार्थं प्रत्याख्यानं विधेयमिति, तथा 'वियार'त्ति विचारः–संज्ञाव्युत्सर्जनार्थं वहिर्गमनं तं वक्ष्यमाणविधिना कुर्वन्ति ८ । तथा 'थंडिलं ति स्थण्डिलं–परानुपरोधि प्रासुकभूभागलक्षणं तिर्यग् जघन्येन हस्तमात्रं प्रतिलेखयन्ति, तच्च सप्तविंशतिविधम् , तथाहि–कायिकायोग्यानि वसतेर्मध्ये षट् स्थण्डिलानि वहिर्भागेऽपि षडेव, मिलितानि च द्वादश, एवमुच्चारयोग्यान्यपि द्वादश, त्रीणि च कालग्रहणयोग्यानीति ९ । तथा पूर्वोक्तविधिना 'आवस्सय' त्ति आवश्यकं–प्रतिक्रमणं कुर्वन्ति । आदिशब्दात्कालग्रहणादिपरिग्रहः, इत्येषा प्रकारान्तरेण दशविधा प्रतिदिनसामाचारी समासतो व्याख्याता । विस्तरस्तु [2]पञ्चवस्तुकद्वितीयद्वारादवसेयेति ॥७६८॥१०१॥

इदानीं 'निग्गथत्तं जीवस्स पंच वाराओ भववासे'त्ति द्व्युत्तरशततमं द्वारमाह—

उवसमसेणिचउक्कं जायइ जीवस्स आभवं नूणं ।
ता पुण दो एगभवे खवगस्सेणी पुणो एगा ॥७६९॥

'उवसमसेणि' गाहा, उपशमश्रेणिचतुष्कम्–उपशमश्रेणिचतुष्टयमेव जायते–भवति जीवस्याभवं–संसारे वर्तमानस्य तत् नूनं–निश्चितम् । उत्कर्षतो नानाभवेषु वारचतुष्टयमुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यत

१ भुञ्जन्ति- भोजनं-मु. ॥ २ गाथा २३० तः द्रष्टव्यम् ॥

इति भावः, ते पुनरुपशमश्रेण्यौ एकस्मिन् भवे उत्कर्षतो द्वे भवतः । क्षपकश्रेणिः पुनरेकैवैकस्मिन् भवे भवति । ततोऽयमर्थः-उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च गुणस्थानके निर्ग्रन्थत्वं भवति । तच्चोपशमश्रेणिचतुष्टये क्षपकश्रेणौ चैकस्यां कृतायां पञ्चधा भवत्युत्कर्षतः संसारे वसतो जीवस्येति ॥७६९॥१०२॥

इदानीं 'साहुविहारसरूवं' त्ति त्र्युत्तरशततमं द्वारमाह—

गीयत्थो य विहारो बीओ गीयत्थमीसओ भणिओ ।
एत्तो तइयविहारो नाणुन्नाओ जिणवरेहिं ।७७०॥

[बृ. क. भा. ६८८, व्यवहारभा. उ. २ गा.२०, ओघनि. १२१]

दव्वओ चक्खुसा पेहे, [1]जुगमित्तं तु खेत्तओ ।
कालओ जाव रीएज्जा, [2]उवउत्तो य भावओ ॥७७१॥ [उत्तराध्ययनसू. २४।७]

'गीयत्थो य' गाहा, गीतो–विज्ञातः कृत्याकृत्यलक्षणोऽर्थो यैस्ते गीतार्था–बहुश्रुताः साधवः, तत्सम्बन्धित्वाद्गीतार्थः, चशब्दः समुच्चये भिन्नक्रमश्च, विहारो-विचरणं प्रथम इति गम्यते । द्वितीयश्च-अन्यो विहारो गीतार्थैर्मिश्राः–समन्विता येऽगीतार्थास्ते गीतार्थमिश्रास्तेषां सत्को गीतार्थमिश्रः स एव गीतार्थमिश्रको भणितः–उक्तो जिनैर्विधेयतया । पाठान्तरं गीतार्थनिश्रित इति, तत्र गीतार्थस्य निश्रा–आश्रयणं गीतार्थनिश्रा सा सञ्जाता अस्येति गीतार्थनिश्रितः । इतः–आभ्यां द्वाभ्यां विहाराभ्यामन्यस्तृतीय एकानेकागीतार्थसाधुरूपो नानुज्ञातो–नानुमतो विधेयतया जिनवरैरिति ॥७७०॥

१ जुगमेत्त-ता. ॥ २ उवउत्तो-मु ॥

विहारश्चतुर्विधो भवति, द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, एतदेवाह–'दव्वओ' इत्यादि, द्रव्यतश्चक्षुपा प्रेक्षते मार्गस्थितान् जीवानिति शेषः, क्षेत्रतो युगमात्रं क्षेत्रम्, युगं–यूपं चतुर्हस्तप्रमाणं तत्प्रमाणां भूमिं निरीक्षेत, अत्यासन्नस्य दृष्टस्यापि कस्यचिज्जीवादेः रक्षितुमशक्यत्वात् (ग्रन्थाग्रं ८०००) युगमात्राच्च परतः श्लक्ष्णजीवादेर्द्रष्टुमप्यशक्यत्वादिति युगमात्रग्रहणम्, कालतो यावत्कालं मुहूर्त्तप्रहरादिकं 'रीएज्ज' त्ति गच्छेत्, भावतश्च उपयुक्तः–सम्यगुपयोगपर इति ॥७७१॥१०३॥

साम्प्रतम् 'अप्पडिबद्धविहारो' त्ति चतुरुत्तरशततमं द्वारमाह—

अप्पडिबद्धो अ सया गुरूवएसेण सव्वभावेसु ।
मासाइविहारेणं [1]विहरेज्ज जहोचियं नियमा ॥७७२॥
मुत्तूण मासकप्पं अन्नो सुत्तंमि नत्थि उ विहारो ।
ता कहमाइग्गहणं कज्जे ऊणाइभावेणं ॥७७३॥ [पञ्चव० ८६५-६]
कालाइदोसओ जइ न दव्वओ एस [2]कीरए नियमा ।
भावेण तहवि कीरइ संथारगवच्चयाईहिं ॥७७४॥
[3]काऊण मासकप्पं तत्थेव ठियाण तीस मग्गसिरे ।
सालंबणाण जिट्ठोग्गहो य छम्मासिओ होइ ॥७७५॥

१ विहरेइ-ता. ॥ २ कीरये-जे. । कीरई-इति ध. सं. वृत्तौ पाठः भा. २ । प. १४७ B ॥
३ काऊण (कम्हिपि)-मु. ॥

अह अत्थि पयवियारो चउपाडिवयंमि होइ निग्गमणं ।
अहवावि अनितस्स [1]आरोवण सुत्तनिद्दिट्ठं ॥७७६॥ [बृ. क. भा. ४२८६-७]
एगक्खेत्तनिवासी कालाइक्कंतचारिणो जइवि ।
तहवि हु विसुद्धचरणा विसुद्धआलंबणा जेण ॥७७७॥
सालंबणो पडंतो अत्ताणं दुग्गमेऽवि धारेइ ।
इय सालंबणसेवी धारेइ जई असढभावं ॥७७८॥ [आव. नि. ११७२]
काहं अछित्तिं अदुवा [2]अहीहं [3]तवोवहाणेसु य उज्जमिस्सं ।
गणं व [4]नीईसु य सारइस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मोक्खं ॥७७९॥

"अप्पडिबद्धो' इत्यादि गाथाऽष्टकम् , अप्रतिबद्धश्च सदा—सर्वकालमभिष्वङ्गरहित इत्यर्थः, गुरूपदेशेन हेतुभूतेन, क्वेत्याह—सर्वभावेषु द्रव्यादिषु, [5]तत्र द्रव्ये—श्रावकादौ, क्षेत्रे— [6]निवातवसत्यादौ, काले—शरदादौ, भावे—शरीरोपचयादौ अप्रतिबद्धः, किमित्याह—मासादिविहारेण सिद्धान्तप्रसिद्धेन विहरेत्—विहारं कुर्यात् । [7]यथोचितं—संहननाद्यौचित्येन नियमाद्— [8]अवश्यंभावत इति । एतदुक्तं भवति—द्रव्यादिप्रतिबद्धः सुखलिप्सुतया तावदेकत्र न तिष्ठेत् । किं तर्हि ?, पुष्टालम्बनेन, मासकल्पादिना विहारोऽपि च

१ आरोयण सुत्तनिद्दिट्ठा-जे. २ ता. । आरोवण पुव्वनिद्दिट्ठा-इति बृ. क. भा. पाठः ॥ २ अहिस्सं मु- । आवश्यकहारिभद्र्यामपि [प ५३४] अहीहं-इति पाठः ॥ ३ तवोवहाणेण-ता. ॥ ४ नीइसु-मु ॥ ५ तुलना-धर्मसंग्रहवृत्तिः भा.२ । पृ. १४७ त ॥ ६ निर्वात० मु. । निवास० सि. । धर्मसं. वृत्तावपि [भा.२ । प.१४७] निवात० इति पाठः ॥ ७ यथोक्तं-जे. ॥ ८ अवश्यभावयति-जे. । अवश्यं भाव इति-वि. ॥

द्रव्याद्यप्रतिबद्धस्यैव सफलः, यदि पुनरमुकं नगरादिकं गत्वा तत्र महर्द्धिकान् बहून् वा श्रावकानुपार्जयामि तथा च करोमि यथा मां विहायापरस्य ते भक्ता न भवन्तीत्यादिद्रव्यप्रतिबन्धेन, तथा 'निवातवसत्यादि-जनितरत्युत्पादकममुकं क्षेत्रम्, इदं तु न तथाविधमित्यादिक्षेत्रप्रतिबन्धेन तथा परिपक्वसुरभिशाल्यादि-शस्यदर्शनादिरमणीयोऽयं विहरतां शरत्कालादिरित्यादिकालप्रतिबन्धेन तथा स्निग्धमधुराद्याहारादिलाभेन तत्र गतस्य मम शरीरपुष्ट्यादि सुखं भविष्यति, अत्र तु न तत्सम्पद्यते, अपरं चैवमुद्यतविहारेण विहरन्तं मामे-वोद्यतं लोका भणिष्यन्ति, अमुकं तु शिथिलमित्यादिभावप्रतिबन्धेन च मासकल्पादिना विहरति तदाऽसौ विहारोऽपि कार्यासाधक एव । तस्मादवस्थानं विहारो वा द्रव्याद्यप्रतिबद्धस्यैव साधक इति ॥७७२॥

अथ पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहारमाह—'**मुत्तूणे**' त्यादि, मुक्त्वा-विहाय मासकल्पं-मासविहार-मन्यः सूत्रे-मूलागमे तु शब्दस्य एवकारार्थत्वान्नास्त्येव विहारस्तथाऽश्रवणात्, तत् कथं-कस्मादादिग्रहण-मनन्तरगाथायाम्?, तत्राह—'**कज्जे**'त्ति कार्ये तथाविधे सति न्यूनादिभावेन-न्यूनाधिकभावात्कारणा-दादिग्रहणम्, अयमाशयः-साधुभिस्तावन्मासकल्पेनैव मुख्यतो विहारः कार्यः, कारणवशतः पुनः कदा-चिदपूर्णेऽपि मासे विहारः क्रियते कदाचिच्चाधिक्येनापि क्रियते, इत्येतदर्थमादिग्रहणं कृतम् ॥७७३॥

एतदेव प्रकटीकुर्वन्नाह—'**कालाई**' त्यादि, कालादिदोषतः क्रियते-काल-क्षेत्र-द्रव्य-भावदोषाना-श्रित्य, तत्र कालदोषो-दुर्भिक्षादिः, क्षेत्रदोषः-संयमाननुगुणत्वादिः, द्रव्यदोषो-भक्तपानादीनां शरीरान-नुकूलता, भावदोषो-ग्लानत्वज्ञानादिहान्यादिः । यद्यपि '**न**' नैव '**द्रव्यतो**' बहिर्वृत्त्या '**एष**' मासकल्पः, '**क्रियते**' विधीयते, तथापि '**नियमाद्**' अवश्यंतया '**भावेन**' भावतः क्रियते एकस्थानस्थितैरपि यतिभिः ।

कथमिति चेत्तत्राह—**'संथारगवच्चयाईहिं'** संस्तारकव्यत्ययादिभिः—शयनभूमिपरावर्तनप्रभृतिभिः, आदिशब्दाद्वसति-पाटकादिपरिग्रहः । अयमाशय—एकस्यामपि वसतौ यस्यां दिशि संस्तारको मासं यावदास्तीर्णस्तां दिशं मासे पूर्णे परित्यज्यापरस्यां दिशि संस्तारक आस्तरणीयः, एवमपरवसतिसद्भावे मासादनन्तरमपरवसतौ सङ्क्रमः करणीयः । एवं च कुर्वतां मासकल्पविहाराभावेऽपि यतित्वमविरुद्धमेव, यदवाचि—

"पंचसमिया तिगुत्ता उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे । वाससयंपि वसता मुणिणो आराहगा भणिया ॥१॥"

इत्यादि ॥७७४॥

अथैकस्मिन् क्षेत्रे उत्कृष्टमवस्थानकालमानमाह— [1]**'काऊण' गाहा** कस्मिंश्चित् क्षेत्रे कृत्वा—विधाय आषाढमासे मासकल्पं **'तत्रैव'** तस्मिन्नेव क्षेत्रे **'स्थितानां'** कृतवर्षाकालानां यावन्मार्गशीर्षे—मार्गशीर्षविषयाणि त्रिंशद्दिनानि एष **'सालम्बनानां'** पुष्टकारणसेविनां ज्येष्ठ-उत्कृष्टोऽवग्रहः-एकत्रावस्थानलक्षणः षाण्मासिकः—षण्मासप्रमाणो भवति । इदमुक्तं भवति—यत्र उष्णकालस्य चरमो मासकल्पः कृतस्तत्र तथाविधान्यक्षेत्राभावतो वर्षाकालं यदि तिष्ठन्ति वर्षाकाले च व्यतिक्रान्ते यदि मेघो वर्षति ततोऽन्यद्दिवसदशकं तत्र तिष्ठन्ति, तस्मिन्नपि समाप्तिमुपगते यदि पुनर्वर्षति ततो द्वितीयं दिवसदशकं तिष्ठन्ति, तस्मिन्नप्यतीते पुनर्वृष्टस्तदा तृतीयमपि दिवसदशकं [2]तत्र तिष्ठन्ति । एवमुत्कर्षतस्त्रीणि दिवसदशकानि वृष्ट्याद्यालम्बनमाश्रित्य स्थितानां षण्मासप्रमाण उत्कृष्टोऽवग्रहो भवति । तद्यथा—एको ग्रीष्मचरममासः, चत्वारो वर्षाकालमासाः षष्ठो मार्गशीर्षो दिवसदशकत्रयलक्षण इति ॥७७५॥

१ 'कम्हिंपी' त्यादि-मु. ॥ २ तत्र- सि. वि. नास्ति ॥

अथ मार्गशीर्षे न वर्षति मार्गाश्च हरितकर्दमाद्यनाकुलास्तत्र किं कर्तव्यमित्याह–'अहे' त्यादि, अथा-
स्ति पादानां–चरणानां विचारो-गमनानुकूलता, तत इति शेषः, 'चउपाडिवयंमि' त्ति चतसृणां प्रतिपदां
समाहारश्चतुःप्रतिपत्, अत्र च प्रतिपदो मासान्तवर्तिन्यो विवक्षिताः, ततः कार्तिकानन्तरं भवति निर्गमनं
-विहार इत्यर्थः, अथ विहारयोग्येऽपि समये न निर्गच्छति [1]तदा तस्य साधोरनिर्गच्छतस्ततः स्थानादारोपणं
-प्रायश्चित्तं सूत्रनिर्दिष्टं–सूत्रकथितं भवतीति ॥७७६॥

नन्वेकत्र क्षेत्रे स्थितानां यतनापराणामपि यतीनां कुलप्रतिबन्धादयो बहवो दोषा एव भवन्ति ततः
कथमिदं युक्तमित्याह–'एगे' त्यादि, एकस्मिन् क्षेत्रे निवास एकक्षेत्रनिवासः तस्मिन् सति यद्यपि
'कालातिक्रान्तचारिणः' समयभणितकालातिक्रमचारिणो यतयस्तथापि 'हुः' स्फुटं 'विशुद्धचरणा'
निरतिचारचारित्रास्ते 'येन' यतः कारणात् 'विशुद्धालम्बना' विशुद्धं–शाठ्येनादूषितं वार्धकजङ्घाबलपरि-
क्षीणताविहारायोग्यक्षेत्रादिकमालम्बनं–कारणं येषां ते विशुद्धालम्बना इति ॥७७७॥

अथ कस्मादालम्बनमन्वेषणीयमित्याह 'सालंबे' त्यादि, आलम्ब्यते–पतद्भिराश्रीयते इत्या-
लम्बनम्, तच्च द्विविधं–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र गर्तादौ प्रपतद्भिर्यद् द्रव्यमालम्ब्यते तद् द्रव्यालम्बनम्,
तदपि द्रव्यं द्विविधं–पुष्टमपुष्टं च, तत्रापुष्टं–दुर्बलं [2]कुशवल्वजादि पुष्टं तु दृढं कठोरवल्ल्यादि, भावालम्ब-
नमपि पुष्टा-ऽपुष्टभेदाद् द्विधा, तत्र पुष्टं वक्ष्यमाणं तीर्थाव्यवच्छित्त्यादि, शठतया स्वमतिमात्रोत्प्रेक्षितं
त्वपुष्टम्, ततश्च सह आलम्बनेन वर्तत इति सालम्बनः । असौ पतन्नप्यात्मानं दुर्गमेऽपि–गर्तादौ पुष्टा-

१ तथा.जे· ॥ २ कुशवल्कजादि-जे· । कुशवच्चकादि·वि· । कुशवच्चकाद० त्रि· । कुशवच्चजादि·इति आव.
हारिभद्र्यां[प. ५३४] पाठः ॥

लम्बनावष्टम्भतो धारयति । 'इति' एवमेव सह आलम्बनेन वर्तत इति सालम्बनः, एवम्भूतः सन् किमपि नित्यवासादिकं सेवते–भजते इति सालम्बनसेवी 'यतिः' साधुः संसारगर्तायां पतन्तमात्मानमशठ-भावं–मातृस्थानरहितं धारयतीत्येष आलम्नान्वेषणे गुणः ॥७७८॥

कानि पुनस्तान्यालम्बनानीत्याह—'काह' मित्यादि, यः कश्चिदेवं चिन्तयति यथा करिष्याम्य-हमत्र स्थितोऽच्छित्तिं–अव्यवच्छित्तिं जिनधर्मस्येति शेषः, राजादेर्जिनशासनावतारणादिभिः, 'अदुवे' ति अथवा अहमध्येष्ये सूत्रतोऽर्थतश्च द्वादशाङ्गं दर्शनप्रभावकाणि वा शास्त्राणि, यदिवा तपोलब्धिसमन्वि-तत्वात्तपोविधानेषु नानाप्रकारेषु तपस्तु 'उज्जमिस्सं' ति [1]उद्यंस्यामि–उद्यमं करिष्यामि । 'गणं वा' गच्छं वा 'नोइसु य' त्ति सप्तम्यास्तृतीयार्थत्वान्नीतिभिः सूत्रोक्ताभिः सारयिष्यामि–गुणैः प्रवृद्धं करि-ष्यामि । स एव सालम्बनसेवी एतैरनन्तरोदितैरालम्बनैर्यतनया नित्यवासमपि प्रतिसेवमानो जिनाज्ञानुल्ल-ङ्घनात्समुपैति–प्राप्नोति 'मोक्षं' सिद्धिम् । तस्मात्तीर्थाव्यवच्छेदादिकमेव यथोक्तं ज्ञान-दर्शन-चारित्राणां समुदितानामन्यतरस्य वा यद् वृद्धिजनकं तदालम्बनं जिनाज्ञावशादुपादेयम् , नान्यत् , अन्यथा हि—

❀"आलंबणाण भरिओ लोओ जीवस्स अजउकामस्स । जं जं पिच्छइ लोए तं तं आलंबणं कुणइ ॥१॥'

[आव. नि. ११८८] इति ७७९ ॥ १०४ ॥

इदानीं जायाजायकप्प' त्ति पञ्चोत्तरशततमं द्वारमाह—

जाओ य अजाओ य दुविहो कप्पो य होइ नायव्वो ।
एक्केक्कोऽवि य दुविहो समत्तकप्पो य असमत्तो ॥७८०॥

१ उद्यंस्यामि–जे. नास्ति ॥
❀ अयतितुकामस्य जीवस्य लोक आलम्बनैर्भृतः । यत् यत् प्रेक्षते लोके तत्तद् आलम्न करोति ॥१॥

[1]गीयत्थ जायकप्पो अगीयओ खलु भवे अजाओ य ।
पणगं समत्तकप्पो तदूणगो होइ असमत्तो ॥७८१॥ [व्यवहारभा. उ.४/गा.१५-६]
उउबद्धे वासासुं सत्त समत्तो तदूणगो इयरो ।
असमत्ताजायाणं ओहेण न किंचि आहव्वं ॥७८२॥ [पञ्चव. १३२८-३०]

'जाओ' इत्यादि गाथात्रयम् [2]द्विविधः खलु कल्पः—समाचारो भवति ज्ञातव्यस्तद्यथा—जातोऽजातश्च । तत्र जाता—निष्पन्नाः श्रुतसम्पदुपेततया लब्धात्मलाभाः साधवः तदव्यतिरेकात्कल्पोऽपि जात उच्यते । एतद्विपरीतः पुनरजातः, एकैकोऽपि च द्विधा—समाप्तकल्पोऽसमाप्तकल्पश्च । समाप्तकल्पो नाम परिपूर्णसहायः, तद्विपरीतोऽसमाप्तकल्पः ॥७८०॥

एतानेव चतुरो जातादीन् व्याख्यानयति— [3]'गीयत्थ'इत्यादिगाथाद्वयम् , गीतार्थसाधुसम्बन्धि-त्वाद्गीतार्थो यो विहारः स जातकल्पोऽभिधीयते. 'अगीतः खलु' अगीतार्थसाधुसम्बन्धी पुनर्भवेद-जातः—अजातकल्पः, तथा द्वितीयगाथावर्तिनः 'उउबद्धे' इत्यस्य पदस्येह सम्बन्धात् 'ऋतुबद्धे' अवर्षासु 'पणग' ति साधुपञ्चकपरिमाणः समाप्तकल्पो नाम विहारो भवति, 'तदूनकः' तस्मात्पञ्चकात् हीनतरो [4]द्वि-त्रि चतुर्णां साधूनामित्यर्थः कल्पो भवत्यसमाप्तोऽ[5]परिपूर्णसहायत्वात् , वर्षासु—वर्षाकाले पुनः

१ गीयत्थु जे. २ । गियत्थो· इति व्यवहारभाष्ये (उ. ४ । गा. १६ पाठः ॥
२ तुलना धर्मसंग्रहवृत्तिः भा. २ । प. १६८ त ॥ ३ गियत्थु-सि. वि ॥ ४ द्वित्रिचतुराणां- मु. ॥
५ ०परिपूर्णोऽस० इति धर्मसङ्ग्रहवृत्तौ (भा. २ । प. १६९A) पाठः॥

साधुसप्तकपरिमाणः समाप्तकल्पः, तदूनकः—तस्मात्सप्तकान्न्यूनतर इतरः—असमाप्तकल्पः । यच्च वर्षासु सप्तानां [1]विहारवर्णनं तत् किल वर्षासु तेषां ग्लानत्वादिसम्भवे सहायस्यान्यत आगमनासम्भवादल्पसहायता मा भूदिति हेतोः, ततश्चासमाप्ताजातानाम्—असमाप्तकल्पाजातकल्पवतां साधूनामोघेन—उत्सर्गेण न किञ्चित्क्षेत्रतद्गतशिष्यभक्तपानवस्त्रपात्रादिकमागमप्रसिद्धमाभाव्यमिति ॥७८१-७८२॥१०५॥

इदानीं 'परिट्ठवणुच्चारकरणदिसि' त्ति षडुत्तरशततमं द्वारमाह—

[2]दिसा अवरदक्खिणा १ दक्खिणा य २ अवरा य ३ दक्खिणापुव्वा ४ ।
अवरुत्तरा य ५ पुव्वा ६ उत्तर ७ पुव्वुत्तरा ८ चेव ॥७८३॥
पउरऽन्नपाण पढमा बीयाए भत्तपाण न लहंति ।
[3]तइयाए उवहिमाई नत्थि चउत्थीए सज्झाओ ॥७८४॥
पंचमियाए असंखडो छट्ठीए गणस्स भेयणं जाण ।
सत्तमिया गेलन्नं मरणं पुण अट्ठमे बिंति ॥७८५॥
[4]दिसिपवणगामसूरियच्छायाए पमज्जिऊण तिक्खुत्तो ।
जस्सोग्गहोत्ति काऊण वोसिरे आयमेज्जा वा ॥७८६॥ [ओघनि.३१६]

१ विहारकरणं-मु । धर्मसं. वृत्तावपि 'विहारवर्णनं' इति पाठ. ॥
२ एता गाथा (७८३-४-५) आवश्यकहारिभद्र्यामपि (प. ६३०A) अन्यकर्तृकी इति कृत्वोद्धृताः ॥
३ तईयाए- जे. ॥ ४ इतः पूर्वं ता. प्रतौ 'इण्हिं उच्चार करणं ति' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते ॥

उत्तरपुव्वा पुज्जा जम्माए [1]निसायरा अहिपडंति ।
घाणारिसा य पवणे सूरियगामे अवन्नो उ ॥७८७॥
संसत्तग्गहणी पुण छायाए निग्गयाए वोसिरइ ।
छायाऽसइ उण्हंमिवि वोसिरिय मुहुत्तयं चिट्ठे ॥७८८॥ [ओघनि.भा.१८४-५]
उवगरणं [2]वामगजाणुगंमि मत्तो य दाहिणे हत्थे ।
तत्थऽन्नत्थ व पुंछे [3]तिहि आयमणं अदूरंमि ॥७८९॥ [बृ.क.भा. १५०६-७-८, ४५६-७-८-९, पञ्चवस्तुक४२५-६-७-९, ओघनि. ३१७]

'दिसे'त्यादिगाथासप्तकम्, अचित्तसंयतपरिष्ठापनाय दिक् प्रथमतोऽपरदक्षिणा—नैऋती निरीक्षणीया, तस्या अभावे दक्षिणा, तस्या अभावे अपरा– [4]पश्चिमेत्यर्थः, तस्या अप्यभावे दक्षिणपूर्वा–आग्नेयीत्यर्थः, तस्या अप्यभावेऽपरोत्तरा—वायवीति भावः, तस्या अप्यभावे पूर्वा, तस्या अप्यलाभे उत्तरा, तस्या अप्यलाभे पूर्वोत्तरा ऐशानीत्यर्थः। [5]इह च यत्र ग्रामादौ मासकल्पं वर्षावासं वा गीतार्थाः साधवः संवसन्ति तत्र प्रथममेव पूर्वोक्तासु [6]दिक्षु परिष्ठापने मृतोज्झननिमित्तं त्रीणि महास्थण्डिलानि

१ निसियरा-जे २ ला.। निसीयरा-इति बृ. क. भाष्ये (गा. ४५७) पाठः॥
२ पञ्चवस्तुक-बृ. क. भाष्य-ओघनिर्युक्ति-धर्मसङ्ग्रहवृत्त्यादिषु 'वामे उरुगंमि' इति पाठः॥
३ तिआयमण-मु.। ओघनिर्युक्ति-पञ्चवस्तुक-बृ. क. भाष्य-धर्मसं. वृत्त्यादिष्वपि 'तिहि आयमण' इति पाठः॥
४ पश्चिमा तस्या-जे.॥ ५ तुलना-आवश्यकहारिभद्रीया वृत्तिः प.६३० तः॥ ६ दिक्षु मृतोज्झन० सि. वि.॥

प्रत्युपेक्षन्ते—आसन्ने मध्ये दूरे च । किं कारणमिति चेत्तत्र ब्रूमः-प्रथमस्थण्डिले कदाचिद्व्याघातो [1]भवेत्, तथाहि—क्षेत्रं तत्र केनापि कृष्टम्, उदकेन वा तत् प्लावितम्, हरितकायो वा तत्राजनि, कीटिकादिभिर्वा तत्संसक्तं जातम्, ग्रामो वा तत्र निविष्टः, सार्थो वा कश्चित्तत्रावासित इत्यतो द्वितीये स्थण्डिले परिष्ठापनं विधेयम्, तस्याप्येतैरेव हेतुभिर्व्याघाते तृतीये स्थण्डिले परिष्ठापनं कार्यमिति ॥७८३॥

सम्प्रति प्रथमायां दिशि सत्यां शेषदिक्षु परिष्ठापने दोषमाह—'पउरे'त्यादिगाथाद्वयम्, **पउरन्नपाण पढमा'** इत्यत्र प्राकृतत्वात्सप्तम्या लोपः, ततः प्रथमायाम्-अपरदक्षिणायां परिष्ठापने प्रचुरान्न-पान-वस्त्र-पात्रादिलाभतः समाधिरुपजायते, तस्यां सत्यां द्वितीयस्यां-दक्षिणायां परिष्ठापने भक्तपाने न लभन्ते । तृतीयस्यां--पश्चिमायामुपध्यादि न लभन्ते । चतुर्थ्यां--दक्षिणपूर्वस्यां नास्ति स्वाध्यायः स्वाध्यायाभाव इत्यर्थः ॥७८४॥

पञ्चम्याम्—अपरोत्तरस्यां **'असंखडि'**त्ति कलहः संयत-गृहस्था-ऽन्यतीर्थिकादिभिः सह । षष्ठ्यां—पूर्वस्यां गणस्य—गच्छस्य भेदनं—भेदं जानीहि । गच्छभेदो भवतीत्यर्थः । सप्तम्याम्—उत्तरस्यां ग्लानत्वं—रोगोत्पत्तिः । अष्टमीति प्राकृतत्वाद्विभक्तिलोपे अष्टम्यां—पूर्वोत्तरस्यां दिशि मृतकपरिष्ठापने मरणं पुनर्भवते । अन्यः कश्चित्संयतो म्रियते इत्यर्थः । इह च पानीय-स्तेनभयादिव्याघातसद्भावतः पूर्वपूर्वदिगलाभे उत्तरोत्तरस्यामपि दिशि मृतकपरिष्ठापने प्रचुरान्न-पानलाभलक्षणः प्रथमदिक्प्रतिपादित एव गुणोऽ-

१ भवति-सि. वि. ॥

वसेयः । यदा पुनः पूर्वपूर्वदिक्सद्भावे उत्तरोत्तरस्यां दिशि परिष्ठापयन्ति तदा पाश्चात्या एव दोषा भवन्तीति ॥७८५॥

उक्ता अचित्तसंयतपरिष्ठापनदिक्, इदानीमुच्चारकरणदिगभिधीयते–'दिसी'त्यादि, साधुना संज्ञां व्युत्सृजता 'दिसि' त्ति पूर्वस्यामुत्तरस्यां च दिशि पृष्ठं न दातव्यम् । तथा पवन-ग्राम-सूर्याणां च पृष्ठं न दातव्यम्, । तथा छायायां निर्गतायां व्युत्सृजेत् । तथा त्रिकृत्वः–त्रीन् वारान् प्रमार्ज्य उपलक्षणमेतत् प्रत्युपेक्ष्य च स्थण्डिलमिति गम्यते व्युत्सृजेत् ।

तत्र चायं विधिः–अयुगलिता अत्वरमाणा विकथारहिताश्च पुरीषव्युत्सर्जनाय व्रजन्ति । तत उपविश्य पुतनिर्लेपनाय इष्टकादिखण्डरूपाणि डगलकानि गृह्णन्ति । पिपीलिकादिरक्षणार्थं च तेषां प्रस्फोटनं कुर्वन्ति । तदनन्तरमुत्थाय निर्दोषं स्थण्डिलं गत्वा [1]ऊर्द्ध्वमधस्तिर्यक् चावलोकनं कुर्वन्ति । तत्रोर्द्ध्वं वृक्षस्थ-पर्वतस्थादिदर्शनार्थम्, अधो गर्ता-दर्याद्युपलब्धये, तिर्यक् [2]व्रजद्विश्राम्यदादिनिरीक्षणार्थमिति । ततः सागरिकाभावे संदंशकान् सम्प्रमार्ज्य प्रेक्षिते प्रमार्जिते च स्थण्डिले पुरीषं व्युत्सृजन्तीति । तथा यस्यायमवग्रहः सोऽनुजानीयादित्यनुज्ञां कृत्वा व्युत्सृजेत् आचमेद्वा ॥७८६॥

सम्प्रत्येनामेव गाथां विवरीतुकाम आह–'उत्तरे'त्यादि, [3]उत्तरदिक्पूर्वदिक्च लोके पूज्येते ततस्तस्याः पृष्ठदाने लोकमध्येऽवर्णवादो भवति । वानमन्तरं वा [4]किञ्चित् कोपयेत्, तथा च सति

१ तुलना–सवृत्तिकः पञ्चवस्तुकः गा. ४२८ ॥ २ वद्विश्रा०इति पञ्चव.वृत्तौ ४२८ पाठः ॥ ३ तुलना–बृ.क.भा.वृत्तिः गा. ४५७ ॥ ४ कञ्चित् कोपयते–मु. । 'किञ्चिन्मिथ्यादृष्टिः कुप्येत्' इति बृ.क.भा. वृत्तौ [गा. ४५६] पाठः ॥

जीवितव्यस्य विनाशः । तस्माद्दिवा रात्रौ च पूर्वस्यामुत्तरस्यां [1]च दिवा पृष्ठं वर्जयेत् । तथा याम्या-दक्षिणा दिक् तस्याः सकाशाद्रात्रौ निशाचराः-पिशाचादयो देवा अभिपतन्ति-उत्तराभिमुखाः समागच्छन्ति । ततस्तस्यां रात्रौ पृष्ठं न दद्यात् । उक्तं च—

"उभे मूत्रपुरीषे च, दिवा कुर्यादुदङ्मुखः । रात्रौ दक्षिणतश्चैव, तथा चायुर्न हीयते ॥ १ ॥"

तथा यतः पवनस्ततः पृष्ठदाने [2]अशुभगन्धाघ्राणं नासिकायां च अर्शांस्युपजायन्ते । चशब्दा[3]ल्लोकोपहासश्च, यथा [4]'आघ्रन्त्येतद्देते' इति । तस्मात्पवनस्यापि पृष्ठं न कर्तव्यम् । तथा सूर्यस्य ग्रामस्य च पृष्ठकरणेऽवर्णो-लोकमध्येऽश्लाघा । यथा न किञ्चिज्जानन्त्येते यल्लोकोद्योतकरस्यापि सूर्यस्य यस्मिन् ग्रामे स्थीयते तस्यापि च पृष्ठं ददति । ततस्तयोरपि न दातव्यं पृष्ठमिति ॥७८७॥

'छायाए' इति व्याख्यानार्थमाह—'संसत्त' त्यादि, [5]संसक्ता द्वीन्द्रियै[6]र्ग्रहणिः-कुक्षिर्यस्यासौ संसक्तग्रहणिः । स द्वीन्द्रियरक्षणार्थं छायायां पुष्पफलप्रदवृक्षादिसम्बन्धिन्यां निर्गतायां व्युत्सृजति । अथ छायाऽद्यापि न निर्गच्छति मध्याह्ने एव संज्ञाप्रवृत्तेः, ततश्छायाया असति-अभावे उष्णेऽपि [7]स्वशरीरच्छायां पुरीषस्य कृत्वा व्युत्सृजति । व्युत्सृज्य च मुहूर्तकम्-अल्पं मुहूर्तं तथैव तिष्ठति येन एतावता कालेन स्वयोगतस्ते परिणमन्ति । अन्यथोष्णेन महती परितापना स्यात् ॥७८८॥

१ च पृष्ठं-मु. ॥ २ अशुभगन्धाघ्राणिः-इति बृ.क.भा. वृत्तौ (गा ४५७) पाठः ॥
३ ल्लोकोपघातश्च-जे. सि. वि. पञ्चवस्तुकवृत्तौ गा. (४२६) च ॥ ४ अघ्रन्त्येतद्देते-इति बृ क.भा. वृत्तौ पाठः, गा.४५६॥
५ तुलना-बृ.क.भा.वृत्तिः ४५७॥ ६ ग्रहणी- मलद्वारं-इति धर्मसं.वृत्तौ पाठः, भा.२ । प.६० ॥ ७ स्वशरीरच्छायायां-सि. ॥

अथ व्युत्सृजन् स्वोपकरणं कथं [1]धरतीत्याह–'उवे' त्यादि, [2]उपकरणं–दण्डकं रजोहरणं च वामे ऊरौ स्थापयति । मात्रकं च दक्षिणे हस्ते क्रियते । [3]डगलकानि च वामहस्तेन धरणीयानि । ततः संज्ञां व्युत्सृज्य तत्रान्यत्र वा प्रदेशे डगलकैः पुतं पुंसयति-रुक्षयति । पुंसयित्वा त्रिभिर्नावापूरकैः चुलुकैरित्यर्थः आचमनं–निर्लेपनं करोति । उक्तं च—

'तिहिं नावापूरएहिं आयामइ–निल्लेवेइ, [4]नावा–पसई' [पञ्चवस्तुकवृत्तिः गा. ४२९] इति ।

तदपि चाचमनमदूरे करोति । यदि पुनर्दूरे आचमति तत उड्डाहो, यथा कश्चिद् दृष्ट्वा चिन्तयेत्–अनिर्लिप्तपुतो गत एष इति ॥७८९॥१०६॥

इदानीं 'अट्ठारस पुरिसेसु' त्ति सप्तोत्तरशततमं द्वारमाह—

बाले १ वुड्ढे २ नपुंसे य ३, कीवे ४ जड्डे य ५ वाहिए ६ ।
तेणे ७ रायावगारी य ८, उम्मत्ते य ९ अदंसणे १० ॥७९०॥
दासे ११ दुट्ठे य १२ मूढे य १३, अणत्त १४ जुंगिए इय १५ ।
[5]ओबद्धए य १६ भयए १७, [6]सेहनिप्फेडिया इय १८ ॥७९१॥

[निशीथभाष्य ३५०६-७, पञ्चकल्पमहाभाष्य २००-१]

---

१ धारयतीत्यताह-सि. वि. ॥ २ तुलना-बृ. क. भा. वृत्तिः, गा. ४५९ ॥ ३ डगलानि-मु. ॥
४ 'नावापूरओ नाम पसती इति' इति बृ. क. भा. वृत्तौ (गा. ४५६) पाठः ॥ ५ उवबद्धए-जे. ॥ ६ सेहे नि॰ ता. ॥

'बाले' त्यादि श्लोकद्वयम् , [1]'जन्मत आरभ्य अष्टौ वर्षाणि यावद्बालोऽत्राभिधीयते। स किल गर्भस्थो नव मासान् सातिरेकान् गमयति जातोऽप्यष्टौ वर्षाणि यावद्दीक्षां न प्रतिपद्यते । वर्षाष्टकादधो वर्तमानस्य सर्वस्यापि तथास्वाभाव्याद्देशतः सर्वतो वा विरतिप्रतिपत्तेरभावात् । उक्तं च––

△''एएसि वयपमाणं अट्ठ समाउत्ति वीयरागेहिं । भणिअं जहन्नगं खलु'' [पञ्चव. गा.५०] इति ।

अन्ये तु गर्भाष्टमवर्षस्यापि दीक्षां मन्यन्ते । यदुक्तं **निशीथचूर्णौ**—

❋''आदेसेण वा गब्भट्ठमस्स दिक्ख'' [गा.३५४३] त्ति ।

भगवद्वज्रस्वामिना व्यभिचार इति चेत् । तथाहि–भगवान् वज्रस्वामी षाण्मासिकोऽपि भावतः प्रतिपन्नसर्वसावद्यविरतिः श्रूयते । तथा च सूत्रम्––

● ''छम्मासियं छसु जयं माऊए समन्नियं वंदे'' [आव. नि. ७६४]। सत्यमेतत् , किन्त्वियं शैशवेऽपि भगवद्वज्रस्वामिनो भावतश्चरणप्रतिपत्तिराश्चर्यभूता कादाचित्कीति न तया व्यभिचारः ।

उक्तं च **पञ्चवस्तुके**–

''तदधो परिहवखेत्तं न चरणभावोऽवि पायमेएसिं। आहच्चभावकहगं सुत्तं पुण होइ नायव्वं ॥१॥'' [गा.५१]

---

१ तुलना–धर्मबिन्दुवृत्तिः ५ । ३३,धर्मसङ्ग्रहवृत्तिः, भा. २/प.३ ॥
△ एतेषां वयःप्रमाणमष्टसमा इति वीतरागैर्भणितं जघन्यकं खलु''॥
❋आदेशेन वा गर्भाष्टमस्य दीक्षेति ॥ ● षाण्मासिकं षट्सु यतं मात्रा समन्वितं वन्दे ॥

अस्या व्याख्या–तेषामष्टानामधो वर्तमाना मनुष्याः परिभवक्षेत्रं भवन्ति । येन तेन वाऽतिशिशुत्वात्परिभूयन्ते, तथा चरणभावोऽपि–चरणपरिणामोऽपि प्राय एतेषां–वर्षाष्टकादधोवर्तमानानां न भवति । यत्पुनः सूत्रम् 'छम्मासियं छसु जयं माऊए समन्नियं वंदे' [आव. नि.७६४] इत्येवंरूपं तत् 'आहच्चभावकहगं' कादाचित्कभावकथकम्, ततो वर्षाष्टकादधः परिभवक्षेत्रत्वाच्चरणपरिणामाभावाच्च न दीक्ष्यन्ते इति । अन्यच्च [1]बालदीक्षणे संयमविराधनादयो दोषाः । स हि अयोगोलकसमानो यतो यतः स्पन्दते ततस्ततोऽज्ञानित्वात् षड्जीवनिकायवधाय भवति । तथा निरनुकम्पा अमी श्रमणाः यदेवं बालानपि बलाद्दीक्षाकारागारे प्रक्षिप्य स्वच्छन्दतामुच्छिदन्तीति [2]जननिन्दा । तत्परिचेष्टायां च मातृजनोचितायां क्रियमाणायां स्वाध्यायपलिमन्थः स्यादिति १ ।

तथा सप्ततिवर्षेभ्यः परतो वृद्धो भण्यते, [3]अपरे त्वाहुः–अर्वागपीन्द्रियादिहानिदर्शना षष्टिवर्षेभ्य उपरि वृद्धोऽभिधीयते । तस्यापि च समाधानादि कर्तुं [4]दुःशकम्, यदुक्तम्—

△"उच्चासणं समीहइ विणयं न करेइ गव्वमुव्वहइ । वुड्ढो न दिक्खियव्वो जइ जाओ [5]वासुदेवेणं ॥१॥"

इत्यादि ।

---

१ वालदीक्षणायां–मु. । धर्मसं. वृत्तावपि (भा. २ । प. ४) बालदीक्षण' इति पाठः ॥ २ जिननिन्दा-जे. ॥
३ अन्ये-जे.वि.सि. ॥ ४ दुःशक्यं-सि. वि. धर्मसं. वृत्तौ च ॥ ५ वासुदेवेण-सि. वि. ॥
△ उच्चासनं समीहते विनयं न करोति गर्वमुद्वहति । वृद्धो न दीक्षितव्यो यदि जातो वासुदेवेन ॥१॥

इदं च वर्षशतायुष्कं प्रति द्रष्टव्यम्, अन्यथा यद् यस्मिन् काले उत्कृष्टमायुस्तद्दशधा विभज्याष्टम-नवम-दशमभागेषु वर्तमानस्य वृद्धत्वमवसेयम् २ ।

तथा स्त्री-पुंसोभयाभिलाषी पुरुषाकृतिः [1]पुरुषनपुंसकः । सोऽपि बहुदोषकारित्वाद्दीक्षितुमनुचितः । 'बाले वुड्ढे य थेरे य' इति पाठस्तु निशीथादीष्वदर्शनादुपेक्षितः ३ ।

तथा स्त्रीभिर्भोगैर्निमन्त्रितोऽसंवृताया वा स्त्रियोऽङ्गोपाङ्गानि दृष्ट्वा शब्दं वा [2]मन्मनोल्लापादिकं तासां श्रुत्वा समुद्भूतकामाभिलाषोऽधिसोढुं यो न शक्नोति स पुरुषाकृतिः पुरुषक्लीवः । सोऽप्युत्कटवेदतया पुरुषवेदोदयाद् बलात्कारेणाङ्गनालिङ्गनादि कुर्यात्, तत उड्डाहादिकारित्वाद्दीक्षाया अनर्ह एव ४ ।

तथा [3]जड्डस्त्रिविधो—भाषया शरीरेण करणेन च । भाषाजड्डः पुनरपि त्रिविधो—जलमूको मन्मनमूक एलकमूकश्च । तत्र जलमग्न इव बुडबुडायमानो यो वक्ति स जलमूकः । यस्य तु वदतः खञ्च्यमानमिव वचनं स्खलति स मन्मनमूकः । यश्चैलक इवाव्यक्तं मूकतया शब्दमात्रमेव करोति स एलकमूकः ।

[4]तथा यः पथि भिक्षाटने वन्दनादिषु [5]चाऽतीव स्थूलतया अशक्तो भवति स शरीरजड्डः । करणं—क्रिया तस्यां जड्डः करणजड्डः, [6]समिति-गुप्ति-प्रतिक्रमण-[7]प्रत्युपेक्षण-संयमपालनादिक्रियां पुनः पुनरुपदिश्यमाना-

१ पुरुषो नपुंसकः-इति धर्मसं. वृत्तौ (प. ४) पाठः ॥

२ मन्मथोल्ला० मु. । धर्मसं. वृत्तावपि (प. ४) मन्मनोल्ला० इति पाठः ॥

३ तुलना आव. हारिभद्री प. ६२८ तः, निशीथभा. ३६२५ ॥ ४ तुलना-निशीथ भा. ३६२६ ॥ ५ वाऽतीव-मु. ॥

६ तुलना निशीथभा. ३६३३ ॥ ७ ०प्रत्युपेक्षणा० सि.वि. ॥

मप्यतीव जड्डतया यो ग्रहीतुं न शक्नोति स करणजड्ड इत्यर्थः । तत्र [1]भाषाजडस्त्रिविधोऽपि ज्ञानग्रहणेऽसमर्थत्वान्न दीक्ष्यते । शरीरजड्डस्तु मार्गगमनभक्तपानाद्यानयनादिषु असमर्थो भवति । [2]तथा अतिजड्डस्य प्रस्वेदेन कक्षादिषु कुथितत्वं भवति । तेषां जलेन क्षालनादिषु क्रियमाणेषु कीटिकादीनां प्राणिनां प्लावना सम्पद्यते, ततः संयमविराधना । तथा लोको निन्दां करोति-अहोऽसौ बहुभक्षकः, कथमन्यथा एवंविधं स्थूलत्वमेतस्य मुण्डितकस्य, [3]न हि गलश्चौर इति । [4]तथा तस्योद्र्ध्वश्वासो भवति । अपरिक्रमश्च सर्प जलज्वलनादिषु समीपमागच्छत्सु स भवति । ततोऽसौ न दीक्षणीयः । तथा करणजड्डोऽपि समितिगुप्त्यादीनां शिक्ष्यमाणोऽप्यग्राहकत्वान्न दीक्षणीय इति ५ ।

[5]'तथा वाहिए' त्ति भगन्दरा-ऽतिसार-कुष्ठ-प्लीह-कार्श्य-कास-ज्वरादिरोगैर्ग्रस्तो व्याधितः, सोऽपि न दीक्षार्हः । तस्य चिकित्सने षट्कायविराधना स्वाध्यायादिहानिश्च ६ ।

तथा क्षत्रखननमार्ग[6]पातनादिचौर्यनिरतः स्तेनः, सोऽपि गच्छस्य वध-बन्धन-ताडनादिनानाविधानर्थनिबन्धनतया दीक्षानर्ह एव ७ ।

तथा श्रीगृहान्तःपुर-नृपतिशरीर-तत्पुत्रादिद्रोहविधायको राजापकारी, चः समुच्चये, तद्दीक्षणे रुष्टराजकृता मारण-देशनिःसारणादयो दोषा भवन्ति ८ ।

तथा यक्षादिभिः प्रबलमोहोदयेन वा परवशतां नीत उन्मत्तः, सोऽपि न दीक्षार्हः । यक्षादिभ्यः

---

१ तुलना-निशीथभा॰ ३६२७ ॥ २ तुलना-निशीथभा॰ ३६३२॥ ३ स हि-जे ॥ ४ तुलना-निशीथभा॰ ३६३१ ॥
५ तुलना-निशीथभा॰ ३६४५ तः ॥ ६ ॰पतनादि॰ सि॰ वि॰ ॥

प्रत्यवायसम्भवात् स्वाध्याय-ध्यान-संयमादिहानिप्रसङ्गाच्च ९ ।

तथा न विद्यते दर्शनं—दृष्टिरस्येत्यदर्शनः-अन्धः, स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयवानप्यत्र द्रष्टव्यः, न विद्यते दर्शनं—सम्यक्त्वमस्येति व्युत्पत्तेः । अयं च दीक्षितः सन् दृग्विकलतया यत्र तत्र वा सञ्चरन् षट् कायान् विराधयेत् विषमकीलकण्टकादिषु च प्रपतेत् । स्त्यानर्द्धिस्तु प्रद्विष्टो गृहिणां साधूनां च मारणादि कुर्यात् १० । ॥७९०॥

तथा गृहदास्याः सञ्जातो दुर्भिक्षादिष्वर्थादिना वा क्रीतः, ऋणादिव्यतिकरे वाऽवरुद्धो दास उच्यते तस्यापि दीक्षादाने तत्स्वामिकृता उत्प्रव्राजनादयो दोषाः ११ ।

तथा दुष्टो द्विधा—कषायदुष्टो विषयदुष्टश्च । तत्र [1]गुरुगृहीतसर्षपभर्जिकाव्यतिकराभिनिविष्ट-

---

१ 'सासणवाले' इमं उदाहरणं—

सासणवाले छदणं गुरु सव्वं भुंजे एतरे कोवो खामण य अणुवसंते, गणिट्ठवेंतऽण्णहि परिन्नो ॥निशीथभा.३६८३॥

एगेण साहुणा सासवणालुस्सेल्लयं सुसंभूतं लद्धं, तत्थ से अतीव गेही, तेण य तं गुरुणो उवणीयं; तं च गुरुणा सव्वं भुत्त, इयरस्स कोवो जातो झटियं च ।

गुरुणा सो खामितो, तदावि णोवसंतो । भणति य-भंजामि ते दंता ।

गुरुणा विचिंतियं-मा एस मे असमाधिमरणेण मारिस्सइ त्ति, गणे अन्नं आयरियं ठवेत्ता अन्नं गणं गंतुं अणासगं पडिवण्णं ॥३६८३॥ पुच्छति य ते साहू "कत्थ मे गुरवो"?

पुच्छंतमणक्खाए सोऽवऽण्णाओ गंतुं कत्थ से सरीरं ।

गुरुणा पुव्व कहिते दायिते पडिचरणदंतवहो ॥३६८४॥

साश्वादिवदुत्कटकषायः कषायदुष्टः । अतीव परयोषिदादिषु गृद्धो विषयदुष्टः । सोऽपि दीक्षानर्हो-ऽतिसंक्लिष्टाध्यवसायत्वात् १२ ।

तथा स्नेहादज्ञानादिपरतन्त्रतया यथावस्थितवस्त्वधिगमशून्यमानसो मूढः । सोऽपि ज्ञान-विवेक-मूलायामार्हतदीक्षायां नाधिक्रियते । अज्ञानत्वात्कृत्याकृत्यादिविवेकविकलत्वाच्च १३ ।

तथा यो राजव्यवहारिकादीनां हिरण्यादिकं धारयति स ऋणार्त्तः, तस्य दीक्षादाने राजादिकृता ग्रहणा-ऽऽकर्षण-कदर्थनादयो दोषाः १४ ।

तथा जाति-कर्म शरीरादिभिर्दूषितो जुङ्गितः । तत्र मातङ्ग-कोलिक-वरुड सूचिक-[1]छिम्पादयो-ऽस्पृश्या जाति जुङ्गिताः । स्पृश्या अपि स्त्री-मयूर-कुर्कुट-शुकादिपोषका वंशवरत्रारोहण-नखप्रक्षालन-सौकरिकत्व-वागुरिकत्वादिनिन्दितकर्मकारिणः कर्मजुङ्गिताः । कर-चरण-कर्णादिवर्जिताः पङ्गु कुब्ज-वामनक-काणकप्रभृतयः शरीरजुङ्गिताः, तेऽपि न दीक्षार्हाः, लोकेऽवर्णवादसम्भवात् १५ ।

तथा अर्थग्रहणपूर्वकं विद्यादिग्रहणनिमित्तं वा एतावन्ति दिनानि त्वदीयोऽहमित्येवं येनात्मनः

पुच्छति कहिं गतो गुरु ? न कहेंति साहवो । सो अन्नओ सोच्चा गतो जत्थ गुरवो । तहिं कहियं–अज्ज चेव कालगतो परिट्ठवितो ।

ताहे ते पुच्छति–कत्थ से सरीरयं ? गुरुणा पुव्वकहितो चिंधेहि उवलक्खितो–सो एस पावोत्ति ।

तेण किं करेसि ? पेच्छामि से सरीरं ति । ताहे दंसितो, सह ते साहुणा गुविलट्ठाणठिता णं पडिचरितो "किमेस काहिति" त्ति पेच्छति । उवट्ठितो तु गोत्तोवलं कड्ढिऊण दंते वधंतो भणाति "सासणवालं खासि" त्ति एयं करेंतो दिट्ठो ।" इति निशीथचूर्णौ पृ. २६५ ॥ १ छिम्पकादयो–सि वि. । छिम्पि०धर्म. सं. वृत्तौ ॥

परायत्तता कृता भवति सोऽवबद्धः, स एवावबद्धकः, सोऽपि न दीक्षार्हः कलहादिदोषसम्भवात् १६ ।

तथा रूप्यकादिमात्रया वृत्त्या धनिनां गृहे [1]दिन पाटिकादिमात्रेण तदादेशकरणाय प्रवृत्तो यः स भृतकः, सोऽपि न दीक्षोचितः । यस्यासौ वृत्तिं गृह्णाति स दीक्ष्यमाणे तस्मिन् महतीमप्रीतिमादधाति १७ ।

तथा शैक्षस्य–दीक्षितुमिष्टस्य निस्फेटिका–अपहरणं शैक्षनिस्फेटिका, तद्योगाद् यो माता-पित्रादिभिरमुत्कलितोऽपहृत्य दीक्षितु[2]मिष्यते सोऽपि शैक्षनिस्फेटिका, सोपि न दीक्षोचितः । माता-पित्रादीनां कर्मबन्धसम्भवात् अदत्तादानादिदोषप्रसङ्गाच्च १८ ।

इत्येतेऽष्टादश पुरुषस्य–पुरुषाकारवतो दीक्षानर्हा भेदा इति ॥७११॥१०७॥

इदानीं **'वीस इत्थीसु'**त्ति अष्टोत्तरशततमं द्वारमाह—

जे अट्ठारस भेया पुरिसस्स तहित्थियाए ते चेव ।
गुव्विणी १ सबालवच्छा २ दुन्नि इमे हुंति अन्नेवि ॥७१२॥

'जे अट्ठारस भेया' गाहा, येऽष्टादश भेदाः पुरुषेष्वदीक्षणार्हा उक्तास्तथा–तेनैव प्रकारेण स्त्रियोऽपि त एव भेदा अष्टादश विज्ञेयाः । अयमर्थः–यथा पुरुषाकारवतस्तथा स्त्रीजनाकारवतोऽपि व्रतायोग्या बालादयोऽष्टादश भेदास्तावन्त एव । [3]अन्यावपि द्वाविमौ भवतः, यथा गुर्विणी–सगर्भा सह बालेन–स्तनपायिना वत्सेन वर्तते सा सबालवत्सा । एते सर्वेऽपि विंशतिः स्त्रीभेदा व्रतायोग्याः । दोषा अप्यत्र पूर्ववद्वाच्याः ।७१२॥१०८॥

१ धन० सि. ॥ २ ०मिष्यते सोऽपि न–मु. ॥ ३ तुलना–धर्मसं.वृत्तिः भा. २, प ५ ॥

इदानीं 'दस नपुंसेसु' इति नवोत्तरशततमं द्वारमाह–

पंडए १ वाइए २ कीवे ३, कुंभी ४ [1]ईसालुयत्ति य ५ ।
सउणी ६ *तक्कम्मसेवी ७ य, पक्खियापक्खिए ८ इय ॥७९३॥ [निशीथ भा. ३५६१]
सोगंधिए य ९ आसत्ते १०, [2]दस एते नपुंसगा ।
संकिलिट्ठित्ति साहूणं, पव्वावेउं अकप्पिया ॥७९४॥

'पंडए' इत्यादिश्लोकद्वयम् , पण्डको वातिकः क्लीबः कुम्भी ईर्ष्यालुः शकुनिस्तत्कर्मसेवी पाक्षिकापाक्षिकः सौगन्धिक आसक्तश्च दश एते नपुंसकाः [3]सङ्क्लिष्टचित्ता इति साधूनां प्रव्राजयितुमकल्प्या व्रतायोग्या इत्यर्थः । सङ्क्लिष्टत्वं चैषां सर्वेषामप्यविशेषतो नगरमहादाहसमानकामाऽध्यवसायसम्पन्नत्वेन स्त्री-पुरुषसेवामाश्रित्य विज्ञेयम् , उभयसेविनो ह्येते इति ॥७९३-७९४॥

तत्र पण्डकस्य लक्षणं–

महिलासहावो सरवन्नभेओ, मिंढं महंतं मउया य वाणी ।
ससद्दयं मुत्तमफेणयं च, एयाणि छप्पंडगलक्खणाणि ॥ १ ॥ [निशीथभा. ३५६७]

इति वृत्तादवसेयम् , अस्य व्याख्या–पुरुषाकारधारिणोऽपि महिलास्वभावत्वं पण्डकस्यैकं लक्षणम् , तथाहि–[4]गतिस्तस्यपदाकुला मन्दा च भवति, सशङ्कं च पृष्ठतोऽवलोकमानो गच्छति, शरीरं च शीतलं

१ ईसालुए त्ति–निशीथभाष्ये पाठः ॥ *तक्कम० मु. ॥ २ दस एए–जे. २ । एए दस–ता. ॥
३ तुलना–धर्मसं. वृत्तिः भा. २ । प. ५ ॥ ४ गतिस्त्रस्तपदा० मु. । तुलना–गती से मंदा पदाकुला....' इति निशीथचूर्णौ गा. ३५६८ ॥

मृदु च भवति, योषिदिवानवरतं [1]हत्थोल्लकान् प्रयच्छन् उदरोपरि तिर्यग्व्यवस्थापितवामकर[2]तलस्योपरिष्टाद्दक्षिणकरकूर्परं विन्यस्य दक्षिणकरतले च मुखं कृत्वा बाहू च विक्षिपन् भाषते, अभीक्ष्णं च [3]कटिहस्तकं ददाति प्रावरणाभावे स्त्रीवद् बाहुभ्यां हृदयमाच्छादयति, भाषमाणश्च पुनः पुनः सविभ्रमं भ्रूयुग्ममुत्क्षिपति, केशबन्धनप्रावरणादिकं च स्त्रीवत्करोति, योषिदाभरणादिपरिधानं च बहुमन्यते, स्नानादिकं च प्रच्छन्ने समाचरति, पुरुषसमाजमध्ये च सभयः शङ्कितस्तिष्ठति, स्त्रीसमाजे तु निःशङ्कः प्रमदाजनोचितं च रन्धन-[4]कण्डन-पेषणादिकं कर्म विदधाति इत्यादिमहिलास्वभावत्वं पण्डकलक्षणम् १ ।

[5]तथा 'स्वरवर्णभेदः' स्वरः–शब्दो वर्ण–शरीरसम्बन्धी उपलक्षणत्वाद्गन्ध-रस-स्पर्शाश्च स्त्री-पुरुषापेक्षया विलक्षणास्तस्य भवन्तीत्यर्थः २–३ ।

[6]'मेन्ढ्'–पुरुषचिह्नं महद्भवति ४ ।

मृद्वी च वाणी ललनाया इव जायते ५ ।

तथा स्त्रिया इव सशब्दं मूत्रं जायते फेनरहितं च तद्भवति ६ ।

एतानि षट् पण्डकलक्षणानि ।

[7]तथा वातोऽस्यास्तीति वातिकः, यः स्वनिमित्ततोऽन्यथा वा मेहने स्तब्धे सति स्त्रीसेवायामकृतायां

---

१ हत्थोलकान्–सि., धर्मसं. वृत्तिश्च । तुलना–निशीथचूर्णिः गा. ३५६६ तः ॥ ॥ २ तलस्यावोप० सि. वि. ॥ ३ कटी० सि. । कट्यां हस्तकं इति धर्म सं. वृत्तौ पाठः ॥ ४ काण्डन–सि. वि. ॥ ५ तुलना–निशीथचूर्णिः गा. ३५६७ ॥ ६ मेहनं–मु. ॥ ७ तुलना–निशीथभाष्यम् ; गा. ३५८१ तः ॥

वेदं धारयितुं न शक्नोति २ ।

तथा क्लीबः—असमर्थः, स चतुर्धा दृष्टि-शब्दा-ऽऽश्लिष्ट-निमन्त्रणाक्लीबभेदात् । तत्र यो विवस्त्राद्यवस्थं विपक्षं वीक्ष्य क्षुभ्यति स दृष्टिक्लीबः । यस्तु युवतिशब्दं श्रुत्वा क्षुभ्यति स शब्दक्लीबः । यः पुनः पुरन्ध्रीभिरुपगूढो निमन्त्रितश्च व्रतं विधातुं न शक्नोति स यथाक्रममाश्लिष्टक्लीबो निमन्त्रितक्लीबश्च विज्ञेयः ३ ।

यस्य तु मोहोत्कटतया सागारिकं वृषणौ वा कुम्भवदुच्छूनौ भवतः स कुम्भी ४ ।

तथा यस्य प्रतिसेव्यमानां वनितां विलोक्य प्रकाममीर्ष्या समुत्पद्यते स ईर्ष्यालुः ५ ।

तथा चटकवदुत्कटवेदतयाऽभीक्ष्णं प्रतिसेवनाप्रसक्तः शकुनिः ६ ।

तथा मैथुनमासेव्य बीजनिसर्गे सति यः श्वान इव वेदोत्कटतया जिह्वालेहनादिनिन्द्यकर्मणा सुखमात्मनो मन्यते स तत्कर्मसेवी ७ ।

तथा यस्य पक्षे—शुक्लपक्षेऽतीव मोहोद्भवो भवति अपक्षे च-कृष्णपक्षे स्वल्पः स पाक्षिकापाक्षिकः ८ ।

तथा यः शुभगन्धं मन्वानः स्वकीयं लिङ्गं जिघ्रति स सौगन्धिकः ९ ।

तथा यो वीर्यपातेऽपि कामिनीमालिङ्ग्य तदङ्गेषु कक्षोपस्थादिष्वनुप्रविश्यैव तिष्ठति स आसक्तः १०

पण्डकादीनां च परिज्ञानं तेषां तन्मित्रादेर्वा कथनादेरिति । ननु पुरुषमध्येऽपि नपुंसका उक्ता

१ वत्सतर्यौ-इति धर्मसं. वृत्तौ [प. ६] पाठः ॥

इहापि चेति तत्क एतेषां परस्परं प्रतिविशेषः ?, सत्यम् , किन्तु तत्र पुरुषाकृतीनां ग्रहणम् , इह तु नपुंसकाकृतीनामिति । उक्तं च निशीथचूर्णौ–

'इयाणिं नपुंसया दस, ते पुरिसेसु चेव वुत्ता नपुंसदारे, [1]जइ जे पुरिसेसु वुत्ता ते चेव इहंपि किंकओ भेदो ?, भन्नइ, तहिं पुरिसाकिई इह [2]गहणं सेसयाण भवे' [गा.३७३६] त्ति । एवं स्त्रीष्वपि वाच्यम् । ननु नपुंसकाः षोडशविधाः श्रुते श्रूयन्ते तत्कथमत्र दशैवोक्ताः ?, सत्यं, दशैव तद्भेदाः प्रव्रज्याया अयोग्याः ततस्त एवोक्ताः, शेषाः पुनः षट् दीक्षायोग्या एव । तथा चोक्तम्—

'वद्धिए चिप्पिए चेव, [3]मंतोसहिउवहए । इसिसत्ते देवसत्ते य, [4]पव्वावेज्ज नपुंसए ॥१॥'

अस्यार्थः–आयत्यां राजान्तःपुरमहल्लकपदप्राप्त्यादिनिमित्तं यस्य [5]बालत्वेऽपि छेदं दत्त्वा वृषणौ गालितौ भवतः स वर्द्धितकः । यस्य तु जातमात्रस्याङ्गुष्ठाङ्गुलीभिर्मर्दयित्वा वृषणौ द्राव्येते स चिप्पितः । एतयोश्चैवं कृते सति किल नपुंसकवेदोदयः सम्पद्यते । तथा कस्यचिन्मन्त्रसामर्थ्यादन्यस्य तु तथाविधौषधीप्रभावात् पुरुषवेदे स्त्रीवेदे वा समुपहते सति नपुंसकवेदः समुदेति । तथा कस्यचिन्मदीयतपःप्रभावान्नपुंसको भवत्वयमिति ऋषिशापात् । तथा कस्यचिद्देवशापात्तदुदयो जायते । इत्येतान् षट् नपुंसकान् निशीथोक्तविशेषलक्षणसम्भवे सति प्रव्राजयेदिति ॥१०९॥

१ जइ ते–सि वि. । जे जति–इति निशीथचूर्णौ पाठः ॥ २ गहणा–मु. ॥
३ मंत ओसहि० सि. वि. धर्मसं. वृत्तौ च ॥ ४ पव्वावेज्जा–मु. ॥ ५ तुलना–निशीशचूर्णिः गा. ३६०० ॥

११० द्वारे प्रव्रज्याद्यनर्ह-विकलाङ्ग-स्वरूपम् गाथा ७९५-७९६ प्र. आ. २३२

इदानीं 'विगलंग' त्ति द्वारं दशोत्तरशततममाह—

हत्थे पाए कन्ने नासा उट्ठे [2]विवज्जिया चेव ।
वामणगवडभखुज्जा [3]पंगुलकुंटा य काणा य ॥७९५॥
पच्छावि होंति [4]विगला आयरियत्तं न कप्पए तेसिं ।
सीसो ठावेयव्वो काणगमहिसोव [5]निन्नंमि ॥७९६॥ [निशीथभा. ३७०९-१०]

'हत्थे'त्यादिगाथाद्वयम्, इह सर्वत्र तृतीयार्थे सप्तमी । ततोऽयमर्थः—हस्तेन उपलक्षणत्वात् हस्ताभ्यां वा पादेन पादाभ्यां वा कर्णेन कर्णाभ्यां वा नासया ओष्ठेन वा विवर्जिता—रहिताः, तथा वामनका—हीनहस्तपादाद्यवयवाः, पृष्ठतोऽग्रतो वा निर्गतशरीरा वडभाः, एकपार्श्वहीनाः कुब्जाः, पादगमनशक्तिविकलाः पङ्गुलाः, विकलपाणयः [6]कुण्टाः, काणा—एकाक्षाः, एते सर्वेऽपि प्रव्राजनानर्हाः, प्रवचननिन्दादिदोषसम्भवादिति ॥७९५॥

अथ गृहीते व्रते ये विकलाङ्गा भवन्ति तेषां का वार्ता?, तत्राह—'पच्छावि हुंति' गाहा, पश्चादपि [7]श्रामण्ये स्थिता येऽक्षिगलनादिना विकला—विकलाङ्गा भवन्ति तेषामप्याचार्यगुणैर्युक्तानामप्याचार्यत्वं न कल्पते, प्रवचनहीलनाप्रसक्तेः । येऽप्याचार्यपदोपविष्टाः सन्तः पश्चाद्विकलाङ्गा जायन्ते तेषामपि न कल्पते धारयितुमाचार्यत्वम्, किन्तु तैस्तथा विकलाङ्गैः सद्भिरात्मनः पदे कोऽप्याकृतिमत्त्वादिगुणगणप्रशस्यः शिष्यः

१ विय० ता. त्रि. ॥ २ विवज्जिए-मु. ॥ ३ पंगुलटुंटा-मु. ॥ ४ वियला-मु. ॥ ५ निम्मंमि-मु. । निण्णंमि-त्रि. ॥ ६ टुण्टाः- मु. ॥ ७ श्रामण्यस्थिता-मु. ॥

स्थापयितव्यः । आत्मा [1]त्वप्रकाशे स्थाने स्थापयितव्यः । क इवेत्यत्राह—'काणकमहिष इव निम्ने' इयमत्र भावना—काणको नाम चोरित [2]इत्युच्यते । यथा चोरितमहिषो मा कोऽप्येनं द्राक्षीदिति हेतोर्ग्रामस्य नगरस्य वा बहिर्गर्तारूपे निम्ने प्रदेशे उपलक्षणमेत[3]दतिगुपिले वा वनगहने स्थाप्यते; एवमेषोऽपि, अन्यथा प्रवचनहीलनाप्रसक्तिः आज्ञादिभङ्गदोपप्रसङ्गश्च । केवलमस्यापि यत्कृत्यं तत्सर्वमपि स्थविराः कुर्वन्तीति ॥७९६॥ ११०॥

इदानीं '[4]जंमुल्लं जइकप्पं वत्थं'ति एकादशोत्तरशततमं द्वारमाह—

मुल्लजुयं पुण तिविहं जहन्नयं मज्झिमं च उक्कोसं ।
[5]जहन्नेणऽट्ठारसगं सयसाहस्सं च उक्कोसं ॥ ७९७ ॥
दो साभरगा दीविच्चगा उ सो [6]उत्तरावहो एक्को ।
दो [7]उत्तरावहा पुण पाडलिपुत्तो [8]हवइ एक्को ॥ ७९८ ॥
दो दक्खिणावहा वा कंचीए नेलओ स [9]दुग्गुणो उ ।
एक्को कुसुमनगरओ तेण पमाणं इमं होइ ॥ ७९९ ॥ [बृ. कल्प. भा. ३८९०-२]

'मुल्ले'त्यादि गाथात्रयम् , मूल्ययुक्तं पुनर्वस्त्रं त्रिविधं भवति—जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं च । तत्र

१ त्वप्रकाश० सि. वि. ॥ २ उच्यते-मु. ॥ ३ ०दितिगुपिले—सि. वि. ॥ ४ जइमोल्लं-सि. । जं मोल्लं-वि. ॥ ५ जहन्नेऽट्ठारगं सयसहस्सं-ता. ॥ ६ दक्खिणावहो-जे. ॥ ७ दक्खिणावहा—जे. ॥ ८ भवे—जे. ता. ॥ ९ दुगुणाओ—मु. । ग्गुणो उ—जे. ॥

जघन्येन-जघन्यतोऽष्टादशकं-यस्याष्टादश रूपका नाणकविशेषा मूल्यं तज्जघन्यं वस्त्रमित्यर्थः । [1]शत-साहस्रं च-रूपकलक्षमूल्यमुत्कृष्टम्, शेषं तु मध्यममिति । तत्रेह त्रिविधमपि मूल्ययुक्तं वस्त्रं साधूनां ग्रहीतुं न कल्पते, किन्त्वेतस्मादष्टादशरूपकलक्षमूल्याद्यन्न्यूनमूल्यं तदेव कल्पते । उक्तं च पञ्चकल्प-बृहद्भाष्ये—

△ "ऊणगअट्ठारसगं वत्थं पुण साहुणो अणुन्नायं । एत्तो वइरित्तं पुण नाणुन्नायं भवे वत्थं ॥१॥"॥७१७॥

नन्विदं केन रूपकेण प्रमाणमित्याह—[2]'दो साभरगा' गाहा, साभरको नाम रूपकः, ततो द्वीप-स्थानसत्काभ्यां द्वाभ्यां साभरकाभ्यामुत्तरापथे एकः स साभरको भवति । द्वीपश्च यः सुराष्ट्रामण्डले दक्षिण-स्यां दिशि योजनमात्रं समुद्रमवगाह्य तिष्ठति सोऽत्र गृह्यते । द्वाभ्यां च उत्तरापथाभ्याम्-उत्तरापथसम्बन्धि-भ्यां साभरकाभ्यां [3]पाटलीपुत्रनगरसत्क एकः साभरक इति । अनेन रूपकेण वस्त्रप्रमाणमत्र कर्तव्यम् ॥७१८॥

अथ प्रकारान्तरेण रूपकस्वरूपमाह—[4]'दो दक्खिणावहा वा' गाहा, वाशब्दः प्रकारान्तरद्योतने द्वौ दक्षिणापथसत्कौ रूपकौ काञ्चीनगर्याः सम्बन्धी नेलको रूपक इत्यर्थः । स च नेलको द्विगुणः सन् एकः कुसुमनगरजः-पाटलीपुत्रसम्बन्धी रूपकः, तेन रूपकेणेदमष्टादशकादि प्रमाणं भवतीति ॥७१९॥१११॥

△ ऊनाष्टादशक वस्त्रं पुनः साधूनामनुज्ञातम् । इतो व्यतिरिक्तं पुनर्नानुज्ञातं भवेद्वस्त्रम् ॥ १ ॥

१ शतसहस्र —सि. ॥ २ 'सामरे' त्यादि-मु. ॥ ३ पाटलीपुत्रे पाटली० सि. वि. ॥ ४ 'दक्खिणे' त्यादि—मु. ॥

इदानीं ''सेज्जायरपिंडो' त्ति द्वादशोत्तरशततमं द्वारमाह–

सेज्जायरो पहू वा पहुसंदिट्ठो य होइ कायव्वो ।
[2]एगो णेगे य पहू पहुसंदिट्ठेवि एमेव ॥८००॥
सागारियसंदिट्ठे एगमणेगे चउक्कभयणा उ ।
एगमणेगा वज्जा [3]अणेगेसु य ठावए एगं ॥८०१॥
अन्नत्थ वसेऊणं आवस्सग चरिममन्नहिं तु करे ।
दोन्निवि तरा भवंती सत्थाइसु अन्नहा [4]भयणा ॥८०२॥
जइ जग्गंति सुविहिया करेंति आवस्सयं तु अन्नत्थ ।
[5]सेज्जायरो न होई सुत्ते व कए व सो होई ॥८०३॥
[बृ. क. भा. ३५२५-६-३०-२९]
दाऊण गेहं तु सपुत्तदारो, वाणिज्जमाईहि उ कारणेहिं ।
तं चेव अन्नं व वएज्ज देसं, सेज्जायरो तत्थ स एव होइ ॥८०४॥
लिंगत्थस्सवि [6]वज्जो तं परिहरओ व भुंजओ वावि ।
जुत्तस्स अजुत्तस्स व [7]रसावणो तत्थ दिट्ठंतो ॥८०५॥

१ सेज्ज० मु. । सिज्जा० त्रि. ॥ २ एगुअणेगे–ता. । एगमणेगे–इति बृ.क. भाष्ये निशीथभाष्ये च पाठः ॥
३ णेगेसु–मु. निशीथभाष्ये च ॥ ४ मणिया–ता. ॥ ५ सिज्जा० मु. ॥ ६ विज्जो–जे. ॥ ७ रसावणे–मु. ॥

तित्थंकरपडिकुट्ठो [1]अन्नायं उग्गमोवि य न सुज्झे ।
अविमुत्ति अलाघवया दुल्लहसेज्जा [2]य वोच्छेओ ॥८०६॥
पुरपच्छिमवज्जेहिं अवि कम्मं जिणवरेहिं लेसेणं ।
भुत्तं विदेहएहि य न य सागारिअस्स पिंडो उ ॥८०७॥
बाहुल्ला गच्छस्स उ पढमालिय-पाणगाइकज्जेसु ।
सज्झायकरणआउट्टिया करे उग्गमेगयरं ॥८०८॥

[निशीथभा. ११४४-५-९-८, ११९३, ११५८-९-६०-६२; बृ. कल्प. भा. ३५३९-४०-१-३]

'सेज्जे' त्यादिगाथानवकम् , [3]शय्यया—साधुसमर्पितगृहलक्षणया संसारसागरं दुस्तरमपि तरतीति शय्यातरः । स द्विधा भवति कर्तव्यः प्रभुर्वा—यतिप्रदत्तोपाश्रयस्वामी, प्रभुसन्दिष्टो वा—तेनैव प्रभुणा यत्कृतप्रमाणतया निर्दिष्टः । तत्र यः प्रभुः स एको वा भवेदनेको वा, प्रभुसन्दिष्टोऽप्येवमेव वाच्यः, कोऽर्थः ?—प्रभुसन्दिष्टोऽप्येको वाऽनेको वा भवतीति ॥८००॥

अमुमेवार्थं विशेषत आह—'सागारिये'त्यादि, सागारिकः—साधूपाश्रयस्वामी सन्दिष्टश्च—प्रभुसन्दिष्टः प्रत्येकमेको [4]वाऽनेके वा भवन्ति, ततश्चतुष्कभजना—चतुर्भङ्गी ज्ञातव्या । तद्यथा—एकः प्रभुरेकः प्रभुसन्दिष्ट इति प्रथमो भङ्गः । एकः प्रभुरनेके प्रभुसन्दिष्टा इति द्वितीयः । अनेके प्रभव एकः प्रभुसन्दिष्ट इति तृतीयः ।

१ अण्णया—त्रि. । आणा—अण्णाय—उग्गमो ण सुज्झे इति-बृ. क. भाष्ये च पाठः ॥ २ उ—मु. । ३ तुलनार्थं विशेषार्थं च द्रष्टव्या निशीथचूर्णिः गा. ११४३ तः, बृहत्कल्पभाष्य वृत्तिः गा. ३५२२ तः ॥ ४ ऽनेके च - सि. वि. ॥

अनेके प्रभवोऽनेके च प्रभुसन्दिष्टा इति चतुर्थो भङ्गः । ते च शय्यातरा [1]एको वाऽनेके वा वर्जनीयाः । अत्रैवापवादमाह–'अणेगेसु य ठावए एगं'ति अनेकेषु [2]च–बहुषु शय्यातरेषु सत्सु एकं कमप्यपवाद-पदेन शय्यातरं स्थापयेत् ।

इयमत्र भावना–बहुजनसाधारणा वसतिः क्वापि लब्धा । तत्र च साधुसामाचारीकुशलाः श्रावका यद्येवं वदन्ति–एकं कमपि शय्यातरं स्थापयत मा सर्वानपि परिहरतेति, तदा एकं शय्यातरं स्थापयित्वा शेषगृहेषु भिक्षां गृह्णन्ति । यद्वा बहवस्तत्र साधवस्ततो यदि सर्वेऽपि संस्तरन्ति तदा सर्वानपि शय्यातरान् कुर्वन्ति । असंस्तरणे तु एकं शय्यातरमिति । ग्रहणविधिश्चायं–द्वयोः शय्यातरयोरेकान्तरेण [3]भिक्षाग्रहणवारको भवति त्रिषु शय्यातरेषु तृतीयदिने चतुर्षु चतुर्थदिने एवं वारकेण भिक्षां गृह्णन्तीति ॥८०१॥

अथायं शय्यातरः कदा भवति ?, तत्राह—'अन्नत्थे' त्यादि, अन्यत्र–अन्यस्मिन् कस्मिंश्चित् सार्थे ग्रामादौ वा उषित्वा सुप्त्वेत्यर्थः, चरमं–प्राभातिकमावश्यकं–प्रतिक्रमणमन्यत्र–स्थानान्तरे गत्वा यदि कुर्वन्ति तदा द्वावपि 'तर' त्ति एकदेशेन समुदायोपचारात् शय्यातरौ भवतः, यस्यावग्रहे रात्रौ सुप्तो यदवग्रहे च प्राभातिकं प्रतिक्रमणं कृतं तौ द्वावपि शय्यातरौ भवत इति भावः । इदं च प्रायशः सार्थादिषु सम्भवति आदिशब्दाच्च चौरा-वस्कन्दभयादिपरिग्रहः । अन्यथा तु–प्रकारान्तरसद्भावे भजना–शय्यातरस्य विकल्पना, यस्य गृहे स्थिताः स वाऽन्यो वा शय्यातरो भवतीत्यर्थः ॥८०२॥

१ एके-सि. ॥ २ च-मु. नास्ति ॥ ३ गत्वा, यदि तु भिक्षा० जे० ॥

तामेव भजनामाह–'जई'त्यादि, यदीत्यभ्युपगमे रात्रेश्चतुरोऽपि प्रहरान् जाग्रति, शोभनं विहितम्-अनुष्ठानं येषां ते सुविहिताः साधव इत्यर्थः, आवश्यकं तु–प्राभातिकप्रतिक्रमणं पुनरन्यत्र गत्वा कुर्वन्ति तदा मूलोपाश्रयस्वामी शय्यातरो न भवति, किन्तु सुप्ते वा–शयने वा कृते सति, कृते वा प्राभातिकप्रतिक्रमणे शय्यातरो भवति ।

अयमत्र तात्पर्यार्थः–शय्यातरगृहे सकलां रात्रिं जागरित्वा प्राभातिकप्रतिक्रमणं यद्यन्यत्र कुर्वन्ति तदा मौलः शय्यातरो न भवति किन्तु यद्गृहे प्रतिक्रमणं कृतं स एव । अथ शय्यातरगृहे रात्रौ सुप्त्वा जागरित्वा वा प्राभातिकप्रतिक्रमणं कुर्वन्ति तदा स एव शय्यातर इति । यदा तु वसतिसङ्कीर्णतादि-कारणादनेकोपाश्रयेषु साधवस्तिष्ठन्ति तदा यत्राचार्यः स्थितः स एव शय्यातरो नान्य इति ॥८०३॥

ननु साधूनां गृहमर्पयित्वा गृहस्वामी यदा देशान्तरं व्रजति तदा शय्यातरो भवति वा न वा ?, तत्राह–'दाऊणे' त्यादि वृत्तम्, कश्चिद् गृहस्थः साधूनां गृहं दत्त्वा '**सपुत्र-दारः**' पुत्र-कलत्रादिसकल-निजलोकपरिवृतो वणिज्यादिभिः कारणैस्तमेव देशमन्यं वा व्रजेत्, तत्रापि च स्थितो यदि तस्य गृहस्य स्वामी तदा स एव शय्यातरो भवति । न पुनर्दूरदेशान्तरस्थितत्वात्तस्य शय्यातरत्वं न भवतीति ॥८०४॥

अथायं शय्यातरः कस्य सम्बन्धी परिहरणीयस्तत्राह–'**लिंगत्थे**'त्यादि, लिङ्गस्थस्यापि–लिङ्ग-मात्रधारिणोऽपि साधु[1]गुणविरहितस्यापीत्यर्थः सम्बन्धी शय्यातरो वर्जनीयः, आस्तां तावदितरस्य चारित्रिण इति, स च साधुस्तं शय्यातरपिण्डं परिहरतु वा भुङ्क्तां वा तथापि वर्ज्यः । अथ साधुगुणैर्वि-

१ ०गुणरहित० सि. वि. ॥

युक्तस्य शय्यातरः कस्मात्परिह्रियते?, उच्यते, साधुगुणैर्युक्तस्यायुक्तस्य वा शय्यातरः सर्वथा परिहर्तव्यः ।

अत्र च 'रसापणो' मद्यापणो दृष्टान्तः । तथाहि—महाराष्ट्राख्ये देशे सर्वेष्वपि मद्यहट्टेषु मद्यं भवतु वा मा वा तथापि तत्परिज्ञापनार्थं ध्वजो बध्यते । तं च दृष्ट्वा सर्वेऽपि भिक्षाचरादयोऽभोज्य-मितिकृत्वा परिहरन्ति । एवमसावपि साधुगुणैर्युक्तो वा भवतु अयुक्तो वा, तथाप्यस्य रजोहरणध्वजो दृश्यत इतिकृत्वा शय्यातरः परिह्रियत इति ॥८०५॥

अथ शय्यातरपिण्डग्रहणे दोषानाह—'तित्थंकरे'त्यादि, तीर्थकरैः सर्वैरपि प्रतिकुष्टो—निषिद्धः शय्या-तरपिण्डः । तं च गृह्णता [1]तीर्थकराज्ञा न कृता स्यात् । तथा अज्ञातस्य—अविदितस्य राजादिप्रव्रजितत्वेन उञ्छवृत्त्या यद्भैक्षं तदज्ञातमुच्यते, तदेव प्रायः साधुना ग्राह्यम् 'अन्नायउञ्छं चरई विसुद्धं' [दशवै. ९/३/४] इति वचनात् । तच्चासन्ननिवासादतिपरिचयेन ज्ञातस्वरूपतया शय्यातरगृहे पिण्डं [2]गृह्णतो न शुद्ध्यतीति योगः । तथा शय्यातरपिण्डग्रहणे सति 'उद्गमः' कल्पनीयभक्तादिभवनमपि 'न शुद्ध्यति' न शुद्धो भवति । निकटादिभावेन पुनः पुनस्तत्रैव भैक्षपानकादिनिमित्तं प्रविशत उद्गमदोषाः स्युरित्यर्थः । तथा स्वाध्यायश्रवणादिभ्यः प्रीतः शय्यातरः क्षीरादि [3]स्निग्धद्रव्यं ददाति, तच्च गृह्णता विमुक्तिः—गार्द्ध्याभावो न कृतः स्यात् । तथा अविद्यमानं लाघवं—लघुता यस्य स तथा तद्भावोऽलाघवता । तत्र विशिष्टाहारलाभेनोपचितत्वाच्छरीरालाघवम् , शय्यातरात्तत्परिजनाच्चोपधेर्लाभादुपधेरनल्पतया तदलाघ-

१ तीर्थकृदाज्ञा-सि. वि. ॥ २ गृह्णन्न—मु. ॥ ३ स्निग्धं-वि. ॥

वमिति । तथा दुर्लभा—असुलभा शय्या च—वसतिः कृता भवति । येन किल शय्या देया तेनाहाराद्यपि देयमित्येवं गृहिणां भयोत्पादनात् । तथा व्यवच्छेदो—विनाशो दानभयाच्छय्यायाः शय्यातरेण क्रियते । वसत्यभावाद्वा भक्त-पान-[1]शय्यादिव्यवच्छेदः स्यादिति ॥८०६॥

तथा—'पुरे' त्यादि, पूर्वः—ऋषभस्वामी, पश्चिमो-वर्धमानस्वामी, एतौ द्वावपि मुक्त्वा शेषैर्जिनवरैः—द्वाविंशतिसङ्ख्यैर्मध्यमतीर्थकृद्भिर्विदेहजैश्च—महाविदेहक्षेत्रसमुत्पन्नैः सर्वैरपि तीर्थकरैः 'अवि कम्मं' ति अपिः—सम्भावने कर्म—आधाकर्म [2]'लेशेन' [3]एकदेशेन भुक्तम्, 'न च' नैव 'सागारिकस्य' शय्यातरस्य पिण्डः । मध्यम-विदेहतीर्थकराणां हि यस्यैव योग्यमाधाकर्म कृतं तस्यैव तन्न कल्पते शेषाणां तु कल्पते इति तैराधाकर्मभोजनमपि कथञ्चिदनुमतम्, सागारिकपिण्डः पुनः सर्वथापि प्रतिषिद्ध एवेति । अयं [4]च सागारिकपिण्डो द्वादशधा, अशन-पान-खादिम-स्वादिम ४ रजोहरण-वस्त्र-पात्र-कम्बल ४ सूची-पिप्पलक-कर्णशोधन-नखरदनिका ४ भेदात् । उक्तं च—

"असणाईया चउरो ४ पाउञ्छण ५ वत्थ ६ पत्त ७ कंबलयं ८ ।
सूई ९ छुर १० कन्नसोहण ११ नहरणिया १२ सागरियपिंडो ॥१॥

तृण[5]डगलकादिस्त्वपिण्डः । उक्तं च—

---

१ ०शिष्या० सि वि ॥ २ देशेन-सि. ॥ ३ एकदेशेन-सि. वि. नास्ति । सूत्रादेशतः इति बृ. क. भा. वृत्तौ (३५४१) पाठः । सुत्तादेसेणं-इति निशीथ-चूर्णौ (११६०) पाठः ॥ ४ च- सि.वि. नास्ति ॥ ५ ०डगलादि-सि. वि. ॥

''तण-डगल-छार-मल्लग-सेज्जा-संथार-[1]पीढ-लेवाई ।
सेज्जायरपिंडो सो न होइ सेहो य सोवहिओ ॥१॥'' [बृ. क. भा. ३५३५, निशीथभा. ११५४]

अत्र 'सेहो य सोवहिओ' त्ति यदि शय्यातरस्य पुत्रः पुत्री वा वस्त्र-पात्रादिसहिता प्रव्रजेत्तदा स शय्यातरपिण्डो न भवतीति ॥८०७॥

तथा-'बाहुल्ले' त्यादि, गच्छस्य-साधुसमूहस्य बाहुल्यात्-प्राचुर्याद्धेतोः प्रथमालिका-पानकाद्यर्थं शय्यातरगृहे पुनः पुनः प्रविशत्सु, साधुषु शय्यातर उद्गमदोषम्-आधाकर्मादीनामन्यतरं कमपि कुर्यात् । तत्र प्रथमालिका-क्षुल्लक-ग्लानादीनां प्रथमत एव भोजनम्, पानकं च प्रतीतम्, तथा निरन्तरस्वाध्याय-विधानेन करणेन च-चारित्रेण 'आउट्टिय' त्ति आवर्जिता उपेत्य उद्गमदोषान् कुर्युरिति । अयं च अहो-रात्रात्परतोऽशय्यातरो भवति । यदुक्तम्-△ 'वुत्थे वज्जेज्जऽहोरत्तं' [ ]इदमत्र हृदयं-यत्रोषितास्ततः स्थानाद्यस्यां वेलायां विनिर्गता द्वितीयदिने तावत्या वेलायाः परतोऽशय्यातरो भवति । तथा अपवादतो ग्लानत्वादिकारणे शय्यातरपिण्डोऽपि ग्रहीतुं कल्पते । यदुक्तम्-

'दुविहे गेलन्नंमी निमंतणे दव्वदुल्लहे असिवे ।
ओमोयरियपओसे भए य गहणं अणुन्नायं ॥१॥'

[बृ.क.भा.३५५०, निशीथभा. २५३२]

१ ०पेढ० सि. वि. ॥ △ उषिते वर्जयेदहोरात्रम् ॥

अस्या व्याख्या– [1]'आगाढा-ऽनागाढे–गाढतरा-ऽगाढतरे द्विविधे ग्लानत्वे शय्यातरपिण्डोऽपि ग्राह्यः । इदमुक्तं भवति–अनागाढे ग्लानत्वे त्रीन् वारानाहिण्ड्यते, यदि न लब्धं ग्लानप्रायोग्यं तदा शय्यातरपिण्डोऽपि गृह्यते । आगाढे पुनः शीघ्रमेव शय्यातरपिण्डग्रहणं क्रियते । निमन्त्रणे च–शय्यातरनिर्बन्धे सकृत् तं गृहीत्वा पुनः [2]प्रसङ्गो निवारणीयः । दुर्लभे च क्षीरादिद्रव्ये आचार्यादीनां प्रायोग्ये अन्यत्रालभ्यमाने तत्रैव गृह्णन्ति । अशिवे–दुष्टव्यन्तरोपद्रवादिके, अवमौदर्ये च–दुर्भिक्षे अन्यत्र भिक्षायामलभ्यमानायां शय्यातरगृहेऽपि भिक्षां गृह्णन्ति । 'पओसे' त्ति राज्ञा प्रद्विष्टेन सर्वत्र भैक्षे निवारिते प्रच्छन्नं तद्गृहेऽपि गृह्णन्ति । अन्यत्र च तस्करादिभये तत्रापि गृह्णन्ति भिक्षादिकमिति ॥८०८॥ ११२ ॥

इदानीं [3]'**जत्तिय सुत्ते सम्मं**' त्ति त्रयोदशोत्तरशततमं द्वारमाह—

चउदस दस य अभिन्ने नियमा सम्म तु सेसए भयणा ।
मइ-ओहिविवज्जासे होइ हु मिच्छं न सेसेसु ॥८०९॥

'**चउदस**' गाहा, यस्य साधोश्चतुर्दश पूर्वाणि यावद्दश च पूर्वाणि अभिन्नानि–परिपूर्णानि सन्ति तस्मिन्नियमात्–निश्चयेन सम्यक्त्वं भवति । शेषे–किञ्चिदूनदशपूर्वधरादौ भजना–विकल्पना । सम्यक्त्वं वा स्यान्मिथ्यात्वं वेत्यर्थः, तथा मतेरवधेश्च विपर्यासे–मत्यज्ञाने विभङ्गज्ञाने च सति हु–निश्चयेन मिथ्यात्वं

१ तुलना-बृहत्कल्पवृत्तिः गा. ३५५० तः ॥ २ प्रसङ्गान्निवा० सि. ॥ ३ जित्तिय- ता. ॥

भवति। मिथ्यात्ववशादेव हि मतिज्ञाना-ऽवधिज्ञानयोर्विपर्याससद्भावः, श्रुतज्ञानस्य तु विपर्यासो दर्शित एव, 'सेसए भयणा' त्ति वचनात्, शेषयोस्तु मनःपर्यवज्ञान-केवलज्ञानयोर्मिथ्यात्वं न भवत्येवेति ॥८०९॥११३॥

११४ द्वारे चतुर्गतिकाः गाथा ८१० प्र. आ. २३६

इदानीं '[1]जे निग्गंथावि चउगइय' त्ति चतुर्दशोत्तरशततमं द्वारमाह—

चउदस ओहि आहारगावि मणनाणि वीयरागावि ।
हुंति पमायपरवसा तयणंतरमेव चउगइया ॥८१०॥

'चउदस' गाहा, सर्वत्र सूचामात्रत्वात्सूत्रस्य [2]'चउदस' त्ति चतुर्दशपूर्वधरा अपि, तथा अवधिज्ञानिनोऽपि, तथा आहारका अपि—आहारकलब्धिमन्तोऽपि, चतुर्दशपूर्विणोऽपि केचिदाहारकलब्धिमन्तो[3] न भवन्तीत्याहारकग्रहणम्, तथा मनःपर्यवज्ञानिनोऽपि, तथा वीतरागा अपि—उपशान्तमोहा अपि, क्षीणमोहानां त्वप्रतिपातित्वान्न ग्रहणम्, 'प्रमादपरवशाः' विषय-कषायादिकलुषीकृतचेतसः सन्तस्तदनन्तरमेव—तद्भवानन्तरमेव चतुर्गतिका— [4]नरक-तिर्यग्मनुष्य-देवलक्षणगतिचतुष्टयभाजो भवन्तीति ॥८१०॥११४॥

११५ द्वारे क्षेत्रातीतं गाथा ८११

इदानीं 'खेत्ताईयं' ति पञ्चदशोत्तरशततमं द्वारमाह—

[5]जमणुग्गए रविंमि अतावखेत्तंमि गहियमसणाइ ।
कप्पइ न तमुवभोत्तुं खेत्ताईयं[6]ति समउत्ती ॥८११॥

१ जह-ता.त्रि. ॥ २ च 'चउदस'-सि. वि. ॥ ३ ०न्तोऽपि न संभवन्ती० सि. वि. ॥ ४ नारक० मु. ॥
५ तुलना-भगवतीसू. ७।१ सू. २६६ ॥ ६ खेत्ताईयत्ति-मु. । खित्ताइअंति-इति धर्मसं० वृत्तौ [भा० २/प. ४७] पाठः ॥

'जमणुग्गए' गाहा, यदनुद्गते रवावतापक्षेत्रे रात्रावित्यर्थः गृहीतमशनादि-अशनं पानं खादिमं स्वादिमं च, न तदुपभोक्तुं कल्पते यतीनाम्, यतः क्षेत्रातीतं तदिति समयोक्तिः-सिद्धान्तभणितिरिति ॥८११॥ ११५॥

११६ द्वारे मार्गातीतं

इदानीं 'मार्गातीत'मिति षोडशोत्तरशततमं द्वारमाह-

गाथा ८१२

असणाईं कप्पइ कोसदुगब्भंतराउ आणेउं ।
परओ आणिज्जंतं मग्गाईयंति तमकप्पं ॥८१२॥

'असणाईयं' गाहा, अशनादिकं क्रोशद्वयाभ्यन्तराद्-गव्यूतद्वयमध्यादानेतुं कल्पते यतीनाम्, परतस्तु-क्रोशद्वयात्परत आनीयमानं तदशनादि मार्गातीतमितिकृत्वाऽकल्पनीय[1]मेवेति ॥८१२॥ ११६॥

११७ द्वारे कालातीतं

इदानीं 'कालातीत' मिति सप्तदशोत्तरशततमं द्वारमाह-

गाथा ८१३ प्र.आ. २३६

पढमप्पहराणीयं असणाइ जईण कप्पए भोत्तुं ।
जाव तिजामे उड्ढं तमकप्पं कालइक्कंतं ॥८१३॥

'पढमप्पहरा' गाहा, दिनप्रथमप्रहरानीतमशनादि कल्पते यतीनां भोक्तुं यावत् त्रयाणां यामानां समाहारस्त्रियामं-प्रहरत्रयमित्यर्थः। ऊर्द्ध्वं तु-प्रहरत्रयादुपरि चतुर्थप्रहरे तदकल्प्यम्-अकल्पनीयं कालातिक्रान्तम्, सिद्धान्ते निषिद्धमितिकृत्वेति ॥१३॥ ११७॥

---

१ ०यमिति-सि. वि.॥

इदानीं 'प्रमाणातिक्रान्त' मित्यष्टदशोत्तरशततमं द्वारमाह–

११८ द्वारे प्रमाणातिक्रान्तं गाथा ८१४-५

कुक्कुडिअंडयमाणा कवला बत्तीस साहुआहारे ।
अहवा [1]नियआहारो कीरइ बत्तीसभाएहिं ॥८१४॥
होइ पमाणाईयं तदहियकवलाण भोयणे जइणो ।
एगकवलाइऊणे ऊणोयरिया तवो [2]तंमि ॥८१५॥

[3]'कुक्कु' इत्यादिगाथाद्वयम्, [4]कुक्कुटी–पक्षिणी तस्या यदण्डकं तन्मानाः–तत्प्रमाणाः कवला द्वात्रिंशत्साधूनां–यतीनामाहारे भवन्ति। प्रकारान्तरेण कवलमानमाह–अथवा साधोरुदरं यावन्मात्रेणाहारेण न न्यूनं [5]नाप्यत्याध्मातं भवति तावन्मात्रो निजकाहारो द्वात्रिंशद्भागैः क्रियते, । द्वात्रिंशत्तमश्च भागः कवल इति । एतस्माच्च द्वात्रिंशत्कवलमानादधिककवलभोजने यतेः प्रमाणातीतं भोजनं भवति । तथा एतस्माद् द्वात्रिंशत्कवल[6]प्रमाणादाहारादेकेन द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चादिभिर्वा कवलैर्न्यूने सति तस्मिन्नाहारे ऊनोदरिकाभिधस्तपोविशेषो भवतीति ॥८१४–८१५ ॥११८॥

इदानीं 'दुहसेज्जचउक्कं' ति एकोनविंशत्युत्तरशततमं द्वारमाह––

११९ द्वारे दुःखशय्याः गाथा ८१६ प्र.आ. २३७

[7]पवयण[8]असद्दहाणं १ परलाभेहा य २ कामआसंसा ३ ।
ण्हाणाइपत्थणं ४ इय चत्तारिऽवि दुक्खसेज्जाओ ॥८१६॥

१ नियआहारो-ता. ॥ २ संति (तंमि)-मु. । तम्मि-ता. ॥ ३ कुक्कुटिअंडय इत्यादि० सि. वि. त्रि. ॥ ४ कुकुटी--मु. ॥
५ नाप्यत्याध्रातं-मु. ॥ ६ ०प्रमाणाहारा० मु. ॥ ७ तुलना–स्थानाङ्गसूत्रम् सू. ३२५ ॥ ८ असद्दहणं.-ता. ॥

'पवयण' गाहा, शेरते आस्विति शय्याः, दुःखदाः शय्या दुःखशय्याः । ताश्च द्वेधा-द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतोऽमनोज्ञखट्वादिरूपाः, भावतो दुस्थितचित्ततया दुःश्रमणतास्वभावास्ताश्चतस्रः । तत्र प्रवचनस्य-जिनशासनस्याश्रद्धानम्-एवमेवेदमिति प्रतिपत्त्यभाव इति प्रथमा दुःखशय्या । तथा परेषाम्-अन्येषां लाभस्य-वस्त्राद्यवाप्तेरीहा-प्रार्थनेति द्वितीया । चः समुच्चये । तथा कामानां-मनोज्ञशब्दरूपादीनामाशंसनम्-अभिलषणमिति तृतीया । तथा स्नानादीनां-गात्राभ्यङ्ग-मर्दन-प्रक्षालनादीनां प्रार्थनम्-आकाङ्क्षणमिति चतुर्थी । आसु हि क्लिष्टभावस्वभावासु श्रामण्यशय्यासु स्थितो जीवः कदाचिदपि श्रामण्यस्य न सुखमासादयतीति चतस्रो दुःखशय्याः ॥८१६॥११९॥

इदानीं विंशत्युत्तरशततमं 'सुहसेज्जचउक्कं' ति द्वारमाह-

[1]सुहसेज्जाओऽवि चउरो जइणो धम्माणुरायरत्तस्स ।
विवरीयायरणाओ सुहसेज्जाउत्ति भन्नंति ॥८१७॥

'सुहसेज्जाओ' गाहा, 'धर्मानुरागरक्तस्य' धर्मे-जिनधर्मे अनुरागेण-गाढतराभिलाषरूपेण रक्तस्य-आसक्तस्य [2]दुःखशय्याएव चतस्रोऽपि 'विपरीताचरणात्' पूर्वोक्तप्रवचना[3]श्रद्धानादिवैपरीत्यकरणतः सुखशय्या इति भण्यन्ते । अयं भावः प्रवचनश्रद्धानं परलाभानीहनं कामादीनामनाशंसनं स्नानादीनामप्रार्थनं [4]चेति यतेः सुखशय्याः । तत्र हि स्थितः परमसन्तोषपीयूषमग्नमानसतया निरन्तरतपोऽनुष्ठानादिक्रियाकलापव्यापृततया च सुखमेव यतिः समासादयतीति ॥८१७॥१२०॥

१ दुह० जे. २ ॥ २ सुखशय्या एव-मु. ॥ ३ ०श्रद्धानादिदुःखशय्यावैप० मु. ॥ ४ चेति-मु. नास्ति ॥

इदानीं 'तेरस किरियाठाणाइं'ति एकविंशत्युत्तरशततमं द्वारमाह–

[1]अट्ठा १ णट्ठा २ हिंसा ३ ऽकम्हा ४ दिट्ठी य ५ मोस ६ ऽदिन्ने ७ य ।
अज्झप्प ८ माण ९ मित्ते १० माया ११ लोभे १२ रियावहिया १३ ॥८१८॥
तस-थावर-भूएहि जो दंडं निसरई उ कज्जेणं ।
आयपरस्स व अट्ठा अट्ठादंडं तयं बिंति १ ॥८१९॥
जो पुण सरडाईयं थावरकायं च वणलयाईयं ।
[2]मारेउं छिंदिऊण व छुड्डेई सो अणट्ठाए २ ॥८२०॥
अहिमाइव[3]इरियस्स व हिंसिंसु हिंसई व [4]हिंसेही ।
जो दंडं आरभई हिंसादंडो हवइ एसो ३ ॥८२१॥
अन्नट्ठाए निसिरइ कंडाई अन्नमाहणे जो उ ।
जो व [5]नियंतो सस्सं छिंदिज्जा सालिमाईयं ॥८२२॥
एस अकम्हादंडो ४ दिट्ठिविज्जासओ इमो होइ ।
जो मित्तममित्तंति [6]य काउं घाएज्ज अहवावि ॥८२३॥

---

१ एता अष्टादश (८१८-३५) गाथा आवश्यकहारिभद्रयामपि [प. ६४८ तः) उपलभ्यन्ते, तत्र स्वल्पपाठभेदश्च विद्यते। तुलनार्थं विशेषार्थं च द्रष्टव्य सूत्रकृताङ्गसूत्रम्, श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन २ ॥ २ मारेइ–मु.। मारेत्तुं–इति आव. हारिभद्रयां पाठ ॥ ३ ०वयरि० मु. ॥ ४ हिंसेई–ता.। हिंसिहिई–इत्यावश्यकहारिभद्रयां पाठः ॥ ५ निअंतो–मु. ॥ ६ य–मु. नास्ति ॥

गामाई घाएज्ज व अतेण तेणत्ति वावि घाएज्जा ।
दिट्ठिविवज्जासेसो किरियाठाणं तु पंचमयं ५ ॥८२४॥
अत्तट्ठनायगाईण वावि [1]अट्ठाए जो मुसं वयइ ।
सो मोसप्पच्चइओ दंडो छुट्ठो हवइ एसो ६ ॥८२५॥
एमेव आयनायगअट्ठा जो गिण्हई अदिन्नं तु ।
एसो अदिन्नवित्ती ७ अज्झत्थीओ इमो होइ ॥८२६॥
नवि कोइ [2]य किंचि भणइ तहवि हु हियएण दुम्मणो किंचि ।
तस्सऽज्झत्थी सीसइ चउरो ठाणा इमे तस्स ॥८२७॥
कोहो माणो माया [3]लोभो अज्झत्थिकिरियए चेव ८ ।
जो पुण जाइमयाई अट्ठविहेणं तु माणेणं ॥८२८॥
मत्तो हीलेइ परं खिंसइ परिभवइ [4]माणवच्चेया ९ ।
माइपिइनायगाईण जो [5]पुण अप्पेवि अवराहे ॥८२९॥
तिव्वं दंडं कुणई दहणंकण-बंध-ताडणाईयं ।
तम्मित्तदोस[6]वत्ती किरियाठाणं भवे दसमं १० ॥८३०॥

---

१ अट्ठाइ-मु. ॥ २ य-ता. नास्ति ॥ ३ लोहो-ता. ॥ ४ माणवत्तेसा-ता. आवहारिमद्रयां च पाठः ॥
५ पुणप्पेवि-ता. ॥ ६ ०वित्ती-मु. ॥

एगारसमं माया अन्नं हिययंमि अन्न वायाए ।
अन्नं आयरई वा सकम्मणा गूढसामत्थो ॥८३१॥
मायावत्ती एसा ११ [1]एत्तो पुण लोहवत्तिया इणमो ।
सावज्जारंभपरिग्गहेसु सत्तो महंतेसु ॥८३२॥
तह इत्थीकामेसु गिद्धो अप्पाणयं च रक्खंतो ।
अन्नेसिं सत्ताणं वह-बंधण-मारणे कुणइ ॥८३३॥
एसेह लोहवत्ती १२ इरियावहिअं अओ पवक्खामि ।
इह खलु अणगारस्सा समिईगुत्तीसुगुत्तस्स ॥८३४॥
[2]सययं तु अप्पमत्तस्स भगवओ जाव चक्खुपम्हंपि ।
निवयइ ता सुहुमा हू इरियावहिया किरिय एसा १३ ॥८३५॥

'अट्ठे' त्यादिगाथाऽष्टादशकम्, करणं क्रिया—कर्मबन्धनिबन्धना चेष्टा, तस्याः स्थानानि—भेदाः क्रियास्थानानि, तानि च त्रयोदश। तत्र 'अट्ठाऽणट्ठा हिंस' त्ति अत्र त्रिषु पदेषु प्राकृतलक्षणेन[3] चतुर्थ्येकवचनस्य लोपो दृश्यः। [4]ततोऽर्थाय—स्वपरप्रयोजनाय क्रिया अर्थक्रिया। अनर्थाय—स्वपरप्रयोजनाभावेन क्रियाऽनर्थक्रिया। हिंसायै क्रिया हिंसाक्रिया। अर्शादेराकृतिगणत्वादच्प्रत्ययः। तथाऽकस्माद्

१ एसो-ता. ॥ २ सयतं अप्प० मु. ॥ ३ ०न-सि. वि. त्रि. नास्ति ॥ ४ तत्रार्थाय—सि. ॥

—अनभिसन्धिना क्रियाऽकस्मात्क्रिया। तथा 'दीट्ठी य' त्ति दृष्टिविपर्यासक्रिया सूचनात्सूत्रमितिकृत्वा। तथा मृषाक्रिया, तथाऽदत्तादानक्रिया, तथाऽध्यात्मक्रिया, तथा मानक्रिया, तथाऽमित्रक्रिया तथा मायाक्रिया, तथा लोभक्रिया, तथा [1]ईर्यापथिकाक्रियेति ॥८१८॥

अथैतानि क्रमेण व्याचिख्यासुः प्रथमं क्रियास्थान व्याचष्टे—'**तस-थावर**' **गाहा**, अत्र तृतीयायाः सप्तम्यर्थत्वात् त्रसेषु—द्वीन्द्रियादिषु, स्थावरेषु—पृथिव्यादिषु, भूतेषु—प्राणिषु यः कश्चिद्दण्डं—दण्डयते आत्माऽन्यो वा प्राणी येन स दण्डो—हिंसा। तं निसृजति-करोति—कार्येण—प्रयोजनेन, तदेवाह—**आय-परस्स व अट्ठ**' त्ति आत्मनः—स्वशरीरादेः परस्य वा—बन्धुवर्गादेरर्थाय—उपकाराय, तं क्रिया—क्रियावतोरभेदोपचारादर्थदण्डम्—अर्थक्रियां ब्रुवते तीर्थकरगणधरा इति १ ॥८१९॥

अथ द्वितीयं क्रियास्थानमाह—"**जो पुणे**' त्यादि, यः पुनः कश्चित्सरटादिकं—कृकलासमूषिकादिकं त्रसकायं स्थावरकायं च—वनलतादिकं प्रयोजनव्यतिरेकेणैव यथाक्रमं मारयित्वा छित्वा च त्यजति स धर्म-धर्मिणोरभेदोपचारादनर्थाय क्रियेति २ ॥८२०॥

तृतीय क्रियास्थानमाह—'**अही**' त्यादि, अयं सर्पादिर्वैरी वाऽस्मान् हिंसितवान् हिनस्ति हिंसिष्यति वा इत्यभिसंधिना अह्यादेः—सर्पादेः मकारोऽलाक्षणिकः वैरिणो वा यो दण्डमारभते—वधं विधत्ते स हिंसादण्डः धर्म-धर्मिणोरभेदोपचाराद्भवत्येष इति ३ ॥८२१॥

चतुर्थं क्रियास्थानमाह—'**अन्नट्ठाए**' इत्यादि सपादगाथा, अन्यार्थम्—अन्येषां मृग-पक्षि-सरीसृप-

१ ईर्यापथक्रिया-मु. ॥

प्रभृतीनां वधनिमित्तं 'निसृजती' क्षिपति 'काण्डादीकं' शर-लेष्टुप्रभृतिकम्, अन्यं पुनराहन्यात् य एषोऽकस्माद्-अनभिसन्धिना अन्यवधार्थप्रवृत्त्या दण्डः-अन्यस्य विनाशोऽकस्माद्दण्डः । यो वा 'नियंतो' त्ति अवलोकयन् छेदनबुद्धया तृणादिकम्, अन्यत् शाल्यादिकं शस्यमनाभोगेन छिंद्यादिति । अयमर्थः-अन्यस्मिन् शाल्यादिमध्यव्यवस्थिते तृणादिके छेत्तुमुपक्रान्ते अनाभोगतोऽन्यच्छाल्यादिकं छिंद्यात् एष वाऽकस्माद्दण्डः ४ ।

पञ्चमं क्रियास्थानमाह-'दीट्ठी विवज्जासउ' इत्यादिपादोनगाथाद्वयम्, दृष्टेः-बुद्धेर्विपर्यासो-विपर्ययो मतिविभ्रम इत्यर्थः, तस्मादयं-वक्ष्यमाणो दण्डो भवति । अमुमेवाह-यो मित्रमपि सदमित्रमितिकृत्वा घातयेत् । यो मित्रस्याप्यमित्रोऽयमिति बुद्ध्या वधः स दृष्टिविपर्यासदण्ड इति भावः । अथवाऽपीति प्रकारान्तरद्योतने, ग्रामादीन् [1]घातयेद्वा, अयमर्थः-ग्राममध्यवर्तिना केनचित्कस्मिंश्चिदपराधे कृते समग्रमपि ग्रामं यन्मारयति एष वा दृष्टिविपर्यासदण्ड इति । यद्वा अस्तेनमपि-[2]अचौरमपि स्तेनोऽयमितिकृत्वा हन्यादित्येष दृष्टिविपर्यासः पञ्चमं क्रियास्थानमिति ५ ॥८२२-८२४॥

[3]षष्ठं क्रियास्थानमाह-'अत्तट्ठे' त्यादि, आत्मार्थं परेषां वा-नायकादीनामर्थाय यो मृषा वदति स एष मृषाप्रत्ययिको-मृषाकारणिको दण्डः षष्ठो भवति ६ ॥८२५॥

सप्तमं क्रियास्थानमाह-'एमेवे' त्यादि, 'एवमेव' मृषावाद[4]दण्डवदात्मनायकार्थम्-आत्मनः परेषां वा नायकादीनां निमित्तम्, 'नाइग' त्ति पाठे तु ज्ञात्यर्थं-स्वजनार्थं यो गृह्णात्यदत्तम्-अन्येनावि-

१ घातयेत्-मु. ॥ २ अचौरमपि-मु. नास्ति ॥ ३ अथ षष्ठं-मु. ॥ ४ ०दण्ड० सि. वि. नास्ति ॥

तीर्णमेषोऽदत्तवर्ती अदत्तदण्डक्रियावानित्यर्थः ७ ॥८२६॥

अयं पुनर्वक्ष्यमाणो भवति आध्यात्मिको दण्डः, अध्यात्मं–मनस्तत्र भवो बाह्यनिमित्ता[1]नपेक्षः शोकोऽभिभव इति भावः । तमेवाह—'**नवि कोइ' गाहा**, यस्य सम्मुखं न कोऽपि किञ्चिदप्यनिष्टं जल्पति, तथापि हृदयेन–मनसा कृत्वा किञ्चिदतिशयेन दुर्मनाः–कालुष्यभाग्भवति तस्याध्यात्मिकी क्रिया '**सोसइ**' त्ति कथ्यते । तस्य चाध्यात्मिकक्रियास्थानस्य इमानि–वक्ष्यमाणानि चत्वारि '**स्थानानि**' कारणानि भवन्ति ।।८२७।।

तान्येवाह–'**कोहो**' इत्यादि गाथा पूर्वार्द्धम्, क्रोधो मानो माया लोभश्चेत्येतानि चत्वारि कारणा न्यध्यात्मक्रियायां भवन्तीति। बाह्यनिमित्तान[2]पेक्षमाभ्यन्तरनिष्कारणक्रोधादिसमुद्भूतं दौर्मनस्यमाध्यात्मिकक्रियेति तात्पर्यार्थः ८ ।

नवमं क्रियास्थानमाह–'**जो पुणे**' त्यादि, यः पुनर्जातिमदादिना–जाति-कुल-रूप बल श्रुत-तपोलाभैश्वर्यमदलक्षणेनाष्टविधेन मानेन मत्तः सन परम्-आत्मव्यतिरिक्तं हीलयति–जात्यादिभिर्निन्दति निकृष्टोऽयमित्यादिवचनैः परिभवत्यनेकाभिः कदर्थनाभिर्मानप्रत्यया एषा क्रियेति ९ ।

दशमं क्रियास्थानमाह–'**माइपिइ**' इत्यादि सपादा गाथा, यः पुनर्माता-पितृस्वजनादीनामल्पेऽप्यपराधे तीव्रं दण्डं कुरुते दहना-ऽङ्कन-बन्ध-ताडनादिकं तन्मित्रद्वेषवर्तिक्रियास्थानम्, अमित्रक्रियेत्यर्थः, भवेद्दशमं क्रियास्थानमिति । तत्र दहनम्–उल्मुकादिभिर्दम्भनम्, अङ्कनं–ललाटादिषु चिह्नकरणम्,

१ ०नपेद्त्य-जे.।· नापेक्ष्यं-सि· नापेक्षं-वि.॥ २ ०नपेक्ष्य० सि.॥

बन्धो–रज्ज्वादिभिर्नियन्त्रणम्, ताडनं–कशादिभिराहननम्, आदिशब्दादन्न-पाननिषेधादिपरिग्रहः १० ॥ ८२८-८३०॥

'एकादशमं क्रियास्थानमाह—'एगारे'त्यादि सार्द्धगाथा, एकादशमं माया–मायाक्रियास्थानम्, यथा हृदये–मनसि अन्यत्–वचःक्रियाविलक्षणम्, वाचि–वचसि अन्यत्–मनःक्रियाविलक्षणम्, अन्यच्च वाङ्मानसविसंवादि आचरति–करोति। कथम्भूतः सन्?–'गूढसामर्थ्यः' गूढे–गोपने सामर्थ्यं–शक्तिविशेषो यस्य स तथा, केन कृत्वा?–स्वकर्मणा' निजचेष्टितेनाकारेङ्गितादिना, मायाप्रत्यया एषा क्रियेति ११।

द्वादशं क्रियास्थानमाह–एत्तो' इत्यादि, इतः–ऊर्द्ध्वं पुनर्लोभप्रत्यया क्रिया इयं–वक्ष्यमाणा, यथा सावद्यारम्भाः–प्राण्युपमर्दादिना सपापव्यापारा ये परिग्रहा–धन-धान्यादिरूपास्तेषु महत्सु–गुरुषु सक्तो–गाढतराकाङ्क्षायुक्तः। तथा स्त्रीषु–युवतिषु कामेषु च–मनोज्ञरूप-रस गन्ध-स्पर्श-शब्दस्वरूपेषु गृद्धः–अत्यन्तमभिसक्तः। तथाऽऽत्मानमपायेभ्यो गाढादरेण रक्षन् अन्येषां सत्त्वानां–प्राणिनां वध-बन्धन-मारणानि–लगुडादिहनन-रज्ज्वादिसंयमन-प्राणव्यपरोपणलक्षणानि करोति एषा इह–सिद्धान्ते लोभप्रत्यया-लोभनिबन्धना क्रियेति १२॥

त्रयोदशं क्रियास्थानमाह–'इरियावहियमि'त्यादि, अतो लोभक्रियानन्तरमैर्यापथिकीं क्रियां प्रवक्ष्यामि। तत्र ईरणमीर्या–गमनं तद्विशिष्टः पन्था ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी। व्युत्पत्तिमात्रमिदं प्रवृत्तिनिमित्तं तु यः केवलयोगप्रत्यय उपशान्तमोहादित्रयस्य सातवेदनीयकर्मबन्धः सा [2]ऐर्यापथिकी।

१ एकादशं-सि. वि.॥ २ ईरिया० सि. वि.॥

इह खल्वनगारस्य साधोः समितिषु—ईर्यासमित्यादिषु गुप्तिषु—मनोगुप्त्यादिषु [1]सुगुप्तस्य सुसंवृतस्य सततमेवाप्रमत्तस्योपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगकेवलिलक्षणगुणस्थानकत्रयवर्तिनः । अन्येषां तु अप्रमत्तानामपि कषायप्रत्ययकर्मबन्धसद्भावेन केवलयोगनिमित्तकर्म[2]बन्धासम्भवान्नाप्रमत्तशब्देनात्र ग्रहणम् , भगवतः—पूज्यस्य यावच्चक्षुःपक्ष्मापि निपतति—स्पन्दते, इदं च योगस्योपलक्षणम् , ततोऽयमर्थः-यावच्चक्षुर्निमेषोन्मेषमात्रोऽपि योगः सम्भवति तावत्सूक्ष्मा—एकसामायिकबन्धत्वेनात्यल्पा सातबन्धनलक्षणा क्रिया भवति, एषा हुः—स्फुटमैर्यापथिकी क्रिया त्रयोदशीति ॥८३१-८३५॥१२१॥

इदानीं आगरिसा सामाइए चउविहेवि एगभवे' इति द्वाविंशत्युत्तरशततमं द्वारमाह—

सामाइयं चउद्धा सुय १ दंसण २ देस ३ सव्व ४ भेएहिं ।
ताण इमे आगरिसा एगभवं पप्प भणियव्वा ॥८३६॥
तिण्ह सहस्स पुहुत्तं च सयपुहुत्तं च होइ विरईए ।
एगभवे आगरिसा एवइया हुंति नायव्वा ॥८३७॥ [आव. नि. ८५७]

'सामे' त्यादिगाथाद्वयम् , समो-राग द्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थः । 'इण् गतौ' अयनं अयो गमनमित्यर्थः, समस्य अयः समायः-समीभूतस्य सतो मोक्षाध्वनि प्रवृत्तिः । समाय एव सामायिकम् , विनयादेराकृतिगणत्वात् स्वार्थिक इकण्प्रत्ययः, एकान्तोपशान्तगमनमिति भावः । तच्चतुर्धा--चतुर्भेदं श्रुत-दर्शन-देश-सर्वलक्षणैर्भेदैः, श्रुतसामायिकं सम्यक्त्वसामायिकं देशविरतिसामायिकं सर्वविरतिसामायिकं

१ गुप्तस्य सवृतस्य—सि. वि. ॥ २ ०बन्धोदयस० सि. ॥

चेत्यर्थः । तेषां च चतुर्णामप्येते--वक्ष्यमाणा आकर्षा एकं भवं उपलक्षणत्वान्नानाभवांश्च प्राप्य–आश्रित्य भणितव्याः । [1]तत्र आकर्षणमाकर्षः-प्रथमतया मुक्तस्य वा ग्रहणमित्यर्थः । ते च द्विधा-एकभविका नाना-भविकाश्च ॥८३६॥

तत्र प्रथमत एकभविकानाह—'तिण्हे'त्यादि, त्रयाणां–सम्यक्त्वसामायिक-श्रुतसामायिक-देश-विरतिसामायिकानामेकभवे सहस्रपृथक्त्वमाकर्षाणामुत्कर्षतो भवति । विरतेः सर्वविरतेस्त्वेकभवे शतपृथ-क्त्वमाकर्षाणामुत्कर्षतः, पृथक्त्वमिति द्विप्रभृतिरानवभ्यः । एवमेतावन्त उत्कर्षत एकभवे आकर्षा भवन्ति ज्ञातव्याः । परतस्तु प्रतिपातोऽलाभो वा, जघन्यतः पुनश्चतुर्णामपि सामायिकानामेक एवाकर्ष एकस्मिन् भवे भवति । उक्तं चावश्यकचूर्णौ—

'सुयसामाइयं एगभवे जहन्नेणं [2]एक्कंसि आगरिसेइ उक्कोसेणं सहस्सपुहुत्तंवारा, एवं सम्मत्तस्सवि, देसविरईए य पुण जहन्नेण [3]एक्कंसि, उक्कोसेणं सयपुहुत्तंवारा'' [भा. १/प. ४८८] इति ॥८३७॥

अथ नानाभवगतान् प्रतिपादयति—

तिण्ह [4]असंखसहस्सा सहसपुहुत्तं च होइ विरईए ।
नाणभवे आगरिसा एवइया हुंति नायव्वा ॥८३८॥ [आव.नि. ८५८]

---

१ आद्वारं तुल्यप्रायमावश्यकमलयगिरिवृत्तिः, प. ४७२ ॥ २ एगम्मि आगरिसे–मु. ॥ ३ एकम्मि–मु. ॥
४ सहस्समसंखा–इत्यावश्यकनिर्युक्तौ पाठः ॥

'तिण्हं' इत्यादि, त्रयाणां—सम्यक्त्व-श्रुत-देशविरतिसामायिकानां नानाभवेष्वाकर्षाणामुत्कर्षतो भवन्त्यसङ्ख्येयानि सहस्राणि। यतस्त्रयाणामप्येकस्मिन् भवे सहस्रपृथक्त्वमाकर्षाणामुक्तम्, भवाश्च क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागगतनभः प्रदेशतुल्याः, △ 'संमत्तदेसविरिया पलियस्सासंखभागमेत्ता उ।'[ ] इति वचनात्। ततः सहस्रपृथक्त्वं तैर्गुणितमसङ्ख्येयानि सहस्राणि भवन्ति। सहस्रपृथक्त्वं च नानाभवेष्वाकर्षाणामुत्कर्षतो भवति विरतेः—सर्वविरतेः, तस्या हि खल्वेकभवे शतपृथक्त्वमाकर्षाणामुक्तं भवाश्चाष्टौ ततः शतपृथक्त्वमष्टभिर्गुणितं सहस्रपृथक्त्वं भवति। एतावन्तो नानाभवेष्वाकर्षा भवन्ति ज्ञातव्याः। अन्ये पठंति—'दोण्ह सहस्समसंखा' [ ] इति तत्रापि श्रुतसामायिकं सम्यक्त्व[1]सामायिकनान्तरीयकत्वादनुक्तमपि प्रतिपत्तव्यम्, सामान्यश्रुतस्य त्वक्षरात्मकस्य नानाभवेष्वाकर्षा अनन्तगुणा इति ॥८३८॥१२२॥

इदानीं [2]'सीलंगाणट्ठारससहस्स' त्ति त्रयोविंशत्युत्तरशततमं द्वारमाह—

सीलंगाण सहस्सा अट्ठारस एत्थ हुंति [3]नियमेणं।
भावेणं समणाणं अक्खंडचरित्तजुत्ताणं ॥८३९॥
जोए ३ करणे ३ सन्ना ४ इंदिय ५ भोमाइ १० समणधम्मे य १०।
सीलंगसहस्साणं अट्ठारगस्स निप्फत्ती ॥८४०॥

△ सम्यक्त्वदेशविरताः पल्यस्यासंखभागमात्रा एव ॥

१ ०सामायिकानन्त० मु. आव. मलय. वृत्तावपि सामायिकनान्त इति पाठः। ०सामायिकानान्त० इत्यावश्यकहारिभद्र्यां पाठः प. ३६३ ॥ २ सीलंगट्ठा० मु. ॥३ नायव्वा-ता. ॥

करणाइं तिन्नि जोगा मणमाईणि हवंति करणाइं ।
आहाराई सन्ना चउ [1]सोयाइंदिया पंच ॥८४१॥
भोमाई नव जीवा अजीवकाओ य समणधम्मो य ।
खंताइदसपयारो एवं [2]ठिए भावणा एसा ॥८४२॥
न करइ [3]मणेण आहारसन्नविप्पजढगो उ नयमेण
सोइंदियसंवरणो पुढविजिए खंतिसंजुत्तो ॥८४३॥
इय मद्दवाइजोगा पुढविकाए हवंति दस भेया ।
आउक्कायाईसुवि इअ एए पिंडिअं तु सयं ॥८४४॥
सोइंदिएण एवं सेसेहिंवि जं इमं तओ पंच ।
आहारसन्नजोगा इय सेसाहिं सहस्सदुगं ॥८४५॥
एवं मणेण [4]वयमाइएसु एव तु छस्सहस्साइं ।
न करे सेसेहिंपि य एए सव्वेहिं अट्ठारा ॥८४६॥ [पञ्चाशकप्र. १४।२ १]

'सोलंगाण' गाहा, शीलाङ्गानां– [5]चारित्रांशानां तत्कारणानां वा सहस्राण्यष्टादश, 'अत्र' यतिधर्मे शासने वा भवन्ति-स्युर्नियमेन--अवश्यम्भावेन न न्यूनान्यधिकानि [6]वेति भावः । कथमित्याह—'भावेन'

१ सण्गा–इति पञ्चाशके पाठः ॥ २ ठिय–मु. ॥ ३ माणेणाहारसण्णा० इति पञ्चाशके पाठः ॥ ४ वयसा०ता. ॥
५ आद्वारं तुल्यप्रायं पञ्चाशकवृत्तौ १४ । २, प. २२४ तः ॥ ६ चेति–सि. ॥

विशुद्धपरिणामेन बहिर्वृत्त्या तु कल्पप्रति[1]सेवायां न्यूनान्यपि स्युरिति भावः। केषामित्याह-श्रमणानां—साधूनाम्, न पुनः श्रावकाणाम्, सर्वविरतावेव तेषामुक्तसंख्याकानां सम्भवात्, अथवा भावेन श्रमणानाम्, न तु द्रव्यश्रमणानाम्, तेषामपि किंविधानामित्याह—'**अखण्डचरित्रयुक्तानां**' समग्र[2]चरणप्रतिसम्पन्नानां न तु दर्पप्रतिसेवया खण्डितचारित्रांशानाम्, नन्वखण्डचारित्रा एव सर्वविरता भवन्ति तत्खण्डने असर्वविरतत्वप्रसक्तेः, [3]तथा "[4]पडिवज्जइ अइकम्मे पंच' [ ] इत्यागमप्रामाण्यात् सर्वविरतः पश्चापि महाव्रतानि प्रतिपद्यते अतिक्रामति च पश्चाप्येव नैकादिकमिति, कथं सर्वविरतेर्देशखण्डनमिति ?, अत्रोच्यते, सत्यमेतत्, किन्तु प्रतिपत्त्यपेक्षं सर्वविरतत्वम्, परिपालनापेक्षया त्वन्यथाऽपि सञ्ज्वलनकषायोदयात्स्यात्, अत एवोक्तम्—⊙"सव्वेवि य अइयारा संजलणाणं तु उदयओ होंती" ति [आव. नि. ११२] अतिचारा हि चारित्रदेशखण्डनरूपा एव। तथैकव्रतातिक्रमे सर्वव्रतातिक्रम इति यदुक्तं तदपि विवक्षया। सा चेयम्—

"छेयस्स जाव दाणं ताव अइक्कमइ नेव एगंपि। एगं अइक्कमंतो अइकम्मे पंच मूलेणं ॥१॥"

एवमेव हि दशविधप्रायश्चित्तविधानं सफलं स्यात्, अन्यथा मूलाद्येव तत्स्यात्, व्यवहारनयतश्चातिचारसम्भवः निश्चयतस्त्वसर्वविरततया भङ्ग एवेति पर्याप्तं प्रपञ्चेनेति ॥८३९॥

कथं पुनरेकविधस्य शीलस्याङ्गानामष्टादश सहस्राणि भवन्तीत्याह—'जोए' इत्यादि, योगे—करणादिव्यापारे विषयभूते, करणे—योगस्यैव साधकतमे मनःप्रभृतिके, संज्ञादीनि चत्वारि पदानि द्वन्द्वैकत्ववन्ति,

१ ०सेवया–मु. ॥ २ चरणप्रतिपन्नानां–मु. ॥ ३ तथाहि–मु. ॥ ४ पडिवज्जइ अइ० इति पञ्चाशकवृत्तौ पाठः ॥
⊙ सर्वेऽप्यतिचाराश्च संज्वलनानामेवोदयतो भवन्ति ॥

तत्र संज्ञासु—चेतनाविशेषरूपासु आहारादिषु, इन्द्रियेषु—अक्षेपु श्रोत्रादिषु, भूम्यादिषु—पृथिव्यादिजीवकाये-ष्वजीवकाये च, श्रमणधर्मे च क्षान्त्यादौ शीलाङ्ग-सहस्राणां प्रस्तुतानामष्टादशपरिमाणस्य वृन्दस्येत्यष्टा-दशकम्, तस्य निष्पत्तिः—[1]सिद्धिर्भवतीति ॥८४०॥

योगादीनेव व्याख्यातुमाह—'**करणाइं तिन्नि**' इत्यादिगाथाद्वयम्, विभक्तिलोपात्करणादयः-करण-कारणा-ऽनुमतयस्त्रयो योगा भवन्ति । तथा मनआदीनि तु—मनो-वचन-कायरूपाणि पुनर्भवन्ति—स्युः करणानि त्रीण्येव । तथा आहारादयः—आहार-भय-मैथुन-परिग्रहविषया वेदनीय-भयमोहनीय-वेद-मोहनीय-लोभकषायोदयसम्पाद्या अध्यवसायविशेषरूपाः । '**चउ**' त्ति चतस्रः संज्ञा भवन्ति । तथा श्रोत्रा-दीनि—पश्चानुपूर्व्या श्रोत्र-चक्षु-घ्राण-रसन स्पर्शनानीन्द्रियाणि पञ्च भवन्ति । उत्तरोत्तरगुणावाप्तिसाध्यानि शीलाङ्गानीति ज्ञापनार्थमिन्द्रियेषु पश्चानुपूर्वीति । तथा भूम्यादयः—पृथिव्यप्तेजो-वायु-वनस्पति-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रिया नव जीवा—जीवकायाः । अजीवकायस्तु—अजीवकायः पुनर्दशमो य परिहार्यतयोक्तः, स च महामूल्यवस्त्रपात्र[2]सुवर्णरजतादिरूपो दुष्प्रत्युपेक्षिता-ऽप्रत्युपेक्षितदूष्य-पुस्तक-चर्म-तृणपञ्चकादिरूपश्च । तथा श्रमणधर्मस्तु—यतिधर्मः पुनः क्षान्त्यादिः—क्षान्ति-मार्दवा-ऽऽर्जव-मुक्ति-तपः-संयम-सत्य शौचा-ऽऽकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्यरूपो दशविध इति । '**एवं**'ति एवमुक्तन्यायेन '**स्थिते**' औत्तराधर्येण पट्टकादौ व्यवस्थिते [3]त्रि-त्रि-चतुः पञ्च-दश-दशसङ्ख्ये मूलपदकलापे '**भावना**' भङ्गप्रकाशना '**एषा**' अनन्तरवक्ष्यमाणलक्षणा शीला-ङ्गनिष्पत्तिविषयेति ॥८४१-८४२॥

१ सिद्धिर्भवति—मु. ॥ २ ०सुवर्ण० सि. वि. नास्ति ॥ ३ त्रिचतुः० मु. ॥

तामेवाह—'न करेई' त्यादि, न करोतीति करणलक्षणः प्रथमयोग उपात्तः, मनसेति 'प्रथमकरणम्, 'आहारसन्नविप्पजढगो उ' त्ति आहारसंज्ञाविप्रहीणः सन्, अनेन च प्रथमसंज्ञा, तथा नियमेन अवश्यन्तया श्रोत्रेन्द्रियसंवरणो—निरूद्धरागादिमच्छ्रोत्रेन्द्रियप्रवृत्तिः, अनेन च प्रथमेन्द्रियम्, एवंविधः सन् किं न करोतीत्याह—पृथिवीजीवान् आरम्भविषयानिति शेषः, पृथिवीजीवारम्भं न करोतीति [2]तात्पर्यम्, अनेन च प्रथमजीवस्थानम्। क्षान्तिसंयुक्तः—क्षान्तिसम्पन्नः, अनेन च प्रथमश्रमणधर्मभेद [3]उक्त इति ॥८४३॥

तदेवमेकं शीलाङ्गमाविर्भावितमिति, अथ शेषाण्यपि तान्यतिदेशतो दर्शयन्नाह—'इय मद्दवाइजोगा' इत्यादिगाथात्रयम्, 'इति' अनेनैव पूर्वोक्ताभिलापेन मार्दवादियोगात्—मार्दवाऽऽर्जवादिपदसंयोगेन 'पृथिवीकाये' पृथिवीकायमाश्रित्य पृथिवीकायारम्भमित्यभिलापेनेत्यर्थः, सम्भवन्ति—स्युर्दश भेदा—दश शीलविकल्पाः, अप्कायादिष्वपि नवसु स्थानेषु, अपिशब्दो दशेत्यस्येह सम्बन्धनार्थः, इत्यनेन क्रमेण एते सर्वेऽपि भेदाः 'पिंडियं तु' त्ति प्राकृतत्वात् पिण्डिताः पुनः सन्तः, अथवा पिण्डितं—पिण्डमाश्रित्य, शतं—शतसङ्ख्याः स्युरिति ॥८४४॥

श्रोत्रेन्द्रियेणैतत् शतं लब्धम्, शेषैरपि चक्षुरादिभिर्यद्-यस्मादिदं शतं प्रत्येकं लभ्यते, ततो [4]मिलितानि पञ्च शतानि स्युः, पञ्चत्वादिन्द्रियाणां, एतानि चाहारसंज्ञायोगलब्धानि इति, एवं शेषाभिरपि भयसंज्ञादिभिस्तिसृभिः पञ्च पञ्च शतानि स्युः, सर्वमीलने च सहस्रद्वयं स्यात्। यतश्चतस्रः संज्ञा इति। एतत्स-

१ प्रथमं-मु. ॥ २ तात्पर्यार्थः-मु. ॥ ३ उक्त-सि.वि नास्ति ॥ ४ मीलितानि-इति पञ्चाशकवृत्तौ[प २२५] पाठः ॥

हस्रद्वितयं मनोयोगेन लब्धम् , 'वयमाइएसु' त्ति वागाद्योः—वचन-काययोः प्रत्येकमेतत्सहस्रद्वितयम् , इत्येवं षट् सहस्राणि । त्रिसङ्ख्यत्वात् मनो-वचन-काययोगानाम् , एतानि न करोतीत्यनेन लब्धानि । शेषयोरपि च कारणा-ऽनुमत्योः षट् षट् सहस्राणि स्युः, एते अनन्तरोक्ताः सर्वेऽपि शीलभेदाः पिण्डिताः सन्तोऽष्टादश सहस्राणि ❀ भवन्तीति ॥८४५-८४६॥ आलापकगाथाश्चैवमत्र करणीयाः—

'न करेमि मणसाऽऽहारसन्नविरओ उ सोयसंगुत्तो । पुढवीकायारंभं खंतिगुणे वट्टमाणोऽहं ॥१॥

एवं मद्दवगुणे वट्टमाणोऽहं २ । [1]अज्जवगुणे वट्टमाणोऽहं ३ । यावद् बंभगुणे वट्टमाणोऽहं १० । एवमप्कायादिष्वपि गाथा भणनीयाः । तथा—

कारेमि न मणसाहारसन्नविरओ उ सोयसंगुत्तो । पुढवीकायारंभं खंतिगुणे वट्टमाणोऽहं ॥ १ ॥'

इत्यादि तथा—

[2]'नऽणुमन्ने मणसाहारसन्नविरओ उ सोयसंगुत्तो । पुढवीकायारंभं खंतिगुणे वट्टमाणोऽहं ॥१॥

इत्यादि । [3]नन्वेकैकयोगे एवाष्टादश सहस्राणि स्युर्यदा तु द्व्यादिसंयोगजन्या भङ्गका इह गृह्यन्ते तदा बहुतराः स्युः, तथाहि—एकद्व्यादिसंयोगेन योगेषु सप्त विकल्पाः, एवं करणेष्वपि, संज्ञासु पञ्चदश, इन्द्रियेष्वेकत्रिंशत् , भूम्यादिषु त्रयोविंशत्यधिकं सहस्रम् , एवं क्षमादिष्वपीति, एष च राशीनां परस्परगुणने द्वे कोटीसहस्रे [4]त्रीणि कोटीशतानि चतुरशीतिः कोटयः एकपञ्चाशल्लक्षाणि [5]त्रिपष्टिः सहस्राणि द्वे शते

❀ द्रष्टव्यं पृ. ७६ ॥ १ अज्जवगुणवट्टमाणो—सि.॥ २ णणु० सि. ॥ ३ तुलना—पञ्चाशकवृत्तिः प. २२६ ॥
४ त्रि कोटि० सि. वि. ॥ ५ त्रीणि षष्टिः मु. ॥

❁ अष्टादशसहस्रशीलाङ्गरथ-स्थापना च विचारसारे [पृ. ५६] इत्थम्-
[विशेषार्थं 'श्री शीलांगादि रथ संग्रह' पुस्तके द्रष्टव्यम्]

जे नो करंति ६०००	जे न कारवेंति ६०००	जे न अणुमन्नंति ६०००							
मणसा २०००	वयसा २०००	कायसा २०००							
निज्जियाहारसन्न ५००	निज्जयभयसन्न ५००	निज्जियमेहुणसन्न ५००	निज्जियपरिग्गहसन्न ५००						
सोइंदी १००	चक्खुइंदी १००	घाणिंदी १००	रसणेंदी १००	फासेंदी १००					
पुढवीकायारंभं १०	आउक्कायारंभं १०	तेउक्कायारंभं १०	वाउक्कयारंभ १०	वणस्सइकायारंभ० १०	बेइंदियारभं १०	तेइंदियारंभं १०	चउरिंदियारंभं १०	पंचिंदियारंभं १०	अजीवाणारंभं १०
खंति जुआ ते मुणी धन्ना १	समद्दवा ते मुणी धन्ना १	सअज्जवा ते मुणी धन्ना १	समुत्तिणी ते मुणोधन्ना १	तवजुत्ता ते मुणी धन्ना १	ससंजमा ते मुणी धन्ना १	सच्चजुआ ते मुणी धन्ना १	सोयजुआ ते मुणी धन्ना १	अकिंचणा ते मुणी धन्ना १	बंभजुआ ते मुणी धन्ना १

॥७६॥

पञ्चषष्टिश्चेति २३८४५९६३२६५ ततः किमित्यष्टादशैव महस्राण्युक्तानि ?, उच्यते यदि श्रावकधर्मवदन्यतरभङ्गकेन सर्वविरतिप्रतिपत्तिः स्यात्तदा युज्येत तद्भणनम्, न चैवमेकतरस्यापि शीलाङ्गभङ्गकस्य शेषसद्भाव एव भावादन्यथा सर्वविरतिरेव न स्यादिति । उक्तं च—''इत्थं इमं विन्नेयं अइदंपज्जं तु बुद्धिमंतेहिं । एक्कंपि सुपरिसुद्धं सीलंगं सेससब्भावे ॥ १ ॥'' [पञ्चाशकप्र. १४।१०] अस्या व्याख्या—अत्र शीलाङ्गाधिकारे इदं विज्ञेयमैदम्पर्यं—तत्त्वं बुद्धिमद्भिः पुरुषैः, यदुत—एकमपि सुपरिशुद्धं शीलाङ्गं शेषसद्भावे—तदपरशीलाङ्गसत्तायामेव, तदेवं समुदितान्येवैतानि भवन्तीति न द्व्यादिसंयोगभङ्गकोपादानम्, अपि तु सर्वपदान्त्यभङ्गस्येयमष्टादशसहस्रांशतोक्ता, यथा त्रिविधं त्रिविधेनेत्यस्य नवांशतेति, अत एव श्रावकाणामेतानि न भवन्त्येव, किन्तु मनःस्थैर्यसम्पादनार्थं तेऽप्यनुमतिप्रधानेन स्वाभिलापेन गाथोच्चारणमात्रमा'सूत्रयन्ति'[1]। अभिलापश्चायं—

'न करेंती मणसाहारसन्नविरया उ सोयसंगुत्ता । पुढवीकायारंभं धन्ना जे खंतिगुणजुत्ता १॥१॥एवं धन्ना जे [2]मद्दवुज्जुत्ता २, धन्ना जे अज्जवुज्जुत्ता ३, एवं यावद्धन्ना जे बंभगुणजुत्ता', इत्यादि ॥८४६॥१२३॥

इदानीं **'नयसत्तगं'** ति, चतुर्विंशत्युत्तरशततमं द्वारमाह—

नेगम १ संगह २ ववहार ३ रिज्जुसुए ४ चेव होइ बोद्धव्वे ।
सद्दे ५ य समभिरूढे ६ एवंभूए ७ य मूलनया ॥८४७॥

१ °सूत्रयन्तीति—सि. ॥ २ मद्दवजुत्ता- वि. ॥

एक्केक्को य सयविहो सत्त नयसया हवंति एवं तु ।
बीओवि य आएसो पंचेव सया नयाणं तु ॥८४८॥ [आ. नि. ७५४, ७५९]

नेगम' गाहा, 'अनेकधर्मकं वस्त्वनवधारणपूर्वकमेकेन नित्यत्वाद्यन्यतमेन धर्मेण [2]प्रतिपाद्य स्वबुद्धि नीयते—प्राप्यते येनाभिप्रायविशेषेण स ज्ञातुरभिप्रायविशेषो नयः । अयमत्र तात्पर्यार्थः—इह यो नाम नयो नयान्तरसापेक्षतया [3]स्याद्वादलाञ्छितं वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णं वस्तु गृह्णातीति प्रमाण एवान्तर्भवति । यस्तु [4]नयवादान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेणानवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स वस्त्वेकदेशपरिग्राहकत्वान्नय इत्युच्यते । स च नियमान्मिथ्यादृष्टिरेव, अयथावस्थितार्थवस्तुपरिग्राहकत्वात् । अत एवोक्तमन्यत्र ∧ 'सव्वे नया मिच्छावाइणो' [ ] त्ति । यत एव च नयवादो मिथ्यावादः, तत एव च [5]जिनप्रवचनतत्त्ववेदिनो मिथ्यावादित्वपरिजिहीर्षया सर्वमपि स्यात्कारपुरस्सरं भाषन्ते, न तु जातुचिदपि स्यात्कारविरहितम्, यद्यपि च लोकव्यवहारपथमवतीर्णा न[6] सर्वत्र सर्वदा साक्षात्स्यात्पदं प्रयुञ्जते तथापि तत्राप्रयुक्तोऽपि सामर्थ्यात् स्याच्छब्दो द्रष्टव्यः । प्रयोजकस्य कुशलत्वात् । उक्तं च—

"अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते । विधौ निषेधेऽन्यत्रापि, कुशलश्चेत्प्रयोजकः ॥१॥"

अत्र 'अन्यत्रापी' ति अनुवादा-ऽतिदेशादिवाक्येषु । ते च नया मूलभेदापेक्षया सप्त, तथा चाह—**'नेगमे'**

---

१ तुलना-आव मलय-वृत्तिः प ३६६, विशेषावश्यकभा. गा. २१८० ॥ २ प्रतिपाद्यस्य बुद्धि—इत्यावश्यक. मलय. वृत्तौ-पाठः ॥ ३ स्यात्पदला० इत्यावश्यक. मलय वृत्तौ पाठः ॥ ४ नयप्रवादा० सि. वि. ॥ ∧ सर्वे नया मिथ्यावादिनः । ५ जिनप्रवचनवेदिनो—मु. । आव. मलय. वृत्तावपि ०तत्त्व० इति पाठोऽस्ति ॥ ६ न च सर्वत्र-सि. ॥

त्यादि, नैगमः संग्रहो व्यवहार ऋजुसूत्रश्चैव भवति बोद्धव्यः । शब्दश्च समभिरूढ एवंभूतश्चेति मूलनया इति गाथासङ्क्षेपार्थः । [1]तत्र न एकं नैकं नायं नञ् किन्तु न इति 'अन् स्वरे' इति न भवति, प्रभूतानीत्यर्थः ।, ततो [2]नैकैः-प्रभूतमङ्ख्याकैर्मानैः-महासामान्या-ऽवान्तरसामान्यविशेषादिविषयैः प्रमाणैर्मिमीते-परिच्छिनत्ति वस्तुजातमिति नैगमः, पृषोदरादित्वादिष्टरूपसिद्धिः । यद्वा निश्चितो गमो [3]निगमः, परस्परविविक्तसामान्यादिवस्तुग्रहणं स एव प्रज्ञादेराकृतिगणतया स्वार्थिकाण्प्रत्ययविधानान्नैगमः, अथवा गमाः-पन्थानो नैके गमा यस्य स [4]नैगमः, पृषोदरादित्वात्ककारस्य लोपः, बहुविधवस्त्वभ्युपगमपर इत्यर्थः । तथाहि-एष सत्तालक्षणं महासामान्यमवान्तरसामान्यानि च द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादीनि तथा अन्त्यान् विशेषान्-सकलासाधारणरूपान् अवान्तरविशेषांश्च-पररूपव्यावर्तनक्षमान् सामान्यादत्यन्तविनिर्लुठितस्वरूपान् प्रतिपद्यते । यतोऽसावेवमाह- [5]संविन्निष्टाः किल पदार्थव्यवस्थितयः । तत्र सर्वेष्वपि पदार्थेषु द्रव्यादिरूपेषु सत् सदित्यविशेषेण प्रत्यय उपजायते वचनं च, न चैते तथारूपे प्रत्ययवचने द्रव्यादिमात्रनिबन्धने, द्रव्यादीनामसर्वव्यापकत्वात्, तथाहि-यदि द्रव्यमात्रनिबन्धनः सदिति प्रत्ययस्तर्हि स गुणादिषु न भवेत्, तत्र द्रव्यत्वाभावात्, गुणमात्रनिबन्धनत्वे द्रव्यादिषु न स्यात्, तत्र गुणत्वाभावात्, एवं सर्वत्रापि भावनीयम्, ततोऽस्ति द्रव्यादिभ्यो व्यतिरिक्तं महासत्ताख्यं नाम सामान्यं यद्वशादविशेषेण

१ तुल्यप्रायमावश्यक. मलयवृत्तिः प. ३७१ B ॥ २ तुलना-विशेषावश्यक भा. २१८६ तः ॥ ३ नैगमः - मु. ॥
४ तुलना-"नैगम इति प्राकृते ककारस्याश्रवणात् गमनं गमः पन्थाः-नै[क] गमो नैकपथः" इति विशेषाव.भा. कोट्याचार्यवृत्तौ (प. ५०६)॥ ५ संविन्निविष्टाः-मु. । आव. मलय. वृत्तावपि संविन्निष्टाः-इति पाठः ॥

सर्वत्र सदिति प्रत्यय इति । तथा नवसु द्रव्येषु द्रव्यं द्रव्यमित्यनुगताकारप्रत्ययदर्शनात् द्रव्यत्वं नामावान्तरसामान्यं प्रतिपत्तव्यम्, एवं गुणत्वकर्मत्वगोत्वाश्वत्वादीन्यपि, अमूनि चावान्तरसामान्यानि सामान्यविशेषा इत्युच्यन्ते, यत एतानि स्वस्वाधारविशेषेषु अनुगताकारप्रत्ययवचनहेतुत्वात् सामान्यानि विजातीयेभ्यो व्यावर्तमानत्वाच्च विशेषा इति सामान्यविशेषाः, तथा तुल्यजातिगुणक्रियाधाराणां नित्यद्रव्याणां परमाण्वाकाशदिगादीनामत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वादन्त्या विशेषाः ते च योगिनामेव प्रत्यक्षाः, अस्मदादीनां त्वनुमेयाः, तथाहि–तुल्यजातिगुणक्रियाधाराः परमाणवो व्यावर्त्तकधर्मसम्बन्धिनो [1]व्यावृत्तप्रत्ययविषयत्वात्, [2]मुक्ताफलराश्यन्तर्गतसचिह्नमुक्ताफलवत्, ये चावान्तरविशेषा घटपटादीनामितरेतरव्यावर्तनक्षमास्ते आबालगोपालाङ्गनादिजनानामपि प्रत्यक्षाः, एते च महासामान्यावान्तर[3]सामान्यान्त्यविशेषावान्तरविशेषाः परस्पर[4]विसकलितस्वरूपास्तथैव प्रतिभासमानत्वात्, तथाहि–न सामान्यग्राहिणि विज्ञाने विशेषावभासः नापि विशेषग्राहिणि सामान्यावभासः, ततः परस्परविनि[5]लुठितस्वरूपाः, तथा चात्र प्रयोगः–यद्यथाऽवभासते तत्तथाऽभ्युपगन्तव्यं, यथा नीलं नीलतया, अवभासन्ते [6]च परस्पर[7]विसकलितस्वरूपा इति नैगमः । नन्वेव यदि सामान्यविशेषाभ्युपगमपरस्तर्हि यत्सामान्यं तद् द्रव्यं ये तु विशेषास्ते पर्याया इति परमार्थतो

१ व्यावृत्ति० मु. । व्यावर्तन० जे. ॥ २ मुक्ताफलमास्यन्तर्गतचिह्न० इत्यावश्यक· मलयवृत्तौ पाठः ॥
३ ०सामान्यान्त० इत्यावश्यक· मलय· वृत्तौ (प. ३७२) पाठः ॥
४ विसंक० सि. । ०विशक० इत्यावश्यक· मलय· वृत्तौ पाठः ॥ ५ ०लुण्ठित० सि. आव. मलयवृत्तौ च ॥
६ च ते पर० मु । आव. मलय. वृत्तावपि च पर० इति पाठः-मु. ॥ ७ विसं० सि. ॥

द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयमतावलम्बित्वात् सम्यग्दृष्टिरेव प्रतिपन्नजिनमतत्वात्तथाविधसम्यग्जैनसाधुवत् ततः कथं मिथ्यादृष्टिः १, तदेतदयुक्तम्, प्रतिपन्नजिनमतत्वासिद्धेः परस्पर[1]विसकलितसामान्यविशेषाभ्युपगमात्, तथाहि–एष परस्परमेकान्ततो विभिन्नावेव सामान्यविशेषाविच्छति, गुणगुणिनाम[2]वयवावयविनां क्रियाकारकाणां चात्यन्तभेदम्, न पुनर्जैनसाधुरिव सर्वत्रापि भेदाभेदावतो मिथ्यादृष्टिः कणादवत्, कणादेनापि हि सकलमप्यात्मीयं शास्त्रं द्वाभ्यामपि द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयाभ्यां समर्थितं तथापि [3]तन्मिथ्या, स्वविषयप्रधानतया परस्परमनपेक्षयोः सामान्यविशेषयोरभ्युपगमात्, उक्तं च–☐"जं सामन्नविसेसे परोप्परं वत्थुतो य [4]से भिन्ने । (ग्रन्थाग्रं १००००) मन्नइ अच्चंतमतो मिच्छादिट्ठी कणादोव्व ॥१॥
[5]दोहिंवि नएहिं नीयं सत्थमुलूगेण तहवि मिच्छत्तं । जं सविसयप्पहाणत्तणेण अन्नोन्ननिरवेक्खा ॥२॥"
[विशेषाव. २१९४-५, सन्मतितर्क प्र. ३-४९] १।

तथा सङ्गृह्णाति– [6]अशेषविशेषातिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया समस्तं जगदादत्ते इति सङ्ग्रहः, तथाहि–अयमेवं मन्यते–सामान्यमेवैकं तात्त्विकं न विशेषाः, ते हि भावलक्षणसामान्याद्व्यतिरिक्ता वा

१ विसं० मु.। आव. मलय. वृत्तावपि विस० इति पाठः ॥
२ ०वयव्यवयिनां-इत्यावश्यक. मलय. वृत्तौ पाठः ॥ ३ तन्मिथ्यात्व-मु.। आव. मलय. वृत्तावपि तन्मिथ्या-इति पाठः ॥
☐ यत् सामान्यविशेषौ परस्परं वस्तुतश्च तौ भिन्नौ । मन्यते अत्यन्तमतः कणाद इव मिथ्यादृष्टिः ॥१॥ द्वाभ्यामपि नयाभ्यामुलूकेन शास्त्रं नीतं तथापि मिथ्यात्वं । यत् स्वविषयप्रधानत्वात् अन्योऽन्यनिरपेक्षौ इति वदति ॥२॥
४ सो-इति विशेषावश्यकभाष्ये पाठः ॥ ५ दोहिवि-मु. ॥ ६ अशेषविशेषा० मु.।तुलना-आवश्यक.मलय.वृत्तिः प. ३७४ ॥

भवेयुरव्यतिरिक्ता वा ? गत्यन्तराभावात्, प्रथमपक्षे न सन्त्येव विशेषाः, भावाद्व्यतिरिक्तत्वादाकाशकुशेशयवत्, अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि विशेषा अपि भावमात्रमेव, तथाहि—भावमात्रं विशेषास्तदव्यतिरिक्तत्वात्, इह यद्यस्मादव्यतिरिक्तं तत्तदेव, यथा भावस्य स्वरूपम्, अव्यतिरेकिणश्च भावाद्विशेषा इति, किंच-विशेषाग्रहो विशेषेण त्याज्यो विशेषव्यवस्थापकप्रमाणाभावात्, तथाहि-भेदरूपा विशेषाः, न च [1]किञ्चित्प्रमाणं भेदमवगाहते, प्रत्यक्षं हि भावसम्पादितसत्ताकम्, अतस्तमेव साक्षात्कर्तुमलं नाभावम्, अभावस्य सकलशक्ति[2]विरहरूपतया तदुत्पादने व्यापाराभावात्, अनुत्पादकस्य च साक्षात्करणे सर्वसाक्षात्करणप्रसङ्गः, तथा च सति विशेषाभावा[3]त्सर्वो द्रष्टा सर्वदर्शी स्यात्, अनिष्टं चैतत्, तस्माद्भव ग्राहकमेव प्रत्यक्षमेष्टव्यम्, स च भावः सर्वत्राविशिष्टस्तथैव तेन ग्राह्य इति न प्रत्यक्षाद् विशेषावगतिः, नाप्यनु[4]मानादेः, प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्छेषप्रमाणपटलस्य, ततः सामान्यमेव परमार्थतः सत् न विशेषा इति सङ्ग्रहः २ ।

तथा [5]व्यवहरणं व्यवहारः, यदिवा विशेषतोऽवह्रियते—निराक्रियते सामान्यमनेनेति व्यवहारः, विशेषप्रतिपादनपरो व्यवहारनय इत्यर्थः । स ह्येवं विचारयति— [6]सदित्युक्ते घटपटाद्यन्यतमो विशेष एव

१ क्ष्चिन प्रमाणं मु. । किञ्चित्प्रमाणभेदमवगाहंते- इत्यावश्यक. मलय. वृत्तौ पाठः ॥
२ ०विष्टब्धरूपतया-इत्यावश्यक. मलय वृत्तौ पाठः ॥ ३ सर्वोऽपि-मु. । आवश्यक. मलय. वृत्तावपि सर्वो-इति पाठः ॥
४ ०मानादिः- इत्यावश्यक. मलय. वृत्तौ पाठ. ॥ ५ तुलना-आवश्यक-मलय. वृत्तिः प. ३७४ B ॥
६ यदि सदित्युक्ते-मु. । सदित्युक्तो- इत्यावश्यक. मलय. वृत्तौ पाठः ॥

कोऽप्यनिर्दिष्टस्वरूपः प्रतीयते, न सङ्ग्रहनयसम्मतं सामान्यं, तस्यार्थक्रियासामर्थ्यविकलतया सकललोकव्यवहारपथातीतत्वात् ततो विशेष एवास्ति न सामान्यम्, इतश्च न सामान्यमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तस्यानुपलब्धेः । इह यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तदसदिति व्यवहर्तव्यम् । यथा क्वचित्केवलभूतलप्रदेशे घटः, नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सत् सङ्ग्रहनयसम्मतं सामान्यमिति स्वभावानुपलब्धिः, अपि च–सामान्यं विशेषेभ्यो व्यतिरिक्तं स्यादव्यतिरिक्तं वा स्यात्?, यद्याद्यः पक्षस्तर्हि सामान्यस्याभाव एव, विशेषव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्यासम्भवात्, न हि मुकुलितार्धमुकुलितादिविशेषविकलं किमप्याकाशकुसुममस्तीति परिभावनीयमेतत् । अथाव्यतिरिक्तं ततो विशेषा एव, न सामान्यम्, तदव्यतिरिक्तत्वात्तत्स्वरूपवत् । यदपि चोक्तम्–

'प्रत्यक्षं मात्रसम्पादितसकलसत्ताकमतस्तमेव साक्षात्कर्तुमलम्' [ ] इत्यादि, तदपि बालप्रलपितम्, प्रत्यक्षं हि नाम तेन सम्पादितसत्ताकमुच्यते यदुत्पन्नं सत्प्रत्यक्षं साक्षात् करोति, कुरुते च प्रत्यक्षं साक्षात् घटपटादिरूपं विशेषं न सङ्ग्रहनयसम्मतं सामान्यम्, न च विशेषो घटपटादिरूपोऽभावो भावात्मकत्वात्, ततो नार्थक्रियाशक्तिविकल इत्यदोषः, ततो विशेष एव प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धो न सामान्यमिति सामान्याग्रह एव त्याज्यो न विशेषाग्रहः, किञ्च–यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्, न च सामान्यं [1]दोहदाहादिक्रियासूपयुज्यते किन्तु विशेषा एव गवादयः ततस्त एव तात्त्विकाः न सामान्यमिति,

१ दोहादिक्रिया० मु. । दोहवाहादि० सि. । वाहदाहादि० वि. । दोहदाहादि० इत्यावश्यक० मलयवृत्तौ पाठः ॥

एष च व्यवहारनयो लोकसव्यवहारपरः ततो यदेव लोकोऽभिमन्यते तदेवैषोऽपि न शेषं सन्तमपि, लोकश्च भ्रमरादौ परमार्थतः पञ्चवर्णाद्युपेतेऽपि कृष्णवर्णादित्वमेव प्रतिपन्नः, तस्य स्पष्टतयोपलभ्यमानत्वात्, तत एषोऽपि तदनुयायितया तदेवेच्छति न शेषान् सतोऽपि शुक्लादीन् वर्णानिति ३ । तथा [1]ऋजु–प्रगुणमकुटिलमतीतानागतपरकीयवक्रपरित्यागाद्वर्तमानक्षणविवर्ति स्वकीयं च सूत्रयति–निष्टङ्कितं दर्शयतीति ऋजुसूत्रः, यदिवा ऋजुश्रुत इति शब्दसंस्कारः, तत्र ऋजुः–पूर्वोक्त[2]वक्रविपर्ययादभिमुखं श्रुतं–ज्ञानमस्येति ऋजुश्रुतः, शेषज्ञानानभ्युपगमात्, तथाहि–[3]एष मन्यते यदतीतमनागतं वा तद्यथाक्रमं विनष्टत्वात् अलब्धात्मलाभाच्च नार्थक्रियासमर्थं नापि प्रमाणगोचरो[4]ऽथवार्थक्रियासमर्थं प्रत्यक्षादिप्रमाणपथमवतीर्णं वस्तु न शेषम्, अन्यथा शशशृङ्गादेरपि वस्तुत्वप्रसक्तेः, ततोऽर्थक्रियासामर्थ्यविकलत्वात् प्रमाणपथातीतत्वाच्च नातीतमनागतं वा वस्तु, यदपि च परकीयं वस्तु तदपि परमार्थतोऽसत् निष्प्रयोजनत्वात् परधनवत्, एष च ऋजुसूत्रो वार्तमानिकं वस्तु प्रतिपद्यमानो लिङ्ग-वचनभिन्नमप्येकं प्रतिपद्यते, तत्रैकमपि त्रिलिङ्गं यथा तटस्तटी तटम्, तथैकमपि एकवचन-द्विवचन-बहुवचनवाच्यं यथा [5]गुरुर्गुरवः, गोदौ ग्रामः, आपो जलम्ः, दाराः कलत्रमित्यादि, निक्षेपचिन्तायां च नाम-स्थापना-द्रव्य-भावरूपांश्चतुरोऽप्यसौ निक्षेपानभिमन्यते ४ ।

तथा [6]शब्द्यते–प्रतिपाद्यते वस्त्वनेनेति शब्दः, शब्दस्य यो वाच्योऽर्थः स एव येन नयेन तत्त्वतो गम्यते

१ तुलना–आवश्यक. मलय वृत्तिः प. ३७५ ॥ २ ०वक्र० सि. नास्ति ॥
३ अयं-मु । आव. मलयवृत्तावपि एष इति पाठः ॥ ४ ०ऽथ चार्थ० मु. ॥
५ गुरुर्गुरू गुरवः-मु. । आव. मलय. वृत्तावपि गुरुर्गुरवः इति पाठः ॥ ६ तुलना-आव. मलय. वृत्तिः प. ३७५ B ॥

न शेषः स नय उपचारात् शब्द इत्युच्यते, अस्य च द्वितीयं नाम साम्प्रत इति, साम्प्रतवस्त्वाश्रयणात् साम्प्रतः, तथाहि—एषोऽपि ऋजुसूत्रनय इव साम्प्रतमेव वस्त्वभ्युपगच्छति [1]नातीतमनागतं वा, नापि वर्तमानमपि परकीयम्, अपि च—निक्षेपचिन्तायां भावनिक्षेपमेव केवलमेष मन्यते न नामादीन् निक्षेपान्, तथा च नामादिनिक्षेपनिराकरणाय प्रमाणमाह—नामस्थापनाद्रव्यरूपा घटा न घटाः घटकार्यकारित्वाभावात्, यद् घटकार्यकारि न भवति तन्न घटो यथा पटस्तथा चामी घटा घटकार्यकारिणो न भवन्ति तस्मान्न घटा इति नामादिघटानां घटत्वाभावः, इतश्च घटत्वाभावस्तल्लिङ्गादर्शनात्, न खलु नामादिघटेषु घटलिङ्गं पृथुबुध्नोदराद्याकाररूपं जलधारणरूपं वा किमप्युपलभामहे, अनुपलभमानाश्च तेषु कथं घटव्यपदेशप्रवृत्तिमिच्छामः ?, अपि च—नामादीन् घटान् घटत्वेन व्यपदिशत ऋजुसूत्रस्य प्रत्यक्षविरोधः, [2]अघटरूपतया पटादीनामिव तेषां प्रत्यक्षत उपलभ्यमानत्वात्। अन्यच्च एष लिङ्गवचनभेदाद्वस्तुनो भेदं प्रतिपद्यते, यथा अन्य एव तटीशब्दस्य वाच्योऽर्थः, अन्य एव तटशब्दस्य पुल्लिङ्गस्य, अपर एव च नपुंसकलिङ्गस्य, तथा अन्य एव गुरुरित्येकवचनवाच्योऽर्थः, अन्य एव च गुरव इति बहुवचनवाच्यः, ततो न बहुवचनवाच्योऽर्थ एकवचनेन वक्तुं शक्यते, नाप्येकवचनवाच्यो बहुवचनेन, तथा न पुँल्लिङ्गार्थो नपुंसकलिङ्गेन वक्तुं शक्यः नापि स्त्रीलिङ्गेन, नापि [3]नपुंसकः पुंल्लिङ्गेन स्त्रीलिङ्गेन वा, नापि स्त्रीलिङ्गः पुंल्लिङ्गेन नपुंसकलिङ्गेन वा, अर्थाननुयायितया तेषामर्थतो भिन्नत्वात्, तथा चात्र प्रयोगः—ये पर-

१ नागतं-सि.। नाप्यतीतमनागतं -इत्याव. मलय. वृत्तौ पाठः॥ २ अघटस्वरूप० इत्यावश्यक. मलय. वृत्तौ पाठः॥
३ नपुंसकलिङ्गः -इत्यावश्यक. मलय. वृत्तौ पाठः॥

स्परमर्थतोऽननुयायिनस्ते भिन्नार्थी इति व्यवहर्तव्याः यथा घटपटादिशब्दाः, परस्परमर्थतोऽननुयायिनश्च लिङ्गवचनभेदभिन्नाः शब्दा इति, ये त्विन्द्रशक्रपुरन्दरादयः शब्दाः सुरपतिप्रभृतिलक्षणमेकमभिन्नलिङ्गवचनमधिकृत्याभिन्नलिङ्गवचनास्तेषामभिन्नोऽर्थ इत्येकार्थता ५ । तथा [1]सम्—एकीभावेन अभिरोहति—व्युत्पत्तिनिमित्तमास्कन्दति शब्दप्रवृत्तौ यः स समभिरूढः, एष हि पर्यायशब्दानामपि प्रविभक्तमेवार्थमभिमन्यते, यथा घटनाद् घटः, विशिष्टा काचनापि या चेष्टा युवतिमस्तकाद्यारोहणादिलक्षणा सा परमार्थतो घटशब्दवाच्या, तद्वत्यर्थे पुनर्घटशब्दः प्रवर्तते उपचारात्, एवं 'कुट कौटिल्ये' कुटनात् कुटः, अत्र पृथुबुध्नोदरकम्बुग्रीवाद्याकारकौटिल्यं कुटशब्दवाच्यम्, तथा 'उभ उंभ पूरणे' कुः—पृथिवी तस्यां स्थितस्य उम्भनात्—पूरणात्कुम्भः, अत्र यत् पृथिव्यां स्थितस्य पूरणं तत्कुम्भशब्दवाच्यम्, एवं सर्वेषामपि पर्यायशब्दानां नानात्वं प्रतिपद्यते, वदति च—न शब्दान्तराभिधेयं वस्तु द्रव्य पर्यायो वा तदन्यशब्दवाच्यवस्तुरूपतां सङ्क्रामति, न खलु पटशब्दवाच्योऽर्थो जातुचिदपि घटशब्दवाच्यवस्तुरूपतामास्कन्दति तथाऽनुपलम्भात् आस्कन्दने वा वस्तुसाङ्कर्यापत्तिः, तथा च सति सकललोकप्रसिद्धप्रतिनियतविषयप्रवृत्तिनिवृत्त्यादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः, ततो घटादिशब्दवाच्यानामर्थानां कुटादिशब्दवाच्यार्थरूपताऽनास्कन्दनान्न कुटादयः शब्दा घटाद्यर्थवाचका इति विभिन्नार्थाः पर्यायशब्दाः, प्रमाणयति च—इह ये ये प्रविभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तकाः शब्दास्ते ते [2]भिन्नार्थाः यथा घटपटशकटादिशब्दाः, भिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तकाश्च पर्यायशब्दा इति, यत्पुनरविचारित-

१ तुलना-आवश्यक. मलय. वृत्तिः प. ३७६ B त. ॥

२ विभिन्नार्थाः- मु.। आव. मलय. वृत्तावपि भिन्नार्थाः- इति पाठः ॥

प्रतीतिबलादेकार्थाभिधायकत्वं पर्यायशब्दानां [1]प्रतिपाद्यते, तदसमीचीनमतिप्रसङ्गात्, तथाहि—यदि युक्तिरिक्ताऽपि प्रतीतिः शरणीक्रियते तर्हि मन्दमन्दप्रकाशे दवीयसि देशे संनिविष्टमूर्तयो विभिन्ना अपि निम्बकदम्बाश्वत्थकपित्थादय एकतर्वाकारतामाबिभ्राणाः प्रतीतिपथमवतरन्तीत्येकतयैव तेऽभ्युपगन्तव्याः, न चैतदस्ति, विविक्ततत्स्वरूपग्राहिप्रत्यनीकप्रत्ययोपनिपातबाधितत्वेन पूर्वप्रतीते[2]र्विविक्तानामेवैतेषामभ्युपगमात्, [3]एवमन्यत्रापि भावनीयम्, अन्यच्च—शब्दनय ! यदि त्वया परस्परमर्थतो भिन्नत्वाल्लिङ्गवचनभिन्नानां शब्दानां भिन्नार्थता व्यवह्रियते ततः पर्यायशब्दानामपि किं न [4]भिन्नार्थताव्यवहारः क्रियते ?, तेषामपि परस्परमर्थतो भिन्नत्वात्तस्मान्नैकार्थवाचिनः पर्यायध्वनय इति ६ । तथा [5]एवंशब्दः प्रकारवचनः एवं—यथा व्युत्पादितस्तं प्रकारं भूतः—प्राप्त एवम्भूतः शब्दः, तत्समर्थनप्रधानो नयोऽप्येवम्भूतः उपचारात्, अयं हि शब्दमर्थेन विशेषयति, अर्थवशान्नैयत्ये व्यवस्थापयतीति भावः, यथा स एव [6]तत्त्वतो घटशब्दो यश्चेष्टावन्तमर्थं प्रतिपादयति न शेषः, तथा अर्थं शब्देन विशेषयति, शब्दवशात्तच्छब्दवाच्यमर्थं प्रतिनियतं व्यवस्थापयतीति भावः, यथा [7]या घटशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धा चेष्टा सा घटनात् घट इति व्युत्पत्त्यर्थपरिभावनाबलात् योषिदादिमस्तकारूढस्य घटस्य जलाहरणादिक्रियारूपा द्रष्टव्या न तु स्थानभरणक्रियारूपा, ततश्च [8]यस्मिन्नर्थे शब्दो व्युत्पाद्यते स व्युत्पत्तिनिमित्तमर्थो यदैव स्वरूपतो

१ प्रतिपद्यते-सि.वि ॥ २ ०र्विभक्ता० वि. ॥ ३ एवमत्रापि- इत्यावश्यक० मलय. वृत्तौ पाठः ॥ ४ विभिन्ना० मु० । आव. मलय वृत्तावपि भिन्ना० इति पाठः ॥ ५ तुलना—आव. मलय. वृत्ति. प. ३७८ A ॥
६ तत्त्वात्-सि ॥ ७ वा-इत्याव. मलय वृत्तौ पाठः ॥ ८ तुलना-आव. मलय. वृत्तिः प. ३७८ A ॥

वर्तते तदैव तं शब्दं प्रवर्तमानभिप्रैति न शेषकालम्, यथोदकाद्याहरणवेलायां योषिदादिमस्तकारूढो विशिष्ट-
चेष्टावान् घटो घटशब्दवाच्यो न शेषो घटशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तशून्यत्वात् पटादिवत्, तथा घटशब्दोऽपि
तत्त्वतः स एव द्रष्टव्यो यश्चेष्टावन्तमर्थं प्रतिपादयति न शेषः, शेषस्य स्वाभिधेयार्थशून्यत्वात्, [1]एवं
चैष व्युत्पत्ति[2]निमित्तार्थास्तित्वभूषितमेव तात्त्विकं शब्दमभि[3]लपति, य एव पञ्चेन्द्रियत्रिविधबला-
दिरूपान् दशविधान् प्राणान् धारयति स एव नारकादिरूपः सांसारिकः प्राणी जीवशब्दवाच्यो न सिद्धः,
[4]सूत्रोक्तस्वरूपप्राणधारण[5]लक्षणव्युत्पत्तिनिमित्तासम्भवात्, सिद्धस्त्वात्मादिशब्दवाच्यः, अतति-सात-
त्येन गच्छति तांस्तान् ज्ञानदर्शनसुखादिपर्यायानित्याद्यात्मादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तसम्भवादिति ७ ॥८४७॥
[6]सम्प्रत्येतेषामेव नयानां प्रभेदसङ्ख्यादर्शनार्थमाह—'एक्केक्को य' गाहा, नया मूलभेदापेक्षया यथोक्त-
रूपा नैगमादयः सप्त, एकैकश्च प्रभेदतः शतविधः, ततः [7]सर्वप्रभेदगणनया सप्त नयशतानि भवन्ति, अन्योऽपि
चादेशो—मतान्तरं पञ्चैव शतानि नयानां भवन्तीति, तथाहि—शब्दसमभिरूढैवम्भूतानां त्रयाणामपि नयानां
शब्दपरत्वेनैकत्वविवक्षणात् पञ्चैव मूलनयाः, प्रत्येकं च शतप्रभेदत्वे पञ्च शतानीति, [8]अपिशब्दात् षट्
[9]चत्वारि शतानि द्वे वा शते, तत्र षट् शतान्येवं—नैगमः सामान्यग्राही सङ्ग्रहे प्रविष्टो विशेषग्राही तु

१ तुलना- आव. मलय वृत्तिः प ३७७ B ॥ २ ०निमित्तमर्था ० वि. ॥ ३ ०लक्षन्-जे. ॥ ४ तत्रो० इत्याव. मलय. वृत्तौ पाठः ॥ ५ ०लक्षण० सि. वि. नास्ति ॥ ६ सम्प्रत्येषामेव-सि. वि. । तुलना-आव मलय वृत्तिः प ३८२ A ॥ ७ सर्वभेद० मु. । प्रभेद० सि. वि. । सर्वप्रभेद० इत्याव मलय. वृत्तौ पाठः ॥ ८ अपिशब्दत्वात्-सि. वि. ॥ ९ शतानि-सि. वि. आव. मलय. वृत्तौ च नास्ति ॥

व्यवहारे, ततः षडेव मूलनयाः, एकैकश्च प्रभेदतः शतभेद इति षट् शतानि, तथा सङ्ग्रहव्यवहारऋजुसूत्र-शब्दा इति चत्वार एव मूलनयाः एकैकश्च शतविध इति चत्वारि शतानि, शतद्वयं तु नैगमादीनां ऋजु-सूत्रपर्यन्तानां चतुर्णां द्रव्यास्तिकत्वात् शब्दादीनां तु त्रयाणां पर्यायास्तिकत्वात्तयोश्च प्रत्येकं शतभेदत्वात्, अथवा यावन्तो वचनपथास्तावन्तो नया इत्यसङ्ख्याताः प्रतिपत्तव्याः ८४८॥ १२४॥

इदानीं 'वत्थग्गहणविहाणं' ति पञ्चविंशत्युत्तरं शततमं द्वारमाह—

जन्न तयट्ठा कीयं [1]नेव वुयं [2]नेव गहियमन्नेसिं ।
आहडपामिच्चं चिय कप्पए साहुणो वत्थं ॥८४९॥
अंजणखंजणकद्दमलित्ते, मूसगभक्खिय अग्गिविदड्ढे ।
[3]उन्निय कुट्टिय पज्जवलीढे, होइ विवागो [4]सुहो असुहो वा ॥८५०॥
नवभागकए वत्थे चउरो कोणा य दुन्नि अंता य ।
दो कन्नावट्टीउ मज्झे वत्थस्स एक्कं तु ॥८५१॥
चत्तारि देवया भागा, दुवे भागा य माणुसा ।
आसुरा य दुवे भागा, एगो पुण जाण रक्खसो ॥८५२॥

१ नेय-जे. २. ता. ॥ २ जं न- मु. । जन्न-इति विचारसारे पाठः ॥ ३ तुन्निय-इति बृ. क-भाष्ये निशीथभाष्ये विचार-सारे, धर्म सं. वृत्तौ भा. २ प. ४६ च पाठः ॥ ४ सुह-मु. ॥

गाथा ८४१-८५३ प्र. आ. २४७

देवेसु उत्तमो लाभो, माणुसेसु य मज्झिमो ।
आसुरेसु य गेलन्नं, मरणं जाण रक्खसे ॥८५३॥

[बृ.क. भाष्य २८३२-३१-३३-३४, निशीथभाष्य ५०८७-८६-८८ ८९, विचारसार ३२६-९]

'जन्न तयट्ठा' गाहा, इह [1]तावद्वस्त्रमेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियावयवनिश्पत्तिभेदात् त्रिधा भवति, तत्र एकेन्द्रियावयवनिष्पन्नं कार्पासिकादि, विकलेन्द्रियावयवनिश्पन्नं कौशेयकादि ❋ एतच्च कारण एव गृह्यते,❋ पञ्चेन्द्रियावयवनिष्पन्नं और्णिकादि । पुनरेकैकं त्रिधा—यथाकृता-ऽल्पपरिकर्म-बहुपरिकर्म-भेदात् । तत्र यानि परिकर्मरहितान्येव तथास्वरूपाणि लभ्यन्ते तानि यथाकृतानि । यानि चैकवारं खण्डयित्वा सीवितानि तान्यल्पपरिकर्माणि । यानि पुनर्बहुधा खण्डत्वा सीवितानि तानि बहुपरिकर्माणि । इह च यान्यल्पपरिकर्माणि वस्त्राणि तानि बहुपरिकर्मवस्त्रापेक्षया स्तोकसंयमव्याघातकारीणीत्यतस्तदपेक्षया शुद्धानि, तेभ्योऽपि यथाकृतान्यतिशुद्धानि, मनागपि पलिमन्थादिदोषकारित्वाभावात् । ततो गृहद्भिः पूर्वं यथाकृतानि ग्राह्याणि, तदलाभे चाल्पपरिकर्माणि, तेषामप्यभावे बहुपरिकर्माण्यपि वस्त्राणि ग्राह्याणीति ।

एतच्च सर्वमपि वस्त्रं गच्छवासिभिः कल्पनीयमेव ग्राह्यम् । तच्चैवं—यद्वस्त्रं न तदर्थं—व्रतिनिमित्तं क्रीतम्, यच्च नैव व्रतिनिमित्तं 'वुयं'ति अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् वायितम्, यच्च नैव गृहीतमन्येषां सम्बन्धि, अनिच्छतोऽपि पुत्रादेः सकाशात् साधुदानाय बलाद्यन्न गृहीतमिति भावः, एवंविधं वस्त्रम् । तथा अभ्याहृतमपमित्यकं च त्यक्त्वा शेषं साधोः कल्पत इति । [2]तत्र अभ्याहृतं द्वेधा—परग्रामाभ्याहृतं स्वग्रामाभ्याहृतं ॥ ९० ॥

१ तुलना—धर्मसं वृत्तिः भा. २, प. ४८ तः॥ ❋❋चिह्नद्वयमध्यवर्ती पाठः सि प्रतौ नास्ति ॥ २ अत्र-सि. ॥

च । परग्रामाभ्याहृतं यदन्यस्माद् ग्रामादेः साधुनिमित्तमानीतम् । स्वग्रामाभ्याहृतं हट्टादिभ्यो यद् व्रतिभिरदृष्टं यतिनिमित्तमेव गृहे समानीतम्, व्रतिदृष्टं तु हट्टादिभ्योऽप्यानीतं गृहादिषु यतीनां ग्रहीतुं कल्पत इति । तथा अपमित्यकम्—उद्धारकेणान्यस्माद् गृहीत्वा यद्ददाति । दोषाश्चात्रापि पिण्डवद्वाच्या इति । अपरं च—अत्राप्यविशोधिकोटिविशोधिकोटिद्वयं ज्ञातव्यम्, तत्र मूलतो यत्यर्थं वायनादिकं वस्त्रस्याविशोधिकोटिः, प्रक्षालनादिकं च यत्यर्थं क्रियमाणं विशोधिकोटिः । इदं च वस्त्रं यदा कल्पनीयमित्यवसितं भवति तदा द्वयोरप्यन्तयोर्गृहीत्वा सर्वतो निरीक्षणीयम्, मा तत्र गृहिणां मणिर्वा सुवर्णं वा अन्यद्वा रूपकादिद्रव्यं निबद्धं स्यात् । ततः सोऽपि गृहस्थो भण्यते—निरीक्षस्व एतद्वस्त्रं सर्वतः । एवं च यदि तेन मण्यादि दृष्टं ततो गृहीतम् । अथ न दृष्टं ततः साधुरेव दर्शयति एनमपनयेति । आह—गृहिणः कथिते कथमधिकरणं न भवति ?, उच्यते, कथिते स्तोकतर एव दोषः, अकथिते तु महानुड्डाहादिः स्यादिति ॥

अथ यादृशे वस्त्रे लब्धे शुभं भवति यादृशे चाशुभं भवतीत्येतदाह—'अंजणे' त्यादि [1]वृत्तम्, अञ्जनं—सौवीराञ्जनप्रभृतिकं ※ तैलकज्जलाञ्जनप्रभृति ※ वा खञ्जनं-दीपमलः, कर्दमः-पङ्कस्तैर्लिप्ते—खरण्टिते वस्त्रे, तथा मूषकैरुपलक्षणत्वात्कंसारिकादिभिश्च भक्षिते, तथाऽग्निना विशेषेण दग्धे तथा तुण्णिते तुन्नकारेण स्वकलाकौशलतः पूरितच्छिद्रे, तथा कुट्टिते—रजककुट्टनेन पतितच्छिद्रे, तथा पर्यवैः—पुराणादिभिः पर्यायैर्लीढे—युक्ते, अतिजीर्णतया कुत्सितवर्णान्तरादिसंयुक्ते इत्यर्थः, एवंविधे वस्त्रे गृहीते सति भवति विपाकः—

१ वृत्तम्-मु॰ नास्ति ॥ ※※ चिह्नद्वयमध्यवर्ती पाठः जे॰ सि॰ नास्ति ॥

परिणामः शुभोऽशुभो वा । इयमत्र भावना—गृहीतस्य वस्त्रस्य नव भागाः कल्प्यन्ते । तत्र च केषुचि[1]द्भागेषु अञ्जन-खञ्जनादिके सति शुभं फलमुपजायते [2]केषुचित्पुनरशुभमिति ॥८५०॥

अथ तानेव [3]भागानाह—'नवभाग०'गाहा, कल्पनया नवभिर्भागैः कृते वस्त्रे एते नव भागा विज्ञेयाः, यथा—चत्वारः कोणकास्तथा द्वावन्तौ ययोर्दशिका भवन्ति, तथा द्वे कर्णपट्टिके, मध्ये च वस्त्रस्यैको भागः ॥८५१॥

सम्प्रत्येतेषामेव विभागानां क्रमेण स्वामिन आह—'चत्तारो' त्यादिश्लोकः चत्वारः कोणकरूपा भागा दैव्या—देवसम्बन्धिनः । द्वावन्त्यौ दशिकासम्बद्धौ भागौ मानुषौ—मनुष्यस्वामिकौ । द्वौ च [4]भागौ—कर्णपट्टिकालक्षणौ आसुरौ—असुरसम्बन्धिनौ । सर्वमध्यगतः पुनरेको भागो राक्षसो—राक्षससम्बन्धीत्येवं क्रमेण नवानामपि विभागानां स्वामिनो जानीहीति ॥८५२॥

अथैतेषु भागेषु अञ्जनादिसद्भावे प्रशस्ताप्रशस्तं फलमाह—'देवेसु' इत्यादि, दैव्येषु भागेषु यद्यञ्जनादिभिर्दूषितं वस्त्रं भवेत्तदा तस्मिन् गृहीते यतिजनस्य उत्तमो लाभो भवेद्वस्त्रपात्रादीनाम्, तथा मानुषभागयोरञ्जनादिभिः दूषिते वस्त्रे मुनीनां मध्यमो लाभः सम्पद्यते । तथा आसुरभागयोरञ्जनादिभिः दूषिते वस्त्रे गृह्यमाणे ग्लानत्वं व्रतिनां जायते । [5]राक्षसभागे पुनरञ्जनादिदूषिते जानीहि यतीनां मरणमिति ॥८५३॥१२५॥

१ ०द्विभागे० सि. ॥ २ केनचि० सि. ॥ ३ विभागा० सि. ॥ ४ विभागौ-मु. ॥ ५ राक्षसे—सि. ॥

साम्प्रतं 'ववहारा [1]पंच' त्ति षड्विंशत्युत्तरशततमं द्वारमाह—

आगम १ सुय २ आणा ३ धारणा ४ य जीए ५ य पंच ववहारा ।
केवल १ मणो २ हि ३ चउदस ४ दस ५ नवपुव्वाइ ६ पढमोऽत्थ ॥८५४॥
कहेहि सव्वं जो वुत्तो, जाणमाणोऽवि गूहइ ।
न तस्स दिंति पच्छित्तं, बिंति अन्नत्थ सोहय ॥८५५॥
न संभरे य जे दोसे, सब्भावा न य मायओ ।
पच्चक्खी साहए ते उ, माइणो उ न साहए १ ॥८५६॥
आयारपकप्पाई सेसं सव्वं सुयं विणिदिट्ठं २ ।
देसंतरट्ठियाण गूढपयालोयणा आणा ३ ॥८५७॥
गीयत्थेणं दिन्नं सुद्धिं अवहारिऊण तह चेव ।
दिंतस्स धारणा तह उद्धियपयधरणरूवा वा ४ ॥८५८॥
दव्वाइ चिंतिऊणं संघयणाईण हाणिमासज्ज ।
पायच्छित्तं जीयं रूढं वा जं जहिं गच्छे ५ ॥८५९॥

'आगमे'त्यादि, व्यवह्रियन्ते जीवादयोऽनेनेति व्यवहारः, अथवा व्यवहरणं व्यवहारो—मुमुक्षु-प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः, तत्कारणत्वाद् ज्ञानविशेषा अपि व्यवहारः । स च पञ्चप्रकारस्तद्यथा—आगम्यन्ते—परि-

[1] पचेव त्ति-मु. ॥

च्छिद्यन्ते पदार्था अनेनेत्यागमः १, श्रवणं श्रूयते इति वा श्रुतम् २, आज्ञाप्यते–आदिश्यते इत्याज्ञा ३, धरणं–धारणा ४, जीयत इति जीतम् ५। तत्र प्रथमः– [1]आगमव्यवहारः षड्विधः, कस्क इत्याह–केवलज्ञानम्, 'मणोहि' त्ति 'पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्' मनःपर्यायज्ञानम्; अवधिज्ञानम् '**चउदस दस नव पुव्वाइं**' ति पूर्वशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते चतुर्दश पूर्वाणि दश पूर्वाणि नव पूर्वाणि च, एष सर्वोऽप्यागमव्यवहार उच्यते इति। इह च यदि केवलि प्राप्यते तदा तस्यैवालोचना दीयते, तदभावे मनःपर्यायज्ञानिनः तस्याप्यभावेऽवधिज्ञानिनः इत्यादि यथाक्रमं वाच्यम् ॥८५४॥

तत्र केवल्यादिरागमव्यवहारी स्वयमपि तावत्सर्वं जानीत्येव ततोऽतिचारजातं शिष्यस्य स्वयमपि प्रकटीकृत्य प्रायश्चित्तं ददाति अन्यथा वेत्याशङ्क्य प्रासङ्गिकं [2]तावदाह–'**कहेहि**' त्यादिश्लोकद्वयम्, कथय सर्वं दोषजातमिति आगमव्यवहारिणा प्रोक्तो यः शिष्यो जानानोऽपि स्वदोषान् मायावितया गूहति–गोपायति न तस्मै–मायाविने प्रायश्चित्तं ददति आगमव्यवहारिणः, किन्तु ब्रुवते–'**अन्यत्र**' अन्यस्य समीपे गत्वा शोधय–शोधिं गृहाण ॥८५५॥

यस्तु सद्भावतः एव दोषान् कांश्चिन्न स्मरति न पुनर्मायया तस्य तान् दोषान् प्रत्यक्षी–प्रत्यक्षज्ञानी आगमव्यवहारीत्यर्थः '**साहए**' त्ति कथयति, मायाविनस्तु न कथयतीति। एतदुक्तं भवति–आगमव्यवहारी यदि [3]केवलज्ञानादिबलेनैतज्जानाति यथैष भणितः सन् शुद्धभावत्वात् सम्यक्प्रतिपत्स्यते इति तदा स्मारयति, यथाऽमुकं तवालोचनीयं विस्मृतं ततस्तदप्यालोचयेति। यदि पुनरेतदवगच्छति यथैष

१ तुलना-जीतकल्पचूर्णिः प. २ तः॥ २ तदेवाह-सि.॥ ३ तुलना-व्यवहारवृत्तिः भा. २, प. ४३॥

भणितोऽपि सन् मायावितया न सम्यक्प्रतिपत्स्यते इति तदा तमप्रतिपत्स्यमानं नैव स्मारयति निष्फलत्वात् । अमूढलक्षो हि भगवानागमव्यवहारी, अत एव दत्तायामप्यालोचनायां यद्यालोचकः सम्यगावृत्तो ज्ञातस्ततस्तस्मै प्रायश्चित्तं प्रयच्छति । अथ न प्रत्यावृत्तस्ततो न प्रयच्छतीति ।

ननु चतुर्दशपूर्वधरादेः कथं प्रत्यक्षज्ञानित्वम्? तस्य श्रुतज्ञानित्वेन परोक्षज्ञानित्वात् । उच्यते, चतुर्दशादिपूर्वबलसमुत्थस्यापि ज्ञानस्य प्रत्यक्षतुल्यत्वात्, तथाहि—येन यथा योऽतिचारः कृतस्तं तथा सर्वमेते जानन्तीति । अथ यदि आगमव्यवहारिणः सर्वभावविषयं परिज्ञानं ततः कस्मात्तस्य पुरत आलोच्यते?, किन्तु तस्य समीपमुपगम्य वक्तव्यमपराधं मे भवन्तो जानते तस्य शोधिं प्रयच्छतेति । उच्यते, आलोचिते बहुगुणसम्भवतः सम्यगाराधना [1]भवति । तथाहि—आलोचनाऽऽचार्येण स आलोचकः प्रोत्साह्यते, यथा वत्स! [2]त्वं धन्यस्त्वं च भाग्यवान् यदेवं मानं निहत्यात्महितार्थतया स्वरहस्यानि प्रकटयसि, महादुष्करमेतत्, एवं स प्रोत्साहितः सन् प्रवर्धमानपरिणामः सम्यग् निःशल्यो भूत्वा यथावस्थितमालोचयति शोधिं च सम्यक्प्रतिपद्यते, ततः पर्यन्ते आराधना, स्तोककालेन च मोक्षगमनमिति ॥८५६॥

अथ श्रुतव्यवहारमाह—**आयारे**' त्यादिगाथापूर्वार्द्धम्, आचारप्रकल्पो—**निशीथ**स्तदादिकं कल्पव्यवहारदशाश्रुतस्कन्धप्रभृतिकम्, एकादशाङ्गावशेषपूर्वप्रमुखं च शेषं श्रुतं—सर्वमपि श्रुतव्यवहारः । नवादिपूर्वाणां श्रुतत्वाविशेषेऽप्यतीन्द्रियार्थेषु विशिष्टज्ञानहेतुत्वेन सातिशयत्वात् केवलादि[3]वदागमत्वेनैव

१ भावना भवति-सि. ॥ २ त्वं·भाग्यवान्-मु. । धन्यस्त्वं भाग्यभाग्-जे. ॥ ३ ०तदा० सि. ॥

व्यपदेशः । एते च श्रुतव्यवहारिणः स्फुटतरोपलब्धिनिमित्तं [1]त्रीन् वारानालोचनार्हमालोचापयन्ति, ते ह्येकं द्वौ वा वारावालोचिते अनेन सम्यगालोचितमसम्यग्वेति विशेषं नावगच्छन्तीति, कथमालोचापयन्तीति चेदुच्यते, प्रथमवेलायां निद्रायमाण इव शृणोति, ततो ब्रूते–निद्राप्रमादं गतवानहमिति न [2]मयाऽधुनाऽवधारितमनुपयोगक्रिमप्यश्रौपमतो भूयोऽप्यालोचय, द्वितीयवारमालोचिते भणति–न सुष्ठु भानादतः पुनरप्यालोचय, एवं त्रिष्वपि वारेषु यदि सदृशार्थमालोचितं ततो ज्ञातव्यमेषोऽमायावी, अथ विसदृशं तर्हि ज्ञातव्यमेष परिणामतः कुटिल इति । एवं च सति तस्यापि प्रत्यय उपजायते यथाऽहं विसदृशभणनेन मायावी लक्षित इति । ततो मायानिष्पन्नं प्रायश्चित्तं पूर्वं दातव्यं तदनन्तरमपराधनिमित्तमिति ।

अथ आज्ञाव्यवहारमाह–'देसंतरे'त्यादिगाथोत्तरार्द्धम् , देशान्तरस्थितयोर्द्वयोर्गीतार्थयोर्गूढपदैरालोचना–निजातिचारनिवेदनमाज्ञाव्यवहारः, एतदुक्तं भवति–यदा द्वावप्याचार्यावासेवितसूत्रार्थतया[3] गीतार्थौ क्षीणजङ्घाबलौ विहारक्रमानुरोधतो दूरतरदेशान्तरव्यवस्थितौ, अत एव परस्परस्य समीपं गन्तुमसमर्थावाभूताम्, तदाऽन्यतरः प्रायश्चित्ते समापतिते सति तथाविधयोग्यगीतार्थशिष्याभावे सति मतिधारणाकुशलमगीतार्थमपि शिष्यं समयभाषया गूढार्थान्यतीचारासेवनपदानि कथयित्वा प्रेषयति । तेन च गत्वा गूढपदेषु कथितेषु स आचार्यो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-संहनन-धृति-बलादिकं परिभाव्य स्वयं वा तत्र गमनं करोति शिष्यं वा तथाविधं योग्यं गीतार्थं प्रज्ञाप्य प्रेषयति, तदभावे तस्यैव प्रेषितस्य गूढार्थामतिचारशुद्धिं कथयतीति ॥ ८५७ ॥

१ तुलना-व्यवहारवृत्तिः भा. २, गा. १२७ ॥ २ मयानुधारित० सि. ॥ ३ ०याऽतिगी०सि. ॥

अथ धारणाव्यवहारमाह–'गीयत्थे'त्यादि, इह गीतार्थेन संविग्नेनाचार्येण कस्यापि शिष्यस्य क्वचिदपराधे द्रव्य क्षेत्र-काल-भावपुरुषान् प्रतिसेवनाश्चावलोक्य या शुद्धिः प्रदत्ता तां शुद्धिं तथैवावधार्य सोऽपि शिष्यो यदाऽन्यत्रापि तादृश एवापराधे तेष्वेव द्रव्यादिषु तथैव प्रायश्चित्तं ददाति तदाऽसौ धारणानाम चतुर्थो व्यवहारः, [1]उद्धृतपदधरणरूपा वा धारणा, इदमुक्तं भवति–वैयावृत्त्यकरणादिना कश्चिद्गच्छोपकारी साधुरद्याप्यशेषच्छेदश्रुतयोग्यो न भवति ततस्तस्यानुग्रहं कृत्वा यदा गुरुरुद्धृतान्येव कानिचित्प्रायश्चित्तपदानि कथयति तदा तस्य तेषां पदानां धरणं धारणाऽभिधीयते इति ॥ ८५८ ॥

अथ जीतव्यवहारमाह—'दव्वाई'त्यादि, येष्वपराधेषु पूर्वमहर्षयो बहुना तपःप्रकारेण शुद्धिं कृतवन्तस्तेष्वप्यपराधेषु साम्प्रतं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावान् विचिन्त्य संहनन धृति-बलादीनां च हानिमासाद्य समुचितेन केनचित्तपःप्रकारेण यां गीतार्थाः शुद्धिं निर्दिशन्ति तत्समयपरिभाषया जीतमुच्यते, अथवा यत्प्रायश्चित्तं यस्याचार्यस्य गच्छे सूत्रातिरिक्तं कारणतः प्रवर्तितमन्यैश्च बहुभिरनुवर्तितं तत्तत्र रूढं जीतमुच्यते, तदेवमेतेषां पञ्चानां व्यवहाराणामन्यतरेणापि व्यवहारेण युक्त एव प्रायश्चित्तप्रदाने गीतार्थो गुरुरधिक्रियते न त्वगीतार्थः, । अनेकदोषसम्भवात् उक्तं च—

△'अग्गीओ न वियाणइ सोहिं चरणस्स देइ ऊणऽहियं । तो अप्पाणं आलोयगं च पाडेइ संसारे ॥१॥'
[श्राद्धजितकल्प. गा. २०] इति ॥८५९॥१२६॥

---

१ उद्धृतपदधा०-मु. ॥ △अगीतार्थो न विजानीते चरणस्य शोधिं ददात्यूनामधिकां वा । तत आत्मानमालोचकं च पातयति संसारे ॥

इदानीं 'पंच 'अहाजाय' त्ति सप्तविंशत्युत्तरशततमं द्वारमाह—

पंच अहाजायाइ[1] चोलगपट्टो १ तहेव रयहरणं २ ।
उन्निय ३ खोमिय ४ निस्सेज्जजुयलयं तह य मुहपोत्ती ५ ॥८६०॥

गाथा ८६०
प्र. आ. २५०

पंच अहा०' गाहा, चोलपट्टस्तथा रजोहरणं तथा [2]और्णिक-क्षौमनिषद्यायुगलकं तथा मुखपोतिका एतानि पञ्च यथाजातानि । यथाजातं—जन्म तच्च श्रमणत्वमाश्रित्य द्रष्टव्यम्, चोलपट्टादिमात्रोपकरणयुक्त एव हि श्रमणो जायते, अतस्तद्योगादेतान्यपि यथाजातान्युच्यन्ते । तत्र चोलपट्टः प्रतीत एव, बाह्या-ऽभ्यन्तरनिषद्या[3]द्वयरहितमेकनिषद्यं सदशं रजोहरणम् । इह किल सम्प्रति दशिकाभिः सह [4]या दण्डिका क्रियते सा सूत्रनीत्या केवलैव भवति न सहदशिका, तस्याश्च निषद्यात्रयम्, तत्र या दण्डिकाया उपरि तिर्यग्वेष्टकत्रयप्रमाणपृथुत्वा एकहस्तायामा कम्बलीखण्डरूपा सा आद्या निषद्या, तस्याश्चाग्रे हस्तत्रिभागायामा दशिकाः सम्बद्ध्यन्ते, एषा च निषद्या [5]दशिकाकलिताऽत्र रजोहरणशब्देन गृह्यते उक्तं च—
※"एगनिसेज्जं च रयहरणं" [ ]इति द्वितीया त्वेनामेव निषद्यां तिर्यग्बहुभिर्वेष्टकैरावेष्टयन्ती किञ्चिदधिकहस्तप्रमाणायामा हस्तप्रमाणमात्रपृथुत्वा [6]वस्त्रमयी निषद्या सा अभ्यन्तरनिषद्या, इयं च क्षौमिकनिषद्याग्रहणेनेह गृह्यते, तृतीया तु तस्या एवाभ्यन्तरनिषद्यायाः तिर्यग्वेष्टकान् बहून् कुर्वन्ती चतुरङ्गुलाधिकैकहस्तमाना चतुरस्रा कम्बलमयी भवति । सा चोपवेशनोपकारित्वादधुना पादप्रोञ्छनकमिति रूढा । इयं बाह्या

---

१ तहा आहा० ता. ॥ २ ऊर्णिकाक्षौमिकनि० सि. ॥ ३ ॰द्वयसहित० सि. ॥ ४ या च द० सि. ॥
५ दशिका० सि. नास्ति ॥ ※ एकनिषद्यावच्च रजोहरणम् ॥ ६ तन्तुमयी—जे ॥

निषद्येत्यभिधीयते, अस्यास्त्विह औणिंकनिपद्याग्रहणेन ग्रहणमिति । तथा मुखपिधानाय पोतं—वस्त्रं मुखपोतम् , मुखपोतमेव ह्रस्वं चतुरङ्गुलाधिकवितस्तिमात्रप्रमाणत्वान्मुखपोतिका मुखवस्त्रिकेत्यर्थः । 'अतिवर्तन्ते स्वार्थे प्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्गवचनानि' [ ] इति वचनाच्च प्रथमतो नपुंसकत्वेऽपि कप्रत्यये समानीते स्त्रीत्वमिति ॥८६०॥१२७॥

इदानीं '**निसिजागरणविहि**' त्ति अष्टाविंशत्युत्तरशततमं द्वारमाह—

सव्वेऽवि पढमयामे दोन्नि य वसहाण आइमा जामा ।
तइओ होइ गुरूणं चउत्थ सव्वे गुरू सुयइ ॥८६१॥ [तुलना-ओघनि. ६६०]

'**सव्वेवि**' **गाहा**, सर्वेऽपि साधवः प्रथमयामे-रात्रेः प्रथमं प्रहरं यावत् स्वाध्याया-ऽध्ययनादि कुर्वाणा जाग्रति, द्वौ च आद्यौ यामौ वृषभाणाम् , वृषभा इव वृषभा—गीतार्थाः साधवस्तेषाम् , अयमर्थः—द्वितीये यामे ये सूत्रवन्तः साधवस्ते स्वपन्ति, वृषभास्तु जाग्रति, ते च जाग्रतः **प्रज्ञापनादि**सूत्रार्थं परावर्तयन्ति । तृतीयः प्रहरो भवति गुरूणाम् , कोऽर्थः ?—प्रहरद्वयानन्तरं वृषभाः स्वपन्ति गुरवस्तूत्थिताः **प्रज्ञापनादि** गुणयन्ति चतुर्थं प्रहरं यावत् । चतुर्थे च प्रहरे सर्वेऽपि साधवः समुत्थाय वैरात्रिकं कालं गृहीत्वा-कालिकश्रुतं परावर्तयन्ति । [1]गुरवः पुनः स्वपन्ति, अन्यथा प्रातर्निद्राघूर्णमानलोचनास्तद्वशादेव च भज्यमानपृष्ठका व्याख्यानभव्यजनोपदेशादिकं कर्तुं ते सोद्यमाः सन्तो न शक्नुवन्तीति ॥८६१॥ १२८॥

१ गुरु पुनः स्वपिति-मु. ॥

इदानीम् 'आलोयणदायगन्नेस' त्येकोनत्रिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह—

सल्लुद्धरणनिमित्तं गीयस्सऽन्नेसणा उ उक्कोसा ।
जोयणसयाइं सत्त उ बारस वासाइं कायव्वा ॥८६२॥ [पञ्चाशक-१५।४१]

'सल्लुद्धरण०' गाहा, 'शल्योद्धरणनिमित्तम्, आलोचनार्थं 'गीतस्य' गीतार्थस्य गुरोन्वेषणा – [1]गवेषणा, तुः पुनरर्थे, उत्कृष्टा क्षेत्रतः सप्तैव योजनशतानि यावत्कर्तव्या, कालतस्तु द्वादश वर्षाणि यावदिति । अयमर्थः–संनिहित एव गीतार्थो [2]गुरुः यदि न लभ्यते तदा योजनशत [3]सप्तकप्रमाणक्षेत्रेऽसावुत्कृष्टतोऽन्वेपणीयः, कालतस्तु द्वादश वर्षाणि यावत्समागच्छन् प्रतीक्षणीय इति । नन्वेतावति क्षेत्रे तदन्वेषणार्थं पर्यटन्नेतावन्तं च कालं [4]समागच्छन्तं प्रतीक्षमाणः स यदि अन्तरालेऽप्रदत्तालोचनोऽपि म्रियते तदा किमयमाराधको न वेति ?, उच्यते, आलोचनां दातुं सम्यक्परिणतोऽन्तराऽपि म्रियमाणोऽयमाराधक एव, विशुद्धाध्यवसायसम्पन्नत्वात्, उक्तं च—

※"आलोयणापरिणओ सम्मं संपट्ठिओ गुरुसयासे । जइ अंतरावि कालं करेज्ज आराहओ तहवि ॥१॥

अथैवमन्वेपणेऽपि सकलोक्तगुणगुरुर्गुरुर्न प्राप्यते तदा संविग्नगीतार्थमात्रस्याप्यालोचना दातव्या । [5]यत श्रूयते–अपवादतो गीतार्थसंविग्नपाक्षिकसिद्धपुत्रप्रवचनदेवतानामलाभे सिद्धानामप्यालोचना देया, सशल्यमरणस्य संसारकारणत्वात् इति । आह च–

---

१ गवेषणा-मु॰ नास्ति ॥ २ गुरुः-मु नास्ति ॥ ३ सप्त प्र॰ मु॰ । ४ तमा॰ मु ॥ ५ तु॰–पञ्चाशकवृत्तिः प॰ २४८ ॥
※ [श्राद्धजित॰ गा॰३६] आलोचनापरिणतः सम्यक् संप्रस्थितो गुरुसकाशे । यद्यन्तराऽपि कालं कुर्यात् तथाप्याराधकः ॥

*" [1]संविग्गे गीयत्थे असई पासत्थमाइसारूवी" [ ] त्ति ॥८६२॥ १२९॥

सम्प्रति '**गुरुपमुहाणं कीरइ असुद्धसुद्धेहिं जत्तियं कालं ।**' इति त्रिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह—

जावज्जीवं गुरुणो [2]असुद्धसुद्धेहिं वावि कायव्वं ।
वसहे बारस वासा अट्ठारस भिक्खुणो मासा ॥८६३॥

'**जावज्जीवं**' गाहा, यावज्जीवमाजन्मापीत्यर्थः, गुरोः—आचार्यस्य, शुद्धैः—आधाकर्मादिदोषादूषितैरशुद्धैर्वाऽपि—आधाकर्मादिदोषयुक्तैर्वा-ऽपि अशन-पान-भैषजादिभिः कर्तव्यं प्रतिजागरणमिति शेषः । अयमर्थः-शुद्धैरशुद्धैश्च ते यावज्जीवमपि [3]प्रतिजागरणीयाः साधुश्रावकलोकेन, सर्वस्यापि च गच्छस्य तदधीनत्वात् यथाशक्ति निरन्तरं सूत्रा-ऽर्थनिर्णयप्रवृत्तेश्च । तथा वृषभे—उपाध्यायादिके द्वादश वर्षाणि यावत् प्रतिजागरणा शुद्धैरशुद्धैर्वस्तुभिश्च विधेया । ततः परं शक्तौ भक्तविवेकः । एतावता कालेनान्यस्यापि समस्तगच्छभारोद्वहनसमर्थस्य वृषभस्य उत्थानात् । तथा अष्टादश मासान् यावद्भिक्षोः—सामान्यसाधोः शुद्धैरशुद्धैः प्रतिजागरणा विधेया, ततः परमसाध्यतया शक्तौ सत्यां भक्तविवेकस्यैव कर्तुमुचितत्वात् । इदं च शुद्धा-ऽशुद्धाशनादिभिराचार्यादीनां परिपालनं रोगाद्यभिभूतवपुषां क्षेत्र—कालादेः परिहाणिवशतो भक्ताद्यलाभवतां च विधेया(यं) न पुनरेवमेव सुस्थावस्थायामिति । **व्यवहारभाष्ये** तु सर्वसामान्यग्लानप्रक्रियाव्यवस्थार्थमियं गाथा लिखिताऽस्ति, यथा—

* संविग्ने गीतार्थे असति पार्श्वस्थादयः सरूप्यन्ताः इति ॥ १ संविग्गो-सि. ॥ २ सुद्धअसुद्धेहिं-ता. । तुलना-धर्मस. वृत्तिः भा.२ । प. १७७ ॥ ३ प्रतिजागरीयाः-सि. ॥

"छम्मासे आयरिओ कुलं [1]तु संवच्छराईं तिन्नि भवे । संवच्छरं गणो खलु जावज्जीवं भवे संघो ॥ १ ॥"

[तुलना —बृ. क. भा. २००१]

अस्या व्याख्या— [2]प्रथमत आचार्यः षड् मासान् यावच्चिकित्सां ग्लानस्य कारयति । तथाप्यप्रगुणीभूतं तं कुलस्य समर्पयति । ततः कुलं त्रीन् संवत्सरान् यावच्चिकित्सकं भवति । तथाप्यप्रगुणीभवने कुलं गणस्य तं समर्पयति । तदनन्तरं संवत्सरं यावद्गणः खलु चिकित्सां कारयति । तथाप्यनिवर्तितरोगे तं गणः सङ्घस्य समर्पयति । ततः सङ्घो यावज्जीवं–प्रासुकप्रत्यवतारेण तदभावे चाप्रासुकेनापि यावज्जीवं चिकित्सको भवति । एतच्चोक्तं भक्तविवेकं कर्तुमशक्नुवतः, यः पुनर्भक्तविवेकं कर्तुं शक्नोति तेन प्रथमतोऽष्टादश मासान् चिकित्सा कारयितव्या, विरतिसहितस्य जीवितस्य पुनः संसारे दुष्प्रापत्वात्, तदनन्तरं चेत्प्रगुणीभवति ततः सुन्दरम्, अथ न भवति तर्हि भक्तविवेकः कर्तव्य इति ॥८६३॥ १३०॥

इदानीम् 'उवहिधोयणकालो' त्ति एकत्रिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह—

अप्पत्ते च्चिय वासे सव्वं उवहिं धुवंति जयणाए ।
असईए उदगस्स उ जहन्नओ पायनिज्जोगो ॥८६४॥
आयरियगिलाणाण मइला मइला पुणोवि धोइज्जा ।
मा हु गुरूण [3]अवण्णो लोगम्मि अजीरणं इअरे ॥८६५॥

[पिण्डनि. २६-२७, ओघनि. ३५१-२]

१ च- सि. धर्मसं.वृत्तौ च ॥ २ तुलना- बृहत्कल्प भा.वृत्तिःपृ. ५७६ ॥ ३ मवन्नो-ता. ॥

'अप्पत्ते च्चिय' गाहा, 'अप्राप्त एव–अनायाते एव, वर्षे–वर्षाकालान्मनागर्वाक्तने काले इत्यर्थः जलादिसामग्र्यां सत्यामुत्कर्षतः सर्वमुपधिम्–उपकरणं यतनया यतयः प्रक्षालयन्ति । उदकस्य–जलस्य पुनरसति–अभावे जघन्यतोऽपि पात्रनिर्योगोऽवश्यं प्रक्षालनीयः । इह निस्पूर्वो युजिरुपकारे वर्तते, [2]उक्तं च पाठोदूखले–'निज्जोगो [3]उवयारो' [ ] इति । तत्र नियुज्यते–उपक्रियतेऽनेनेति निर्योगः उपकरणम् , पात्रस्य निर्योग पात्रनिर्योगः–पात्रोपकरणं पात्रकबन्धादिः, उक्तं च—

"पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया । पडलाइं रयत्ताणा गोच्छओ पायनिज्जोगो ॥ १ ॥"

[ओघनि. ६७४, पञ्चव. ७७२] इति ।

आह–किं सर्वेषामेव वस्त्राणि वर्षाकालादर्वागेव प्रक्षाल्यन्ते ? किं वाऽस्ति केषाञ्चिद्विशेषः ?, अस्तीति ब्रूमः, ॥८६४॥ केषामिति [4]चेदत आह—'आयरिये'त्यादि, आचार्याः–प्रवचनार्थव्याख्याधिकारिणः सद्धर्मदेशनादिगुणग्रामभूरयः सूरयः, आचार्यग्रहणमुपलक्षणं तेनोपाध्यायादीनां प्रभूणां परिग्रहः, तेषाम् । तथा ग्लाना–मन्दास्तेषां च पुनः पुनर्मलिनानि २ वस्त्राणि प्रक्षालयेत् , प्राकृतत्वाच्च मलिनानीत्यत्र सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः, प्रस्तुतेऽर्थे कारणमाह—'मा हु' इत्यादि, मा भवत हुः–निश्चितं गुरूणां मलिनवस्त्रपरिधाने लोकेऽवर्णः–अश्लाघा । यथा निराकृतयोऽमी मलदुरभि[5]गन्धोपलिप्तदेहाः ततः किमेतेषामुपकण्ठं गतैरस्माभिरिति । तथा इतरस्मिन्–ग्लाने मा भवत्वजीर्णमिति । मलक्लिन्नवस्त्रप्रावरणे हि शीतलमारुतादि-

१ तुलना-पिण्डनि.वृत्तिः प. १२॥ २ उक्तं च "पाठोदूखले निज्जोगो उवयारो" इति पिण्डनि. वृत्तौ ॥
३ उवयारे इति ततो-सि. ॥ ४ भेदत-सि. ॥ ५ ०गन्धोपदिग्ध० इति पिण्डनि.वृत्तौ पाठः ॥

सम्पर्कतः शैत्यसम्भवेन भुक्ताहारस्यापरिणतौ ग्लानस्य विशेषतो मान्द्यमुज्जृम्भते इति । इह वर्षाकालप्रत्यासन्नं कालमपहाय शेषे ऋतुबद्धे काले चीवरप्रक्षालनं यतीनां न कल्पते । प्राण्युपमर्दोपकरणबकुशत्वाद्यनेकदोषसम्भवात् ।

नन्वेते दोषा वर्षाकालादर्वागपि वस्त्रप्रक्षालने सम्भवन्ति, ततस्तदानीमपि न चीवराणि प्रक्षालनीयानि, तन्न, तदानीं चीवरप्रक्षालनस्य सूत्रोक्तनीत्या बहुगुणत्वात्, येऽपि च प्राण्युपमर्दादयो दोषास्तेऽपि यतनया प्रवर्तमानस्य न सम्भवन्ति । यो हि सूत्राज्ञामनुसृत्य यतनया सम्यक्प्रवर्तते स यद्यपि कथञ्चित्प्राण्युपमर्दकारी तथापि नासौ पापभाग्भवति नापि तीव्रप्रायश्चित्तभागी । सूत्रबहुमानतो यतनया प्रवर्तमानत्वात् । अत एवोक्तम्—'धुवंति जयणाए' इति ॥८६५॥ १३१॥

इदानीं 'भोयणभाय' त्ति द्वात्रिंशदुत्तरशततमं द्वारं व्याचिख्यासुः प्रथमतः कवलमानमाह—

बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ ।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं भवे कवला ॥८६६॥
अद्धमसणस्स सव्वजणस्स कुज्जा दवस्स दो भाए ।
[1]वायपवियारणट्ठा छब्भागं ऊणयं कुज्जा ॥८६७॥
सीओ उसिणो साहारणो य कालो तिहा मुणेयव्वो ।
साहारणंमि काले तत्थाहारे इमा मत्ता ॥८६८॥ ॥१०४॥

---

१ वाउ इति पिण्डनिर्युक्तौ पाठः ॥

सीए दवस्स एगो भत्ते चत्तारि अहव दो पाणे ।
उसिणे दवस्स दुन्नी तिन्निवि सेसा उ भत्तस्स ॥८६९॥
एगो दवस्स भागो अवट्ठिओ भोयणस्स दो भागा ।
वड्ढंति व हायंति व दो दो भागा उ एक्केक्के ॥८७०॥ [पिण्डनि. ६४२, ६५० ३]

'बत्तीसं किर' गाहा, पुरुषस्य कुक्षिपूरक आहारो मध्यमप्रमाणो द्वात्रिंशत्कवलाः । किलेत्याहारस्य मध्यमप्रमाणतायाः संसूचकम् ,महेलायाः कुक्षिपूरक आहारो मध्यमप्रमाणोऽष्टाविंशतिः कवला इति ॥८६६॥

अथ भोजनभागप्रतिपादनार्थमेवाह (ग्रन्थाग्रं १०००)–'अद्धे' त्यादि, इह किल सर्वमुदरं षड्भिर्भागैर्विभज्यते । तत्रार्धं–त्रीन् भागानशनस्य–कूर-मुद्गमोदकादेः सव्यञ्जनस्य–तक्र-तीमन-मर्जिकासहितस्य योग्यं कुर्यात्–विदध्यात् , तथा द्रवस्य–पानीयस्य योग्यौ द्वौ भागौ कुर्यात् , षष्ठं तु भागं वातप्रविचारणार्थं–वायुसञ्चलनार्थमूनकं कुर्यात् । अन्यथा हि वायुविष्कम्भतः शरीरे रोगादिसम्भव इति ॥८६७॥

इह कालापेक्षया तथा तथा भवति आहारस्य प्रमाणम् , कालश्च त्रिधा, तथा चाह–'सीओ' इत्यादि, त्रिधा कालो ज्ञातव्यः, तद्यथा–शीत उष्णः साधारणश्च, 'तत्र' तेषु कालेषु मध्ये साधारणे काले आहारे–आहारविषये इयं-अनन्तरोक्ता मात्रा–प्रमाणम् ॥८६८॥

'सीए' इत्यादि, शीते–अतिशयेन शीतकाले द्रवस्य–पानीयस्य एको भागः कल्पनीयः, चत्वारो भक्ते–भक्तस्य,मध्यमे तु शीतकाले द्वौ भागौ पानीयस्य कल्पनीयौ त्रयस्तु भागा भक्तस्य । अथवेतिशब्दो मध्यमशीतकालसंसूचनार्थः । तथा उष्णे–मध्यमोष्णकाले द्वौ भागौ द्रवस्य–पानीयस्य कल्पनीयौ शेषा-

स्तु त्रयो भागा भक्तस्य, अत्युष्णे च काले त्रयो भागा द्रवस्य शेषौ तु द्वौ भागौ भक्तस्य, वाशब्दोऽत्रात्युष्णकालसंसूचनार्थः, सर्वत्र च षष्ठो भागो वायुप्रविचारणार्थं मुत्कलो मोक्तव्यः ॥८६९॥

सम्प्रति भागानां चरस्थिरविभागप्रदर्शनार्थमाह–'एगो' इत्यादि, एको द्रवस्य भागोऽवस्थितो, न कदाचिदपि न भवतीति भावः। द्वौ च भागौ भोजनस्य, शेषौ तु द्वौ द्वौ भागौ एकैकस्मिन्–भक्ते पाने चेत्यर्थः। वर्धेते वा हीयेते वा, वृद्धिं वा व्रजतो हानिं वा व्रजत इत्यर्थः। तथाहि–अतिशीतकाले द्वौ भागौ भोजनस्य वर्धेते अत्युष्णकाले च पानीयस्य अत्युष्णकाले च द्वौभागौ भोजनस्य हीयेते अतिशीतकाले च पानीयस्येति ॥८७०॥१३२॥

साम्प्रतं 'वसहिसुद्धि' त्ति त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह–

पट्ठीवंसो दो धारणाउ चत्तारि मूलवेलीओ ।
[1]मूलगुणेहिं विसुद्धा एसा हु अहागडा वसही ॥८७१॥
[2]वंसगकडणोक्कंबण छायण लेवण दुवारभूमी य ।
परिकम्मविप्पमुक्का एसा मूलुत्तरगुणेसु ॥८७२॥
दूमिय [3]धूविय वासिय उज्जोइय बलिकडा अवत्ता य ।
सित्ता संमट्ठावि य विसोहिकोडिं गया वसही ॥८७३॥[तु.बृ.क भा. ५८२-४]

---

१ मुलगुणेहुववेआ–इति पञ्चवस्तुके पाठः। मूलगुणेहिं उवहया–इति बृ. क. भाष्ये पाठः॥
२ वंसयकडगाउक्कंवण–ता.। वंसगकडणोक्कंपण–इति पञ्चवस्तुके पाठः। वंसगकडणोक्कंचण- इति बृ.क. भाष्ये पाठः। तुलना–विचारसारः २७८॥ ३ धूमिय–जे. पञ्चवस्तुके विचारसारे (गा.२६९) च। धूसगकडगो–ता.॥

मूलुत्तरगुणसुद्धं थीपसुपंडगविवज्जियं वसहिं ।
सेविज्ज सव्वकालं विवज्जए हुंति दोसा उ ॥८७४॥ [तु. पञ्चवस्तुकः ७०७-१,७०६]

'पट्ठीवंसो' गाहा. उपरितनस्तिर्यक्पाती [1]पृष्ठवंशो गृहमम्बन्धी मध्यवलक इत्यर्थः । द्वौ मूलधारिण्यौ-वृहद्वल्यौ ययोरुपरि पृष्ठवंशस्तिर्यक् स्थाप्यते, चतस्रो मूलवेलयश्चतुर्षु गृहपार्श्वेषु, उभयोर्धारिणयोरुभयतो द्विद्विवेलिसम्भवात् , एते च वसतेः सप्त मूलगुणाः, एतैर्मूलगुणैः सप्तभिरात्मार्थं कृतैः सद्भिर्वसतिर्विशुद्धा भवति, या पुनः साधुसङ्कल्पेन निष्पादितैर्मूलगुणैर्युक्ता एषा हुः-स्फुटमाधाकृता भवति-साधूनाधाय-सम्प्रधार्य कृता आधाकृता आधाकर्मिकीत्यर्थः ॥८७१॥

उक्ता मूलगुणविशुद्धा वसतिः, अथोत्तरगुणविशुद्धाऽभिधीयते । ते चोत्तरगुणा द्विविधाः-मूलोत्तरगुणा उत्तरोत्तरगुणाश्च । तत्र प्रथमं तावन्मूलोत्तरगुणानाह-'वंसगे' त्यादि, वंशका ये मूलवेलीनामुपरि स्थाप्यन्ते, पृष्ठवंशस्योपरि तिर्यक् च कटनं-कटादिभिः समन्ततः [2]पार्श्वाणामाच्छादनम् , उत्कम्बनम्-उपरि कम्बिकानां बन्धनं छादनं-दर्भादिभिराच्छादनम् , लेपनं-कुडयानां कर्दमेन गोमयेन च लेपप्रदानम् , 'दुवार' त्ति संयतनिमित्तमन्यतो वसतेर्द्वारकरणं बृहदल्पद्वारकरणं वा, 'भूमि' त्ति विषमाया भूमेः समीकरणम् , एते सप्त मूलभूता उत्तरगुणा मूलोत्तरगुणाः, उत्तरगुणेषु एते मूलगुणा इत्यर्थः । एतद्रूपं यत्परिकर्म-साध्वर्थमेतेषां निष्पादनं तेन विप्रमुक्ता-विरहिता या वसतिरेषामूलोत्तरगुणेषु विशुद्धा, एतानि सप्त साध्वर्थं यत्र न कृतानि सा मूलोत्तरगुणविशुद्धा वसतिरिति भावः ।

१ पृष्ठि० इति पञ्चवस्तुकवृत्तौ [प.११२] पाठः तुलनार्थं मतान्तरदर्शनार्थञ्च द्रष्टव्या पञ्चवस्तुकवृत्तिः [प. ११२] बृ.क. भाष्यवृत्तिश्च पृ. १६६ ॥ २ पार्श्वानां० इति बृ.क. भा. वृत्तौ पाठः ॥

एते च पृष्ठवंशादयश्चतुर्दशाप्यविशोधिकोटिः, उत्तरोत्तरगुणास्तु विशोधिकोटिः । ते चामी–'दूमिये' त्यादि, दूमिया नाम–सुकुमारलेपनेनकोमलीकृतकुड्या [1]खटिकया धवलीकृतकुड्या च, धूपिता–दुर्गन्धेतिकृत्वाऽगुरुधूपादिभिः सुगन्धीकृता, वासिता–पटवासपुष्पादिभिरपनीतदौर्गन्ध्या, उद्योतिता–रत्नप्रदीपादिभिरन्धकारे प्रकाशिता, बलिकृता–कृतापूपकूरादिबलिविधाना, अवत्ता–छगणमृत्तिकाभ्यां जलेन चोपलिप्तभूमितला, सिक्ता–केवलोदकेन आर्द्रीकृता, सम्मृष्टा–सम्मार्जिन्या प्रमार्जिता, एतैरुत्तरोत्तरगुणैः संयतनिमित्तं कृतैर्विशोधिकोटिं गता वसतिः, अविशोधिकोटौ न भवतीत्यर्थः, यत्र तु साध्वर्थमेते न निष्पादिताः सा वसतिर्विशुद्धैवेति ॥८७३॥

तथा चाह–'मूलुत्ते' त्यादि, मूलोत्तरगुणपरिशुद्धां तथा स्त्री-पशु-पण्डकविवर्जितां वसतिं सेवेत सर्वकालम्, विपर्यये–अशुद्धायां स्त्र्यादिसंसक्तायां च वसतौ भवन्ति दोषा इति । एतदनुसारतस्तु चतुःशालादिष्वपि मूलोत्तरगुणविभागो विज्ञेयः । यत्पुनरिह सूत्रे चतुःशालाद्यपेक्षया मूलोत्तरगुणविभागः साक्षान्नोक्तस्तत्रेदं कारणं-यथा विहरतां साधूनां श्रुताध्ययनादिव्याक्षेपपरिहारार्थं प्रायो ग्रामादिष्वेव वासः सम्भवति, तत्र च वसतिः [2]पृष्ठवंशादियुक्तैव भवति, ततस्तासामेव वसतीनां साक्षाद्भणनमिति, उक्तं च—

"चाउस्सालाईए विन्नेओ एवमेव उ विभागो ।
इह मूलाइगुणाणं सक्खा पुण सुण न जं भणिओ ॥१॥ [पञ्चवस्तु० गा. ७००]

॥१०८॥

१ सेटिकया-इति बृ.क. मा. वृत्तौ पाठः ॥ २ पृष्ठी० इति पञ्चवस्तुकवृत्तौ [प.११३, गा.७१०] पाठः ॥

विहरंताणं पायं समत्तकज्जाण जेण गामेसु । वासो तेसु य वसही पट्ठाइज्जुया 'अओ तासि ॥ २ ॥''

[पञ्चवस्तुकः गा. ७१०-१] ॥८७४॥ १३३॥

साम्प्रतं 'संलेहणा दुवालस वरिसे' त्ति चतुस्त्रिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह––

चत्तारि विचित्ताइं ४ विगईनिज्जूहियाइं चत्तारि ४ ।
संवच्छरे य दोन्नि उ एगंतरियं च आयामं १० ॥८७५॥
नाइविगिट्ठो य तवो छम्मासे परिमियं च आयामं ।
अवरेऽवि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ११ ॥८७६॥ [पञ्चव० १५७४-५]
[2]वास कोडीसहियं १२ आयामं कट्टु आणुपुव्वीए ।
गिरिकंदरं व गंतुं पाओवगमं पवज्जेइ ॥८७७॥

'चत्तारि विचित्ताइं' इत्यादिगाथात्रयम् , संलेखनं संलेखना–आगमोक्तेन विधिना शरीराद्यपकर्षणम् , सा च त्रिविधा–जघन्या षाण्मासिकी, मध्यमा संवत्सरप्रमाणा, उत्कृष्टा तु द्वादश वर्षाणि । तत्र उत्कृष्टा तावदेवं– [3]प्रथमं चत्वारि वर्षाणि 'विचित्राणि' विचित्रतपांसि करोति । किमुक्तं भवति ?–चत्वारि वर्षाणि यावत्कदाचिच्चतुर्थं कदाचित् षष्ठं कदाचिदष्टमम् , एवं दशम-द्वादशादीन्यपि करोति । पारणकं च सर्वकामगुणितेनोद्गमादिशुद्धेनाहारेण विधत्ते । ततः परमन्यानि चत्वारि वर्षाणि उक्तप्रकारेण विचित्रतपांसि करोति विकृतिनिर्यूहितानि–विकृतिरहितानि किमुक्तं भवति ?–विचित्रं तपः कृत्वा पारणके निर्विकृतिकं

१ तओ-इति पञ्चवस्तुके पाठः ॥ २ तुलनीया पञ्चवस्तुकगाथा १५७६ ॥ ३ तुलना–धर्मसंग्रह वृत्तिःभा २ । प. १७१ B ॥

भुङ्क्ते उत्कृष्टरसवर्जं च । ततः परतोऽन्ये द्वे च वर्षे एकान्तरितमाचाम्लं करोति । एकान्तरं चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेन पारयतीत्यर्थः । एवमेतानि दश वर्षाणि गतानि ॥८७५॥

एकादशस्य तु वर्षस्याद्यान् षण्मासान् '**नानिविकृष्टं**' नातिगाढं तपः करोति । [1]नातिविकृष्टं नाम तपश्चतुर्थं षष्ठं वाऽवसेयम्, नाष्टमादिकम्, पारणके तु परिमितं–किञ्चिदूनोदरतासम्पन्नमाचाम्लं करोति । ततः परमपरान् षण्मासान् विकृष्टम्–अष्टम-दशम-द्वादशादिकं [2]तपः करोति । पारणके तु मा शीघ्रमेव मरणं [3]यासिपमितिकृत्वा [4]परिपूर्णघ्राण्या आचाम्लं करोति । न पुनरूनोदरतयेति । द्वादशं तु वर्षं कोटीसहितं निरन्तरमाचाम्लं करोतीत्यर्थः । उक्तं च **निशीथचूर्णौ**—

"दुवालसमं वरिसं निरंतरं हायमाणं उसिणोदएण आयंबिलं करेइ, तं कोडिसहियं भवइ, जेणायंबिलस्स कोडी कोडीए मिलइ" [भाष्यगाथा ३८१४, भा. ३, पृ २९४] त्ति ।

चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेन पारयति । पुनश्चतुर्थं विधायाचाम्लेनैव पारयतीत्यादीन्यपि बहूनि **मतान्तराणि** द्वादशस्य वर्षस्य विषये वीक्ष्यन्ते । परं ग्रन्थगौरवभयान्नात्र लिखितानीति ।

इह च द्वादशे वर्षे भोजनं कुर्वन् प्रतिदिनमेकैककवलहान्या तावदूनोदरतां करोति यावदेकं कवलमाहारयति । ततः शेषेषु दिनेषु क्रमश एकेन सिक्थेनोनमेकं कवलमाहारयति, द्वाभ्यां सिक्थाभ्याम्, त्रिभिः

१ पञ्चवस्तुकवृत्तौ तु-"नातिविकृष्टं च तप –चतुर्थादि षण्मासान् करोति" इति [प.२२३] ॥ २ तपः कर्मभवति–मु. ॥
३ यासमि० खं.सं सि. पा. २. पा. ३ धर्म सं-वृत्तौ [भा.२, प.१७१] च । द्रष्टव्य सिद्धहेम० सूत्रम ४।४।८६॥
४ परिपूर्ण घ्राण्या–इति धर्म सं. वृत्तौ पाठः ॥

सिक्थैरेवं यावदन्ते एकमेव सिक्थं भुङ्क्ते । यथा दीपे समकालं तैलवर्तिक्षयो भवति तथा शरीरा-ऽऽयुषोरपि समकं क्षयः स्यादिति हेतोः ।

[1]अपरं चेह द्वादशस्य वर्षस्य पर्यन्तवर्तिनश्चतुरो मासान् यावदेकान्तरितं तैलगण्डूषं चिरकालमसौ मुखे [2]धारयति । ततः खेलमल्लके भस्ममध्ये प्रक्षिप्य मुखमुष्णोदकेन शोधयति यदि पुनस्तैलगण्डूषविधानं न कार्यते तदा रूक्षत्वात्तेन मुखयन्त्रमीलनसम्भवे पर्यन्तसमये नमस्कारमुच्चारयितुं न शक्नोतीति । तदेव-मनयाऽऽनुपूर्व्या–क्रमेण द्वादशवार्षिकीमुत्कृष्टां संलेखनां कृत्वा गिरिकन्दरां च गत्वा, उपलक्षणमेतत् अन्यदपि षट्कायोपमर्दरहितं विविक्तं स्थानं गत्वा पादपोपगमनम् , वाशब्दाद्भक्तपरिज्ञामिङ्गिनीमरणं वा प्रपद्यते ।

मध्यमा तु संलेखना पूर्वोक्तप्रकारेण द्वादशभिर्मासैः, जघन्या च द्वादशभिः पक्षैः परिभावनीया । वर्षस्थाने मासान् पक्षांश्च स्थापयित्वा तपोविधिः प्रागिव निरवशेष उभयत्रापि भावनीय इति भावः॥८७५॥ ॥८७६॥ ॥८७७॥॥१३४॥

इदानीं 'वसहेण वसहिगहणं'ति पंचत्रिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह—

नयराइएसु घेप्पइ वसही पुव्वामुहं ठविय वसहं ।
[3]वामकडीए निविट्ठं [4]दोहीकयग्गिमेक्कपयं ॥८७८॥

१ पञ्चवस्तुकवृत्तौ तु–"तैलगण्डूषधारणं च मुखभङ्गे"इति [प.२२३] ॥ २ धार्यते–खं. सि. धर्मसङ्ग्रहवृत्तौ च ॥ ३ वामकडीइ–मु. ॥ ४ दीहीकअग्गि० मु. । दीहीकयग्ग० सं. ॥

सिंगक्खोडे कलहो ठाणं पुण नेव होइ चलणेसु ।
अहिठाणे पोट्टरोगो पुच्छंमि य फेडणं जाण ॥८७९॥
मुहमूलंमि य चारी सिरे य कउहे य पूयसक्कारो ।
खधे पट्ठीय भरो पुट्टंमि य धायओ वसहो ॥८८०॥ [बृहत्कल्पभा. १४६४-५]

'नयराइएसु' गाहा, नगरग्रामादिषु पूर्वाभिमुखं वामकट्या–वामपार्श्वेन निविष्टम्–उपविष्टम्, दीर्घीकृताग्रिमैकपादम्–[1]आयतीकृताग्रेतनैकतरचरणं वृषभं बलीवर्दं स्थापयित्वा–निवेश्य [2]वसतिर्गृह्यते । अयमर्थः– [3]यावन्मात्रं क्षेत्रं [4]वसिमाक्रान्तं भवति तावत्सर्वमपि वामपार्श्वोपविष्टपूर्वाभिमुखवृषभरूपं बुद्ध्या परिकल्प्य प्रशस्तेषु प्रदेशेषु साधुभिर्वसतिर्ग्राहयेति ॥८७८॥

इत्थं च क्षेत्रे वृषभरूपे कल्पिते कुत्रावयवे वसतिः क्रियमाणा किम्फला भवति ?, तत्राह–'सिंगक्खोडे' इत्यादिगाथाद्वयम्, शृङ्गप्रदेशे यदि वसतिं करोति तदा निरन्तरं व्रतिनां कलहो भवति । तथा स्थानम्–अवस्थितिः पुनर्नैव भवति चरणेषु–पादप्रदेशेषु क्रियमाणायां वसतौ । तथाऽधिष्ठाने–अपानप्रदेशे वसतौ क्रियमाणायां मुनीनामुदररोगो भवति । तथा पुच्छे–पुच्छप्रदेशे क्रियमाणायां वसतौ स्फेटनम्–अपनयनं वसतेर्जानीहि । तथा मुखमूले वसतौ क्रियमाणायां 'चारि'त्ति भोजनसम्पत्तिः साधूनां भव्या भवति । तथा शिरसि–शृङ्गयोर्मध्ये ककुदे वा–अंशकूटप्रदेशे वसतिकरणे पूजा–प्रवरवस्त्रपात्रादि[5]प्रदान-

---

१ आयती कृताग्रतनैक० मु. । ०कृताग्रेतनिक० सं० ॥ २ वसगृ० खं सं. ॥ ३ तुलना–बृ.क. भा.वृत्तिः पृ. ४४२ ॥
४ वसति० सं. ॥ ५ ०प्रदान० खं. सं. नास्ति ॥

लक्षणा सत्कारश्च–अभ्युत्थानादिरूपो व्रतिनां भवति । तथा स्कन्धप्रदेशे पृष्ठप्रदेशे च वसतौ सत्यां भरो भवति–साधुभिरितस्तत आगच्छद्भिर्वसतिराकुला भवति । तथा ''पोट्टंमि य' त्ति [2]उदरदेशे वसतौ विधीयमानायां ध्रातः–तृप्तो भवति, वृषभो–[3]वृषभकल्पो गृहीतव्रमतिनिवासी यतिजन इति ॥८७९॥८८०॥१३५॥

इदानीं 'उसिणस्स फासुयस्सवि जलस्स सच्चित्तया कालो' इति षट्त्रिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह–

उसिणोदग तिदडुक्कलियं फासुयजलंति जइकप्पं ।
नवरि गिलाणाइकए पहरतिगोवरिवि धरियव्वं ॥८८१॥
जायइ सचित्तया से गिम्हंमि पहरपंचगस्सुवरिं ।
चउपहरोवरि सिसिरे वासासु पुणो तिपहरुवरिं ॥८८२॥ [विचारसारे गा. २५७-८]

'उसिणोदगं' गाहा, त्रिभिर्दण्डैः–[4]उत्कालैरुत्कलितम्–आवृत्तं यदुष्णोदकम्, तथा यत्प्रासुकं स्वकाय-परकायशस्त्रोपहतत्वेनाचित्तीभूतं जलं तदेव यतीनां कल्प्यं–ग्रहीतुमुचितम् । इह किल प्रथमे दण्डे जायमाने कश्चित्परिणमति कश्चिन्नेति मिश्रः, द्वितीये प्रभूतः परिणमति स्तोकोऽवतिष्ठते, तृतीये तु सर्वोऽप्यप्कायोऽचित्तो भवतीति त्रिदण्डग्रहणम्, इदं च सर्वमपि प्रहरत्रयमध्य एवोपभोक्तव्यम्, प्रहरत्रयादूर्द्ध्वं पुनः कालातिक्रान्तदोषसम्भवेनोपभोगानर्हत्वान्न धारणीयम्, नवरं–केवलं ग्लानादिकृते–ग्लानवृद्धादीनामर्थाय प्रहरत्रिकादप्यूर्द्ध्वं धर्तव्यमिति ॥८८१॥

१ 'पोट्टे म्मि०–खं. सि. ॥ २ उदरप्रदेशेषु नित्यं तृप्त एव भवति–सं. । तुलनीया–ओघनि.वृत्तिः प. ६६ A ॥ ३ वृषभकल्पना–खं. ॥ ४ ०उत्कलैरुत्कालितं–मु० ॥

'जायइ' गाहा, जायते—भवति सचित्तता 'से' त्ति तस्य उष्णोदकस्य प्रासुकजलस्य वा ग्लानाद्यर्थं धृतस्य "'ग्रीष्मे' उष्णकाले प्रहरपञ्चकस्योपरि—प्रहरपञ्चकादूर्ध्वम् कालस्यातिरूक्षत्वाच्चिरेणैव जीवसंसक्तिसद्भावात्, तथा शिशिरे—शीतकाले कालस्य स्निग्धत्वात् प्रहरचतुष्टयादूर्ध्वं सचित्तता भवति। वर्षासु—वर्षाकाले पुनः कालस्यातिस्निग्धत्वात्प्रासुकीभूतमपि जलं भूयः प्रहरत्रयादूर्ध्वं सचित्तीभवति। तदूर्ध्वमपि यदि ध्रियते तदा क्षारः प्रक्षेपणीयो येन भूयः सचित्तं न भवतीति ॥८८२॥ १३६॥

इदानीं [2]'तेरिच्छिओ माणवीओ देवीओय तिरियमणुयदेवाण। जग्गुणाओ [3]जत्तियमेत्ताहिगाउ' त्ति सप्तत्रिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह—

[4]तिगुणा तिरूवअहिया तिरियाणं इत्थिया मुणेयव्वा।
सत्तावीसगुणा पुण मणुयाणं तयहिया चेव ॥८८३॥
बत्तीसगुणा बत्तीसरूवअहिया य तह य देवाणं।
देवीओ पन्नत्ता जिणेहिं जियरागदोसेहिं ॥८८४॥

'तिगुणा' इत्यादिगाथाद्वयम्, त्रिगुणास्त्रिभी रूपैरधिकाश्च तिरश्चां पुंवेदिनां स्त्रियो ज्ञातव्याः, कोऽर्थः?—असत्कल्पनया सर्वेभ्यस्तिर्यग्योनिकपुरुषेभ्यः प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रस्तिर्यक्स्त्रियो दीयन्ते तिस्रश्च तिर्यक्स्त्रिय

१ दशवै. अगस्त्यसिंहचूर्णौ तु—"गिम्हे अहोरत्तेणं सच्चित्तीभवति, हेमंत-वासासु पुव्वण्हे कतं अवरण्हे।" अ. ३। गा. ६॥ २ तेरिच्छमाणवीओ देवीओ तिरियमणुय देवाणं —मु. ॥ ३ जेत्तियमेत्ताहियाउ-खं. ॥ ४ तुलना—षडशीतिनामा (प्राचीन) चतुर्थकर्मग्रन्थवृत्तयः (गा ५६वृत्तयः प. २३२-३, ४०, २०१), जीवाभिगम सू. ६४॥

उद्धरन्ति, [1]न तद्योग्यस्तिर्यग्योनिकः पुमान् प्राप्यत इति । एवमुत्तरत्रापि भावना कार्या । तथा मनुष्याणां स्त्रियो मनुष्यपुरुषेभ्यः सप्तविंशतिगुणाः, तदधिकाश्च—सप्तविंशतिरूपाधिकाः । तथा देवपुरुषेभ्यो देवस्त्रियो द्वात्रिंशद्गुणा द्वात्रिंशद्रूपाधिकाश्च प्रज्ञप्ताः—कथिता जिनैर्जितरागद्वेषैरिति ॥८८३॥८८४॥१३७॥

इदानीम् 'अच्छेरयाण दसगं' ति अष्टत्रिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह—

उवसग्ग १ गब्भहरणं २ इत्थीतित्थं ३ अभाविया परिसा ४ ।
कण्हस्स अवरकंका ५ अवयरणं चंदसूराणं ६ ॥८८५॥
हरिवंसकुलुप्पत्ती ७ चमरुप्पाओ ८ य अट्ठसयसिद्धा ९ ।
अस्संजयाण पूया १० दसवि अणंतेण कालेणं ॥८८६॥

[स्थानाङ्ग सू० ७७७, पञ्चवस्तुक गा. १२६-७]

[2]सिरिरिसहसीयलेसुं एक्केक्कं मल्लिनेमिनाहे य ।
वीरजिणिंदे पंच उ एगं सव्वेसु पाएणं ॥८८७॥
रिसहे अट्ठऽहियसयं सिद्धं सीयलजिणंमि हरिवंसो ।
नेमिजिणेऽवरकंकागमणं कण्हस्स संपन्नं ॥८८८॥

१ ततो न-मु० ॥ २ एतद्गाथात्रयं (८८७-९) कल्पसूत्रस्य कल्पद्रुमकलिकावृत्तावपि(पृ.३३) उद्धृतमस्ति, कल्पसूत्रटिप्पनं (देवे-द्रमुनि) पृ २० द्रष्टव्यम् ॥

इत्थीतित्थं मल्ली पूया असंजयाण नवमजिणे ।
अवसेसा अच्छेरा वीरजिणिंदस्स तित्थंमि ॥८८९॥

'उवसग्गे'त्यादिगाथाद्वयम्, [1]आ–विस्मयतश्चर्यन्ते अवगम्यन्ते [2]जनैरित्याश्चर्याणि–अद्भुतानि। तानि च उपसर्गादीनि दश। तत्रोपसृज्यते–क्षिप्यते बाध्यते प्राणी [3]धर्मादि(दे)भिरित्युपसर्गाः–सुर-नरादिकृतोपद्रवाः। ते च योजनशतमिते क्षेत्रे प्रशमितदुर्वारवैरमारिविड्वरदुर्भिक्षाद्युपद्रवोद्रेकस्यापि [4]वरेण्यपुण्यपण्यापणस्यापि तीर्थकरस्यापि भगवतः **श्रीमहावीरस्य** छद्मस्थकाले केवलिकाले च नराऽमर-तिर्यक्कृताः समभवन्, इदं च किल न जातुचिद् जातपूर्वम्। तीर्थकरा हि निखिलनरा-ऽमर-तिरश्चां सत्कारस्थानमेव, नोपसर्गभाजनम्, [5]इति अनन्तकालभाव्ययमर्थो लोकेऽद्भुतभूत इति १।

तथा गर्भस्य–स्त्रीकुक्षिसमुद्भूतसत्त्वस्य संहरणम्–अन्यस्त्रीकुक्षौ सङ्क्रामणं गर्भसंहरणम्, एतच्च तीर्थङ्करमुद्दिश्याभूतपूर्वमस्यामवसर्पिण्यां भगवतः **श्रीमहावीरस्य** जातम्, तथाहि–**श्रीमहावीर**जीवो **मरीचि**भवे समुपार्जितनीचैर्गोत्रकर्मा प्राणतकल्पपुष्पोत्तरविमानाच्च्युत्वा **ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्ता**ऽपरनामधेयसोमिलद्विजदयिताया **देवानन्दायाः** कुक्षावाषाढशुक्लषष्ठ्यामवातरत्। इतश्च द्व्यशीतिदिनेषु समतिक्रान्तेषु सौधर्माधिपतिरुपयुक्तावधिर्न तीर्थकृतः कदाचनापि नीचैःकुलेषु जायन्ते इति विमृश्य भुवनगुरुभक्तिभरभावितमनाः पदात्यनीकाधिपतिं हरिणेगमेषिमादिक्षत्–यथैष भरतक्षेत्रे चरमतीर्थकृत् प्रागुपात्त-

१ तुलना–स्थानाङ्गवृत्तिः प. ५२३॥ २ जिनै० ख. सं. ॥ ३ धर्मादि० मु.। धर्मादे० इति स्थानाङ्गवृत्तौ पाठः ॥ ४ वरेण्यपुण्यापणस्यापि–मु. भि.॥ ५ इति मु. नास्ति। तुलनीया स्थानाङ्गवृत्तिः ॥

कर्मशेषपरिणतिवशतस्तुच्छकुले जातः, तदयमितः संहृत्य **क्षत्रियकुण्डग्रामे** प्रसिद्धसिद्धार्थपार्थिवपत्न्यास्त्रिशलादेव्याः कुक्षौ स्थाप्यतामिति । ततः स हरिणेगमेषिस्तथेति प्रतिपद्याश्वयुक्कृष्णत्रयोदशीदिवसे रात्रौ प्रथमप्रहरद्वयमध्ये **देवानन्दा**भिधानब्राह्मण्युदरात् **त्रिशलादेव्याः** कुक्षौ भगवन्तं संहृतवान् । एतदप्यनन्तकालभावित्वादाश्चर्यमेवेति २ ।

तथा स्त्री–योषित्तस्यास्तीर्थङ्करत्वेनोत्पन्नायास्तीर्थं–द्वादशाङ्गं सङ्घो वा स्त्रीतीर्थम्, तीर्थं हि त्रिभुवनातिशायिनिरुपमानमहिमानः पुरुषा एव प्रवर्तयन्ति । इह त्ववसर्पिण्यां **कुम्भकनृपतिपुत्र्या मल्ल्यभिधानया** एकोनविंशतितमतीर्थकरत्वेनोत्पन्नया तीर्थं प्रवर्तितम् । तथाहि–इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपेऽपरविदेहे सलिलावतीविजये वीतशोकायां नगर्यां [1]**महाबलो** नाम भूपतिरभूत् । स च [2]सुचिरं परिपालितराज्यः षड्भिर्बालमित्रैः सममार्हतं धर्ममाकर्ण्य [3]**वरधर्म**मुनीन्द्रसमीपे प्रवव्राज तैश्च सप्तभिरपि यदेकस्तपः करिष्यति तदन्यैरपि कर्तव्यमिति प्रतिज्ञाय समं चतुर्थादितपश्चक्रे ।

अन्यदा च महाबलमुनिस्तेभ्यो विशिष्टतर[4]फलेप्सया [5]पारणकदिनेऽप्यद्य मे दुष्यति शिरोऽद्य मे दुष्यत्युदरमद्य मे, नास्ति क्षुदित्यादि, व्यपदेशेन मायया तान् वञ्चयित्वा तपश्चक्रे । तेन च मायामिश्रेण तपसा स्त्रीवेदकर्म अर्हद्वात्सल्यादिभिः [6]विंशतिस्थानैस्तीर्थकृन्नामकर्म च बद्ध्वा पर्यन्त-

१ ० सप्ततिशतस्थानप्रकरणे तु–'वेसमणो' इति पाठः,गा. ४६ । २ सुचिर० मु. ॥ ३ वरधर्म० खं. सं. सि.नास्ति ॥ ४ ० फललिप्सया.सं. ॥ ५ पारणकदिने पादोऽद्य मे दुष्यति शिरोऽद्य मे दुष्यति दुष्यत्युदरमद्य मे नास्ति मेऽद्य क्षुदि० मु ॥ ६ विंशति० खं. सं. नास्ति ॥

समये समयोक्ताराधनया विपद्य वैजयन्तविमानेषु सुरः समुत्पेदे । ततश्च्युत्वा च मिथिलानगर्यां कुम्भाभिधवसुधाधिपतेः पत्न्याः प्रभावत्याः प्राग्जन्मकृतमायासमुपार्जितस्त्रीवेदकर्मवशतो मल्ल्यभिधाना पुत्री समभवत् । क्रमेण च प्राप्तयौवना यथाविधि प्रव्रज्यां प्रतिपद्य केवलज्ञानमु[1]पागमत् । अष्टमहाप्रातिहार्यप्रभृतितीर्थंकरसमृद्धिसंशोभिता च तीर्थं प्रवर्तयामासेति । अस्यापि भावस्यानन्तकालजातत्वा[2]दाश्चर्यतेति ३ ।

तथा अभव्या–अयोग्या चारित्रधर्मस्य पर्षत्–तीर्थकरसमवसरणस्थितश्रो[3]तृलोकः । श्रूयते हि भगवतः श्रीवर्धमानस्वामिनो [4]जृम्भिकग्रामाद्बहिः समुत्पन्ननिःसपत्नकेवलालोकस्य तत्कालसमायातसङ्ख्यातीतसुर[5]विरचितसुचारुसमवसरणस्य भूरिभक्तिकुतूहलाकुलितमिलितापरिमितामरनरतिरश्चां स्वस्वभाषानुसारिणा सजलजलधरध्वानानुकारिणाऽतिमनोहारिणा महाध्वनिना धर्मकथां कुर्वाणस्यापि न केनचिद्विरतिः प्रतिपन्ना । केवलं प्रथमसमवसरणेऽवश्यमेव तीर्थकृद्भिः कर्तव्या धर्मदेशनेति स्थितिपरिपालनायैव, धर्मकथ बभूव । न चैतत्तीर्थंकरस्य कस्यापि भूतपूर्वमित्याश्चर्यम् ४ ।

तथा कृष्णस्य नवमवासुदेवस्यापरकङ्काभिधाना नगरी [6]गमनगोचरोऽभूदित्यभूतपूर्वत्वादाश्चर्यम् । इह किल श्रूयते हस्तिनागपुरे युधिष्ठिरप्रष्ठाः पञ्चापि पाण्डवाः काम्पिल्यपुराधिपद्रुपदनृपपुत्र्या द्रौपद्यासह सहर्षं वारकेण विषयसुखमुपभुञ्जानाः परमप्रमोदेनदिनान्यतिवाहयन्ति स्म । अन्येद्युर्नारदनामा मुनिर्मनःसमीहितान् [7]प्रदेशान् परिभ्राम्यन् द्रौपदीमन्दिरमाययौ । द्रौपद्या चाविरतोऽयमिति मत्वा

१ ०मुदपादयत् खं. स. ॥ २ दाश्चर्यमिति-सं. ॥ ३ ०तृलोकाः मु. । स्थानाङ्गवृत्तावपि (प. ५२४) लोकः-इतिपाठः ॥ ४ जृम्भिका-खं. ॥ ५ ०विसरविरचित० मु. ॥ ६ ०गोचरे० सि. ॥ ७ देशान्-मु. ॥

नमस्कृतिमात्रेणापि न तस्य प्रतिपत्तिः कृता । ततोऽसौ क्रोधाध्मातमना नारदः कथमियं महादुःखभाग्भविष्यतीति चिन्तयंस्तन्निकेतनान्निर्गत्य भरतक्षेत्रे च कृष्णभयात्तस्याः कुतोऽप्यपायमपश्यन् धातकीखण्डसम्बन्धिभरतक्षेत्रे चम्पाधिपतिकपिलाख्यकेशवसेवकस्य ललनालम्पटस्य **पद्मनाभनृपस्य पुरीमपरकङ्काभिधामभ्यगात्** । सोऽपि नृपः ससम्भ्रममुत्थाय प्रतिपत्तिपुरस्सरमन्तःपुरे नीत्वा निखिला अपि निजप्रेयसीः प्रदर्शयन् भगवन् ! अनवरतं सर्वत्राप्यस्खलितप्रचारेण भवता विलोकिताः क्वाप्येवंविधाः पुरन्ध्रय इति नारदं निजगाद । नारदोऽपि सेत्स्यत्यनेन मम प्रयोजनमिति मनसि निश्चित्य प्रत्यवादीत्—राजन् ! कूपमण्डूक इव किमेताभिः [1]स्वान्तःपुरपुरन्ध्रीभिः प्रमोदमानमानसो भवान् ?, यज्जम्बूद्वीप भरतभूषणायमाने हस्तिनागपुरे पाण्डवानां प्रेयस्या द्रौपद्याः पुरस्तादेताः सर्वा अपि दासीदेश्या एवेत्यभिधाय नारदमुनिरुत्पपात ।

अथ पद्मनाभो द्रौपदीप्राप्तिपर्याकुलः पातालनिवासिनं पूर्वसङ्गतिकं सुरं तपसा समाराध्य प्रत्यक्षीभूतं किं करोमीतिवादिनं पाण्डवप्रणयिनीं द्रौपदीमिहानीय मम समर्पयेत्यवादीत् । देवोऽपि महाराज ! द्रौपदी हि महासती पाण्डवव्यतिरेकेण नान्यं मनसाऽपि पतिमभिलषति, तथाऽपि त्वन्निर्बन्धादत्रानयामीत्युक्त्वा हस्तिनागपुरापुरादव[2]स्वापिनीदानेन निशि प्रसुप्तां द्रौपदीमपहृत्य तस्मै समर्पयामास पद्मनाभोऽपि प्रमुदितमनाः प्रबुद्धां निजदयिताद्यनवलोकनेन विह्वलितहृदयां द्रौपदीमभाषत—मा भैषीर्मृगाक्षि ? मयैवेह त्वमानापिताऽसि । अहं हि धातकीखण्डभरतक्षेत्रे अपरकङ्कापुरीपतिः पद्मनाभनामा नृपस्त्वां प्रेयसीं प्रार्थये ।

१ स्वान्तःपुरीभिः मु. ॥ २ स्वापनी-खं. सं. ॥

ततो मया सह स्वेच्छयाऽतुच्छान् भोगान् भुङ्क्ष्वेति । द्रौपद्यपि च तद्वचः श्रुत्वा तत्कालसमुत्पन्नमतिः [1]षण्मासमध्ये यदि मदीयः कोऽपि इह नागमिष्यति तदा त्वदीयं समीहितं करिष्यामीत्यवोचत । राज्ञाऽपि जम्बूद्वीपजुषां पुरुषाणामत्रागमनमसंभवीति विमृश्य तद्वचः प्रत्यपद्यत ।

इतश्च पाण्डवाः प्रभाते द्रौपदीमपश्यन्तः सादरं सर्वत्रान्वेषणेऽपि तद्वार्तामप्यलभमानाः समग्रमपि वृत्तान्तं वासुदेवाय न्यवेदयन् । वासुदेवोऽपि [2]किंकर्तव्यतामूढो यावदास्ते तावदकस्मान्नारदमुनिस्तत्र स्वयंकृतमनर्थमवलोकयितुमाजगाम । सर्वत्राप्यस्खलितप्रचारं सञ्चरता भवता किं क्वापि द्रौपदी दृष्टेति कृष्णेनानुयुक्तः स उक्तवान्—धातकीखण्डे [3]अपरकङ्कायां नगर्यां गतेन मया पद्मनाभ [4]नृपसद्मनि द्रौपदी दृष्टेत्यभि [5]धायान्यतोऽगमत् ।

ततः कृष्णः पद्मनृपतिना द्रौपदी हृता, एषोऽहं तामिहानेष्यामीति मा मनागपि खेदं विदध्वमिति पाण्डवान् समाश्वास्य महापृतनापरिवृतः पाण्डवैः सह दक्षिणाम्भोनिधितटनिकटमभ्यगात् । पाण्डवा अप्यत्यन्तभीषणमपारं[6] पारावारमवलोक्य स्वामिन्नयं मनसाऽप्यलङ्घ्यः कथं लङ्घनीय इति विष्णुं व्यजिज्ञपन् । विष्णुरपि न काचिच्चिन्ता भवद्भिर्विधेयेति तानुक्त्वाऽष्टमतपसा सुस्थितनामानं लवणसमुद्रस्वामिनममरमाराधयामास । अथाविर्भूय देवेन किं करोमीत्युक्ते विष्णुरवदत्—सुरश्रेष्ठ ! पद्मनाभनृपत्यपहृता धातकीखण्डद्वीपाद् द्रौपदीद्रुतमेव यथा समानीयते तथा कुर्विति । देवोऽपि यथा पद्मनाभपार्थि-

१ मासमध्ये खं. सं. ॥ २ इतिकर्तव्यता० खं. सं. ॥ ३ ०ऽमर० मु ॥ ४ नृपस्यसद्मनि- मु. ॥ ५ धाय सोऽन्यतो-मु. ॥ ६ ०र-सं. ॥

वस्य पूर्वसङ्गतसुरेणापहृत्य समर्पिता तथा तवाप्यहमर्पयामि यद्वा तं सबलवाहन[1]मम्भोनिधिमध्ये क्षिप्त्वा तामानयामीत्यादि बहु जल्पितवान् । कृष्णोऽप्यभाषत—नायं यशस्करः पन्थाः । ततः पाण्डवानां ममापि च षण्णां रथानामम्भोधिमध्येन मार्गमव्याहतं कुरु येन स्वयमेव तत्र गत्वा तं च युधि विनिर्जित्य द्रुपदतनयामानयाम इति ।

सुस्थितेन च तथैव कृते श्रीपतिः पञ्चभिः पाण्डवैः सह द्विलक्षयोजनप्रमाणमपि जलधिं स्थलमिवोल्लङ्घ्यापरकङ्कापुरीपरिसरोद्याने च स्थित्वा प्रथमं दारुकाख्यदूतप्रेषणेन द्रौपदीमयाचत् । पद्मोऽपि स तत्रैव वासुदेवः इह त्वात्मषष्ठोऽप्यसौ मम न किञ्चित्, ततो गत्वा युद्धाय स्वस्वामिनं सज्जयेति सगर्वमभिधाय युयुत्सुः ससैन्यः सन्नह्य तदेवोद्यानमागमत् । विष्णुरपि दारुकवचनश्रवणाद् द्विगुणीभूतरोषस्तं ससैन्यमापतन्तमालोक्य शङ्खमापूर्य तद्ध्वनिना सेनात्रिभागमनाशयत् । ततः [2]शार्ङ्गास्फालनजनितध्वनिनाऽपि सैन्यत्रिभागे नाशिते पद्मनाभनृपोऽवतिष्ठमानतृतीयांशबलो रणाङ्गणान्नंष्ट्वा निजपुरीमध्ये प्रविश्य गोपुराणि पिहितवान् । कृष्णोऽपि सक्रोधं रथादवतीर्य नृसिंहरूपधारी नितान्तं [3]तर्जन्निजपाददर्दरैः पुरमपातयत् । ततः पद्मनाभो [4]भयव्याकुलः क्षम्यतां २ देवि ! [5]रक्ष [6]मामस्मात्कृष्णादिति वदन् द्रौपदीं शरणमगमत् । तयाऽपि मां पुरस्कृत्य विधाय च स्त्रीवेषं शार्ङ्गिणमेव शरणं व्रजेत्युक्तः स तथा कृतवान् । कृष्णोऽपि द्रौपदीं पाण्डवानामर्पयित्वा तेनैव पथा रथारूढः प्रतिनिवृत्तः ।

---

१ ०मम्भोधि० खं. सं. ॥ २ शृङ्गा० सं. ॥ ३ गर्जे ० मु. । ४ भयव्याकुलितः-मु. ॥ ५ रक्ष २-मु. ॥ ६ ममस्मात्क्रुद्धात्कृष्णादिति-मु. ॥

तदानीं च तत्र चम्पायां पुर्यामुद्याने समवसृतं **मुनिसुव्रत**जिनं कपिलनामा वासुदेवस्तत्समीपमासीनः स्वामिन्! कस्यायं ममेव शङ्खस्वनः श्रूयते ?, इति [1]पप्रच्छ, भगवानपि समग्रं द्रौपदीवृत्तान्तमाख्यत्। ततः कपिलो जम्बूद्वीपभरतार्धाधिपतेरभ्यागतस्य स्वागतिको भवामीति भगवन्तमपृच्छत्। ततो भगवता [2]यथैकत्र न द्वितीयोऽर्हन्न चक्रभृन्न च विष्णुरुत्पद्यते तथा कारणागतोऽपि नान्येनमिलतीत्युक्तोऽपि कपिलः कौतुकात् कृष्णदिदृक्षया जलधितटे जगाम। दृष्टवांश्चाम्भोधिमध्ये[3] व्रजतो विष्णो रथध्वजान्। ततः कपिलनामा वासुदेवस्त्वां द्रष्टुमुत्कण्ठितोऽहमिहागतस्तद्वलस्वेति स्पष्टाक्षरं शङ्खमवादयत्। कृष्णोऽपि वयमतिदूरं गतास्ततस्त्वया न किञ्चिद्वाच्यमिति व्यक्ताक्षरं शङ्खध्वनिना तं प्रतिबोध्य क्रमेण स्वस्थानं प्राप्त इति ५।

तथा कौशाम्ब्यां नगर्यां समवसृतस्य भगवतः [4]श्रीमद्वर्धमानविभोर्वन्दनार्थं पश्चिमपौरुष्यामवतरणम्—आकाशात्समवसरणभुवि समागमनं युगपच्चन्द्र-सूर्ययोः शाश्वतविमानस्थितयोर्बभूव इदमप्याश्चर्यमेव। अन्यदा [5]हि उत्तरवैक्रियविमानेनैवावतरत इति ६।

तथा हरेः—पुरुषविशेषस्य वंशः—पुत्रपौत्रादिपरम्परा हरिवंशः, तल्लक्षणं यत्कुलं तस्योत्पत्तिर्हरिवंशकुलोत्पत्तिः। कुलं ह्यनेकधा ततो हरिवंशेन विशेष्यते। एतदपि च पूर्वमभूतत्वादाश्चर्यमेवेति। श्रूयते हि इहैव जम्बूद्वीपभरतक्षेत्रे कौशाम्ब्यां नगर्यां **सुमुखो** नाम भूपतिरभूत्। एकदा च विचित्रविलासवसतौ वसन्तस-

१ पप्रष्ट-सं.॥ २ यथैकत्र द्वितीयोर्हन्न चक्रभृन्न तथा विष्णुरपि न भवति, तथाकारणादागतोऽपि–मु. ३ °ध्येन–मु.॥ ४ श्रीवर्ध° मु.॥ ५ हि-सं. नास्ति॥

मये समागते [1]मतङ्गजारूढः स राजा रन्तुकामः पुरपरिसरोद्यानं गच्छन् मार्गे **वीरका**ह्वयस्य कुविन्दस्य दयितां **वनमाला**भिधानामसमानलावण्यपुण्यदेहावयवामवलोकितवान् । साऽपि प्रणयस्पृशा दृशा वारं वारं साकाङ्क्षमुदैक्षत । राजा च तां निर्निमेषचक्षुषा सस्पृहं पश्यन् स्मरविधुरस्तत्रैव गजं भ्रमयन् कमपि प्रतीक्षमाण इव नाग्रतो जगाम । अथ **सुमति**नामा सचिवस्तद्भावं जिज्ञासुः स्वामिन् ! सर्वमपि सैन्यमिह प्राप्तं ततः किमद्यापि विलम्ब्यते ? इति राजानं व्यजिज्ञपत् । राजापि सचिववचसा चेतः कथमपि संस्थाप्य लीलोद्यानमगमत् । तत्र च शून्यहृदयो हृद्येऽप्युद्याने न क्वापि रतिं प्राप । अथ तमुद्विग्नमानसममात्यः सुमतिरवादीत्—देव ! किमद्य [2]शून्यहृदय इव त्वं लक्ष्यसे ?, यद्यगोप्योऽयं मनोविकारस्तत्कथ्यतामिति । राजापि त्वमेव मम मनोविकारप्रतीकारप्रवणः, [3]ततस्तवाप्यगोप्यं किञ्चिदस्ति ? इत्यभिधाय स्वस्वरूपं [4]न्यरूपयत् । अथ देव ! त्वत्समीहितं शीघ्रमेव सम्पादयिष्यामि, व्रजतु स्वामी स्वस्थः स्वावासमित्यमात्येनोक्तः क्षितिपतिः स्वावासमयासीत् ।

ततो मन्त्री विचित्रोपायपण्डिता**मात्रेयिकां** नाम परिव्राजिकां वनमालायाः पार्श्वे प्राहिणोत् । साऽपि तत्र गत्वा तद्विरहविह्वलां वनमालामवोचत्—वत्से ! किमद्य विच्छाया वीक्ष्यसे ?, निवेदय स्वदुःखमिति । साऽपि निःश्वस्य दुष्प्रापप्रार्थकतामात्मीयामकथयत् आत्रेयिकापि मदीयमन्त्रतन्त्राणां न किञ्चिदसाध्यमस्ति ततः प्रातः पृथ्वीपतिना सह सङ्गमं तव करिष्यामीति तामाश्वास्य गत्वा च सचिवसविधं तत्

१ मत्तगजारूढः-सं. ॥ २ हृदयशून्य-सं. ॥ ३ ततस्तव गोप्यं न किञ्चि० मु. । ततस्तवाऽपि गोप्यं किञ्चि० सं. ॥ ४ प्रतिरूपयन्-सं. ॥

नृपप्रयोजनं निष्पन्नप्रायं न्यवेदयत् । सचिवोऽपि तद्वृत्तान्तनिवेदनेन[1] नृराजमरञ्जयत् । ततः प्रभाते परिव्राजिका वनमालामादाय नृपमन्दिरमगमत् । राजाऽप्यनुरागवशतस्तामन्तःपुरे निक्षिप्य तया सममसमं संसारसुखमन्वभूत् ।

इतश्च वीरककुविन्दोऽपि वनमालामनवलोकमानो हा प्रिये वनमाले ! क्व गताऽसीत्याद्यनेकप्रकारं प्रलपन्नुन्मत्त इव च त्रिकचत्वरादिषु परिभ्रमन्नेकदा नृपतिनिकेतनान्तिकमभ्यगात् , भूपालोऽपि वनमाला सहितस्तथाविकृताकारं शून्यमानसं हा वनमाले इत्यादिप्रलापिनं तमवेक्ष्य व्यचिन्तयत्—अहोऽस्माभिरुभयलोकविरुद्धमतिनिर्घृणं कर्म समाचरितं सर्वथाऽप्यस्माकं नरकेऽप्यवस्थानं नास्तीत्यादि बह्वात्मानं निन्दतोस्तयोः सहसैवाकाशात्तडित्पतित्वा प्राणान् जहार । मृत्वा च तौ परस्परस्नेहवशात् शुभध्यानाच्च हरिवर्षाख्ये तृतीये क्षेत्रे मिथुनरूपिणौ हरिहरिणीनामकावुत्पन्नौ । तत्र च कल्पपादपसम्पादितसमीहितौ सततमवियुक्तौ[2] सुखेन विलसन्तौ तस्थतुः ।

[3]वीरककुविन्दोऽपि तयोर्मृत्युमवगत्य त्यक्तग्रहिलभावो दुस्तपमज्ञानतपः किमपि कृत्वा [4]मृत्वा च सौधर्मकल्पे किल्बिषिकसुरः समुत्पेदे । अवधिना च निजं पूर्वभवं हरि-हरिणीनामकौ च पूर्वभववैरिणौ विलोक्य तत्कालोत्पन्नरोपारुणेक्षणः क्षणमचिन्तयत्—इह हरिवर्षक्षेत्रे क्षेत्रानुभावादेव ताववध्यौ मृतौ चावश्यमेव देवलोकं व्रजिष्यतस्ततो दुर्गतिनिबन्धने अकालेऽपि मरणप्रदे नयाम्यन्यत्र स्थानान्तरे इति विनिश्चित्य तावुभावपि कल्पतरुभिः सह ततः क्षेत्रादपहृत्य भरतक्षेत्रे चम्पापुर्यामानैषीत् ।

१ नृपराज० मु. ॥ २ ०क्तौ परस्परस्नेहवशात् सुचिरं विलसन्तौ–मु.॥ ॥ ३ वीरकुविन्दो० मु. ॥ ४ ततो मृत्वा-सं. ॥

तस्यां च पुरि तदानीमिक्ष्वाकुवंशजश्चन्द्रकीर्तिनामा नृपोऽपुत्रः पञ्चत्वमगमत् । ततस्तस्य प्रकृतयो राज्यार्हमपरं पुरुषमन्वेष्टुं सर्वतोऽपि प्रवर्तमानास्तेन देवेनाकाशस्थितेन स्वसमृद्धिवशतः सर्वस्यापि जनस्य विस्मयमुपजनयता सादरमभिहिताः–भो भो राज्यचिन्तकाः ! भवत्पुण्यप्रेरितेनेव मया हरिवर्षात् हरिण्याख्यनिजपत्न्या समन्वितो हरिनामा राज्यार्हः पुमान् युग्मरूपोऽनयोरेवाहारयोग्यैः कल्पद्रुमैः सममिहानीतः तदयमस्तु भवतां राजा, एतयोश्च कल्पपादपफलमिश्रं पशु-पक्षिमांसं मद्यं चाहारो देय इति । प्रकृतयोऽप्येवमस्त्विति भणित्वा हरिं राज्ये स्थापयामासुः । सोऽपि सुरः स्वशक्त्या तयोरायुःस्थितिं ह्रस्वां तनुं च धनुःशतमानां कृत्वा तिरोदधे । हरिरपि पयोधिपर्यन्तां वसुधां साधयित्वा सुचिरं राज्यमकरोत् । ततः प्रभृति च पृथिव्यां तन्नामा हरिवंशो बभूवेति ७ ।

तथा चमरस्य–असुरकुमारेन्द्रस्योत्पातः–ऊर्ध्वगमनं सोऽप्याकस्मिकत्वादाश्चर्यमिति । श्रूयते हि इहैव भरतक्षेत्रे [1]बिभेलसन्निवेशे पूरणो नाम धनाढ्यो गृहपतिरभूत् । स चान्यदा निशीथे चिन्तयामास–नूनं प्राग्भवाचीर्णविस्तीर्णतपःप्रभावतः प्राप्ता तावदियं लक्ष्मीः मान्यता च । ततः पुनरप्येष्यद्भवे विशिष्टफलप्राप्तये गृहवासं परित्यज्य किमपि दुस्तपं तपः करोमीत्येवं विचिन्त्य प्रातः सर्वानपि स्वजनानापृच्छ्य तनयं च निजपदे निवेश्य [2]प्राणामनामकं तापसव्रतमग्रहीत् । तद्दिनादारभ्य च यावज्जीवं षष्ठं तपश्चकार । पारणकदिने च दारुमयं चतुष्पुटं भिक्षापात्रमादाय मध्याह्नक्षणे [3]भिक्षां भ्राम्यति स्म ।

१ विभेले-मु ॥ २ प्रणाम० सं. । तुलनीया भगवती सूत्रवृत्तिः ३।१।१३४ ॥ ३ भिक्षाभाजनं काराप्य प्रथमपात्रमादाय-सं. । भिक्षामादाय-खं. सि. ॥

तत्र प्रथमपुटपतितां भिक्षां पान्थादिभ्यः, द्वितीयपुटपतितां भिक्षां काकादिभ्यः, तृतीयपुटभिक्षां च मत्स्यादिजलचारिभ्यो दत्त्वा राग-द्वेषादिरहितश्चतुर्थपुटभिक्षां स्वयमभुङ्क्त। एवं द्वादश वर्षाणि बालतपः कृत्वा पर्यन्तसमये मासमेकमनशनमादाय मृत्वा च चमरचञ्चायां चमरेन्द्रो बभूव। उत्पन्नश्च [1]तदावधिज्ञानेनेतस्ततः पश्यन्नूर्ध्वं सौधर्मावतंसके विमाने सौधर्मेन्द्रं दृष्ट्वा क्रुद्धः सुरानवोचत्—अरे कोऽयं दुरात्माऽप्रार्थित [2]प्रार्थको मम [3]शिरसि स्थित एवं विलसतीति ?, तेऽप्यूचुः—अयं हि पूर्वभवार्जितैः[4] पुण्यैः सर्वातिशायिसमृद्धिपराक्रमः सौधर्माधिपः शक्र इति। एतच्च श्रुत्वाऽधिकतरं क्रुद्धः स्वपरिवारनिवारितोऽपि युयुत्सुः शिक्षयाम्येनमवज्ञाकारिणमिति वदन् परिघमादाय, स हि शक्तः श्रूयते ततः कथमपि तत्पराजितोऽहं कं शरणं प्रपत्स्ये ? इति विचिन्त्य स **सुसुमारपुरे** प्रतिमास्थितस्य **श्रीमहावीरस्य** समीपमागमत्। तत्र च प्रणामपूर्वकं भगवंस्तव प्रभावेण वज्रिणं जेष्यामीति विभुं विज्ञप्य लक्षयोजनमानमतिविकृतं निजवपुर्विधाय परिघप्रहरणं परितो भ्रमयन् गर्जन्नास्फोटयन् त्रिदशान् त्रासयन् दर्पान्धः सौधर्मेन्द्रं प्रति समुदपतत्। तत एकं पादं सौधर्मावतंसकविमानवेदिकायामपरं च सुधर्मायां निधाय परिघेनेन्द्रकीलं त्रिस्ताडयित्वाऽनेकशः शक्रमाक्रोशयामास। शक्रोऽप्यवधितस्तं विदित्वा कोपाज्ज्वाल्यमानः स्फारस्फुरत्स्फुलिङ्गशतसमाकुलं कुलिशं तं प्रति मुमोच। चमरोऽपि पृष्ठतो दम्भोलिमायान्तम[5]वलोकितुमप्यक्षमः श्रीमहावीरं शरणं प्रपित्सुर्वपुर्विस्तरमुपसंहृत्य त्वरिततरं पलायिष्ट। समासन्नीभूतकुलिशश्च शरणं शरणमिति ब्रुवाणः सूक्ष्मीभूय स्वामिपादयोरन्तरे प्राविशत्। शक्रोऽप्यर्हदादिनिश्रामन्तरेण नासुराणा-

१ तत्राव० मु.॥ २ ०प्रार्थितो-मु. ॥ ३ शिरः स्थितः-मु. ॥ ४ ०त-स. ॥ ५ ०लोकयितु० मु. ॥

मिहागन्तुं स्वतः शक्तिः सम्भवतीति विचिन्त्यावधिज्ञानावगततद्व्यतिकरस्तीर्थकराशातनाभयात्त्वरितमागत्य स्वामिपादयोश्चतुरङ्गुलमप्राप्तं वज्रमुपसंजहार । स्वामिनं च क्षमयित्वा चमरमवोचत्–मुक्तोऽस्यहो भगवतः प्रसादान्नास्ति ते भयमिति एवं चमरमाश्वास्य भूयोऽपि भगवन्तं नत्वा शक्रः स्वस्थानमगमत् । चमरोऽप्यमरेन्द्रे गते प्रभुपादद्वयान्तरान्निर्गत्य प्रणम्य च प्रभुं प्रास्तावीत् । यथा–

‘श्रीमद्वीरजिनेन्द्र ! भद्रमतुलं तुभ्यं भवत्वन्वहं,
यस्यानन्यसमानदिव्यमहिमव्यामिश्रया निश्रया ।
किञ्चित्कर्म मनीषितं तनुमतां व्यातन्वतां सम्मुखी,
भूताप्याशु विपत्तिरेति निधनं सम्पत्ति रुज्जृम्भते ॥१॥’ [ ]

एवं च स्तुत्वा स चमरचञ्चापुरीमयासीत् ८ ।

तथाऽष्टभिरधिकम् शतमष्टशतम् [1]‘अष्टशतं च ते सिद्धाः–निर्वृता अष्टशतसिद्धाः एकसमयेनेति शेष । तथा चास्मिन् भरतक्षेत्रे अस्यामवसर्पिण्यां भगवतः श्रीनाभेयस्य निर्वाणसमये श्रूयते अष्टोत्तरं शतमेकसमयेन सिद्धम् । तथा चोक्तं सङ्घदासगणिना **वसुदेवचरिते**––

[2]‘भयवं उसभसामी जयगुरू पुव्वसयसहस्सं वाससहस्सूणयं विहरिऊणं[3] केवली अट्ठावयपव्वए सह दसहिं समणसहस्सेहिं परिनिव्वाणमुवगओ [3]चउद्दसेणं भत्तेणं माघबहुले पक्खे तेरसीए अभीइणा

१ अष्टशतं च मु. नास्ति । स्थानाङ्गवृत्तावपि (प. ५२४) अष्टशतं च ते इति पाठोस्ति ॥ २ भयवं च जगगुरु उस० इति वसुदेवहिण्डिग्रन्थे पाठः ॥ ३ ०ण–मु. ॥ ३ चउद्दसमेणं-मु. । चोद्दसेणं-इति वसुदेवहिण्डिग्रन्थे (पृ. १८५)॥

नक्खत्तेणं एगूणपुत्तसएणं अट्ठहि य नत्तुएहिं सह [1]एगसमएणं निव्वुओ, सेसाण वि अणगाराणं दस सहस्साणि [2]अट्ठसयऊणगाणि सिद्धाणि तंमि चेव रिक्खे समयंतरेसु बहुसु"[वसुदेवहिंडी पृ. १८५]इति ।

इदमप्यनन्तकालजातमित्याश्चर्यम् [3]△एतदाश्चर्यमुत्कृष्टावगाहनायामेव ज्ञातव्यम्, । मध्यमावगाहनायां तु अनेकशोऽपि अष्टोत्तरशतं सिध्यतीति नाश्चर्यम् △९ ।

तथा असंयता—असंयमवन्तः आरम्भपरिग्रहप्रसक्ता अब्रह्मचारिणस्तेषु पूजा—सत्कारः । सर्वदा हि किल संयता एव पूजार्हाः, अस्यां त्ववमर्पिण्यां विपरीतं जातमित्याश्चर्यम् । तथा च श्रूयते श्रीसुविधिस्वामिनिर्वाणात्कियत्यपि काले गते हुंडावसर्पिणी[4]दोषतः साधूनामुच्छेदः समपद्यत । ततः स्थविरश्रावकान् धर्ममार्गानभिज्ञा जना धर्मं पप्रच्छुः । अथात्मपरिज्ञानानुसारतः किञ्चिद्धर्मं कथयतां [5]स्थविरश्रावकाणां ते जनाः श्रावकजनयोग्यां धन-वसनादिकां पूजां प्रचक्रिरे । तेऽपि तत्पूजया समुत्पन्नगर्वास्तत्कालं स्वबुद्धया शास्त्राणि समास्त्रत्य मही-मन्दिर-शय्या स्वर्ण-रूप्य-लोह-तिल-कर्पास-गो-कन्या-गजा--ऽश्वादेर्दानानि इहाऽमुत्र च महाफलान्याचख्युः । महागृद्धया च वयमेव दानायोचितं पात्रम्, अपरं सर्वमपात्रमित्याद्युपदेशतः सर्वतो जनं विप्रतारयन्तोऽपि तदानीं तथाविधगुर्वभावाल्लोकानां गुरुतां गताः । एवमस्मिन् क्षेत्रे समन्ततस्तीर्थसमुच्छेदे सञ्जाते श्रीशीतलस्वामितीर्थं यावदसंयतानामपि तेषां धिग्वर्णानां प्रथीयसी पूजा समजायतेति १० ।

१ एकस० मु० । वसुदेवहिंग्रन्थेऽपि एगस० इति पाठः ॥ २ अट्ठसऊण० इति वसुदेवहिण्डि- ग्रन्थे पाठः ॥
३ △∧ चिह्नद्वयमध्यवर्तिपाठः २-जे. खं नास्ति ॥ ४ दोषातसा० मु. ॥ ५ तेषा-स्थविर मु ॥

एतानि च दशाप्याश्चर्याण्यनन्तेन कालेन—अनन्तकालादस्यामवसर्पिण्यां संवृत्तानीति । उपलक्षणं चैतान्याश्चर्याणि । अतोऽन्येऽप्येवमादयो भावा अनन्तकालभाविन आश्चर्यरूपा द्रष्टव्याः । यदुक्तं पञ्चवस्तुके—'उवलक्खणं तु एयाइं' [गा. १२८] [1]इति ॥८८५॥ ८८६॥

अथ कस्य तीर्थकृतः काले कियन्त्याश्चर्याणि जातानीत्येतदाह—'सिरि'त्यादि, श्रीऋषभनाथ-शीतलस्वामिनोस्तीर्थे एकैकमाश्चर्यमभूत् । तत्र श्रीऋषभ[2]नाथे एकसमयेनाष्टोत्तरशतसिद्धिः । शीतलस्वामितीर्थे च हरिवंशोत्पत्तिः । तथा मल्लिजिन[3]नेमिजिननाथयोरप्येकैकम् । तत्र स्त्रीतीर्थं मल्लिजिनेनैव प्रवर्तितम्, नेमिनाथतीर्थे च कृष्णस्यापरकङ्कागमनं संवृत्तम् । तथा वीरजिनेन्द्रे गर्भहरणोपसर्ग-चमरोत्पाताऽभव्यपर्षच्चन्द्रसूर्यावतरणलक्षणानि पञ्चैवाश्चर्याणि क्रमेण जातानि । तथा एकमसंयतपूजालक्षणमाश्चर्यं प्रायेण—बाहुल्येन सर्वेष्वपि तीर्थकरेषु सम्पन्नमिति ॥८८७॥

एतदेव स्पष्टतरं प्रतिपादयन्नाह—[4]'रिसहे' गाहा, 'इत्थी' गाहा, व्याख्यातार्थं चैतत्, नवरं 'पूया अस्संजयाणं नवमजिणे' इति यदुक्तं तत्सर्वथा तीर्थोच्छेदजनितासंयतपूजाप्रारम्भमाश्रित्य द्रष्टव्यम्, सुविधिस्वामिप्रभृतीनां शान्तिनाथपर्यन्तानामष्टानां तीर्थकृतामन्तरेषु सप्तसु तीर्थोच्छेदजाताया असंयतपूजायाः सद्भावात् । यत्पुनः श्रीऋषभनाथादिकाले मरीचि-कपिलादीनामसंयतानां पूजा श्रूयते तत्तीर्थे प्रवर्तमान एवेति । अत एव प्रागुक्तम् 'एगं सव्वेसु पाएणे' ति ॥८८८-८८९ ॥१३८ ॥

१ ति-मु. ॥ २ ०नाथतीर्थे एक० मु. ॥ ३ ० नेमिनाथ० मु. ॥ ४ रिसहे अट्ठहियसयमित्यादिगाथाद्वयं-खं. ॥

इदानीं 'चउरो भासाउ' त्ति एकोन[1]चत्वारिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह—

पढमा भासा सच्चा १ बीया उ मुसा [2]विवज्जिया तासिं ।
सच्चामुसा ३ असच्चामुसा ४ पुणो तह चउत्थीत्ति ॥८९०॥

जणवय १ संमय २ ठवणा ३ नामे ४ रूवे ५ पडुच्चसच्चे य ६ ।
ववहार ७ भाव ८ जोगे ९ दसमे ओवम्मसच्चे य १० ॥८९१॥

कोहे १ माणे २ माया ३ लोभे ४ पेज्जे ५ तहेव दोसे ६ य ।
हास ७ भए ८ अक्खाइय ९ उवघाए १० निस्सिया दसहा[3] ॥९२॥

[प्रज्ञापनासू. पद ११, सू. ८६२-३]

उप्पन्न १ विगय २ मीसग ३ जीव ४ अजीवे ५ य जीवअज्जीवे ६ ।
तह मीसगा अणंता ७ परीत्त ८ अद्धा ९ य अद्धद्धा १० ॥८९३॥

आमंतणि १ [4]आणमणी २ जायणि ३ तह पुच्छणी य ४ पन्नवणी ५ ।
पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ७ ॥८९४॥

१ चत्वारिंशशत द्वार०खं. सं. ॥ २ तइज्जिया—जे. २ सं. ॥ ३ ०मा० इति ता० प्रतौ दशवै० निर्युक्तौ च पाठः ॥ ४ आणवणी-इति दशवै० निर्युक्तौ धर्मसं. वृत्तौ च पाठः ॥

अणभिग्गहिया ८ भासा भासा य [1]अभिग्गहंमि ९ बोद्धव्वा ।
संसयकरणी १० भासा [2]वोयड ११ अव्वोयडा १२ चेव ॥८९५॥

[प्रज्ञापनासू. पद ११, सू. ८६६ । दशवैकालिकनि. गा. २७३-७]

'पढमा भासा' गाहा, भाष्यते इति भाषा, सा चतुर्विधा, तत्र प्रथमा भाषा सत्या, सन्तो–मूलोत्तरगुणास्तेषामेव जगति मुक्ति [3]पदप्रापकतया परमशोभनत्वात्, अथवा सन्तो–विद्यमानास्ते च भगवदुपदिष्टा एव जीवादयः पदार्था अन्येषां कल्पनामात्ररचितसत्ताकतया तत्त्वतोऽसत्त्वात् तेभ्यो हिता सत्या । सत्याविपरीतस्वरूपा मृषा द्वितीया । उभयस्वभावा सत्यामृषा, तासां चतसृणां भाषाणां मध्ये तृतीया । या पुनस्तिसृष्वपि भाषास्वनधिकृता–तल्लक्षणायोगतस्तत्रानन्तर्भाविनी सा आमन्त्रणाज्ञापनादिविषया असत्यामृषा, तासां भाषाणां मध्ये चतुर्थीति ॥८९०॥

साम्प्रतमेतासामेव भाषाणां भेदानभिधित्सुः प्रथमं सत्यभाषाया भेदानाह—'जणवये' त्यादि, सत्या भाषा तावद्दशप्रकारा भवति जनपदसत्यादिभेदात् । तत्र [4]जनपदेषु–देशेषु या यदर्थवाचकतया रूढा देशान्तरेऽपि सा तदर्थवाचकतया [5]प्रयुज्यमाना सत्या–अवितथेति जनपदसत्या । यथा कोङ्कणादिषु पयः पिच्चं नीरमुदकमित्यादि । सत्यता चास्या अदुष्टविवक्षाहेतुत्वान्नानाजनपदेष्विष्टार्थप्रतिपत्तिजनकत्वाद्व्यवहारप्रवृत्तेः । एवं शेषेष्वपि भावना कार्या १ ।

१ भिगाहंमि-सं ॥ २ वायड अव्वायडा–इति दशवै० निर्युक्तौ पाठः ॥ ३ ०पदप्रदायकतया–मु. ॥ ४ तुलना धर्मसङ्ग्रहवृत्तिः भा० २, प. १२२ ॥ ५ त्यज्यमानापि–इति धर्मसं.वृत्तौ पाठः ॥

तथा सकललोकसाम्मत्येन सत्यतया प्रसिद्धा सम्मतसत्या । यथा कुमुद-कुवलयोत्पल-तामरसानां समानेऽपि पङ्कसम्भवे गोपालादीनां सम्मतमरविन्दमेव पङ्कजं न शेषमित्यरविन्दे सम्मततया पङ्कजशब्दः सत्यः, कुवलयादावसत्योऽसम्मतत्वादिति २ ।

तथा स्थापनासत्या या तथाविधमङ्कविन्यासं मुद्राविन्यासं चोपलभ्य प्रयुज्यते, यथा एककं पुरतो बिन्दुद्वयसहितमुपलभ्य शतमिदमिति, बिन्दुत्रयसहितं सहस्रमिदमिति । तथा तथाविधं मुद्राविन्यासमुपलभ्य मृत्तिकादिषु [1]मासोऽयं कार्षापणोऽयमिति । यद्वा यल्लेप्यादिकर्म अर्हदादिविकल्पेन स्थाप्यते सा स्थापना, तद्विषये सत्या स्थापनासत्या । यथाऽजिनोऽपि जिनोऽयम्, अनाचार्योऽप्याचार्योऽयमिति ३ ।

तथा नामतः—अभिधानमात्रेण सत्या नामसत्या, यथा कुलमवर्धयन्नपि कुलवर्धनः, धनमवर्धयन्नपि धनवर्धनः, अयक्षश्च यक्ष इति ४ ।

तथा रूपतो—रूपापेक्षया सत्या रूपसत्या । यथा दम्भतो गृहीतप्रव्रजितरूपः प्रव्रजितोऽयमिति ५ ।

तथा प्रतीत्य—आश्रित्य वस्त्वन्तरं सत्या प्रतीत्यसत्या । यथा अनामिकायाः[2] कनिष्ठामधिकृत्य दीर्घत्वं मध्यमामधिकृत्य ह्रस्वत्वम्, न च वाच्यं कथमेकस्या ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं च तात्त्विकं परस्परविरोधादिति । भिन्ननिमित्तत्वे परस्परविरोधासम्भवात् । तथाहि—तामेव यदि कनिष्ठां मध्यमां

१ माषकोऽयं इति दशवै-वृत्तौ पाठः प.२०८ B ॥ २ ०यां-इति धर्मस.वृत्तौ ॥

वा एकामङ्गुलिमङ्गीकृत्य ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं च प्रतिपाद्येत ततो विरोधः सम्भवेत्, एकनिमित्तत्वे परस्परविरुद्धकार्यद्वयासम्भवात्। यदा त्वेकामधिकृत्यह्रस्वत्वं अपरामधिकृत्य दीर्घत्वं तदा सत्त्वा-ऽसत्त्वयोरिव भिन्ननिमित्तत्वान्न परस्परं विरोधः। अथ यदि तात्त्विके ह्रस्वत्वदीर्घत्वे तत ऋजुत्व-वक्रत्वे इव कस्मात्ते [1]निरपेक्षे न प्रतिभासेते ?, तस्मात्परोपाधिकत्वात्काल्पनिके इमे इति। तदुक्तम्, द्विविधा हि वस्तुनो धर्माः—सहकारिव्यङ्ग्यरूपा इतरे च। तत्र ये सहकारिव्यङ्ग्यरूपास्ते सहकारिसम्पर्कवशात्प्रतीतिपथमायान्ति, यथा पृथिव्या जलसम्पर्कतो गन्धः, इतरे त्वेवमेवापि यथा कर्पूरादिगन्धः। ह्रस्वत्वदीर्घत्वे [2]अपि च सहकारिव्यङ्ग्यरूपे, ततस्ते तं तं सहकारिणमासाद्याभिव्यक्तिमायात इत्यदोषः ६।

तथा व्यवहारतो—लोकविवक्षातः सत्या व्यवहारसत्या। यथा गिरिर्दह्यते, गलति भाजनम्, अनुदरा कन्या, अलोमिका एडका, लोको हि गिरिगततृणादिदाहे तृणादिना सह गिरेरभेदं विवक्षित्वा गिरिर्दह्यते इति ब्रूते। भाजनादुदके श्रवति उदकभाजनयोरभेदं विवक्षित्वा गलति भाजनमिति। सम्भोगजबीजप्रभवोदराभावेऽनुदरेति, लवनयोग्यलोमाभावेऽलोमिकेति। ततो लोकव्यवहारमपेक्ष्य साधोरपि तथा ब्रुवतो व्यवहारसत्या भाषा भवति ७।

तथा भावतो वर्णादि[3]स्वरूपात् सत्या भावसत्या। किमुक्तं भवति ?—यो भावो वर्णादिर्यस्मिन्नुत्कटो भवति तेन या सत्या भाषा सा भावसत्या। यथा सत्यपि पञ्चवर्णसम्भवे शुक्लस्यैव वर्णस्योत्कटत्वाद्बलाका शुक्लेति ८।

१ परनिर० मु.॥ २ अपि स० मु. सि.॥ ३ ०स्वरूपा—मु. तुलना—धर्मसंग्रहवृत्तावपि ०स्वरूपात् इति ॥

तथा योगः—सम्बन्धस्तस्मात्सत्या योगसत्या । यथा छत्रयोगाद्विवक्षितशब्दप्रयोगकाले छत्राभावेऽपि छत्रयोगस्य सम्भवात् छत्री । एवं दण्डयोगाद्दण्डी ९ । तथा उपमैव औपम्यं तेन सत्या औपम्यसत्या, यथा समुद्रवत्तडागमिति १० ॥८९१॥

अथ द्वितीयभाषाया मृषालक्षणाया भेदानाह—'कोहे' इत्यादि, क्रोधनिःसृतादिभेदान्मृषाभाषा दशविधा भवति । सप्तम्याः पञ्चम्यर्थत्वान्निःसृतशब्दस्य च प्रत्येकमभिसम्बन्धात्क्रोधान्निःसृता क्रोधाद्विनिर्गतेत्यर्थः । एवमन्यत्रापि । तत्र क्रोधाभिभूतो विसंवादनबुद्धया [1]प्रत्याययन् यत्सत्यमसत्यं वा भाषते तत्सर्वं मृषा । तस्य हि आशयोऽतीव दुष्टः । ततो यदपि घुणाक्षरन्यायेन सत्यमापतति, शाठ्यबुद्धया वोपेत्य सत्यं भाषते तदप्याशयदोषदुष्टमिति मृषा । यथा वा क्रोधाभिभूतः पिता पुत्रमाह—न त्वं मम पुत्र इति, अदासं वा दासमभिधत्ते इति १ । तथा मानान्निःसृता यत्पूर्वमननुभूतमप्यैश्वर्यमात्मोत्कर्षख्यापनायानुभूतमस्माभिस्तदानीमेवमैश्वर्यमित्यादि वदति २ । तथा मायाया निःसृता यत्परवञ्चनाभिप्रायेण सत्यमसत्यं वा भाषते ३ । तथा लोभान्निःसृता वणिक्प्रभृतीनामन्यथा क्रीतमेवेत्थं क्रीतमित्यादि ४ । तथा प्रेम्णो निःसृता, यदतिप्रेमवशाद्दासोऽहं [2]तवेत्यादि वदति ५ । तथा द्वेषान्निःसृता मत्सरिणां गुणवत्यपि निर्गुणोऽयमित्यादि ६ । तथा हास्यान्निःसृता यथा कान्दर्पिकाणां[3] कस्मिंश्चित्कस्यचित् सम्बन्धिनि गृहीतेऽपि पृष्टानां केलिवशतो न दृष्टमित्यादि ७ । तथा भयान्निःसृता तस्करादिभयेनासमञ्जसभासणम् ८ । तथा

१ परं प्रत्या० मु ॥ २ तव तवेत्यादि-खं. ॥ ३ ०ना० इति दशवै हारि० वृत्तौ [प० २०९ A] पाठः ॥

आख्यायिकानिःसृता, यथा कथास्वसंभव्यभिधानम् ९ । तथा उपघातान्निसृता चौरस्त्वमित्याद्यसदभ्याख्यानमिति १० । ८९२॥

अथ तृतीयभाषायाः सत्यामृषाया भेदानाह—'उप्पन्ने'त्यादि, उत्पन्नमिश्रितादिभेदात्सत्यामृषा भाषा दशधा भवति । इह च मध्यस्थितस्य '**मीसय**' त्ति पदस्य सर्वत्रापि सम्बन्धादुत्पन्नमिश्रिता विगतमिश्रितेत्यादि द्रष्टव्यम् । ततश्च उत्पन्नमिश्रिता अनुत्पन्नैः सह सङ्ख्यापूरणार्थं या सा उत्पन्नमिश्रिता एवमन्यत्रापि यथायोगं भावनीयम् तत्रोत्पन्नमिश्रिता यथा कस्मिंश्चिद् ग्रामे नगरे वा न्यूनेष्वधिकेषु वा दारकेषु जातेषु दश दारका अस्मिन्नद्य जाता इत्यादि । व्यवहारतः सत्यामृषात्वाद् अस्याः । श्वस्ते शतं दास्यामीत्युक्त्वा पञ्चाशत्यपि दत्तायां लोके मृषात्वादर्शनादनुत्पन्नेष्वेवादत्तेष्वेव च मृषात्वव्यवहारात् १ । तथा एवमेव मरणकथने विगतमिश्रिता । यथा अस्मिन्नद्य दश वृद्धा विगता इत्यादि २ । तथा जन्मनो मरणस्य च कृतपरिमाणस्याभिधाने विसंवादने च मिश्रकमिश्रिता उत्पन्नविगतमिश्रितेत्यर्थः । यथाऽस्मिन्नद्य दश दारका जाता दश च वृद्धा विपन्ना इति ३ ।

तथा प्रभूतानां जीवतां स्तोकानां च मृतानां शङ्ख-शङ्खनकादीनामेकत्र राशौ दृष्टे यदा कश्चिदेवं वदति—अहो महान् जीवराशिरयमिति तदा सा जीवमिश्रिता । सत्यामृषात्वं चास्या जीवत्सु सत्यत्वान्मृतेषु मृषात्वात् ४ । तथा यदा प्रभूतेषु मृतेषु स्तोकेषु जीवत्सु एकत्र राशीकृतेषु शङ्खादिष्वेवं वदति—अहो महानयं मृतो जीवराशिरिति तदा सा अजीवमिश्रिता, अस्या अपि सत्यामृषात्वं मृतेषु सत्यत्वात् जीवत्सु च मृषात्वात् ५ । तथा तस्मिन्नेव राशौ एतावन्तोऽत्र जीवन्ति एतावन्तोऽत्र मृता इति नियमेनावधारयतो विसंवादे जीवाजीवमिश्रिता ६ ।

१३१ द्वारे
भाषा-
चतुष्कम्
गाथा
८९०-
८९५
प्र. आ.
२६३

तथा मूलकादिकमनन्तकायं तस्यैव सत्कैः परिपाण्डुपत्रैरन्येन वा केनचित्प्रत्येकवनस्पतिना मिश्रमवलोक्य सर्वोऽप्येषोऽनन्तकायिक इति वदतोऽनन्तमिश्रिता ७ । तथा प्रत्येकवनस्पतिसङ्घातमनन्तकायिकेन सह राशीकृतमवलोक्य प्रत्येकवनस्पतिरयं सर्वोऽपीति वदतः प्रत्येकमिश्रिता ८ ।

तथा अद्ध-कालः, स चेह प्रस्तावाद्दिवसो रात्रिर्वा परिगृह्यते । स मिश्रितो यया सा अद्धामिश्रिता । यथा कश्चित्कञ्चन त्वरयन् दिवसे वर्तमान एव वदति- 'उत्तिष्ठ रात्रिर्जातेति, रात्रौ वा वर्तमानायामुत्तिष्ठ[2] दिवसो जात इति ९ । तथा दिवसस्य रात्रेर्वा एकदेशोऽद्धाद्धा, सा मिश्रिता यया सा अद्धाद्धामिश्रिता । यथा प्रथमपौरुष्यामेव वर्तमानायां कश्चित् कञ्चन त्वरयन्नेवं वदति—चल चल मध्याह्नो जात इति १०॥८९३॥

अथ चतुर्थभाषाया असत्यामृषाया भेदानाह— [3]'आमंतणी' त्यादिगाथाद्वयम् , आमन्त्रण्यादिभेदादसत्यामृषा भाषा द्वादशभेदा भवति । तत्र आमन्त्रणी हे देवदत्त ! इत्यादि । एषा हि प्रागुक्तसत्यादिभाषात्रयलक्षणविकलत्वान्न सत्या [4]नापि मृषा नापि सत्यामृषा, केवलं व्यवहारमात्रप्रवृत्तिहेतुरित्यसत्यामृषा १ । [5]एवं भावना कार्या । आज्ञापनी—कार्ये परस्य प्रवर्तनम्, यथेदं कुर्विति २ । याचनी कस्यापि वस्तुविशेषस्य देहीति मार्गणम् ३ । प्रच्छनी अविज्ञातस्य संदिग्धस्य वा कस्यचिदर्थस्य परिज्ञानाय तद्विदः पार्श्वे कथमेतदिति प्रच्छनम् ४ । प्रज्ञापनी विनेयजनस्योपदेशदानम् , यथा प्राणिवधान्निवृत्ता भवन्ति भवान्तरे प्राणिनो दीर्घायुष इत्यादि ५ । प्रत्याख्यानी—याचमानस्य प्रतिषेधवचनम् ६ ।

१ उत्तिष्ठ २ रात्रि० मु. ॥ २ ०ष्ठ २ दि० मु. ॥ ३ आमंत्रणीत्यादि आ० मु० ॥ ४ न षा-मु ॥ ५ एवं सर्वत्रापि भावना-मु. । धर्मसंवृत्तौ [प. १२३] अपि 'सर्वत्रापि न स्ति ॥

इच्छानुलोमा नाम यथा कश्चित् किञ्चन कार्यमारभमाणः कञ्चन पृच्छति, स प्राह—करोतु भवान् ममाप्येतदभिप्रेतमिति ७। अनभिगृहीता—यत्र न प्रतिनियतार्थावधारणम्, यथा बहुषु कार्येषूपस्थितेषु कश्चित् कञ्चन पृच्छति—किमिदानीं करोमि ?, स प्राह—यत्प्रतिभासते तत्कुर्विति ८। अभिगृहीता—प्रतिनियतार्थावधारणम्, यथा इदमिदानीं कर्तव्यमिदं नेति। यद्वा अनभिगृहीता याऽर्थमनभिगृह्योच्यते डित्थादिवत्। अभिगृहीता त्वर्थमभिगृह्य योच्यते घटादिवत् ९। संशयकरणी या एकका वागनेकार्थाभिधायितया [1]परस्य संशयमुत्पादयति। यथा सैन्धवमानीयतामित्यत्र सैन्धवशब्दो लवणवस्त्र-पुरुष-वाजिषु १०। व्याकृता या प्रकटार्था ११। अव्याकृता [2]अतिगम्भीरशब्दार्था अव्यक्ताक्षरप्रयुक्ता वा, अविभावितार्थत्वादिति १२ ॥८९४॥ ८९५॥ १३९॥

इदानीं 'वयणसोलसगं' ति चत्वारिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह—

कालतियं ३ वयणतियं ६ लिंगतियं ९ तह परोक्ख १० पच्चक्खं ११ ।
उवणयऽवणयचउक्कं १५ अज्झत्थं चेव सोलसमं ॥८९६॥

'कालतियं' गाहा, कालत्रिकं तथा वचनत्रिकं तथा लिङ्गत्रिकं तथा परोक्षमत्र प्रथमैकवचनस्य लोपः, तथा प्रत्यक्षं तथोपनयचतुष्कम्, तथाऽध्यात्मं चैव षोडशमिति [3]गाथावयवार्थः। तत्राकरोत्करोति करिष्यतीत्यतीतादिकालनिर्देशप्रधानं वचनजातं कालत्रिकवचनमित्यर्थः। तथा एको द्वौ बहव इत्येकत्वाद्यभिधायकः शब्दसन्दर्भो वचनत्रिकमिति। तथेयं स्त्री, अयं पुरुषः, इदं कुलमिति त्रीणि [3]लिङ्ग-

१ परस्परं-मु.। धर्मस वृत्ता-वपि 'परस्य' इति पाठः॥ २ अतिगभीर० मु.। तुलना—धर्मसं वृत्तिः॥ गाथासमुदायार्थः अवयवार्थं -जे.॥ ३ लिङ्गप्रधानानीति तथा-ख.॥

प्रधानानि वचनानीति [1]लिङ्गत्रिकम् । तथा स इति परोक्षनिर्देशः परोक्षवचनम् । अयमिति प्रत्यक्षनिर्देशः प्रत्यक्षवचनम्, तथोपनयापनयवचनं चतुर्धा भवति, तद्यथा–उपनयापनयवचनम्, तथा उपनयोपनयवचनम्, तथा अपनयोपनयवचनम्, तथा अपनयापनयवचनमिति । तत्रोपनयो–गुणोक्तिः, अपनयो–दोषभणनम्, तत्र सुरूपेयं रामा परं दुःशीला इत्युपनयापनयवचनम् । तथा सुरूपेयं स्त्री सुशीलेत्युपनयोपनयवचनम् । तथा [2]कुरूपेयं स्त्री परं सुशीलेत्यपनयोपनयवचनम् । कुरूपेयं कुशीला चेत्यपनयापनयवचनमिति । △ यद्वा उपनयः-स्तुतिरपनयो-निन्दा, तयोर्वचनचतुष्कं–यथा रूपवती स्त्रीत्युपनयवचनम्, कुरुपास्त्रीत्यपनयवचनम्, रूपवती [3]स्त्री किन्तु कुशीलेत्युपनयाऽपनयवचनम्, [4]कुरूपास्त्री किन्तु सुशीलेत्यपनयोपनयवचनमिति△ तथा अन्यच्चेतसि निधाय विप्रतारकबुद्ध्याऽन्यद्विभणिषुरपि सहसा यच्चेतसि तदेव वक्ति यत्तत् षोडशमध्यात्मवचनम् ॥८९६॥ १४०॥

इदानीं 'मासाण पंचभेय' त्ति एकचत्वारिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह—

मासा य पंच सुत्ते नक्खत्तो १ चंदिओ २ य रिउमासो ३ ।
आइच्चोऽविय [5]इयरो ४ ऽभिवड्ढिओ तह य पंचमओ ५ ॥८९७॥
अहरत्त सत्तवीसं तिसत्तसत्तट्ठिभाग नक्खत्तो २७ $|\frac{21}{67}$ ।
चंदो उणत्तीसं बिसट्ठि [6]भाया य बत्तीसं २९ $|\frac{32}{62}$ ॥८९८॥

१ लिङ्गत्रिकं-सि. नास्ति ॥ २ कुरुपा स्त्रीयं परं-मु० ॥ △△ चिह्नद्वयमध्यवर्तिपाठः मु. नास्ति ॥ ३ स्त्री-जे. नास्ति ॥ ४ तथा कुरुपा-जे. खं. ॥ ५ अवरो-मु. ॥ ६ भागा उ-ता. ॥

उउमासो तीसदिणो ३० आइच्चो तीस होइ अद्धं च ३० १/२।
अभिवड्डिओ य मासो चउवीससएण छेएणं ॥८९९॥
भागाणिगवीससयं तीसा एगाहिया दिणाणं तु ३१ १२१/१२४।
एए जह निप्फत्तिं लहंति समयाउ तह नेयं ॥९००॥

'मासा य पंच' गाहा, मासा नक्षत्रादयः पञ्च 'सूत्रे' पारमेश्वरे प्रवचने प्रतिपादिता इति शेषः। तत्र नक्षत्रेषु भवो नाक्षत्रः, किमुक्तं भवति ?–चन्द्रश्चारं चरन् यावता कालेनाभिजित आरभ्योत्तराषाढानक्षत्र पर्यन्तं गच्छति तत्कालप्रमाणो नाक्षत्रो मासः । यदिवा चन्द्रस्य नक्षत्रमण्डले परिवर्तयतो निष्पन्न इत्युपचारान्मासोऽपि नक्षत्रम्, तथा चन्द्रे भवश्चान्द्रः युगादौ श्रावणे मासे बहुलपक्षप्रतिपद आरभ्य [1]यावत्पौर्णमासीपरिसमाप्तिस्तावत्कालप्रमाणश्चान्द्रो मासः । एकपौर्णमासीपरावर्तश्चान्द्रो मास इति यावत्, अथवा चन्द्रचारनिष्पन्नत्वादुपचारतो मासोऽपि [2]चन्द्रः २ । चः समुच्चये। तथा ऋतुमासः, इह किल ऋतुर्लोकरूढ्या षष्ट्यहोरात्रप्रमाणो मासद्वयात्मकः, तस्यार्धमपि मासोऽवयवे समुदायोपचारात्, ऋतुः स चार्थात्परिपूर्णत्रिंशदहोरात्रप्रमाणः। एष एव च ऋतुमासः कर्ममास इति वा सावनमास इति वा व्यवह्रियते। उक्तञ्च—

"एसचेव उउमासो कम्ममासो [3]सावणमासो भन्नइ" [ ] इति ३।

१ यावत्पूर्णिमा० मु. ॥ २ चान्द्रः–मु. ॥ ३ सावणो–मु. ॥

तथा आदित्यस्यायमादित्यः स च एकस्य दक्षिणायनस्योत्तरायणस्य वा त्र्यशीत्यधिकदिनशत-प्रमाणस्य षष्ठभागमानः यद्वा आदित्यचारनिष्पन्नत्वादुपचारतो मासोऽप्यादित्यः ४। तथा पञ्चमो मासोऽभिवर्धितः। अभिवर्धितो नाम मुख्यतस्त्रयोदशचन्द्रमासप्रमाणः संवत्सरः। द्वादशचन्द्रमासप्रमाणात्संवत्सरादेकेन मासेनाभिवर्धितत्वात्, परं तद्द्वादशभागप्रमाणो मासोऽप्यवयवे समुदायोपचारादभिवर्धितः ५। तदेवमुक्ता नामतो नक्षत्रादयः पञ्चापि मासाः ॥८९७॥

साम्प्रतमेतेषामेव मासानां दिनपरिमाणमाह– [1]'अहरत्ते' गाहा, 'उउ' गाहा, 'भागा' गाहा, नाक्षत्रो–नक्षत्रसम्बन्धी मासः सप्तविंशतिरहोरात्राः एकस्य चाहोरात्रस्य सप्तषष्टिभागास्त्रिः [2]सप्त–एकविंशतिरित्यर्थः * २७ २१/६७। तथा चान्द्रः–चन्द्रमासः एकोनत्रिंशदहोरात्रा द्वाषष्टिभागाश्च अहोरात्रस्य द्वात्रिंशत् २९ ३२/६२। तथा ऋतुमासः परिपूर्णानि त्रिंशद्दिनानि। तथा आदित्यः–आदित्यमासो भवति त्रिंशदहोरात्रा अर्धं चाहोरात्रस्य ३० ३०/६०। तथा अभिवर्धितमासो दिनानामेकेनाधिका त्रिंशत्, एकत्रिंशदहोरात्रा इत्यर्थः, एकस्य चाहोरात्रस्य चतुर्विंशत्युत्तरशतरूपेण छेदेन–भागेन विभक्तस्य एकविंशत्यधिकं शतं भागानां भवतीति ३१ १२१/१२४। एते पञ्चापि मासा यथा निष्पत्तिं लभन्ते तथा 'समयात्' सिद्धान्ताद् 'ज्ञेयं' ज्ञातव्यमिति ॥

१ अहरत्तेत्यादिगाथात्रयम्-खं. सि. ॥ २ सप्त-त्रयो वाराः सप्त एक० मु० ॥ *एताः स्थापनाः मु. नास्ति ॥

स च निष्पत्तिप्रकारः सिद्धान्तानुसारेण विनेयजनानुग्रहाय किञ्चिद् दर्श्यते—इह किल चन्द्र-चन्द्रा-भिवर्धित-चन्द्राऽभिवर्धितलक्षणसंवत्सरपञ्चकप्रमाणे युगे अहोरात्रराशिस्त्रिंशदधिकाष्टादशशतप्रमाणो १८३० भवति । कथमेतदवसीयते ? इति चेदुच्यते—इह सूर्यस्य दक्षिणमुत्तरं वा अयनं त्र्यशीतिअधिकदिन-शतात्मकं युगे च पञ्च दक्षिणायनानि पञ्चोत्तरायणानीति सर्वसङ्ख्यया दशायनानि ततस्त्र्यशीत्यधिकं दिनशतं दशकेन गुण्यते इत्यागच्छति यथोक्तो दिनराशिः । एवंप्रमाणं दिनराशिं स्थापयित्वा नक्षत्र-चन्द्रऋत्वादित्यमासानां दिनमानानयनाय यथाक्रमं सप्तषष्टिद्वाषष्ट्येकषष्टिषष्टिलक्षणैर्भागहारैर्भागं हरेत्, ततो यथोक्तं नक्षत्रादिमासगतदिनपरिमाणमागच्छति । तथाहि—युगदिनराशिस्त्रिंशदधिकाष्टादशशतप्रमाणो ध्रियते । तस्य सप्तषष्टियुगे नक्षत्रमासा इति सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धाः सप्तविंशतिरहोरात्राः, एकविंशतिरहोरात्रस्य सप्तषष्टिभागाः, [1]एष नक्षत्रमासः । तथा तस्यैव युगदिनराशेस्त्रिंशदधिकाष्टादशशत मानस्य युगे चन्द्रमासा द्वाषष्टिरिति द्वाषष्ट्या भागे हृते यल्लभ्यते तच्चन्द्रमासमानम् । तथाऽस्यैव युगदि-नराशेरेकषष्टियुगे ऋतुमासाः, इत्येकषष्ट्या भागहरणे लब्धं यथोक्तमृतुमासमानम् । तथा युगे सूर्यमासाः षष्टिरिति षष्ट्या ध्रुवराशेर्भागहारे यल्लब्धमेतत्सूर्यमासपरिमाणम्, उक्तं च—

△ रिक्खाईमासाणं करणमिणमं तु आणणोवाओ । जुगदिणरासिं ठाविय अट्ठार सयाइं तीसाइं ॥१॥

१ एक-ख. ॥

△ ऋक्षादिमासानां करणमिदं त्वानयनोपायः । युगदिनराशिं स्थापयित्वाऽष्टादश शतानि त्रिंशानि ॥१॥

❀ ताहे हराहि [1]भायं रिक्खाईयाण दिणकरंताणं । सत्तट्ठीबावट्ठीएगट्ठीसट्ठिभागेहिं ॥२॥"

[व्यवहार भा. उ. १, गा. १६-१७]

तथा [2]यस्मिन् वर्षे अभिवर्धितरूपे तृतीये पञ्चमे वा त्रयोदश शशिमासा भवन्ति तद्वर्षं द्वादशभागीक्रियते तत एकैको भागोऽभिवर्धितमास इत्युच्यते । इह किलाभिवर्धितसंवत्सरस्य त्रयोदशचन्द्रमासमानस्य दिनपरिमाणं त्र्यशीत्यधिकानि त्रीणि शतानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य $३८३\frac{४४}{६२}$ । तथाहि—एकस्मिन् चन्द्रमासे एकोनत्रिंशद्दिनानि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागाः । मासाश्च त्रयोदश इति तानि दिनानि तदंशाश्च त्रयोदशभिर्गुण्यन्ते जातानि सप्तसप्तत्युत्तराणि दिनानां त्रीणि शतानि, अंशानां च षोडशाधिकानि चत्वारि शतानि । ते च दिनस्य द्वाषष्टिभागाः । ततो दिनानयनाय द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धानि षट् दिनानि । तानि च पूर्वोक्तदिनेषु मील्यन्ते । ततो जातानि त्रीणि शतानि त्र्यशीत्यधिकानि दिनानां चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागाः । तत 'वर्षे मासा द्वादश' इति मासानयनाय द्वादशभिर्भागो ह्रियते, लब्धा एकत्रिंशदहोरात्राः, शेषास्तिष्ठन्त्यहोरात्रा एकादश । ते [3]च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागकरणार्थं चतुर्विंशत्युत्तरशतेन गुण्यन्ते । जातानि त्रयोदश शतानि चतुष्षष्ट्यधिकानि, येऽपि च उपरितनाश्चतुश्चत्वारिंशद्—द्वाषष्टिभागास्तेऽपि चतुर्विंशत्युत्तरशतभागकरणार्थं

❀ ततो हर भागमृक्षादीनां दिनकरान्तानाम् । सप्तषष्टिद्वाषष्टिएकषष्टिषष्टिभागैः ॥२॥

१ मागं–मु. ॥ २ तस्मिन्–मु. । अस्मिन्–खं सं. सि. ॥ ३ च –मु. नास्ति ॥

द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाता अष्टाशीतिः, साऽनन्तरभागराशौ प्रक्षिप्यते, जातानि च चतुर्दश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि, तेषां द्वादशभिर्भागे हृते लब्धमेकविंशत्युत्तरं शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानाम्, एतावदभिवर्धितमासप्रमाणम्, $121\frac{31}{124}$ उक्तं च–

△"जंमि वरिसंमि तेरस ससिणो मासा हवंति सो वरिसो। बारसभाए कज्जइ अभिवड्डियमास सो भागो ॥१॥" त्ति ॥८९८-९००॥१४१॥

सम्प्रति [2]'वरिसाण पंच भेय' त्ति द्विचत्वारिंशदधिकशततमं द्वारमाह—

संवच्छरा उ पंच उ चदे १ चंदे २ ऽभिवड्डिए ३ चेव।
चदे ४ ऽभिवड्डिए ५ तह बिसट्ठिमासेहिं जुगमाणं ॥९०१॥

'संवच्छराउ' गाहा, चान्द्रश्चान्द्रोऽभिवर्धितः चान्द्रोऽभिवर्धितश्चेत्येवं क्रमेण पञ्च संवत्सरा भवन्ति। एते च पञ्चाप्यनेन क्रमेण भवन्तो मिलित्वा एकं युगं निष्पादयन्तीति युगसंवत्सरा इत्युच्यन्ते। तत्र पूर्वोक्तस्वरूपचन्द्रमासनिष्पन्नत्वात्संवत्सरोऽपि चान्द्रः। तस्य च प्रमाणं त्रीणि शतानि चतुष्पञ्चाशदुत्तराणि दिनानां द्वादश च द्वाषष्टिभागाः $354\frac{12}{62}$। तथाहि—एकोनत्रिंशद्दिनानि द्वाषष्टिभागीकृतस्याहोरात्रस्य च द्वात्रिंशदंशाश्चन्द्रमासः $29\frac{32}{62}$ स च द्वादशभिर्गुण्यते ततो यथोक्तं चन्द्रसंवत्सरप्रमाणं भवति। एवं द्वितीयचतुर्थावपि संवत्सराविति। तथा चन्द्रसंवत्सरादेकेन मासेनाभिवर्धितत्वादभिवर्धितसंवत्सरः। तस्य च प्रमाणं त्रीणि शतानि अह्नां त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागाः

△ यस्मिन् वर्षे त्रयोदश शशिनो मासा भवन्ति तत् वर्षं द्वादशभागीक्रियते स भागोऽभिवर्धितमासः ॥१॥

१ इति–मु. ॥ २ तुलना–स्थानाङ्गसू. ४६० ॥

३८३$\frac{४४}{६२}$ । तथाहि–एकत्रिंशदहोरात्राश्चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां चैकविंशं शतमभिवर्धितमासप्रमाणम् । तत्रैकत्रिंशद्दिनानि द्वादशभिर्गुण्यन्ते जातानि द्वासप्तत्युत्तराणि त्रीणि शतानि । यच्चैकविंशत्यधिकं भागशतं तदपि द्वादशभिर्गुण्यते जातानि द्विपञ्चाशदधिकानि चतुर्दश शतानि । तेषां च चतुर्विंशत्यधिकशतेन भागहरणे लब्धान्येकादश दिनानि तानि च पूर्वोक्तदिनेषु प्रक्षिप्यन्ते । भवन्ति च त्रीणि शतानि त्र्यशीत्यधिकानि । शेषस्य चाष्टाशीतिरूपभाज्यराशेश्चतुर्विंशत्युत्तरशतरूपभाजकराशेश्च यथोक्तभागानयनाय द्विकेनापवर्तना क्रियते । लब्धाश्चतुश्चत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागाः, एषोऽभिवर्धितसंवत्सरः । एवं पञ्चमोऽपि । एभिश्चान्द्रादिभिः पञ्चभिः संवत्सरैरेकं युगं भवति । तच्च द्विषष्टिचन्द्रमासप्रमाणम् । तथा हि–युगे त्रयश्चन्द्रसंवत्सराः, एकैकस्मिंश्च चन्द्रसंवत्सरे द्वादश चन्द्रमासाः, ततस्त्रयो द्वादशभिर्गुण्यन्ते जाताः षट्त्रिंशत्, अभिवर्धितसंवत्सरौ च युगे द्वावेव एकैकस्मिंश्चाभिवर्धितसंवत्सरे त्रयोदश चन्द्रमासाः, अधिकमासकस्य तत्र सद्भावात्, ततो द्वौ त्रयोदशभिर्गुण्येते जाताः षड्विंशतिः, उभयमीलने च द्वाषष्टिश्चन्द्रमासा इति ॥९०१॥ १४२॥

इदानीं [1]'लोगसरूवं' त्ति त्रिचत्वारिंशदधिकशततमं द्वारमाह–

माघवईए तलाओ ईसिपब्भारउवरिमतलं जा ।
चउदसरज्जू लोगो तस्साहो वित्थरे [2]सत्त ॥९०२॥
उवरिं पएसहाणी ता नेया जाव भूतले एगा ।
तयणुप्पएसवुड्ढी पंचमकप्पंमि जा पंच ॥९०३॥

१ लोगस्सरूवं-म. ॥ २ तस्स-ता. ॥

पुणरवि पएसहाणि जा [1]सिद्धसिलाए एक्कगा रज्जू ।
घम्माए लोगमज्झो जोयणअस्संखकोडीहिं[2] ॥९०४॥
हेट्ठाहोमुहमल्लगतुल्लो उवरिं तु संपुडठियाणं ।
अणुसरइ मल्लगाणं लोगो पंचत्थिकायमओ ॥ ९०५ ॥
तिरियं सत्तावन्ना उड्ढं पंचेव हुंति रेहाओ ।
पाएसु चउसु रज्जू चउदस रज्जू य तसनाडी ॥९०६॥
तिरियं चउरो दोसुं छ दोसुं अट्ठ दस य [3]इक्किक्के ।
बारस दोसुं सोलस [4]दोसुं वीसा य चउसुंपि ॥९०७[5]॥
पुणरवि सोलस दोसुं बारस [6]दोसुंपि हुंति नायव्वा ।
तिसु दस तिसु अट्ठ च्छा य दोसु दोसुंपि चत्तारि ॥९०८॥
ओयरिय लोयमज्झा चउरो चउरो य सव्वहिं नेया ।
तिग तिग दुग दुग [7]एक्किक्कगो य जा सत्तमी पुढवी ॥९०९॥
अडवीसा छव्वीसा चउवीसा वीस सोल दस चउरो ।
सत्तासुवि पुढवीसुं तिरियं खण्डुयगपरिमाणं ॥९१०॥

१ सिद्धि० जे. २। सिद्धसिलाइ-ता. ॥ २ ०भो-ता. ॥ ३ एक्किक्के-जे. २। एक्केक्को-ता. ॥ ४ दोसं-ता. ॥
५ एताश्चत्वारः गाथा आचाराङ्गवृत्तौ (प. १६६ B) दृश्यन्ते । ६ दोसं.ता. ॥ ७ एक्किगगो-ता. ॥

पंच सय बारसुत्तर हेट्ठा तिसया उ चउर अब्भहिया ।
अह उड्ढं अट्ठ सया सोलहिया खंडुया सव्वे ॥९११॥
[1]बत्तीसं रज्जुओ हेट्ठा रुयगस्स हुंति नायव्वा ।
एगोणवीसमुवरिं [2]इगवन्ना सव्वपिंडेणं ॥९१२॥
दाहिणपास[3] दुखडा वामे संधिज्ज विहियविवरीयं ।
नाडीजुया तिरज्जू उड्ढाहो सत्त [4]तो जाया ॥९१३॥
हेट्ठाओ वामखंडं दाहिणपासंमि ठवसु विवरीयं ।
उवरिम तिरज्जु खंडं वामे ठाणंमि संधिज्जा ॥९१४॥
तिन्नि सया तेयाला रज्जूणं हुंति सव्वलोगम्मि ।
चउरंसं होइ जय सत्तण्ह घणेणिमा संखा ॥९१५॥
छसु खंडगेसु य दुगं चउसु दुगं दससु हुंति चत्तारि ।
चउसु चउक्कं गेवेज्जणुत्तराइं चउक्कंमि ॥९१६॥
सयंभुपुरिमताओ अवरंतो जाव [5]रज्जुमाणं तु ।
एएण रज्जुमाणेण लोगो चउद्दसरज्जुओ ॥९१७॥ ॥१४६॥

---

१ इतः पूर्वं ता. प्रतौ "सत्तेव य रज्जुओ एगा पचेव लोगवित्थारा । अह तिरिय बंभलोए एगा रज्जूय लोगते ॥ इत्यधिका गाथा विद्यते भीमशीमाणेक संस्करणेऽपि विद्यते(पृ ३६८) ॥ २ एग० ता ॥ ३ ०सि- ता० ॥ ४ या-ता. ॥
५ रज्जुओ एएण-जे. ॥

'माधवईए' इत्यादिगाथात्रयम्, माघवत्याः—तमस्तमप्रभापराभिधानायाः सप्तमनरकपृथिव्यास्तलाद्—[1]अलोकसंस्पर्शिनः सर्वाधस्तनभागादारभ्य ईषत्प्राग्भारायाः—सिद्धशिलायाः सर्वोपरितनतलं लोकान्तलक्षणं यावदूर्ध्वाधोभागेन चतुर्दशरज्जूप्रमाणो लोको भवति । तस्य च लोकस्याधस्तात्—सप्तमपृथिव्या अधोभागे विस्तरतो देशोनाः सप्त रज्जवः, सूत्रकारेण त्वल्पत्वाद्देशोनत्वं न विवक्षितम् । ततोऽधोलोकान्तादुपरि प्रदेशहानिः—तिर्यगङ्गुलासङ्ख्येयभागहानिस्तावद् ज्ञातव्या यावद् भूतले—तिर्यग्लोकमध्यवर्तिसमभूमिभागे विस्तरत एका रज्जूः । तदनु—समभूमिभागादुपरिमुखं प्रदेशवृद्धिः—तिर्यगङ्गुलासङ्ख्येयभागवृद्धिस्तावद् द्रष्टव्या यावदूर्ध्वलोकमध्ये पञ्चमे ब्रह्मलोकाभिधे कल्पे विस्तरतः पञ्च रज्जवः । ततः पुनरप्यूर्ध्वं प्रदेशहानिस्तावदवसेया यावत्सिद्धशिलाया उपरिष्टाल्लोकान्ते विस्तरत एकैव रज्जूः । घर्मायां च—रत्नप्रभापराभिधानायां प्रथमपृथिव्यां योजनानामसङ्ख्याताभिः कोटिभिर्बहुसमभूभिभागादतिक्रान्ताभिर्लोकमध्यम् ।

इयमत्र भावना—इह सामस्त्येन चतुर्दशरज्ज्वात्मको लोकः, स च त्रिधा भिद्यते । तद्यथा—ऊर्ध्वलोकस्तिर्यग्लोकोऽधोलोकश्च । तत्र तिर्यग्लोकस्य ऊर्ध्वाधोऽपेक्षया अष्टादशयोजनशतप्रमाणस्य मध्यभागे जम्बूद्वीपे रत्नप्रभाया बहुसमे भूमिभागे मेरुबहुमध्येऽष्टप्रादेशिको रुचकः । तत्र गोस्तनाकाराश्चत्वार उपरितनाः प्रदेशाश्चत्वारश्चाधस्तनाः । एष एव रुचकः सर्वासां दिशां विदिशां च प्रवर्तकः, । एतस्माच्च रुचकादूर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकविभागाः । तथाहि—रुचकस्याधस्तादुपरिष्टाच्च नव नव योजनशतानि तिर्यग्लोकः, तस्य च तिर्यग्लोकस्याधस्तादधोलोकः, उपरिष्टादूर्ध्वलोकः । देशोनसप्तरज्जूप्रमाण ऊर्ध्वलोकः,

१ अलोकपृथिव्यासंस्पर्शिनः-जे. ॥

समधिकसप्तरज्जूप्रमाणोऽधोलोकः, मध्येऽष्टादशयोजनशतोच्छ्रयस्तिर्यग्लोकः । ततो- [1]रुचकसमाद् भूतलभागादधोमुखमसङ्ख्याता योजनकोटीर्गत्वा रत्नप्रभायां चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्य मध्यभागः परिपूर्णसप्तरज्जूप्रमाणो भवतीति ॥९०२-९०४॥ सम्प्रति लोकस्य संस्थानमाह-'हेट्ठे'त्यादि, अधस्ताद्-अधोभागे अधोमुखमल्लकतुल्यः-अधोमुखीकृतसरावसदृक्षाकारः, उपरि पुनः सम्पुटस्थितयोर्मल्लकयोः-शरावयोराकारमनुसरति लोकः । अयमर्थः-प्रथमं तावदेकं शरावमधोमुखमवस्थाप्यते, ततस्तस्योपरि द्वितीयमुपरिमुखं तस्याप्युपरि तृतीयमधोमुखमित्येवं व्यवस्थितशरावत्रयसदृशाकारः सकलोऽपि लोको भवतीति । स च पञ्चास्तिकायमयो-धर्मा ऽधर्मा-ऽऽकाश जीव-पुद्गललक्षणैः पञ्चभिरस्तिकायैर्व्याप्तः ॥९०५॥

अथ चतुर्दशरज्ज्वात्मकमपि लोकमसत्कल्पनया खण्डकप्रविभागेन दिदर्शयिषुः खण्डकनिष्पादनाय तावदाह-'तिरिय'मित्यादि, तिर्यक्-तिरश्चीनाः सप्तपञ्चाशत्सङ्ख्या रेखाः पट्टिकादौ स्थाप्यन्ते । ऊर्ध्वम्-उपर्यधोभावेन पुनः पञ्चैव रेखाः स्थाप्या भवन्ति । तथा 'पाएसु चउसु' त्ति सप्तम्यास्तृतीयार्थत्वाच्चतुर्भिः पादैः-खण्डकैरेका रज्जूर्भवति । इह चतुर्भिः खण्डकैरेका रज्जूः परिकल्पिता ततो रज्जूचतुर्थभागत्वात् खण्डकं पाद इत्यभिहितम्. चतुर्दशरज्जूश्च-ऊर्ध्वाधोभावेन चतुर्दशरज्जूप्रमाणा त्रसनाडी ।

इयमत्र भावना-तिर्यग्व्यवस्थापितसप्तपञ्चाशद्रेखाभिरूर्ध्वाधोभावेन षट्पञ्चाशत्खण्डकानि जायन्ते । चतुर्भिश्च खण्डकैरेका रज्जूरिति षट्पञ्चाशतश्चतुर्भिर्भागहारे ऊर्ध्वाधश्चतुर्दश रज्जवो लभ्यन्ते इति । ॥१४८॥

---

1 रुचकसमाभू० मु. ॥

तिर्यक्त्रसनाडीमध्ये सर्वत्र एकैव रज्जूरुपर्यधोभावविनिवेशितरेखापञ्चकेन खण्डकचतुष्कस्यैव निष्पन्नत्वात् । एवं तावत् त्रसनाडीमध्ये ऊर्ध्वाधोभावेन खण्डकान्युक्तानि ॥९०६॥

अथ सकलस्यापि लोकस्य तिर्यग्वर्तीनि खण्डकान्यभिधातुकामः प्रथमं तावदूर्ध्वलोके रुचकादारभ्य लोकान्तं यावत्तिर्यक्खण्डान्याह—'**तिरिय**'मित्यादि, रुचकसमाद् भूभागादूर्ध्वं द्वयोः पङ्क्त्योरेकोनत्रिंशत्तमरेखोपरिवर्तिन्योस्तिर्यक्-तिरश्चीनानि चत्वारि चत्वारि खण्डकानि त्रसनाडीमध्यगतान्येव भवन्ति, त्रसनाड्या बहिस्तत्र खण्डकानामभावात् । तत उपरितन्योर्द्वयोः पङ्क्त्योः षट् खण्डकानि । तत्र चत्वारि त्रसनाडीमध्यवर्तीन्येव एकैकं तु त्रसनाड्या बहिः प्रत्येकमुभयपार्श्वयोरिति । तत एकैकस्यां पङ्क्तौ क्रमेणाष्टौ दश च खण्डकानि । तथाहि—एकस्यां पङ्क्तौ नाडीमध्ये चत्वारि बहिश्चैकपार्श्वे द्वयं द्वितीयपार्श्वेऽपि द्वयमित्यष्टौ । अपरस्यां च पङ्क्तौ चत्वारि मध्ये बहिश्च उभयतः प्रत्येकं त्रितयं त्रितयमिति दश । ततोऽपि द्वयोः पङ्क्त्योः प्रत्येकं द्वादश द्वादश खण्डकानि, चत्वारि मध्ये बहिश्चत्वारि चत्वारीति । तदनन्तरं द्वयोः पङ्क्त्योः प्रत्येकं षोडश षोडश खण्डकानि, चत्वारि मध्ये पार्श्वयोश्च षट् षडिति । तत उपरितनीषु चतसृषु पङ्क्तिषु प्रत्येकं विंशतिः खण्डकानि, चत्वारि मध्ये बहिश्चैकपार्श्वेऽष्टावपरपार्श्वेऽप्यष्टाविति । तदेवमूर्ध्वलोके चतुर्दशसु पङ्क्तिषु यथासम्भवं खण्डकानां वृद्धिरुक्ता ॥९०७॥

अथ चतुर्दशस्वेव पङ्क्तिषु हानिमाह—(ग्रन्था. १००००) '**पुणरवो**' त्यादि, पुनरप्युपरितनपङ्क्तिद्वये षोडश खण्डकानि । भावना च सर्वत्र प्राग्वदवसेया । [1]तत ऊर्ध्वं द्वयोः पङ्क्तयोर्द्वादश

१ ततोऽपि पङ्क्तिद्वये द्वादश-जे. ॥

द्वादश खण्डकानि । ततोऽपि तिसृषु पङ्क्तिषु दश दश खण्डकानि । ततोऽपि तिसृषु पङ्क्तिषु अष्टावष्टौ खण्डकानि । तदनु द्वयोः पङ्क्त्योः षट् षट् खण्डकानि । ततोऽपि सर्वोपरिवर्तिन्योर्द्वयोः पङ्क्त्योर्नाडीमध्यगतान्येव चत्वारि चत्वारि खण्डकानि भवन्तीति । इत्थं तावन्निजगुरुप्रदर्शितस्थापनानुसारतो रुचकादारभ्य लोकान्तं यावत् 'तिरियं चउरो दोसु' इत्यादिगाथाद्वयं व्याख्यातम् । अपरे तु वैपरीत्येन पट्टे पु स्थापनां पश्यन्त एतद्गाथाद्वयं लोकान्तादारभ्य लोकमध्यं यावद्व्याख्यानयन्तीति ॥९०८॥

अथाधोलोके सप्तस्वपि पृथिवीषु ऊर्ध्वाधोभावेन खण्डकान्याह—'ओयरिये' त्यादि, अवतीर्य लोकान्ताल्लोकमध्यं समागत्य ततो लोकमध्याद्-रुचकलक्षणादारभ्य सर्वत्र-सर्वासु पृथिवीषु त्रसनाडीमध्ये ऊर्ध्वाधोभावेन चत्वारि चत्वारि खण्डकानि ज्ञातव्यानि । त्रसनाड्यास्तु बहिर्द्वितीयाद्यासु पृथिवीषु यथाक्रमं खण्डकानां त्रिकं त्रिकं द्विकं द्विकमेकैकं च खण्डकं तावद् विज्ञेयं यावत् सप्तमी पृथ्वी ।

इयमत्र भावना—रत्नप्रभायां तावत् त्रसनाड्याः बहिः खण्डकानामभाव एव । ततः शर्कराप्रभाया उपरितनतलादारभ्य दक्षिण-वामभागयोः प्रतिपङ्क्ति तिरश्चीनानि त्रीणि त्रीणि खण्डकानि तावदूर्ध्वाधोभावेन ज्ञेयानि यावत्सप्तमपृथिव्या अधस्तनो भागः । ततो वालुकाप्रभाया उपरितलादारभ्य उभयपार्श्वयोः खण्डकत्रयात्पुरतः पुनरपि त्रीणि त्रीणि खण्डकानि तावदवसेयानि यावत्सप्तमी पृथिवी । ततः पङ्किप्रभाया उपरितलादारभ्य द्वयोः पार्श्वयोः पूर्वोक्तखण्डकेभ्यः परतो द्वे द्वे खण्डके तावदवगन्तव्ये यावत्सप्तमी पृथिवी । ततः पुनरपि धूमप्रभाया आरभ्य पार्श्वद्वयेऽपि द्वे द्वे खण्डके तावद्भवतो यावत्सप्तमी पृथिवी ।
ततो भूयोऽपि तमःप्रभाया आरभ्य पार्श्वद्वयोस्तावदेकैकं खण्डकं स्थापनीयं यावत् सप्तमी पृथिवी । ततः

सप्तम्यामपि पृथिव्यां पूर्वोक्तखण्डकेभ्यः परत उभयपार्श्वयोरेकैकं खण्डकं प्रतिपङ्क्ति तावद्भवति यावत्सर्वाधस्तनी पङ्क्तिररिति । तदेवमधोलोके ऊर्ध्वाधोभावेन खण्डकान्युक्तानि ॥१०९॥

अथ तमस्तमःप्रभाया आरभ्य रत्नप्रभां यावत्प्रतिपृथिवि तिर्यक्खण्डकप्रमाणमाह—'[1]अडवीसा' गाहा, सप्तम्यां—तमस्तमःप्रभायां नरकपृथिव्यामष्टाविंशतिः खण्डकानि तिर्यग्भवन्ति । तत्र त्रसनाड्या बहिरेकपार्श्वे द्वादश द्वितीयपार्श्वेऽपि द्वादश त्रसनाडीमध्ये च चत्वारीति । तमःप्रभायां षड्विंशतिः खण्डकानि, चत्वारि मध्ये बहिर्भागयोश्चैकादशैकादशेति । धूमप्रभायां चतुर्विंशतिः, चत्वारि मध्ये उभयपार्श्वयोश्च दश दशेति । पङ्कप्रभायां विंशतिः, मध्ये चत्वारि बहिर्भागयोश्चाष्टाष्टाविति । वालुकाप्रभायां षोडश, मध्ये चत्वारि उभयपार्श्वयोश्च षट् षडिति । शर्कराप्रभायां तिर्यग्दश खण्डकानि, चत्वारि मध्ये दक्षिण-वामभागयोश्च त्रीणि त्रीणीति । रत्नप्रभायां च त्रसनाडीमध्यगतान्येव चत्वारि तिर्यक्खण्डकानीत्येवं सप्तस्वपि तमस्तमःप्रभाद्यासु पृथिवीषु तिर्यक्तिरश्चीनखण्डकानां—कल्पितचतुरस्राकारनभोभागरूपाणां परिमाणं—सङ्ख्यानं समवसेयमिति ॥११०॥

अथ सकलस्यापि लोकस्य खण्डकसर्वसङ्ख्यामाह—'पञ्चे' त्यादि, पञ्च शतानि द्वादशोत्तराणि—द्वादशाधिकानि खण्डकानां 'हेट्ठ'त्ति अधोलोके भवन्ति । तथाहि—'अडवीसा' इत्यादिगाथोक्तान् अष्टाविंशत्याद्यङ्कान् मीलयित्वा प्रतिपृथिवि अष्टाविंशति-षड्विंशत्यादिखण्डकसङ्ख्योपेतपङ्क्तिचतुष्टयसद्भावाच्चतुर्भिर्गुणयेत्, ततो जायन्ते पञ्च शतानि द्वादशोत्तराणीति । 'अह उड्ढ' ति, अथ—अधोलोकादनन्तरमूर्ध्वम्—ऊर्ध्वलोके त्रीणि शतानि चतुर्भिरभ्यधिकानि खण्डकानां भवन्ति । 'तिरियं चउरो दोसु'

१ 'अट्ठावीसे' त्यादि—मु. ॥

इत्यादिगाथाद्वितयोदितखण्डकमीलने यथोक्तसङ्ख्यासद्भावात् । सर्वाणि चाधोलोकोर्ध्वलोकसम्बन्धीनि खण्डकानि मिलितानि अष्टौ शतानि षोडशाधिकानि भवन्तीति ॥९११॥

अथ सर्वस्मिन्नपि लोके यावत्यो यावत्यो रज्जवो भवन्ति तावतीर्दर्शयितुमाह—'बत्तीसं' इत्यादि, रुचकस्य—पूर्वोक्तस्वरूपस्याधस्तादधोलोके इत्यर्थः द्वात्रिंशद्रज्जवो भवन्ति ज्ञातव्याः, इह किल त्रिधा रज्जूः—सूचीरज्जूः प्रतररज्जूर्घनरज्जूश्च । तत्रायामतः खण्डकचतुष्टयप्रमाणा बाहल्यतः पुनरेकखण्डप्रमिता खण्डकश्रेणिः सूच्याकारव्यवस्थापितखण्डकचतुष्टयनिष्पन्नत्वात्सूचीरज्जूः, स्थापना •••• तथा एषैव प्राक्प्रदर्शिता खण्डकचतुष्कात्मिका सूचिस्तयैव गुण्यते, अतः प्रत्येकं खण्डकचतुष्टयनिष्पन्नसूचीचतुष्टयात्मिका उपरितनाधस्तनखण्डकरहिता षोडशखण्डकसङ्ख्या प्रतररज्जूः सम्पद्यते, स्थापना :::: तथा प्रतर एव सूच्या गुणितो दैर्घ्येण विष्कम्भतः पिण्डतश्च समसङ्ख्यखण्डकोपेता सर्वतश्चतुरस्रा घनरज्जूः । दैर्घ्यादिषु त्रिष्वपि स्थानेषु समतालक्षणस्यैव घनस्येह रूढत्वात् । प्रतररज्जूश्च दीर्घ-विष्कम्भाभ्यामेव समानपिण्डस्तस्यैकखण्डकमात्रत्वादिति भावः । एषा च घनरज्जूश्चतुःषष्टिखण्डकात्मिका, पूर्वोक्तसूच्याऽनन्तरोदितषोडशखण्डकप्रमिते प्रतरे गुणिते एतावतामेव खण्डकानां भावात् । स्थापना च—प्रागुक्तषोडशखण्डकात्मकप्रतरस्योपरि त्रीन् वारान् षोडश षोडश खण्डकानि दत्त्वा भावनीया । तथा च दैर्घ्य-विष्कम्भ-पिण्डैस्तुल्योऽयमापद्यत इति । उक्तं च—

"सूई रज्जू चउहिं उ खंडगेहिं सोलसहिं पयररज्जू य । चउसट्ठिखंडगेहिं घणरज्जू होइ विन्नेया ॥१॥"

ततो द्वादशोत्तरपञ्चशतरूपस्याधोलोकखण्डकराशेः प्रतररज्ज्वानयनाय षोडशभिर्भागे हृते द्वात्रिंशत्प्रतररज्जवो भवन्ति । तथा उपरि–ऊर्द्ध्वलोके एकोनविंशतिः प्रतररज्जवः, चतुरुत्तरशतत्रयस्य षोडशभिर्भागहारे एकोनविंशतेरेव लभ्यमानत्वात् । तथा सर्वपिण्डेन–अधोलोकोर्द्ध्वलोकसम्बन्धिसर्वरज्जूमीलनेन एकपञ्चाशत्प्रतररज्जवो भवन्तीति ॥११२॥

साम्प्रतं घनरज्जूसङ्ख्यां प्रतिपिपादयिषुः प्रथमं तावल्लोकघनीकरणमाह––'दाहिण' गाहा, 'हेट्ठाओ' गाहा, ऊर्ध्वलोके त्रसनाड्या दक्षिणपार्श्ववर्तिनी ये द्वे खण्डे–ब्रह्मलोकमध्यादधस्तनमुपरितनं च खण्डं ते परिगृह्य विपरीते च विधाय–अधस्तनभागमुपरितनम् उपरितनं चाधः कृत्वेत्यर्थः, वामपार्श्वे सन्दध्यात्–संयोजयेत् । ततस्ते द्वे खण्डे रज्जूविस्तृतया त्रसनाड्या युते सर्वत्र त्रिस्तरतस्तिस्रो रज्जवो जाताः, ऊर्ध्वाधश्चोच्छ्रयेण सप्त रज्जवः इत्यूर्ध्वलोकसंवर्त्तनम् , 'हेट्ठाउ' त्ति अधस्तात्–अधोलोके पुनस्त्रसनाडीतो वामभागवर्ति खण्डं बुद्ध्या गृहीत्वा दक्षिणपार्श्वे विपरीतं कृत्वा स्थापयेत् । तत उपरितनसंवर्तितोर्ध्वलोकरूपं खण्डं त्रिरज्जूविस्तीर्णं संवर्तिताधोलोकखण्डस्य वामे स्थाने–वामपार्श्वे सङ्घातयेत् ।

इयमत्र भावना–इह स्वरूपतस्तावल्लोक उर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्जूप्रमाणः अधस्ताद्विस्तरतो देशोनसप्तरज्जूप्रमाणः, तिर्यग्लोकमध्यभागे एकरज्जूः, ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जूः उपरि च लोकान्ते एकरज्जूः, शेपस्थानेषु पुनरनियतविस्तरः । एवंप्रमाणस्य लोकस्य वैशाखस्थानस्थकटिस्थकरयुग्मपुरुषाकारस्य घनीकरणाय प्रथममुपरितनलोकार्धं संवर्त्यते । तथाहि–सर्वत्रैकरज्जूविस्तीर्णायास्त्रसनाड्या दक्षिणभागवर्तिनी ब्रह्मलोकमध्यादधस्तनमुपरितनं च ये द्वे खण्डे कूर्पराकारसंस्थिते ब्रह्मलोकमध्ये प्रत्येकं द्विरज्जूविस्तीर्णे देशोनार्धचतुष्टय-

रज्जूच्छ्रये ते बुद्धिकल्पनया समादाय त्रसनाड्या एवोत्तरपार्श्वे वैपरीत्येन सङ्घात्येते, एवं चोपरितनं लोकार्धं त्रिरज्जूविस्तारं देशोनसप्तरज्जूच्छ्रयम्, बाहल्यतस्तु ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जूप्रमाणमन्यत्र त्वनियतबाहल्यं जायते। ततोऽधोलोके च त्रसनाड्या दक्षिणभागवर्त्यधोलोकखण्डमधोभागे देशोनत्रिरज्जूविस्तारं क्रमेण हीयमानविस्तरं तावद्यावदुपरिष्टाद्रज्ज्वसङ्ख्येयभागविष्कम्भं समधिकसप्तरज्जूच्छ्रयं बुद्ध्या परिगृह्य त्रसनाड्या एवोत्तरपार्श्वे ऊर्ध्वाधोभागविपर्यासेन संयोजयेत् । एवं च कृतेऽधस्तनं लोकार्धं देशोनचतूरज्जूविस्तारं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रयं बाहल्यतोऽप्यधः क्वचित्किञ्चिदूनसप्तरज्जूमानम्, अन्यत्र त्वनियतबाहल्यं जयाते । तत उपरितनमर्धं बुद्ध्या गृहीत्वाऽधस्तनस्यार्धस्योत्तरपार्श्वे सङ्घात्यते । तथा च सति क्वचित्सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रयः, क्वचिच्च देशोनसप्तरज्जूच्छ्रयः, विस्तरतस्तु देशोनसप्तरज्जूप्रमाणो घनो जातः । ततः सप्तरज्जूनामुपरि यदधिकं तत्परिगृह्य उत्तरपार्श्वे उर्ध्वाध आयतं सङ्घात्यते । ततो विस्तरतोऽपि परिपूर्णाः सप्तरज्जवो भवन्ति । तथा सङ्घातितोपरितनखण्डस्य बाहल्यं क्वचित्पञ्च रज्जवः, अधस्तनखण्डस्य तु बाहल्यं अधस्ताद्यथासम्भवं देशोनाः सप्त रज्जवः । तत उपरितनखण्डबाहल्याद्देशोनरज्जूद्वयमत्रातिरिच्यते इत्यस्मादतिरिच्यमानबाहल्यादर्धं गृहीत्वा उपरितनखण्डबाहल्ये संयोज्यते । एवं च कृते बाहल्यतस्तावत् कियत्यपि प्रदेशे किञ्चिदूनाः षट् रज्जवो भवन्ति । व्यवहारतस्तु सर्वमप्येतच्चतुरस्रीकृतनभःखण्डं सप्तरज्जूप्रमाणमुच्यते । व्यवहारनयो हि किञ्चिन्न्यूनसप्तहस्तादिप्रमाणमपि पटादिवस्तु परिपूर्णसप्तहस्तादिमानं व्यपदिशति । देशतोऽपि च दृष्टं बाहल्यादिधर्मं परिपूर्णेऽपि वस्तुनि व्यवस्यति स्थूलदृष्टित्वादिति भावः । अत एव तन्मतेनैवात्र सप्तरज्जूबाहल्यता सर्वगताऽवगन्तव्या । आयाम-विष्कम्भाभ्या-

मपि यत्र देशोनसप्तरज्जूप्रमाणमिदं व्यवहारतस्तत्रापि प्रत्येकं सप्तरज्जूप्रमाणता द्रष्टव्या । तदेवं व्यवहारनयमतेनायाम-विष्कम्भ-बाहल्यैः प्रत्येकं सप्तरज्जूप्रमाणो घनो जायते । एतच्च पट्टिकादौ लिखित्वा भावनीयमिति ॥९१३-९१४॥

इदानीं घनीकृतस्य लोकस्य रज्जूसङ्ख्यां प्रतिपादयितुमाह—'तिण्णि' इत्यादि, सर्वस्मिन्नपि चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके घनीकृते त्रिचत्वारिंशदुत्तराणि त्रीणि शतानि रज्जूनां भवन्ति । अथ घनीकरणे कीदृक्संस्थानो लोकः सम्पद्यते ?, तत्राह—'चउरंसं होइ जयं' चतुरस्रं—सर्वतः समचतुरस्रं जगत्—लोको भवति । संवर्तितं सदिति शेषः । इयं च त्रिचत्वारिंशदुत्तरशतत्रयलक्षणा रज्जूसङ्ख्या सप्तानां घनेन 'समत्रिराशिहतिर्घन' इतिवचनादन्योऽन्यं त्रिस्ताडनेन जायते । एतदुक्तं भवति—संवर्तितस्य लोकस्यायामविष्कम्भबाहल्यानां प्रत्येकं सप्तरज्जूमानत्वात् सप्त सप्तकेन गुण्यन्ते जाता एकोनपञ्चाशत्, साऽपि पुनः सप्तकेन गुण्यते जातानि त्रीणि शतानि त्रिचत्वारिंशानीति ।

एतच्च व्यवहारमाश्रित्योक्तम्, निश्चयतस्तु एकोनचत्वारिंशदधिकशतद्वयसङ्ख्यानामेव घनरज्जूनां सम्भवात् । तथाहि—षट्पञ्चाशत्सङ्ख्यास्वपि पङ्क्तिषु 'तिरीयं चउरो दोसु' इत्यादिगाथाकथितानि चतुरादीनि प्रतरखण्डकानि एकैकपङ्क्तिगतानि पृथक्पृथग्वर्ग्यन्ते । 'सदृशद्विराशिघातो वर्ग' इतिवचनात् चतुष्कादयोऽङ्काश्चतुष्कादिभिरेव गुण्यन्ते इत्यर्थः । जाताः षोडशादयोऽङ्काः । तेषां च सर्वमीलने पञ्चदश सहस्राः षण्णवत्यधिके च द्वे शते खण्डकानां भवन्ति । अस्य च राशेर्घनरज्जूसमानयनाय चतुःषष्ट्या भागो ह्रियते । ततो जायन्ते[1] एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशतसङ्ख्या एव घनरज्जव इति । उक्तं च—

१ ०ते-मु. ॥

'अह उवरिं छप्पन्ना पयरपच्चक्खदिट्ठखंडाणं । वग्गं कुणह पिहु पिहु संजोगे तिजयगणियपयं ॥१॥
सहसेगारस दुसया बत्तीसहिया अहंमि खंडाणं । समदीह पिहुव्वेहाण रज्जुचउरंससमाणेण ॥२॥
चत्तारि सहस्साइं चउसट्ठिजुआइं उड्ढलोगम्मि । पनरससहस्स दुसयं छण्णउयं जायमुभएसिं ॥३॥
चउसट्ठीए विहत्तं उणयाला दो सया हविज्जेवं । लोए घणरज्जूणं तिरियं चउरोति गाहत्थो ॥४॥' ॥९१५॥

अथोर्ध्वलोके यावत्सु खण्डकेषु यावन्तो देवलोका भवन्तीत्येतदाह—'छस्सु' इत्यादि, [1]रुचकसमाद् भूभागादुपरिमुखेषु षट्सु खण्डकेषु, सार्धरज्जूप्रमाणे क्षेत्रे इत्यर्थः । द्विकं—सौधर्मेशानलक्षणं देवलोकद्वयं भवति । ततोऽप्युपरितनेषु चतुर्षु खण्डकेषु—रज्जूमाने क्षेत्रे सनत्कुमार-माहेन्द्ररूपं देवलोकद्विकं भवति । ततोऽप्युपरि दशसु खण्डकेषु—अर्धतृतीयरज्जूप्रमिते क्षेत्रे भवन्ति ब्रह्मलोक-लान्तक-शुक्र-सहस्रारस्वरूपाश्चत्वारो देवलोकाः । तदनु चतुर्षु खण्डकेषु—रज्जूपरिच्छिन्ने क्षेत्रे आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतनामकानां देवलोकानां चतुष्कं भवति । ततः सर्वोपरिवर्तिनि खण्डकचतुष्टये—अन्तिमरज्जौ नवग्रैवेयक-विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजित-सर्वार्थसिद्धाख्यानि पञ्चानुत्तरविमानानि सिद्धिक्षेत्रं च भवन्तीति ॥९१६॥

सम्प्रति रज्जूस्वरूपमाह—सयंभु' इत्यादि, सकलद्वीपपयोधिपर्यन्तवर्तिनः स्वयम्भूरमणाभिधानजलनिधेः [2]परतटवर्त्ती 'पुरिम' त्ति पूर्ववेदिकान्तादारभ्य यावत्तस्यैव तोयधेरपरवेदिकान्तः एतावत्प्रमाणा रज्जूरवगन्तव्या । अनेन च रज्जूमानेनोच्छ्रयतो लोकश्चतुर्दशरज्जूप्रमाणो भवतीति ॥९१७॥१४३॥

१ अस्मिन विषये विविध-मतान्तराय लोकप्रकाशसर्ग-१२ श्लोक११ तः द्रष्टव्यः । २ परतटवर्ती-मु. नास्ति ॥

इदानीं 'सन्नाओ तिन्नि' त्ति चतुश्चत्वारिंशं शततमं द्वारमाह–

सन्नाउ तिन्नि पढमेऽत्थ दीहकालोवएसिया नाम ।
तह हेउवायदिट्ठीवाउवएसा तदियराओ ॥९१८॥
एयं करेमि एयं कयं मए इममहं करिस्सामि ।
सो दीहकालसन्नी जो इय तिक्कालसन्नधरो ॥९१९॥
जे उण संचिंतेउं इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थूसुं ।
[1]वत्तंति नियत्तंति य सदेहपरिपालणाहेउं ॥९२०॥
पाएण संपइच्चिय कालंमि न यावि दीहकालंमि ।
ते हेउवायसन्नी निच्चेट्ठा हुंति हु असन्नी ॥९२१॥
सम्मदिट्ठी सन्नी [2]संते नाणे खओवसमिए य ।
अस्सन्नी मिच्छत्तंमि दिट्ठिवाओवएसेणं ॥९२२॥

'सन्नाउ तिन्नि' गाहा, संज्ञानं संज्ञा ज्ञानमित्यर्थः । सा त्रिभेदा 'पढमेत्थ' त्ति प्रथमा–आद्या, अत्र–एतासु तिसृषु संज्ञासु मध्ये दीर्घकालोपदेशिकी नाम, दीर्घकालमतीतानागतवस्तुविषयत्वेनोपदेशः–कथनं यस्याः सा दीर्घकालोपदेशी,[3] सैव दीर्घकालोपदेशिका । तथा तदितरे–[4]द्वितीया तृतीये हेतुवाद-दृष्टिवादोपदेशे । उपदेशशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् हेतुवादोपदेशा द्वितीया सञ्ज्ञा, दृष्टिवादो-

१ वट्टंति-ता॰ ॥ २ सम्मे–ता.सं. ॥ ३ ०शा–खं. सि. ॥ ४ द्वितीय–तृतीये मु० । द्वितीये० सं. ॥

पदेशा च तृतीयेत्यर्थः । तत्र हेतुः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरं तस्य वदनं—वादस्तद्विषय [1]उपदेशः—प्ररूपणं यस्यां सा हेतुवादोपदेशा । तथा दृष्टिः—दर्शनं सम्यक्त्वं तस्य वदनं—वादो दृष्टीनां वादो दृष्टिवादः तद्विषय उपदेशः—प्ररूपणं यस्यां सा दृष्टिवादोपदेशेति ॥९१८॥

अथ दीर्घकालोपदेशसंज्ञायाः स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुस्तया संज्ञिनमेवाह—'एयं' इत्यादि, एतत्करोम्यहम्, एतत्कृतं मया, एतत्करिष्याम्यहम्, इत्येवं यत्त्रिकालविषयां वर्तमानातीतानागतकालत्रयवर्तिवस्तुविषयां संज्ञां—मनोविज्ञानं धारयति स दीर्घकालसंज्ञी । दीर्घकाला—दीर्घकालोपदेशा संज्ञाऽस्यास्तीतिकृत्वा । स च गर्भजस्तिर्यङ् मनुष्यो वा, देवो नारकश्च मनःपर्याप्तियुक्तो विज्ञेयः, तस्यैव त्रिकालविषयविमर्शादिसम्भवात् । एष च प्रायः सर्वमप्यर्थं स्फुटरूपमुपलभते । तथाहि—यथा चक्षुष्मान् प्रदीपादिप्रकाशेन स्फुटमर्थमुपलभते तथैषोऽपि मनोलब्धिसम्पन्नो मनोद्रव्यावष्टम्भसमुत्थविमर्शवशतः पूर्वापरानुसन्धानेन यथावस्थितं स्फुटमर्थमुपलभते । यस्य पुनर्नास्ति तथाविधस्त्रिकालविषयो विमर्शः सोऽसंज्ञीति सामर्थ्याल्लभ्यते । स च सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियविकलेन्द्रियादिर्विज्ञेयः । स हि स्वल्पस्वल्पतरमनोलब्धिसम्पन्नत्वादस्फुटमस्फुटतरमर्थं जानाति । तथाहि—संज्ञिपञ्चेन्द्रियापेक्षया सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियोऽस्फुटमर्थं जानाति, ततोऽप्यस्फुटं चतुरिन्द्रियः, ततोऽप्यस्फुटतरं त्रीन्द्रियः, ततोऽप्यस्फुटतमं द्वीन्द्रियः, ततोऽप्यत्यस्फुटतममेकेन्द्रियः, तस्य प्रायो मनोद्रव्यासम्भवात् । केवलमव्यक्तमेव किञ्चिदतीवाल्पतरं मनो द्रष्टव्यं यद्वशादाहारादिसंज्ञा अव्यक्तरूपाः प्रादुष्ष्यन्तीति १ ॥९१९॥

१ उपदेशः प्ररूपणा—मु । उपदेश प्ररूपणं—सि. ॥

साम्प्रतं हेतुवादोपदेशसंज्ञया संज्ञिनमसंज्ञिनं चाह–[1]'जे उण' गाहा, 'पाएण' गाहा, ये पुनः सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्येष्टानिष्टेषु–छाया-ऽऽतपा-ऽऽहारादिषु विषयवस्तुषु मध्ये स्वदेहपरिपालनाहेतोरिष्टेषु वर्तन्ते, अनिष्टेभ्यस्तु तेभ्य एव निवर्तन्ते. प्रायेण च साम्प्रतकाल एव, न चापि–नैव दीर्घकाले–अतीता-ऽनागतलक्षणे, प्रायोग्रहणात् केचिदतीता-ऽनागतकालावलम्बिनोऽपि नातिदीर्घकालानुसारिणः ते द्वीन्द्रिया-दयो हेतुवादोपदेशसंज्ञया संज्ञिनो विज्ञेयाः। अत्र च निश्चेष्टाः–घर्माद्यभितापेऽपि तन्निराकरणाय प्रवृत्ति-निवृत्तिविरहिताः पृथिव्यादय एवासंज्ञिनो भवन्ति।

इदमुक्तं भवति–यो बुद्धिपूर्वकं स्वदेहपरिपालनार्थमिष्टेष्वाहारादिषु वस्तुषु प्रवर्तते, अनिष्टेभ्यश्च निवर्तते स हेतूपदेशसंज्ञी। स च द्वीन्द्रियादिरपि वेदितव्यः। तथाहि–इष्टानिष्टविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिसञ्चि-न्तनं न मनोव्यापारमन्तरेण सम्भवति। मनसा च पर्यालोचनं संज्ञा। सा च द्वीन्द्रियादेरपि विद्यते। तस्यापि प्रतिनियतेष्टानिष्टविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात्। ततो द्वीन्द्रियादिरपि हेतूपदेशसंज्ञया संज्ञी लभ्यते। नवरमस्य सञ्चिन्तनं प्रायो वर्तमानकालविषयम्, न भूत-भविष्यद्विषयमिति, नायं दीर्घकालोपदेशेन संज्ञी। यस्य पुनर्नास्त्यभिसन्धारणपूर्विका प्रवृत्तिनिवृत्तिशक्तिः स प्राणी हेतुवादोपदेशेनाप्यसंज्ञी लभ्यते, स च पृथिव्यादिरेकेन्द्रियो वेदितव्यः। तस्याभिसन्धिपूर्वकमिष्टानिष्टप्रवृत्तिनिवृत्त्यसम्भवात्। या अपि च आहारादिका दश संज्ञाः पृथिव्यादीनामप्यत्र वक्ष्यन्ते [2]**प्रज्ञापना**यामपि च प्रतिपादितास्ता अप्यत्यन्त-

१ जेउणेत्यादिगाथाद्वयं–खं. ॥ २ द्रष्टव्यं प्रज्ञापनासू. पद ८/ सू.७२५॥

मव्यक्तरूपा मोहोदयजन्यत्वादशोभनाश्चेति न तदपेक्षयाऽपि तेषां संज्ञित्वव्यपदेशः । न हि लोकेऽपि कार्षापणमात्रास्तित्वेन धनवानुच्यते, न चाविशिष्टेन मूर्तिमात्रेण रूपवानिति । अन्यत्रापि हेतुवादोपदेशसंज्ञित्वमाश्रित्योक्तम्—"कृमिकीटपतङ्गाद्याः समनस्काजङ्गमाश्चतुर्भेदाः ।

अमनस्काः पञ्चविधाः पृथिवीकायादयो जीवाः ॥१॥" २ ॥१२०॥१२१॥

अथ दृष्टिवादोपदेशसंज्ञया संज्ञिनमसंज्ञिनं चाह—'सम्मे' त्यादि, दृष्टिवादोपदेशेन [1]क्षायोपशमिकज्ञाने वर्तमानः सम्यग्दृष्टिरेव [2]संज्ञी । संज्ञानं संज्ञा-सम्यग्ज्ञानं तद्युक्तत्वात् । मिथ्यादृष्टिः पुनरसंज्ञी विपर्ययत्वेन वस्तुतः सम्यग्ज्ञानरुप संज्ञारहितत्वात् । यद्यपि च मिथ्यादृष्टिरपि सम्यग्दृष्टिरिव घटादिकं जानीते व्यवहरति च तथापि तस्य सम्बन्धि व्यवहारमात्रेण ज्ञानमपि निश्चयतोऽज्ञानमेवोच्यते । स्याद्वादाश्रयणेन ज्ञाननिबन्धनस्य भुवनगुरुनिर्णीतयथावस्थितवस्त्वभ्युपगमस्य कदाचिदप्यभावात् । आह—यदि विशिष्टसंज्ञायुक्तत्वात् सम्यग्दृष्टिः संज्ञीष्यते तर्हि किमिति क्षायोपशमिकज्ञानयुक्तोऽसौ गृह्यते ?, क्षायिकज्ञाने हि विशिष्टतरा सा प्राप्यते, ततस्तद्वृत्तिरप्यसौ किं नाङ्गीक्रियते ?, उच्यते, यतोऽतीतस्यार्थस्य स्मरणमनागतस्य च चिन्ता संज्ञाऽभिधीयते सा च केवलिनां[3] नास्ति, सर्वदा सर्वार्थावभासकत्वेन केवलिनां स्मरणचिन्ताद्यतीतत्वात् इति क्षायोपशमिकज्ञान्येव सम्यग्दृष्टिः संज्ञीति । ननु प्रथमं हेतुवादोपदेशेन संज्ञी वक्तुं युज्यते, हेतुवादोपदेशेनाल्पमनोलब्धिसम्पन्नस्यापि द्वीन्द्रियादेः संज्ञित्वेनाभ्युपगमात् तस्य चाविशुद्धतरत्वात् । ततो दीर्घकालोपदेशेन, हेतूपदेशसंज्ञ्यपेक्षया दीर्घकालोपदेशसंज्ञिनो मनःपर्याप्तियुक्ततया विशुद्धत्वात्, तत्किमर्थमुत्क्रमो-

१ क्षायोपशमिके–मु. ॥ २ संज्ञी–खं सं. नास्ति ॥ ३ °नि–मु. ॥

पन्यासः १, उच्यते, इह सर्वत्र सूत्रे यत्र क्वचित्संज्ञी असंज्ञी वा परिगृह्यते तत्र सर्वत्रापि प्रायो दीर्घकालोपदेशेन गृह्यते, न हेतुवादोपदेशेन नापि दृष्टिवादोपदेशेन । तत एतत्संप्रत्ययार्थं प्रथमं दीर्घकालोपदेशेन संज्ञिनो ग्रहणम्, उक्तं च—

"सन्निति असन्निति य सव्वसुए कालिओवएसेणं । पायं संववहारो कीरइ तेणाइओ स कओ ॥१॥"

ततोऽनन्तरमप्रधानत्वात् हेतूपदेशेन संज्ञिनो ग्रहणम्, ततः सर्वप्रधानत्वादन्ते दृष्टिवादोपदेशेनेति ॥१२२॥१४४॥

१४५ द्वारे आहरादि ४ संज्ञा गाथा १२३ प्र. आ. २७३

इदानीं 'सन्नाओ चउरो' त्ति पञ्चचत्वारिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह—

आहार १ भय २ परिग्गह ३ मेहुण ४ रूवाओ हुंति चत्तारि ।
सत्ताणं सन्नाओ आसंसारं समग्गाणं ॥१२३॥

'आहार' गाहा, संज्ञानं संज्ञा—आभोगः, सा द्विधा—क्षायोपशमिकी औदयिकी च । तत्राद्या ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यमतिभेदरूपा, सा चानन्तरमेवोक्ता । द्वितीया पुनः सामान्येन चतुर्विधाऽऽहार-संज्ञादिलक्षणा, तत्र क्षुद्वेदनीयोदयाद् या कवलाद्याहारार्थं तथाविधपुद्गलोपादानक्रिया सा आहारसंज्ञा, तस्या [1]आभोगात्मिकत्वात्, सा पुनश्चतुर्भिः कारणैः समुत्पद्यते, यदुक्तं स्थानाङ्गे—

"चउहिं ठाणेहिं आहारसन्ना समुप्पज्जइ, तंजहा—[2]ओमकोट्ठयाए छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्सुदएणं मईए तदट्ठोवओगेणं" [सू.३५६] ति ।

१ आभोगात्मक० सं. ॥ २ ओमकु० मु. । स्थानाङ्गेऽपि ओमको० इति पाठः ॥

तत्र अवमकोष्ठतया–रिक्तोदरतया,● [1]क्षुद्वेदनीयस्य कर्मण उदयेन●,मत्या–आहारकथाश्रवणादिजनितबुद्ध्या, तदर्थोपयोगेन–सततमाहारचिन्तयेति १। तथा भयमोहनीयोदयाद्भयोद्भ्रान्तस्य दृष्टिवदनविकाररोमाञ्चोद्भेदादिक्रिया भयसंज्ञा । इयमपि चतुर्भिः स्थानैरुत्पद्यते, यदुक्तम्—

"हीणसत्तयाए भयवेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मईए तदट्ठोवओगेणं" [स्थानाङ्ग सू.३५६] ति।

तत्र हीनसत्त्वतया–सत्त्वाभावेन, ★ [2]भयवेदनीयस्य कर्मण उदयेन, ★मत्याभयवार्ताश्रवण-भीषणदर्शनादिजनितया बुद्ध्या, तदर्थोपयोगेन–[3]इहलोकादिभयलक्षणार्थपर्यालोचनेनेति २। तथा लोभोदयात्प्रधानसंसारकारणाभिष्वङ्गपूर्विका सचित्तेतरद्रव्योपादानक्रिया परिग्रहसंज्ञा । एषापि चतुर्भिः स्थानैरुत्पद्यते, यदुक्तम्—

"अविमुत्तयाए लोभवेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मईए तदट्ठोवओगेणं" ति। [स्थानाङ्गसू. ३५६] ति।

तत्र अविमुक्ततया–सपरिग्रहतया,△ [4]लोभवेदनीयकर्मण उदयेन△ मत्या–सचेतनादिपरिग्रहदर्शनादिजनितबुद्ध्या, तदर्थोपयोगेन–परिग्रहानुचिन्तनेनेति ३। तथा पुंवेदोदयान्मैथुनाय स्त्र्यालोकनप्रसन्नवदनसंस्तंभितोरुवेपथुप्रभृतिलक्षणा क्रिया मैथुनसंज्ञा । अमावपि चतुर्भिः स्थानैरुत्पद्यते। यदुक्तम्–'चियमंससोणियाए मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मईए तदट्ठोवओगेणं' [स्थानाङ्गसू. ३५६] ति। तत्र चिते–

१ ●● चिह्नद्वयमध्यवर्तिपाठः ख जे नास्ति सि॰ प्रतौ पार्श्वभागे वर्धितोऽस्ति । एवमग्रे त्रिष्वपि स्थलेषु ॥
२ ★★ चिह्नद्वयमध्यवर्तिपाठः-ख॰ नास्ति॥ ३ इहलोकादिसप्तभयः-मु ॥ ४ △△ चिह्नद्वयमध्यवर्तिपाठः जे.खं॰ नास्ति ॥

उपचिते मांस-शोणिते यस्य स तथा तद्भावस्तत्ता तया चितमांसशोणिततया, ● [1]मोहनीयस्य कर्मण उदयेन,● मत्या—सुरतकथाश्रवणादिजनितबुद्ध्या, तदर्थोपयोगेन—मैथुनलक्षणार्थचिन्तनेनेति ४ । एताश्चतस्रः संज्ञाः समग्राणामेकेन्द्रियादीनां पञ्चेन्द्रियपर्यवसानानां सत्त्वानां—जीवानामासंसारं—संसारवासं यावद्भवन्ति । तथा च केषाञ्चिदेकेन्द्रियाणामप्येताः स्पष्टमेवोपलभ्यन्ते । तथाहि—जलाद्याहारोपजीवनाद्वनस्पत्यादीनामाहारसंज्ञा, सङ्कोचनीवल्ल्यादीनां तु हस्तस्पर्शादिभीतया अवयवसङ्कोचनादिभ्यो भयसंज्ञा, बिल्व-पलाशादीनां तु निधानीकृतद्रविणोपरि पादमोचनादिभ्यः परिग्रहसंज्ञा, कुरुबका-ऽशोक-तिलकादीनां तु कमनीयकामिनीभुजलतावगूहन-पार्ष्णिप्रहार कटाक्षविक्षेपादिभ्यः [2]प्रसूनपल्लवादिप्रसवदर्शनान्मैथुनसंज्ञेति ॥१२३॥ १४५ ॥

इदानीं [3]'सन्नाओ दस' त्ति षट्चत्वारिंशदधिकशततमं द्वारमाह—

आहार १ भय २ परिग्गह ३ मेहुण ४ तह कोह ५ माण ६ माया ७ य ।
लोभो ८ ह ९ लोग १० सन्ना [4]दसभेया सव्वजीवाणं ॥१२४॥

'आहार' गाहा, संज्ञायतेऽनयाऽयं जीव इति संज्ञा—वेदनीयमोहोदयाश्रिता ज्ञानावरणदर्शनावरणक्षयोपशमाश्रिता च विचित्राहारादिप्राप्तिक्रिया । सा चोपाधिभेदाद्दशविधा । तत्राहार-भय-परिग्रह-मैथुनसंज्ञा अनन्तरमेव व्याख्याताः । तथा क्रोधवेदनीयोदयात्तदावेशगर्भा परुषमुखनयनदन्तच्छदस्फुरणादिचेष्टा क्रोधसंज्ञा, मानोदयादहङ्कारात्मिका उत्सेकादिपरिणतिर्मानसंज्ञा, मायावेदनीयेनाशुभसङ्क्लेशादनृतस-

१ ●● चिह्नद्वयमध्यवर्ति पाठ. जे. खं. नास्ति ॥ २ प्रसूनपल्लवादिप्रसवप्रदर्शन० ॥
३ तुलना भगवतीसू. ७ । ८ ।२९६॥ ४ दसऽवेया—मु. ॥

म्भाभाषणादिक्रिया मायासंज्ञा, लोभवेदनीयोदयतो लालसत्वेन सचित्तेतरद्रव्यप्रार्थना लोभसंज्ञा, तथा ● [1]मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमात् शब्दाद्यर्थगोचरा सामान्यावबोधक्रिया ओघसंज्ञा तद्विशेषावबोधक्रिया लोकसंज्ञा, एवं चेदमापतितं–दर्शनोपयोग ओघसंज्ञा ज्ञानोपयोगो लोकसंज्ञा एष [2]स्थानाङ्गटीकाभिप्रायः [3]**आचाराङ्गटीकायां** पुनरभिहितम्–ओघसंज्ञा तु अव्यक्तोपयोगरूपा वल्लीवितानारोहणादिसंज्ञा लोकसंज्ञा [4]स्वच्छंदघटितविकल्परुपा [5]लौकिकाचरिता । यथा–'न सन्त्यनपत्यस्य लोकाः, श्वानो यक्षाः, विप्रा देवाः, काकाः पितामहाः, बर्हिणां पक्षवातेन गर्भ इत्यादिका' इति ●। अपरे तु ज्ञानोपयोग ओघसंज्ञा, दर्शनोपयोगो लोकसंज्ञेत्येवमाहुः । एते दशापि अयं जीव इति संज्ञानहेतुत्वात् संज्ञाः सर्वेषां संसारिजीवानां ज्ञेयाः । सुखप्रतिपत्तये च स्पष्टरूपाः पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य व्याख्याताः, एकेन्द्रियादीनां त्वेता अव्यक्तरूपा अवगन्तव्या इति ॥१२४॥ १४६॥

इदानीं **'सन्नाओ पन्नरसे'** ति सप्तचत्वारिंशदधिकशततमं द्वारमाह—

आहार १ भय २ परिग्गह ३ मेहुण ४ सुह ५ दुक्ख ६ मोह ७ [6]वितिगिच्छा ८ ।
तह कोह ९ माण १० माया ११ लोहे १२ लोगे य १३ धम्मो १४ [7]हे १५ ॥१२५॥

[आचाराङ्गनि. ३९]

१ ●● चिह्नद्वयमध्यवर्तिपाठः लोकप्रकाशे [सर्ग ३ गा. ४५६ पश्चात्] उद्धृतोऽस्ति ॥ २ स्थानाङ्गवृत्तिः [प. ५०५] द्रष्टव्या ॥ ३ आचाराङ्गवृत्तिः [प. १२] द्रष्टव्या ॥ ४ तु स्व० मु. ॥ ५ लोकोपचरिता–इति लोकप्रकाशे पाठः ॥ ६ तहमिच्छा–ता. ॥ ७ घे-मु. ॥

'आहार०' गाहा, प्रक्रमायातस्य संज्ञाशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धादाहारसंज्ञादय ओघसंज्ञापर्यन्ताः पञ्चदश संज्ञा भवन्ति। तत्र दश पूर्वोक्तस्वरूपा एव। सुख-दुःखसंज्ञे–साता-ऽसातानुभवरूपे, मोहसंज्ञा–मिथ्यादर्शनरूपा, विचिकित्सासंज्ञा–चित्तविप्लुतिलक्षणा, धर्मसंज्ञा–क्षमाद्यासेवनस्वरूपा, एताश्च विशेषानुपादानाद्यथासम्भवं सर्वजीवानामवसेयाः। इह [1]च क्वचिद् ग्रन्थे चतुर्विधाः संज्ञाः उक्ताः, क्वचिद्दशविधाः, क्वचित् तु पञ्चदशविधाः, ततः कासाञ्चित्पुनर्भणनेऽपि न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम्, तथा [2]आचाराङ्गे विप्रलापवैमनस्यरूपां शोकसंज्ञां प्रक्षिप्य षोडश संज्ञाः प्रतिपादिता इति ॥१२५॥१४७॥

इदानीं 'सत्तसट्ठिलक्खणभेयविसुद्धं सम्मत्तं' ति अष्टचत्वारिंशदधिकशततमं द्वारमाह—

[3]चउसद्दहण ४ तिलिंगं ३ दसविणय १० तिसुद्धि ३ पंचगयदोसं ५ ।
अट्ठपभावण ८ भूसण ५ लक्खण ५ पंचविहसंजुत्तं ॥१२६॥
छव्विहजयणा ६ ऽऽगारं ६ छब्भावण ६ भावियं च छट्ठाणं ६ ।
[4]इय सत्तयसट्ठिलक्खणभेयविसुद्धं च सम्मत्तं ॥१२७॥
परमत्थसंथवो वा १ सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि २ ।
वावन्न ३ कुदंसणवज्जणा य ४ सम्मत्तसद्दहणा ॥१२८॥ [प्रज्ञापनासू. ११०, गा-१३१]
सुस्सूस १ धम्मराओ २ गुरुदेवाणं जहासमाहीए ।
वेयावच्चे नियमो ३ सम्मदिट्ठिस्स लिंगाइं ॥१२९॥

---

१ च- मु. नास्ति॥ २ आचाराङ्गवृत्तिः [प. १२] द्रष्टव्या॥ ३ तुलना–धर्म सं. वृत्तिः भा. १, प. ४३ तः॥
४ तह–ता. "इअ सत्तसट्ठी भेअविसुद्धं तु सम्मत्तं।" इति धर्म सं. वृत्तौ भा. १, प. ४३ ॥

अरहंत १ सिद्ध २ चेइय ३ सुए य ४ धम्मे य ५ साहुवग्गे य ६ ।
आयरिय ७ उवज्झाएसु ८ य पवयणे ९ दंसणे १० यावि ॥१३०॥
भत्ती पूया [1]वन्नज्जलणं वज्जणमवन्नवायस्स ।
आसायणपरिहारो दंसणविणओ समासेणं ॥१३१॥
मोत्तूण जिणं १ मोत्तूण जिणमयं २ जिणमयट्ठिए मोत्तुं ३ ।
संसार [2]कत्तवारं चिंतिज्जंतं जगं सेसं ॥१३२॥
संका १ कंख २ विगिच्छा ३ पसंस ४ तह संथवो कुलिंगीसु ५ ।
सम्मत्तस्सऽइयारा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥१३३॥
पावयणी १ धम्मकही २ वाई ३ नेमित्तिओ ४ तवस्सी ५ य ।
विज्जा ६ सिद्धो य ७ कवी ८ अट्ठेव पभावगा भणिया ॥१३४॥
जिणसासणे कुसलया १ पभावणा २ ऽऽ[3]ययणसेवणा ३ [4]थिरया ४ ।
भत्ती य ५ गुणा सम्मत्तदीवया उत्तमा पंच ॥१३५॥
उवसम १ संवेगोऽवि य २ निव्वेओ ३ तह य होइ अणुकंपा ४ ।
[5]अत्थिक्कं चिय ५ एए संमत्ते लक्खणा पंच ॥१३६॥

१ वन्नजणणं–जे खं. । ०वन्न (स्स) जणणं–इति धर्म सं. वृत्तौ भा. १ प.४३ ॥ २ ०कत्तवारं–मु 'पुञ्जे कायार-कज्जव-कतवारा' इति देशीशब्दसंग्रहे गा. १८२॥ ३ ०ययण० ख. सं ॥ ४ थिरया य–सं. ॥ ५ तत्थिक्कं–जे. ॥

नोअन्नतित्थिए अन्नतित्थिदेवे य तह सदेवेऽवि ।
गहिए कुतित्थिएहिं वंदामि न वा नमंसामि ॥९३७॥
नेव अणालत्तो आलवेमि नो संलवेमि तह ।
देमि न असणाईयं पेसेमि न गंधपुप्फाइ ॥९३८॥
रायाभिओगो य १ गणाभिओगो २, बलाभिओगो य ३ सुराभिओगो ४ ।
कतारवित्ती ५ गुरुनिग्गहो य ६, छ छिंडिआओ जिणसासणम्मि ॥९३९॥
मूल १ दारं २ पइट्ठाण ३, आहारो ४ भायणं ५ निही ६ ।
[1]दुच्छक्कस्सावि धम्मस्स, सम्मत्तं परिकित्तियं ॥९४०॥
अत्थि य १ निच्चो २ कुणई ३ कयं च वेएइ ४ अत्थि निव्वाणं ५ ।
अत्थि य [2]मोक्खोवाओ ६ छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं ॥९४१॥

'चउसद्दहणे' त्यादिगाथाद्वयम्, चत्वारि श्रद्धानानि यत्र तच्चतुःश्रद्धानम्, श्रद्धानचतुष्टयान्वितं सम्यक्त्वं भवतीति भावः । प्राकृतत्वाच्च प्रथमैकवचनलोपः, एवमग्रेऽपि यथासम्भवं [3]समासो विभक्तिलोपश्च द्रष्टव्यः । [4]'त्रिलिङ्गं' लिङ्गत्रययुक्तम्, दशविनयं–दशविधविनयोपेतम्, [5]त्रिशुद्धि–शुद्धित्रयसमन्वितम् 'पंच-गयदोसं' ति गताः पञ्च दोषा यस्मात्तद्गतपञ्चदोषम् दोषपञ्चकपरिवर्जितमित्यर्थः । छन्दो-

१ दुच्छक्कस्सवि–ता. ॥ २ मोक्खोवाओ–मु. । धर्म सं. वृत्तावपि मोक्खो० इति पाठः ॥ ३ समासे–सं. ॥ ४ त्रिलिङ्गमितिलिङ्ग० मु. ॥ ५ त्रिशुद्धं–मु. ॥

भङ्गभयाच्च क्तान्तस्य परनिपातः, अष्टप्रभावनम्–अष्टविधप्रभावनापरिगतम् 'भूसणलक्खणपंचविह-संजुत्तं' ति पञ्चविधेन भूषणेन पञ्चविधेन [1]लक्षणेन च संयुक्तम्, अत्रापि पञ्चविधशब्दस्य परनिपातस्तथैव । तथा षड्विधा[2] यतना-ऽऽकारौ च यस्य तत् षड्विधयतनाकारम्, षड्भिर्यतनाभिः षड्भिश्चाकारैः परिकलितमित्यर्थः । षड्भावनाभावितं–षड्भिर्भावनाभिर्निरन्तरं परिशीलितम्, षट्स्थानं–स्थानषट्कयुक्तम्, इत्येवं सप्तषष्ट्या 'लक्षणभेदैः' लक्ष्यते–निश्चीयते सम्यक्त्वमेभिरिति लक्षणानि–श्रद्धानादीनि, तेषां भेदाः–प्रकाराः परमार्थसंस्तवादयस्तैर्विशुद्धं चस्यैवकारार्थत्वादेतैः सप्तषष्ट्या लक्षणभेदैर्विशुद्धमेव परमार्थतः सम्यक्त्वं भवति । सम्यक्शब्दः प्रशंसार्थोऽविरोधार्थो वा, सम्यग्–जीवस्तस्य भावः सम्यक्त्वम्, प्रशस्तो मोक्षाविरोधी वा जीवस्य स्वभावविशेष इतियावत् ॥१२७॥

अथैतानेव लक्षणभेदान् प्रत्येकं प्रतिपिपादयिषुः प्रथमं 'चउसद्दहणं' ति व्याख्यातुमाह— 'परमे' त्यादि, परमाश्च–तात्त्विकाश्च तेऽर्थाश्च–जीवा-ऽजीवा[3]दयस्ते परमार्थास्तेषु संस्तवः–परिचयस्तात्पर्येण बहुमानपुरस्परं जीवादिपदार्थाव[4]गमायाभ्यास इतियावत्, वाशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चये इति प्रथमं श्रद्धानम्, तथा सुष्ठु–सम्यग्नीत्या दृष्टा–उपलब्धाः परमार्था–जीवादयो यैस्ते सुदृष्टपरमार्थाः–आचार्यादयस्तेषां सेवनं पर्युपास्तिः सुदृष्टपरमार्थसेवनम्, स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् वाशब्दोऽनुक्तसमुच्चये, ततो यथाशक्ति [5]तद्वैयावृत्यप्रवृत्तिश्च, अपि समुच्चये, इति द्वितीयं श्रद्धानम् । तथा 'वावन्नकुदंसण' त्ति, दर्शनशब्दः

१ च लक्षणेन संयुक्तं मु. ॥ २ ०धौ यतनाकारौ यस्य–मु ॥
३ दयस्तेषु–मु. । तुला–प्रज्ञापनावृत्तिः प. ६० ॥ ४ ०गमाभ्यास -मु. ॥ ५ वैयावृत्तिप्र० मु. ॥

प्रत्येकमभिसम्बध्यते, व्यापन्नं– [1]विनष्टं दर्शनं येषां ते व्यापन्नदर्शना–निह्नवादयः, तथा कुत्सितं दर्शनं येषां ते कुदर्शनाः–शाक्यादयस्तेषां वर्जनं–परिहारो व्यापन्नकुदर्शनवर्जनम्। मा भूदेतदपरिहारतः सम्यक्त्वमालिन्यमिति। अत्रापि स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, इति तृतीय-चतुर्थे श्रद्धाने। **'सम्मत्तसद्दहणा'** इति सम्यक्त्वं श्रद्धीयते–अस्तीति प्रतिपद्यतेऽनेनेति सम्यक्त्वश्रद्धानम्, प्रत्येकं च परमार्थसंस्तवादिभिरस्य [2]सम्बन्धादेकवचनम्, न **चाङ्गारमर्द**कादेरपि परमार्थसंस्तवादीनां सम्भवाद्व्यभि[3]चारिता, तात्त्विकानामेवैषामिहाधिकृतत्वात्, तस्य च तथाविधानामेषामसम्भवादिति ॥९२८॥

'तिलिंगं' त्ति व्याख्यातुमाह–**'सुस्सूसे'**त्यादि, श्रोतुमिच्छा–शुश्रूषा, ह्रस्वत्वं तु प्राकृतशैल्या, सद्बोधावन्ध्यनिबन्धनधर्मशास्त्रश्रवणवाञ्छेत्यर्थः। सा च वैदग्ध्यादि[4]गुणोत्तरतरुणनरकिन्नरगानश्रवणरागादप्यधिकतमा सम्यक्त्वे सति भवति। तथा धर्मः–श्रुतचारित्रलक्षणः, तत्र श्रुतधर्मरागस्य शुश्रूषापदेनैव प्रतिपादितत्वादिह धर्मरागश्चारित्रधर्मरागोऽभिप्रेतः, स च तथाविधकर्मदोषतस्तद[5]करणेऽपि [6]कान्तारातीतदुर्गतबुभुक्षाक्षामब्राह्मणघृतपूर्णभोजनाभिलाषादप्यतिरिक्तोऽत्र भवति। तथा गुरवो–धर्मोपदेशका आचार्यादयः देवाश्च–आराध्यतमा अर्हन्तो गुरुदेवाः, तेषाम्, इह च गुरुपदस्य पूर्वनिपातो विवक्षया गुरूणां पूज्यतरत्वख्यापनार्थः। न हि गुरूपदेशमन्तरेण सर्वविदे[7]वावगम इति भावः। [8]यथासमाधि–समाधानानति-

१ विपन्नं–विनष्टं–मु.॥ २ सम्भवादे॰ मु.॥ ३ ॰चारता–मु.। तुलना–धर्म सं. वृत्तिः भा. १ प. ४४ ॥ ४ ॰गुणवत्तरुण॰ इति धर्मसं वृत्तौ॥ ५ ॰करणे न–मु.। धर्म सं. वृत्तावपि ॰करणेऽपि–इति॥ ६ कान्तारागत॰ मुः। धर्म सं. वृत्तावपि ॰कान्तारातीत॰ इति॥ ७ ॰वाभिगम–मु.॥ ८ तथा॰खं.॥

क्रमेण, अत्र चाव्ययीभावसमासादपि तृतीयाया अलोपः प्राकृतत्वात् । वैयावृत्त्ये–तत्प्रतिपत्ति–विश्रामणाऽभ्यर्चनादौ नियमः-अवश्यकर्तव्यतयाऽङ्गीकारः, स च सम्यक्त्वे सति भवतीत्येतानि सम्यग्दृष्टेः–धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् सम्यक्त्वस्य लिङ्गानि । एतैः शुश्रूषादिभिस्त्रिभिर्लिङ्गैः सम्यक्त्वमुत्पन्नमस्तीति निश्चीयत इति भावः । यद्यपि च शुश्रूषादय उपशान्तमोहादीनां साक्षान्न भवन्ति कृतकृत्यत्वा तथापि फलतो भवन्ति तद्भावस्य तत्फलत्वादिति ॥९२९॥

'**दसविणय**' त्ति व्याख्यानयन्नाह— [1]"**अरिहंत**' गाहा, '**भत्ती**' गाहा, अर्हन्तः–तीर्थकराः, सिद्धाः–क्षीणाष्टकर्ममलपटलाः, चैत्यानि– [2]जिनेन्द्रप्रतिमाः, श्रुतम्–आचाराद्यागमः, धर्मः–क्षान्त्यादिरूपः, साधुवर्गः–श्रमणसमूहः, आचार्योपाध्यायौ–प्रतीतौ, प्रवक्ति जीवादितत्त्वमिति प्रवचनं–सङ्घः, दर्शनं–सम्यक्त्वं तदभेदोपचारात्तद्वानपि दर्शनमुच्यते, एवं प्रागपि यथासम्भवं वाच्यम् ।

एतेषु अर्हदादिषु दशसु स्थानेषु [3]विषये किमित्याह—'**भत्ती**' त्यादि, भक्तिः अभिमुखगमनाऽऽसनप्रदान-पर्युपास्त्यञ्जलिबन्धानुव्रजनादिलक्षणा पूजा–गन्धमाल्य-वस्त्र-पात्राऽन्न-पानप्रदानादिसत्काररूपा, वर्णनं [4]वर्णः–श्लाघनम्, तेन ज्वलनं–ज्ञानादिगुणोद्भासनं वर्णज्वलनम्, तथा वर्जनं–परिहरणमवर्णवादस्य–अश्लाघायाः, आशातना–मनोवाक्कायैः प्रतीपवर्तनम्, तस्याः परिहारः–प्रतिषेधः आशातना-

---

१ अरिहंते त्यादिगाथाद्वय-खं. ॥ २ जैनेन्द्र० मु. ॥ ३ विषयेषु–मु. ॥ ४ तुलना–"वर्णः प्रशंसा, तज्जननमुद्भासनम्" इति धर्मसं वृत्तौ ॥

परिहारः, एष दशस्थानविषयत्वाद्दशविधो दर्शनविनयः। सम्यक्त्वे सति अस्य भावात्सम्यक्त्वविनयः **'समासेन'** सङ्क्षेपेण द्रष्टव्यः, विस्तरतस्तु शास्त्रान्तरादवसेय इति ॥९३१॥

'तिसुद्धि' त्ति व्याचिख्यासुराह—**'मोत्तूणे'**त्यादि, **'मुक्त्वा'** विमुच्य **'जिनं'** वीतरागं मुक्त्वा च **'जिनमतं'** स्यात्पदलाञ्छिततया तीर्थकृद्भिः प्रणीतं यथावस्थितं जीवाजीवादितत्त्वं तथा जिनमतस्थितांश्च—प्रतिपन्नपारमेश्वरप्रवचनान् साध्वादीन् मुक्त्वा शेषमेकान्तग्रहग्रस्तं [1]जगदपिचिन्त्यमानं—परिभाव्यमानं **'संसार[2]कत्तवारं'** ति संसारमध्ये कचवरनिकरप्रायमसारमित्यर्थः। जिनादित्रितयमेव सारं शेषं तु सर्वमप्यसारमिति चिन्तया सम्यक्त्वस्य विशोध्यमानत्वादेतास्तिस्रः शुद्धय इति ॥९३२॥

'पंचगयदोसं'ति प्रकटयन्नाह—**'संके'**त्यादि, शङ्का—सर्वज्ञोक्तवचसि संशयः, काङ्क्षा—अन्यान्यदर्शनाभिलाषः, विचिकित्सा—सदाचारसाध्वादिनिन्दा, तथा कुत्सितं लिङ्गं—दर्शनं येषां ते कुलिङ्गिनः—कुतीर्थिकाः, तेषु विषये प्रशंसा—श्लाघा, तथा तद्विषय एव संस्तवः सम्भाषणादिना परिचयः, एते पञ्चापि शङ्कादयः सम्यक्त्वस्य मालिन्यहेतुत्वादतीचारा—दोषाः सम्यग्दृष्टिना प्रयत्नेन परिहर्तव्या—वर्जनीयाः, विशेषतस्त्वेतेषां स्वरूपं षष्ठे श्रावकप्रतिक्रमणातिचारद्वारे प्रतिपादितमिति ॥९३३॥

'अट्ठपभावण'[4] ति विवरीषुराह—**'पावयणी'** त्यादि, प्रवचनं—द्वादशाङ्गं तदस्यास्त्यतिशयवदिति [5]प्रवचनी—युगप्रधानागमः। धर्मकथा प्रशस्याऽस्यास्तीति धर्मकथी यः क्षीराश्रवादिलब्धिसम्पन्नः सजलजल-

१ जगच्चिन्त्य० मु.। धर्म सं. वृत्तावपि जगदपि. इति पाठः॥ २ कचवारं–मु॥ ३ ० स–खं. सं.। सु–सि.॥ ४ णं–मु.॥ ५ प्राव० मु. धर्म. सं. वृत्तौ च॥

धरध्वानानुकारिणा नादेनाऽऽक्षेपणीविक्षेपणी[1]संवेगजनी-निर्वेदिनीलक्षणां चतुर्विधां जनितजनमनःप्रमोद-प्रथां धर्मकथां कथयति । वादि-प्रतिवादि-सभ्य-सभापतिरूपायां चतुरङ्गायां परिषदि प्रतिपक्षप्रतिक्षेपपूर्वकं स्वपक्षस्थापनार्थमवश्यं वदतीति वादी, निरुपम[2]वादिलब्धिसम्पन्नत्वेन वावदूकवादिवृन्दैरप्यमन्दीकृतवाग्विभव इति भावः । निमित्तं—त्रैकालिकलाभालाभप्रतिपादकं शास्त्रं तद्वेत्त्यधीते वा [3]नैमित्तिकः, सुनिश्चितातीतादिनिमित्तवेदीत्यर्थः । विप्रकृष्टम्—अष्टमप्रभृतिकं दुस्तपं तपोऽस्यास्तीति तपस्वी । 'विज्ज' त्ति मतुब्लोपाद्विद्यावान् विद्याः—प्रज्ञप्त्यादयः शासनदेवताः ताः सहायके यस्य स [4]विद्यावान् अञ्जन-पादलेप-तिलकगुटिकासकलभूताकर्षणवैक्रियत्वप्रभृतयः सिद्धयः, ताभिः सिद्ध्यति स्मेति सिद्धः । कवते—नवनवभङ्गीवैदग्ध्यदिग्धैः पाकातिरेकरसनीयरसरहस्यास्वादमेदुरितसहृदयहृदयानन्दै[5]र्निःविशेषभाषा—[6]वैशारद्यहृद्यैर्गद्यपद्यप्रबन्धैर्वर्णनं करोतीति कविः ।

एते [7]प्रवचन्यादयोऽष्टौ प्रभावयन्ति—स्वतः प्रकाशकस्वभावमेव देशकालाद्यौचित्येन [8]सहायककरणात्प्रवचनं प्रकाशयन्तीति प्रभावकाः कथिताः, तेषां च कर्म प्रभावना, सा च सम्यक्त्वं निर्मलीकरोतीति । अन्यत्र पुनरन्यथाऽष्टौ प्रभावका उक्तास्तथाहि—卐"अइसेसइड्ढि १ धम्मकहि २ वाई ३ आयरिय ४

१ सवेजनी० मु. । संवेयजनी० ख. । धर्मे सं. वृत्तौ अपि० सवेगज० इति ॥ २ ०वाद० मु. ॥ ३ स—नैमि० मु. ४ विद्यावान् वज्रस्वामिवत्—मु. ॥ । तुला--धर्मे सं. वृत्तिः ॥ ५ ०र्निःशेष० मु. ॥ ६ ०वैदग्ध्यहृद्यहृद्यै० मु. ॥ ७ प्राव० मु. ॥ ८ सहायकर० मु. ॥

卐 अतिशेषर्धयो धर्मकथको वादी आचार्यः क्षपकः नैमित्तिकः विद्यासिद्धः राजगणसंमतश्च तीर्थं प्रभावयन्ति ॥१॥

खवग ५ नेमित्ती ६ । विज्जा ७ रायागणसंमया ८ य तित्थं [1]पभावेंति ॥१॥"

तत्र अतिशेषा–अवधि मनः[2]पर्ययज्ञाना-ऽऽमर्षौषध्यादयोऽतिशयास्ते तैर्वा ऋद्धिर्यस्य सोऽतिशेषर्द्धिः । राजसम्मता–नृपवल्लभाः, गणसम्मता–महाजनादिबहुमता इति ॥९३४॥

'भूसण' त्ति व्याचिख्यासुराह 'जिणसासण' गाहा, जिनशासने–अर्हद्दर्शनविषये एतच्च सर्वत्र सम्बध्यते कुशलता–नैपुण्यम् , तद्वशेन हि नानाप्रकारैरुपायैः सुखेनैव परं प्रतिबोधयतीति । तथा प्रभवति जैनेन्द्रं शासनं तस्य प्रभवतः प्रयोजकत्वं च प्रभावना, सा चाष्टधा प्रभावकभेदेन प्रागेवोक्ता, यत्पुनरिहोपादानं तदस्याः स्वपरोपकारित्वेन तीर्थकरनामकर्मनिबन्धनत्वेन च प्राधान्यख्यापनार्थम् , तथा आयतनं द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो जिनगृहादि, भावतस्तु ज्ञानदर्शनचारित्राधाराः साध्वादयः तस्यासेवनं–पर्युपास्तिः । स्त्रीत्वं च प्राकृतत्वादिति । तथा स्थिरता–जिनधर्मं प्रति चलितचित्तस्य परस्य स्थिरत्वापादनं [3]स्वस्य वा परतीर्थिकसमृद्धिदर्शनेऽपि जिनप्रवचनं प्रति निष्प्रकम्पता । तथा भक्तिः–प्रवचने विनय-वैयावृत्त्यरूपा प्रतिपत्तिः । एते सम्यक्त्वस्य दीपकाः–प्रभासका उत्तमाः–प्रधाना गुणा–भूषणानि, एतैर्गुणैः सम्यक्त्वमलङ्क्रियत इति भावः ॥९३५॥

'लक्खणपंचविहसंजुत्तं' ति विवृण्वन्नाह—'उवसमे' त्यादि, अपराधविधायिन्यपि कोपपरिवर्जनमुपशमः । स च कस्यचित्कषायपरिणतेः कटुकफलावलोकनाद्भवति कस्यचित्पुनः प्रकृत्यैवेति । तथा नरा-ऽमरसुखपरिहारेण मुक्तिसुखाभिलाषः संवेगः, सम्यग्दृष्टिर्हि नरेन्द्रसुरेन्द्राणां विषयसुखानि

१ पमावति–मु. सि. ॥ २ ०पर्याय० सं. सि. ॥ ३ स्वयं–खं. सं.॥

दुःखानुषङ्गाद् दुःखतया मन्यमानो मोक्षसुखमेव सुखत्वेन मन्यतेऽभिलषति चेति । तथा नारकतिर्यगादि-सांसारिकदुःखेभ्यो निर्विण्णता निर्वेदः । सम्यग्दर्शनी हि दुःखातिगहने संसारकारागारे गुरुतरकर्मदण्ड-पाशिकैस्तथा तथा कदर्थ्यमानः प्रतिकर्तु मक्षमो ममत्वरहितश्च दुःखेन निर्विण्णो भवति । अन्ये तु संवेगो भवनिर्गमः निर्वेदो मोक्षाभिलाष इत्यनयोरर्थव्यत्ययमाहुः । तथा दुःखितेषु प्राणिष्वपक्षपातेन दुःखप्रहाणेच्छा[1] 'अनुकम्पा, पक्षपातेन तु करुणा स्वपुत्रादौ व्याघ्रादीनामप्यस्त्येव । सा चानुकम्पा द्रव्यतो भावतश्च भवति । द्रव्यतः सत्यां शक्तौ दुःखप्रतिकारेण भावत आर्द्रहृदयत्वेनेति । तथा अस्तीति मतिरस्येत्यास्तिकः, तस्य भावः कर्म वा आस्तिक्यम्, तत्त्वान्तरश्रवणेऽपि जिनगदिततत्त्वविषये निराकाङ्क्षा प्रतिपत्तिः । एतान्युपशमादीनि पञ्च सम्यक्त्वे-सम्यक्त्वविषयाणि लक्षणानि । एतैः परस्थं परोक्षमपि सम्यक्त्वं सम्यगुपलक्ष्यत इति ॥९३६॥

'छव्विहजयण' त्ति व्याख्यानयन्नाह—'नो अन्ने' त्यादि, 'नेव' त्यादि, अन्यतीर्थिकान्—परदर्शनिनः परिव्राजक-भिक्षु-भौतिकादीन् अन्यतीर्थिकदेवांश्च—रुद्र-विष्णु सुगतादीन्, तथा स्वदेवानपि—अर्हत्प्रतिमालक्षणान् कुतीर्थिकैः—दिगम्बरादिभिर्गृहीतान्—स्वीकृतान् [2]भौतिकादिभिर्वा परिगृहीतान् महा-कालादीन् 'नो' नैव वन्दे [3]नवा न च 'नमस्यामि' नमस्करोमि, तद्भक्तानां मिथ्यात्वादिस्थिरीकरणात् । तत्र वन्दनं-शीर्षाभिवादनम्, नमस्करणं-प्रणामपूर्वकं प्रशस्तध्वानभिगुणोत्कीर्तनम् । तथा अन्यतीर्थिकैः पूर्वमनालप्तः सन् तान्नैवालपामि, नापि संलपामि । तत्र आङ ईषदर्थत्वाद् ईषद्भाषणमालापनम्, पुनः पुनः सम्भाषणं संलपनम्, तत्सम्भाषणे हि तैः सह परिचयप्राप्त्या [1]तत्प्रक्रियाश्रवणदर्शनादिभिर्मिथ्या- ॥१७४॥

१ दया—अनु० मु. ॥ २ भौतिकादिपरि० खं. सं. धर्म स. वृत्तौ च ॥ ३ वा—मु. ॥

त्वोदयोऽपि स्यात् । प्रथमालप्तेन त्वसंभ्रमं लोकापवादभयात् किञ्चित्स्वल्पं वाच्यमपीति । तथा तेषाम्—अन्यतीर्थिकानां ददामि नाशनादिकम्—अशनपानखादिम स्वादिम-वस्त्र पात्रादिकम् , तद्दाने ह्यात्मनोऽन्येषां च पश्यतां तेषु बहुमानसद्भावा[2]त्तदैव मिथ्यात्वगमनम् , इह च परतीर्थिकानामशनादिदानमनुकम्पां विहाय प्रतिषिद्धम् , अनुकम्पागोचरापन्नं तु तेषामपि दानं दातव्यम् , यत उक्तम्—

△ "सव्वेहिंपि जिणेहिं दुज्जयजियरागदोसमोहेहिं । सत्ताणुकंपणट्ठा दाणं न कहिंचि[3] पडिसिद्धं ।।१।।"

तथा तेषामेव—परतीर्थिकदेवानां तत्परिगृहीतजिनप्रतिमानां च पूजादिनिमित्तं न प्रेषयामि गन्धपुष्पादिकम् आदिशब्दाद्विनय-वैयावृत्य-यात्रा-स्नात्रादिकं च तेषां न करोमीति । एतत्करणे हि लोकानां मिथ्यात्वं स्थिरीकृतं स्यात् । एताभिः परतीर्थिकादिवन्दन-नमस्करणा-ऽऽलपन-संलपना-ऽशनादिदान-गन्धपुष्पादिप्रेषणलक्षणाभिः षड्भिर्यतनाभिर्यतमानः सम्यक्त्वं नातिक्रमतीति ॥९३७-९३८॥

'छागारं' ति वितन्वन्नाह—'रायाभिओगोय' इत्यादि[4] वृत्तम्—तत्राभियोजनम्—अनिच्छतोऽपि व्यापारणमभियोगः, राज्ञो—नृपतेरभियोगो राजाभियोगः । गणः—स्वजनादिसमुदायस्तस्याभियोगो गणाभियोगः । बलं—बलवतो हठप्रयोगस्तेनाभियोगो बलाभियोगः । सुरस्य—कुलदेवतादेरभियोगः सुराभि-

---

१ तत प्रतिक्रियाश्रवण० सं. । परिचयात् प्रतिक्रियाश्रवण० इति धर्म सं वृत्तौ (भा. १ प. ४६) पाठः ॥
२ ०त्तदैव-ख ॥ ३ ०च-मु. सं. । 'चि-इति धर्म सं. वृत्तौ ॥ ४ ०वृत्तम्-मु. नास्ति ॥

△ सर्वैरपि जिनैर्जितदुर्जयराग-द्वेष-मोहैः । सत्त्वानुकम्पायै दानं न कुत्रापि प्रतिषिद्धम् ॥१॥

योगः, कान्तारम्—अरण्यं तत्र वृत्तिः—वर्तनं निर्वाहः कान्तारवृत्तिः, यद्वा कान्तारमपि बाधाहेतुत्वादिह बाधात्वेन विवक्षितम् , ततः कान्तारेण—बाधया वृत्तिः—प्राणवर्त्तनरूपा कान्तारवृत्तिः, कष्टेन निर्वाह इतियावत् । गुरवो—मातृ-पितृप्रभृतयः । यदुक्तं—

'माता पिता 'कलाचार्य,एतेषां ज्ञातयस्तथा । वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः॥१॥'[योगबिन्दुःगा. ११०]

तेषां निग्रहो—निर्बन्धः, तदेताः षट् छिण्डिका—अपवादा जिनशासने भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यम्—प्रतिपन्नसम्यक्त्वस्य परतीर्थिकवन्दनादिकं यत्प्रतिषिद्धं तद्राजाभियोगादिभिरेतैः षड्भिः कारणैर्भक्तिवियुक्तो[2] द्रव्यतः समाचरन्नपि सम्यक्त्वं नातिचरतीति ॥९३९॥

'छब्भावणभावियं' ति व्याख्यातुमाह—'मूलं दार' मित्यादि[3] श्लोकः, द्विषट्कस्यापि—द्वादशभेदस्यापि पञ्चाणुव्रत-त्रिगुणव्रत-चतुःशिक्षाव्रतरूपस्य [4]चारित्रविषयस्य इदं सम्यक्त्वं[5] मूलमिव मूलं कारणमित्यर्थः परिकीर्तितं—कथितम् , तीर्थकरादिभिरिति सर्वत्र सम्बन्धः । यथा हि मूलविरहितः पादपः प्रचण्डपवनप्रकम्पितस्तत्क्षणादेव निपतति, एवं धर्मतरुरपि सुदृढसम्यक्त्वमूलविहीनः कुतीर्थिकमतमारुतान्दोलितः स्थैर्यं नासादयेदिति । 'दारं'ति द्वारमिव द्वारं प्रवेशमुखमिति भावः । यथा हि अकृतद्वारं नगरं [6]सन्ततः प्राकारवलयवेष्टितमप्यनगरमेव भवति जनप्रवेशनिर्गमाभावात् , एवं धर्ममहापुरमपि सम्य-

१ कलाचार्या—मु. । योगबिन्दौ.धर्मसं वृत्तावपि कलाचार्य—इति ॥ २ ०क्तं—मु. । धर्मसं. वृत्तावपि ०क्तो इति पाठः ॥ ३ ०श्लोकः—मु. नास्ति ॥ ४ चारित्रधर्मस्य—मु । धर्मस्य—सं. धर्म सं. वृत्तावपि चारित्रविषयस्य—इति पाठः ॥
५ मूलमिव—मु नास्ति ॥ ६ समन्ततः—मु. ॥

क्त्वद्वारशून्यमशक्याधिगमं स्यादिति । 'पइट्ठाणं' ति प्रतिष्ठते प्रासादोऽस्मिन्निति प्रतिष्ठानं–पीठम्, ततः प्रतिष्ठानमिव प्रतिष्ठानम्, यथा हि पयःपर्यन्तपृथ्वीतलगतगर्तापूरकरहितः प्रासादः सुदृढो न भवति, तथा धर्मदेवस्य हर्म्यमपि सम्यक्त्वरूपप्रतिष्ठानपरित्यक्तं निश्चलं न भवेदिति । 'आहारो' त्ति आधार इव आधार आश्रय इतियावत् । यथा हि धरातलमन्तरेण निरालम्बं जगदिदं न तिष्ठति, एवं धर्मजगदपि सम्यक्त्वलक्षणाधारव्यतिरेकेण [1]नावतिष्ठतेति । 'भायणं' ति भाजनमिव भाजनं पात्रमित्यर्थः । यथा हि कुण्डादिभाजनविशेषविवर्जितं क्षीरादिवस्तुनिकुरम्बं विनश्यति, एवं धर्मवस्तुनिवहोऽपि सम्यक्त्वभाजनं विना विनाशमासादयेदिति । 'निहि' त्ति निधिरिव निधिः, यथा हि निरवधिनिधिव्यतिरेकेण महार्हमणिमौक्तिक-कनकादिद्रव्यं न प्राप्यते, तथा सम्यक्त्वमहानिधानानभिगतौ चारित्रधर्मवित्तमपि निरुपमसुखसम्पादकं न प्राप्यते इति । इत्येताभिः षड्भिर्भावनाभिर्भाव्यमानमिदं सम्यक्त्वमविलम्बमसममोक्षसुखसाधकं भवतीति ॥९४०॥

'छट्ठाणं' ति प्रपञ्चयितुमाह–'अत्थो'त्यादि, अस्ति–विद्यते चशब्दस्यावधारणार्थत्वादस्त्येव जीव इति गम्यते । प्रतिप्राणि स्वसंवेदनप्रमाणप्रसिद्धचैतन्यान्यथानुपपत्तेः । तथाहि–न चैतन्यमिदं भूतानां धर्मः, तद्धर्मत्वे सति पृथिव्याः काठिन्यस्येव तस्य सर्वत्र सर्वदा चोपलम्भप्रसङ्गात्, न च सर्वत्र सर्वदा चोपलभ्यते, लोष्ठादौ मृतावस्थायां चानुपलम्भात्, नापि चैतन्यमिदं भूतानां कार्यम्, अत्यन्तवैलक्षण्यादेव कार्य-कारणभावस्याप्यनुपपत्तेः, तथाहि–प्रत्यक्षत एव [2]काठिन्यावबोधस्वभावानि भूतानि प्रतीयन्ते,

१ नावतिष्ठति–मु. ॥ २ काठिन्यादि स्व० मु. ॥

चैतन्यं च तद्विलक्षणम्, ततः कथमनयोः कार्य-कारणभावः ?, तन्न भूतधर्मो भूतकार्यं वा चैतन्यम्, अथ चास्ति प्रतिप्राणि स्वसंवेदनप्रमाणसिद्धम्, अतो यस्येदं स जीव इति, अनेन च **नास्तिकमतमपहस्तितम्** १।

'निच्चो' त्ति स च जीवो नित्यः–उत्पत्ति-विनाशविरहितः, तदुत्पादककारणाभावात् सतः सर्वथा विनाशायोगाच्च। अनित्यत्वे हि जीवस्य बन्ध-मोक्षाद्येकाधिकरणत्वाभावप्रसक्तेः। तथाहि–यद्यात्मा नित्यो नाभ्युपगम्यते, किन्तु पूर्वापरक्षणत्रुटितानुसन्धाना ज्ञानक्षणा एव, तथा सत्यन्यस्य बन्धोऽन्यस्य मुक्तिः, अन्यस्य क्षुदन्यस्य तृप्तिः, अन्योऽनुभविताऽन्यः स्मर्ता अन्यश्चिकित्सादुःखमनुभवति अन्यो व्याधिरहितो जायते अन्यस्तपः[1]परिक्लेशमधिसहतेऽपरः स्वर्गसुखमनुभवति, अपरः शास्त्रमभ्यसितुमारभतेऽन्योऽधिगतशास्त्रार्थो भवति। न चैतद्युक्तम्, अतिप्रसङ्गादिति। एतेन **शौद्धोदनिसिद्धान्तध्वान्तमपध्वस्तम्** २।

'कुणइ' त्ति स च जीवः करोति–मिथ्यात्वा-ऽविरति-कषायादिबन्धहेतुयुक्ततया तत्तत्कर्माणि निर्वर्तयति। प्रतिप्राणिप्रतीतविचित्रसुखदुःखाद्यनुभवान्यथानुपपत्तेः। तथाहि--लोके सुखं दुःखं वा चित्रमनुभूयते, न चैष चित्रसुखदुःखानुभवो निर्हेतुकः, सर्वदा [2]सद्भावाभावप्रसङ्गात्। 'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्' [प्रमाणवार्तिक ३।३५]। इति न्यायात्। तस्मादस्य सुखदुःखानुभवस्य [3]स्वकृतमेव कर्म हेतुरिति सिद्धो जीवः कर्मणां कर्तेति **कापिलप्रतिकल्पनाप्रतिक्षेपः**। नन्वयं जीवः सुखाभिलाषी न कदाचनाप्यात्मनो दुःखमाशास्ते ततो यदि स्वकर्मणामेष कर्ता ततः कथं दुःखफलं कर्म [4]करोतीति ?, उच्यते, यथा

१ ०परि० मु नास्ति ॥ २ सद्भावाप्र० सं.। सद्भावप्र० सि. ॥ ३ स्व० खं. मं. नास्ति ॥ ४ करोति–मु. ॥

हि रोगी रोगनिवृत्तिमिच्छन्नपि रोगाभिभूतत्वाद् अपथ्यक्रियानिबन्धनं भाविनमपायं जानन्नपि चापथ्यक्रियामासेवते तद्वदेषोऽपि जीवो मिथ्यात्वाद्यभिभूतत्वात् कथंचित् जानन्नपि दुःखफलं कर्म करोतीति ३।

'कय च वेएइ' त्ति स च जीवः कृतं—स्वयमभिनिर्वर्त्तितं शुभाशुभं कर्म वेदयते—स्वयमेवोपभुङ्क्ते अनुभवलोका-ऽऽगमप्रमाणतस्तथैवोपपद्यमानत्वात्। तथाहि—यदि [1]स्वकृतकर्मफलभोक्तृत्वं जीवस्य नाभ्युपगम्यते ततः सुखदुःखानुभवो मुक्ता-ऽऽकाशयोरिव तस्य न स्यात्। सुखदुःखानुभवकारणसातासातवेदनीयकर्मोपभोगाभावात्। अस्ति चायं सुखदुःखानुभवः प्रतिप्राणि स्वसंवेदनप्रमाणसिद्धत्वात्। लोकेऽप्येष जीवः प्रायो भोक्ता सिद्धः, तथाहि—[2]सुखितं कञ्चन पुरुषं दृष्ट्वा लोके वक्तारो भवन्ति—पुण्यवानेष यदित्थं सुखमनुभवतीति तथा आगमेषु च जैनेतरेषु भोक्ता सिद्धः, △ 'सव्वं च पएसतया भुंजइ कम्ममणुभावओ [3]निइयं' [ ] तथा 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कोटिकल्पशतैरपि'। इत्यादिवचनात्। न चैवं लोकप्रतीतावागमेषु वा वर्तमानेषु कस्यचिद्विवेकचक्षुषो विप्रतिपत्तिरस्ति। कृतवैफल्यप्रसङ्गात्। न चैतद्युज्यते। वणिक्कृषीवलादीनां स्वकृत[4]शुभाशुभकर्मफलभोगस्य साक्षादेव दर्शनात्। तथा च सति सिद्ध एष जीवः स्वकृतकर्मणां भोक्तेति। अनेन चाभोक्तृजीववादी दुर्नयो निराकृतः ४।

'अत्थि निव्वाणं' ति अस्य जीवस्यास्ति—विद्यते निर्वाणं—मोक्षः, सत एव जीवस्य राग-द्वेष-मद-मोह-जन्म जरा-रोगादिदुःखक्षयरूपोऽवस्थाविशेष इतियावत्। एतेन प्रदीपनिर्वाणकल्पमभावरूपं निर्वाण-

१ स्वयंकृत० मु. सि.॥ २ सुखिनं-मु.॥ ३ भइयं-मु.। निययं-सं.॥ ४ ०शुभकर्म० खं. सं.॥
△ सर्वं च प्रदेशतया भुज्यते कर्म, अनुभावतो निचितम्॥

मित्याद्यसङ्गतं सङ्गिरन्तः सौगतविशेषा व्युदस्ताः । ते हि प्रदीपस्येवास्य जीवस्य सर्वथा ध्वंस एव निर्वाणमाहुः । तथा च तद्वचः—

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥१॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥२॥"

एतच्चायुक्तम्, दीक्षादिप्रयासवैयर्थ्यात् । प्रदीपदृष्टान्तस्याप्यसिद्धत्वात् । तथाहि—न प्रदीपानलस्य सर्वथा विनाशः, किन्तु तथाविधपुद्गलपरिणामवैचित्र्यात् त एव पावकपुद्गला भास्वरं रूपं परित्यज्य तामसं रुपान्तरमाप्नुवन्ति तथा च विध्याते प्रदीपेऽनन्तरमेव तामसपुद्गलरूपो विकारः समुपलभ्यते, चिरं चासौ पुरस्ताद्यन्नोपलभ्यते तत्सूक्ष्मसूक्ष्मतरपरिणामसद्भावादञ्जनरजोवत्, अञ्जनस्य हि पवनेनापह्रियमाणस्य यत्कृष्णरज उड्डीयते तदपि परिणामसौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते न पुनरसत्त्वादिति । ततो यथाऽनन्तरोक्तस्वरूपं परिणामान्तरं प्राप्तः प्रदीपो निर्वाण इत्युच्यते तथा जीवोऽपि कर्मविरहितः केवलामूर्तजीवस्वरूपलक्षणं परिणामान्तरं प्राप्तो निर्वाणमुच्यते । तस्मात् दुःखादिक्षयरूपा सतोऽवस्था निर्वाणमिति स्थितम् ५ ।

'अत्थि य मोक्खोवाओ' त्ति अस्ति च मोक्षस्य-निर्वृत्तेरुपायः-सम्यक्साधनम्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां मुक्तिसाधकतया घटमानकत्वात्। तथाहि-सकलमपि कर्मजालं मिथ्यात्वा-ऽज्ञानप्राणिहिंसादिहेतुकम्, ततस्तत्प्रतिपक्षतया सम्यग्दर्शनाद्यभ्यासः सकलकर्मनिर्मूलनाय प्रभविष्णुरेव। न चैवं मिथ्यादृष्टिप्रणीतोऽप्युपायो मुक्तिसाधको भविष्यतीति वाच्यम्, तस्य [1]हिंसादिदोषकलुषितत्वेन संसारकारणत्वात्, अनेनापि मोक्षोपायाभावप्रतिपादकदुर्नयन्यक्कारः कृतः ६।

एतान्यात्मास्तित्वादीनि षट् सम्यक्त्वस्थानानि, सम्यक्त्वमेषु सत्स्वेव भवतीति भावः। अत्र च प्रतिस्थानकमात्मादिसिद्धये बहु वक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते ग्रन्थगहनताप्रसङ्गादिति ॥९४१॥१४८॥

इदानीम् 'एगविहाइ दसविहं सम्मत्तं' त्येकोनपञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह—

[2]एगविह १ दुविह २ तिविहं ३ चउहा ४ पंचविह ५ दसविहं ६ सम्मं।
दव्वाइ कारगाई उवसमभेएहि वा सम्मं ॥९४२॥
एगविहं सम्मरुई १ निसग्गऽभिगमेहि[3] २ तं भवे दुविहं।
तिविहं तं खइयाई ३ अहवावि हु [4]कारगाईयं ॥९४३॥
सम्मत्तमीसमिच्छत्तकम्म[5]क्खयओ भणंति तं खइयं।
मिच्छत्तखओवसमा खाओवसमं ववइसंति ॥९४४॥

१ हिंसादि कलु० खं. सं.॥ २ तुलना-धर्म सं. वृत्तिः भा. १, प. ३५ तः॥ ३ ०हिं-ता. सि.॥ ४ कारगाईहिं-मु.। कारगाइय-खं.। कारगाइअं-इति धर्म सं. वृत्तौ पाठः॥ ५ ०क्खइओ-ता.। ०क्खओय-सं.॥

मिच्छत्तस्स [1]उवसमं उवसमयं तं भणंति समयन्नू ।
तं उवसमसेढीए आइमसम्मत्तलाभे वा ॥९४५॥
विहिआणुट्ठाणं पुण कारगमिह रोयगं तु सद्दहणं ।
मिच्छद्दिट्ठी दीवइ जं तत्ते दीवगं तं तु ॥९४६॥
खइयाई सासायणसहियं तं चउविहं तु विन्नेयं ।
तं सम्मत्तब्भंसे मिच्छत्ताऽऽपत्तिरूवं तु ॥९४७॥
[2]वेययसंजुत्तं पुण एय च्चिय पंचहा विणिद्दिट्ठं ।
समत्तचरिमपोग्गलवेयणकाले तयं होइ ॥९४८॥
एयं चिय पंचविहं निसग्गाभिगमभेयओ दसहा ।
अहवा निसग्गरुई[3] इच्चाइ जमागमे भणिअं ॥९४९॥
निस्सग्गु १ वएसरुई २ [4]आणाई ३ सुत्त ४ बीय ५ रुईमेव ।
[5]अहिगम ६ वित्थाररुई ७ किरिया ८ संखेव ९ धम्मरुई १० ॥९५०॥
जो जिणदिट्ठे भावे चउव्विहे [6]सद्दहाइ सयमेव ।
एमेव नन्नहत्ति य निसग्गरुइत्ति नायव्वो ॥९५१॥

१ उवसमा मु० । २ वेययसम्मत्तं-ता. जे. ॥ ३ ०ई-ता ॥ ४ आणरुई-मु. ॥ ५ अभिगम० खं. सं. धर्मसं. वृत्तौ च ॥
६ सद्दहेइ-मु. । प्रज्ञापनासूत्रे पञ्चाशकचूर्णावपि [प.११] सद्दहाइ-इति पाठः ॥

एए चेव उ भावे उवइट्ठे जो परेण सद्दहइ ।
छउमत्थेण जिणेण व उवएसरुइत्ति नायव्वो ॥९५२॥

[प्रज्ञापनासू. ११०, गा.११९, १२१, १२२]

रागो दोसो मोहो अन्नाणं जस्स अवगयं होइ ।
आणाए रोयंतो सो खलु आणारुई नाम ॥९५३॥

जो सुत्तमहिज्जंतो सुएणमोगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण बाहिरेण व सो सुत्तरुइत्ति नायव्वो ॥९५४॥

एगपएऽणेगाइं पयाइं जो [2]पसरई उ सम्मत्ते ।
उदएव्व तिल्लबिंदू सो बीयरुइत्ति नायव्वो ॥९५५॥

सो होइ [3]अहिगमरुई सुयनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं ।
एक्कारस अंगाइं पइन्नगा दिट्ठिवाओ य ॥९५६॥

दव्वाण सव्वभावा सव्वप्पमाणेहिं जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहिं नयविहीहिं वित्थाररुई मुणेयव्वो ॥९५७॥

नाणे दंसणचरणे तवविणए [4]सव्वसमिइगुत्तीसु ।
जो किरियाभावरुई सो खलु किरियारुई नाम ॥९५८॥

अणभिग्गहियकुदिट्ठी संखेवरुइत्ति होइ नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे [5]अणभिग्गहिओ य सेसेसु[6] ॥९५९॥

१ य(उ)सो-मु ॥ २ पयरइ-ता.जे. २ सि. ॥ ३ अभिगम० ता. उत्तराध्ययने च ॥ ४ सच्च० मु. ॥ ५ आण० ता. ॥ ६ ०सुं-मु. ॥

जो अत्थिकायधम्मं सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं सो धम्मरुइति नायव्वो ॥९६०॥
[1]आईपुढवीसु तिसु खय १ उवसम २ वेयगं ३ च सम्मत्तं ।
वेमाणियदेवाणं पणिंदितिरियाण एमेव ॥९६१॥
सेसाण नारयाणं तिरियत्थीणं च तिविहदेवाणं ।
नत्थि हु खइयं सम्मं अन्नेसिं चेव जीवाणं ॥९६२॥

'एगविह' गाहा, एकविधं द्विविधं त्रिविधं चतुर्धा पञ्चविधं दशविधं सम्यक्त्वं भवतीति शेषः । तत्र एकविधं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यक्त्वम् । एतच्चानुक्तमप्यविवक्षितोपाधिभेदत्वेन सामान्यरूपत्वादवसीयते इत्यस्यां गाथायां न विवृत्तम् । द्विविधादि तु न ज्ञायते इत्युल्लेखमाह—'दव्वाइ' इत्यादि, द्विविधं द्रव्यादिभेदतः, तत्र च 'दव्व'त्ति सूचामात्रत्वाद् द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यतो विशोधिविशेषेण विशुद्धिकृता मिथ्यात्वपुद्गला एव । भावतस्तु तदुपष्टम्भोपजनितो जीवस्य जिनोक्ततत्त्वरुचिपरिणामः । आदिशब्दः प्रकारान्तरैरपि [2]द्वैविध्यदर्शनार्थः । तेन नैश्चयिक-व्यवहारिकभेदतः पौद्गलिका-ऽपौद्गलिकभेदतो नैसर्गिका-ऽधिगमिकभेदतोऽपि च द्विविधमिति । तत्र यद्देश-काल-संहननानुरूपं यथाशक्ति यथावत्संयमानुष्ठानरूपं मौनम्—अविकलं मुनिवृत्तं तन्नैश्चयिकं सम्यक्त्वम् । व्यवहारिकं तु सम्यक्त्वं न केवलमुपशमादिलिङ्गगम्यः

१ आय पु० ता ॥ २ द्विविधत्वद० मु ॥

शुभात्मपरिणामः किन्तु सम्यक्त्वहेतुरपि अर्हच्छासनप्रीत्यादिः कारणे कार्योपचारात्सम्यक्त्वम् । तदपि हि पारम्पर्येण शुद्धचेतसामपवर्गप्राप्तिहेतुर्भवतीति । उक्तं च—

※ 'जं मोणं तं सम्मं जं सम्मं तमिह होइ मोणं तु । निच्छयओ इयरस्स उ 'सम्मं सम्मत्तहेऊवि ॥१॥'

व्यवहारनयमतमपि च प्रमाणम्, तद्बलेनैव तीर्थप्रवृत्तेः । अन्यथा तदुच्छेदप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

● 'जइ जिणमयं पवज्जह[2] ता मा ववहारनिच्छयं[3] मुयह ।
ववहार [4]नओच्छेए तित्थुच्छेओ जओऽवस्सं ॥१॥'' इति । [विशेषावश्यकभा. गा. २३८२]

तथा अपनीतमिथ्यास्वभावसम्यक्त्वपुञ्जगतपुद्गलवेदनस्वरूपं क्षायोपशमिकं पौद्गलिकम् । सर्वथा मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वपुञ्जपुद्गलानां क्षयादुपशमाच्च जातं केवलजीवपरिणामरूपं क्षायिकमौपशमिकं चापौद्गलिकम् । नैसर्गिका-ऽधिगमिके पुनरग्रे वक्ष्येते ।

तथा 'त्रिविधं कारकादि' कारक-रोचक-दीपकभेदतः । **'उवसमभेएहिं व'** त्ति वाशब्दः त्रैविध्यस्यैव प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थः । बहुवचनं च गणार्थम्, ततस्त्रिविधं चतुर्विधं पञ्चविधं दशविधं च सम्यक्त्वमुपशमादिभिर्भेदैर्भवतीति । इदमुक्तं भवति—औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकभेदात् त्रिविधम् । औपशमिक--क्षायिक- क्षायोपशमिक--सास्वादनभेदाच्चतुर्विधम् । औपशमिक--क्षायिक--क्षायोपशमिक-

१ समं-खं ॥ २ ०इ-खं. । ०ए-इति पञ्चाशकचूर्णौ [प. १०] पाठः ॥ ३ ०ये सं. ॥ ४ नउच्छेओ-खं. सं. सि. ॥
※ यन्मौनं तत्सम्यक्त्व यत्सम्यक्त्वं तदिह भवति मौनमेव । निश्चयस्य इतरस्य तु सम्यक्त्वहेतुरपि सम्यक्त्वम् ॥
● यदि जिनमतं प्रतिपद्यसे तर्हि व्यवहारनिश्चयौ मा मुञ्च । व्यवहारनयोच्छेदे तीर्थोच्छेदो यतोऽवश्यम् ॥

सास्वादन-वेदकभेदात्पञ्चविधम्, एतदेव प्रत्येकं निसर्गा-ऽधिगमभेदाद्दशविधमिति । कथं पुनर्द्विविधादिभेदं सम्यक्त्वमित्याह—सम्यग्—अवैपरीत्येन आगमोक्तप्रकारेण, न तु स्वमतिपरिकल्पितभेदैरिति भावः ॥९४२॥

अथैनामेव गाथां स्फुटतरं व्याख्यानयन्नाह—'एगविहं' गाहा, एकविधम्—एकप्रकारमुपाधिभेदाविवक्षया निर्भेदमित्यर्थः । 'सम्यग् रुचिः' सम्यग्—अज्ञान-संशय विपर्यासनिरासेन इदमेव तत्त्वमिति निश्चयपूर्विका जिनोदितजीवादिपदार्थेष्वभिप्रीतिः । जिनोक्तानुसारितया तत्त्वार्थश्रद्धानरूपमेकविधं सम्यक्त्वमिति भावः । तथा निसर्गा-ऽधिगमाभ्यां तत्—सम्यक्त्वं भवेद् द्विविधम्, तत्र निसर्गः—स्वभावो गुरूपदेशादिनिरपेक्षस्तस्मात्सम्यक्त्वं भवति, यथा नारकादीनाम् । अधिगमो—गुरूपदेशादिस्तस्मात्सम्यक्त्वं भवतीति प्रतीतमेव । अयमभिप्रायः—तीर्थकराद्युपदेशदानमन्तरेण स्वत एव जन्तोर्यत्कर्मोपशमादिभ्यो जायते तन्निसर्गसम्यक्त्वम्, यत्पुनस्तीर्थकराद्युपदेश-जिनप्रतिमादर्शनादिबाह्यनिमित्तोपष्टम्भतः कर्मोपशमादिना प्रादुर्भवति तदधिगमसम्यक्त्वमिति । तथा त्रिविधं तत्—सम्यक्त्वं क्षायिकादि; अथवा त्रिविधं कारकादि ॥९४३॥

तत्र क्षायिक-क्षायोपशमिके व्याख्यातुमाह—'सम्मत्त' गाहा, सम्यक्त्व-मिश्र-मिथ्यात्वकर्मक्षयाद्भणन्ति तीर्थकरगणधराः क्षायिकं सम्यक्त्वम्, त्रिविधस्यापि दर्शनमोहनीयस्य क्षयेण—निर्मूलोच्छेदेन निर्वृत्तं क्षायिकम्, अयमर्थः—अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयक्षयानन्तरं मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्वपुञ्जलक्षणे त्रिविधेऽपि दर्शनमोहनीयकर्मणि सर्वथा क्षीणे क्षायिकं सम्यक्त्वं भवतीति । तथा मिथ्यात्वस्य—मिथ्यात्वमोहनीयकर्मण उदीर्णस्य क्षयादनुदीर्णस्य चोपशमात्सम्यक्त्वरूपतापत्तिलक्षणाद्विष्कम्भितोदयस्वरूपाच्च ॥१८६॥

क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं व्यपदिशन्ति—कथयन्ति । इदमुक्तं भवति—यदुदीर्णम्—उदयमागतं मिथ्यात्वं तद्विपाकोदयेन वेदितत्वात् क्षीणं—निर्जीर्णम्—यच्च शेषं सत्तायामनुदयागतं वर्तते तदुपशान्तम् । उपशान्तं नाम विष्कम्भितोदयमपनीत[1]मिथ्यास्वभावं च । [2]मिथ्यात्व-मिश्रपुञ्जावाश्रित्य विष्कम्भितोदयं शुद्धपुञ्जमाश्रित्य पुनरपनीतमिथ्यात्वस्वभावमित्यर्थः । तदेवमुदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयेण, अनुदीर्णस्य चोपशमेन निवृत्तत्वात् त्रुटितरसं शुद्धपुञ्जलक्षणं मिथ्यात्वमपि क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमुच्यते । शोधिता हि मिथ्यात्वपुद्गला अतिस्वच्छवस्त्रमिव दृष्टेर्यथाऽवस्थिततत्त्व[3]रुच्यध्यवसायरूपस्य सम्यक्त्वस्यावारका न भवन्ति । अतस्तेऽप्युपचारतः सम्यक्त्वमुच्यन्ते इति ॥९४४॥

अथौपशमिकं सम्यक्त्वमाह—'**मिच्छुत्तस्स**' गाहा, मिथ्यात्वस्य—मिथ्यात्वमोहनीयस्य कर्मणो य उपशमो—विपाकप्रदेशरूपतया द्विविधस्याप्युदयस्य भस्मच्छन्नवह्निवद्विष्कम्भणं तस्मात् [4]'**उवसमं**' ति प्राकृतशैल्या औपशमिकं तत्सम्यक्त्वं भणन्ति समयज्ञाः—सिद्धान्तवेदिनः । तत्पुनरुपशमश्रेण्यामौपशमिकीं श्रेणिमनुप्रविष्टस्य सतो जन्तोरनन्तानुबन्धिषु दर्शनत्रिके चोपशमं नीते भवति ।

किमुपशमश्रेणिगतस्यैवैतद्भवति ?, नेत्याह—'**आइमे**' त्यादि, आदिमः—प्रथमोऽनादिमिथ्यादृष्टेः सतो जीवस्य योऽसौ सम्यक्त्वलाभस्तस्मिन् वा औपशमिकं सम्यक्त्वं भवति । इह खल्वनादिमिथ्यादृष्टिः कश्चिदायुर्वर्जसप्तकर्मप्रकृतिष्वनाभोगनिर्वर्तितेन यथाप्रवृत्तिकरणेन क्षपयित्वा प्रत्येकं पल्योपमासङ्ख्येय-

१ मिथ्यात्वस्व° सं. ॥ २ मिथ्यात्वस्व° मु ॥ ३ °रुच्यध्यवसायरूपस्य सम्यक्त्व° जे. नास्ति ॥ ४ उवसमयं-मु. ॥

भागन्यूनसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणतां नीतासु अपूर्वकरणेन 'भन्नइ करणं तु परिणामो' [ ] इतिवचनाद्ध्यवसायविशेषरूपेणातिप्रकृष्टघनरागद्वेषपरिणामजनितस्य वज्राश्मवद् दुर्भेद्यस्य कर्मग्रन्थेर्भेदं विधायानिवृत्तिकरणं प्रविशति । तत्र च प्रतिसमयं विशुद्ध्यमानस्तान्येव कर्माणि [1]नितरां क्षपयन्, उदीर्णं [2]च मिथ्यात्वं वेदयन्, अनुदीर्णस्य तु तस्योपशमलक्षणमन्तर्मुहूर्त्तकालमानमन्तरकरणं [3]करोति ।

तस्य चायं विधिः—यदुत अन्तरकरणस्थितेर्मध्याद्दलिकं गृहीत्वा [4]गृहीत्वा प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति । एवं च प्रतिसमयं तावत्प्रक्षिपति यावदन्तरकरणदलिकं सकलमपि क्षीयते । अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन सकलदलिकक्षयः । ततस्तस्मिन्ननिवृत्तिकरणेऽवसिते उदीर्णे च मिथ्यात्वेऽनुभवतः क्षीणे अनुदीर्णे च परिणामविशुद्धिविशेषतो विष्कम्भितोदये ऊषरदेशकल्पं मिथ्यात्वविवरमासाद्य औपशमिकं सम्यक्त्वमधिगच्छति । तस्मिंश्च स्थितः सत्तायां वर्तमानं मिथ्यात्वं विशोध्य पुञ्जत्रयरूपेणावश्यं व्यवस्थापयति । [5]यथा हि कश्चिन्मदनकोद्रवानौषधवशेन शोधयति, ते च शोध्यमानाः केचिच्छुद्ध्यन्ति केचिदर्धशुद्धा एव भवन्ति केचित्तेष्वपि सर्वथैव न शुद्ध्यन्ति, एवं जीवोऽप्यध्यवसायविशेषतो जिनवचनरुचिप्रतिबन्धकदुष्टरसोच्छेदकरणेन मिथ्यात्वं शोधयति । तदपि शोध्यमानं शुद्धमर्धशुद्धमशुद्धं च त्रिधा जायते । तत्र शुद्धपुञ्जः सर्वज्ञधर्मे सम्यक्प्रतिपत्त्यप्रतिबन्धकत्वेनोपचारात् सम्यक्त्वपुञ्ज उच्यते । द्वितीयस्तु अर्धशुद्ध इति मिश्रपुञ्ज उच्यते । तदुदये तु जिनधर्मे औदासीन्यमेव भवति । अशुद्धस्त्वर्हदादिषु मिथ्याप्रति-

१ निरन्तरं-मु. ॥ २ च-मु नास्ति ॥ ३ प्रविशति-मु. सि. ॥ ४ गृहीत्वा-मु. नास्ति ॥ ५ तथा-खं.सं. सि. ॥

पत्तिजनकत्वान्मिथ्यात्वपुञ्जोऽभिधीयते । तदेवमन्तरकरणेन[1] अन्तर्मुहूर्तकालमौपशमिकसम्यक्त्वेऽनुभूते तदनन्तरं नियमादसौ क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्मिश्रो मिथ्यादृष्टिर्वा भवतीत्येष **कार्मग्रन्थिकाभिप्रायः** ।

[2]**सैद्धान्तिकाभिप्रायः** पुनरयमनादिमिथ्यादृष्टिः कोऽपि ग्रन्थिभेदं विधाय तथाविधतीव्रपरिणामोपेतत्वेनापूर्वकरणमुपारूढः सन्मिथ्यात्वं त्रिपुञ्जीकरोति, 'अपुव्वेण तिपुंजं मिच्छत्तं कुणइ [3]कुद्दवोवमया ।' [ ] इति वचनात् । ततोऽनिवृत्तिकरणसामर्थ्याच्छुद्धपुञ्जपुद्गलान् वेदयन्नौपशमिकं सम्यक्त्वमलब्ध्वैव प्रथमत एव क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भवति । अन्यस्तु यथाप्रवृत्त्यादिकरणत्रयक्रमेणान्तरकरणे औपशमिकं सम्यक्त्वं लभते । पुंजत्रयं त्वसौ न करोत्येव । ततश्चौपशमिकसम्यक्त्वाच्च्युतोऽवश्यं मिथ्यात्वमेव गच्छतीति । नन्वौपशमिकसम्यक्त्वस्य क्षायोपशमिकसम्यक्त्वात्को विशेषः ?, उभयत्रापि ह्यविशेषेणोदितं मिथ्यात्वं क्षीणम्, अनुदितं चोपशान्तमिति उच्यते । अस्ति विशेषः, क्षायोपशमिके हि सम्यक्त्वे मिथ्यात्वस्य प्रदेशानुभवोऽस्ति, न त्वौपशमिके [4]सम्यक्त्वे इति । अन्ये तु व्याचक्षते–श्रेणिमध्यवर्तिन्येवौपशमिके सम्यक्त्वे प्रदेशानुभवो नास्ति, न तु द्वितीये, तथापि तत्र सम्यक्त्वाण्वनुभवाभाव एव विशेष इति ॥९४५॥

इदानीं कारक-रोचक-दीपकसम्यक्त्वानि क्रमेणाह–'**विहिया**'० गाहा, विहितस्य–आगमोक्तस्य यदनुष्ठानं–करणं तदिह–सम्यक्त्वविचारे कारकं सम्यक्त्वम् । अयमर्थः–यदनुष्ठानं यथा सूत्रे भणितं

१ ०न-ख स. नास्ति ॥ २ सैद्धान्तिकाः–मु.॥ ३ कोद्द० मु. ॥ ४ सम्यक्त्वे प्रदेशानुभवो नास्ति इति–सं. ॥

तद् यस्मिन् सम्यक्त्वे परमविशुद्धिरूपे सति देश-काल-संहननानुरूपशक्त्यनिगूहनेन तथैव करोति तत् सदनुष्ठानं कारयतीति कारकमुच्यते । एतच्च साधूनां द्रष्टव्यम् । तथा श्रद्धानमात्रं रोचकं सम्यक्त्वम् । इदमुक्तं भवति यत्सम्यक्त्वं सदनुष्ठानं रोचयत्येव केवलं न पुनः कारयति, तद्रोचयति तथाविधविशुद्धिभावाद्धिहितानुष्ठानं[1] इति रोचकम् । यथा श्रेणिकादीनाम्, तथा यः स्वयमिह मिथ्यादृष्टिरभव्यो वा कश्चिदङ्गारमर्दकादिवत् अथ च धर्मकथया मातृस्थानानुष्ठानेनातिशयेन वा केनचित्तत्त्वानि जिनोक्तानि दीपयति—परस्य प्रकाशयति यस्मात्तस्मात्तत्सम्यक्त्वं दीपकमुच्यते । ननु स्वयं मिथ्यादृष्टिरथ च तस्य सम्यक्त्वमिति कथमुच्यते ? विरोधात्, उच्यते, मिथ्यादृष्टेरपि सतस्तस्य यः परिणामविशेषः स खलु प्रतिपत्तॄणां सम्यक्त्वस्य कारणम्, ततः कारणे कार्योपचारात् सम्यक्त्वमित्युच्यते, यथाऽऽयुर्घृतमित्यदोषः ॥९४६॥

अथ चतुर्विधं सम्यक्त्वमाह—'खइये' त्यादि, तदेव क्षायिकादित्रिविधं सम्यक्त्वं सास्वादनसहितं चतुर्विधं विज्ञेयम् । तत्पुनः सास्वादनमनन्तानुबन्धिकषायोदयेन [2]सम्यक्त्वस्यौपशमिकाख्यस्य भ्रंशे—ह्रासे मिथ्यात्वाप्राप्तिरूपमवसेयम् । इयमत्र भावना—इहान्तरकरणे औपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां जघन्यतः समयशेषायामुत्कृष्टतस्तु षडावलिकाशेषायां वर्तमानस्य कस्यचिदनन्तानुबन्धिकषायोदयः सम्पद्यते, ततस्तेन कषायोदयेनौपशमिकसम्यक्त्वाच्च्यवमानस्य मिथ्यात्वमद्याप्यप्राप्नुवतोऽत्रान्तरे जघन्यतः समयमुत्कृष्टतस्तु षडावलिकाः सास्वादनसम्यक्त्वं भवति, परतस्त्वसौ नियमेन मिथ्यात्वोदयान्मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ॥९४७॥

१ ०ने- खं. सं सि. ॥ २ सम्यक्त्वौप० ख. । सम्यक्त्वोप० सं. ॥

सम्प्रति पञ्चविधं सम्यक्त्वमाह–'वेयये' त्यादि, एतदेव पूर्वोक्तं चतुर्विधं सम्यक्त्वं वेदकसम्यक्त्वसंयुक्तं पुनः पञ्चधा–पञ्चविधं [1]विनिर्दिष्टं–विशेषतः कथितं वीतरागैः। तच्च वेदकसम्यक्त्वं सम्यक्त्वपुञ्जस्य बहुतरक्षपितस्य चरमपुद्गलानां वेदनकाले–ग्राससमये भवति। वेदयति–अनुभवति सम्यक्त्वपुद्गलान् इति वेदकः–अनुभविता। तदनर्थान्तरभूतत्वात् सम्यक्त्वमपि वेदकम्, [2]यद्वा यथा आहूयत इत्याहारकं तथा वेद्यत इति वेदकम्। इदमत्र तात्पर्यम्–क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्यानन्तानुबन्धिकषाय[3]चतुष्टयमपि क्षपयित्वा मिथ्यात्वमिश्रपुञ्जेषु सर्वथा क्षपितेषु सम्यक्त्वपुञ्जमप्युदीर्योदीर्यानुभवेन निर्जरयतो निष्ठितोदीरणीयस्य चरमग्रासेऽवतिष्ठमानेऽद्यापि सम्यक्त्वपुञ्जपुद्गलानां कियतामपि वेद्यमानत्वाद्वेदकं सम्यक्त्वमुपजायते इति। अत्राह–नन्वेवं सति क्षायोपशमिकेन सहास्य को विशेषः ?, सम्यक्त्वपुञ्जपुद्गलानुभवस्योभयत्रापि समानत्वात्, सत्यम्, किन्त्वेतदशेषोदितपुद्गलानुभूतिमतः प्रोक्तम्, इतरत्तूदितानुदितपुद्गलस्यैतन्मात्रकृतो विशेषः। परमार्थतस्तु क्षायोपशमिकमेवेदम्, चरमग्रासशेषाणां पुद्गलानां क्षयाच्चरमग्रामवर्तिनां तु मिथ्यास्वभावापगमलक्षणस्योपशमस्य सद्भावादिति ॥९४८॥

अथ दशविधं सम्यक्त्वमाह–'एय' मित्यादि, एतदेवानन्तरोदितं पञ्चविधं सम्यक्त्वं निसर्गाऽधिगमभेदाभ्यां दशधा भवति, क्षायिक-क्षायोपशमिक-औपशमिक-सास्वादन-वेदकानां प्रत्येकं निसर्गतोऽधिगमतश्च जायमानत्वाद्दशविधत्वमित्यर्थः अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शनार्थः, निसर्गरुचिरुपदेशरुचिरित्यादिरूपतया यदागमे–प्रज्ञापनादौ प्रतिपादितं तेन [4]वा दशविधत्वमवगन्तव्यम् ॥९४९॥

१ निर्दिष्टं-ख० सं. ॥ २ यद्वा-मु. सि. नास्ति ॥ ३ ०चतुष्टयमिथ्यात्व० ख. सं. ॥ ४ च-मु० ॥

तदेवाह–'**निसग्गु**' इत्यादि, अत्र रुचिशब्दः प्रत्येकं योज्यते, ततो निसर्गरुचिरुपदेशरुचिरिति [1]द्रष्टव्यम्। तत्र निसर्गः–स्वभावस्तेन रुचिः–जिनप्रणीततत्त्वाभिलाषरूपा यस्य स निसर्गरुचिः १, उपदेशो–गुर्वादिभिर्वस्तुतत्त्वकथनं तेन रुचिः–उक्तस्वरूपा यस्य स उपदेशरुचिः २, आज्ञा–सर्वज्ञवचनात्मिका तस्यां रुचिः–अभिलाषो यस्य स आज्ञारुचिः ३, '**सुत्त-बीयरुइमेव**' त्ति अत्रापि रुचिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, सूत्रम्–आचाराद्यङ्गप्रविष्टम्, अङ्गबाह्यं [2]**चावश्यक-दशवैकालिकादि** तेन रुचिर्यस्य स सूत्ररुचिः ४, बीजमिव बीजं यदेकमप्यनेकार्थप्रबोधोत्पादकं वचः तेन रुचिर्यस्य स बीजरुचिः ५, अनयोश्च पदयोः समाहारद्वन्द्वः, तेन नपुंसकनिर्देशः. एवेति समुच्चये। '**अहिगम वित्थाररुइ**' त्ति अत्रापि रुचिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः, ततोऽधिगमरुचिविस्ताररुची[3]। तत्राधिगमो–विशिष्टं परिज्ञानं तेन रुचिर्यस्यासावधिगमरुचिः ६, विस्तारो–व्यासः सकलद्वादशाङ्गस्य नयैः पर्यालोचनमिति भावः, तेनोपबृंहिता रुचिर्यस्य स विस्ताररुचिः ७, '**किरियासंखेव-धम्मरुइ**' त्ति रुचिशब्दस्यात्रापि प्रत्येकमभिसम्बन्धात् क्रियारुचिः सङ्क्षेपरुचिर्धर्मरुचिरिति द्रष्टव्यम्। तत्र क्रिया–सम्यक्संयमानुष्ठानम्, तत्र रुचिर्यस्य स क्रियारुचिः ८, सङ्क्षेपः–सङ्ग्रहस्तत्र रुचिर्यस्य विस्तरार्थापरिज्ञानात् स सङ्क्षेपरुचिः ९, धर्मे–अस्तिकायधर्मे श्रुतधर्मादौ वा रुचिर्यस्य स धर्मरुचिः, यच्चेह सम्यक्त्वस्य जीवानन्यत्वेनाभिधानं तद्गुणगुणिनोः कथञ्चिदनन्यत्वख्यापनार्थमिति गाथासङ्क्षेपार्थः ॥९५०॥

[4]व्यासार्थं तु स्वत एव सूत्रकृदाह-'**जो जिण०**' गाहा, यो जिनदृष्टान्–तीर्थकरोपलब्धान् भावान्–

१ द्रष्टव्यम्, अत्र मु.। च द्रष्टव्यं–ख. सं. सि.। तुला–उत्तराध्ययनवृत्तिः प. ४९७ तः॥ २ वा० खं०॥
३ ०विस्ताररुचिश्च–मु.॥ ४ आसामर्द्धं तु स्वत–जे॥

जीवादिपदार्थांश्चतुर्विधान्-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावभेदतो नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदतो वा चतुष्प्रकारान् स्वयमेव-परोपदेशनिरपेक्षं जातिस्मरणप्रतिभादिरूपया स्वमत्यैव श्रद्दधाति, केनोल्लेखेन श्रद्दधाति ? तत आह-एवमेवैतत् जीवादि यथा जिनैर्दृष्टं नान्यथेति, चः समुच्चये एष निसर्ग[1]रुचिरिति ज्ञातव्यः ॥९५१॥

उपदेशरुचिमाह-'एए चेव उ' गाहा, एतांश्चैव अनन्तरोक्तान्, तुः पूरणे, भावान्-जीवादीनुपदिष्टान्-कथितान् परेण-अन्येन श्रद्दधाति-तथेति प्रतिपद्यते । [2]कीदृशा परेण ?-छादयतीति छद्म-घातिकर्मचतुष्टयम्, तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थः-अनुत्पन्नकेवलस्तेन, जयति रागादीनिति जिनस्तेन, च-उत्पन्नकेवलज्ञानेनतीर्थकृदादिना, छद्मस्थस्य तु प्रागुपन्यासस्तत्पूर्वकत्वाज्जिनस्य प्राचुर्येण वा तथाविधोपदेष्टॄणाम्, स ईदृक्किमित्याह-उपदेशरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥९५२ ।

आज्ञारुचिमाह-'**रागो**' इत्यादि, रागः-अभिष्वङ्गो द्वेषः-अप्रीतिः, मोहः-शेषमोहनीयप्रकृतयः, अज्ञानं-मिथ्याज्ञानरूपं यस्यापगतं-नष्टं भवति, सर्वथा चास्यैतदपगमासम्भवाद्देशत इति गम्यते । अपगत-[3]शब्दश्च लिङ्गविपरिणामतो रागादिभिः प्रत्येकमभि[4]सम्बध्यतेः एतदपगमाच्च '**आणाए**' त्ति [5]अवधारणफलत्वाद्वाक्यस्य आज्ञयैव केवलया तीर्थकरादिसम्बन्धिन्या रोचमानः-क्वचिदपि कुग्रहाभावात् प्रवचनोक्तमर्थजातं तथेति प्रतिपद्यमानो **माषतुषादिवत्**, स खलु-निश्चितमाज्ञारुचिः नामेत्यभ्युपगमे, ततश्चाज्ञारुचिरित्यभ्युपगन्तव्यः ॥९५३॥

१ ०रुचिर्ज्ञातव्यः-मु. सि. । तुलना-प्रज्ञापनावृत्तिः प. ५९ A ॥ २ कीदृशेन-मु. ॥ ३ शब्दस्य-मु. ॥ ४ सम्बन्धः-मु. सि. ॥ ५ अविधा० जे. ॥

सूत्ररुचिमाह–'जो सुत्ते' इत्यादि, यः सूत्रम्-आगममधीयानः–पठन् श्रुतेनेति-सूत्रेण तेनैवाधीयमानेन अङ्गेन-अङ्गप्रविष्टेन आचारादिना बाह्येन च--अङ्गबाह्येन आवश्यकादिना सम्यक्त्वमवगाहतेप्राप्नोति, तुशब्दस्याधिकार्थसूचकत्वात्प्रसन्नप्रसन्नतराध्यवसायश्च भवति स गोविन्दवाचकवत् सूत्ररुचिरिति ज्ञातव्यः ॥९५४॥

बीजरुचिमाह--'एग पए' गाहा, एकेन पदेन प्रक्रमाज्जीवादिना अवगतेन अनेकानि पदानि प्राकृतत्वेन विभक्तिव्यत्ययादनेकेषु--बहुषु पदेषु--जीवादिषु यः प्रसरति- व्यापितया गच्छति सम्यक्त्वमित्यनेन रुचिरत्रोपलक्षिता, ततो धर्म-धर्मिणोरभेदोपचारात् आत्मा सम्यक्त्ववान् सन् प्रसरति रुचिरूपेण प्रसरतीत्यर्थः । यदा तु 'पयरई उ सम्मत्ते' इति पाठस्तदा एकपदविषये सम्यक्त्वे–रुचौ सति अनेकेषु [1]पदेषु प्रचरति–प्रकर्षेण व्यापितया गच्छति रुच्यात्मकत्वेनैवेत्यक्षरार्थः । भावार्थस्तु स एवेति । तु शब्दोऽवधारणे, [2]प्रसरत्येव, कथमित्याह–उदक इव तैलबिन्दुः, किमुक्तं भवति ?–यथा उदकैकदेशगतोऽपि तैलबिन्दुः समस्तमुदकमाक्रामति तथा तत्त्वैकदेशोत्पन्नरुचिरप्यात्मा तथाविधक्षयोपशमवशादशेषेषु तत्त्वेषु रुचिमान् भवति । स एवंविधो बीजरुचिरिति ज्ञातव्यः । यथा हि बीजं क्रमेणानेकबीजानां जनकं एवमस्यापि रुचिविषयो[3] भेदतो भिन्नानां रुच्यन्तराणामिति ।।९५५।।

अधिगमरुचिमाह–'सो होइ' गाहा, यस्य श्रुतज्ञानमर्थतो दृष्टम्, किमुक्तं भवति ?–येन श्रुतज्ञानस्यार्थोऽधिगतो [4]भवतीति, किं पुनस्तत् श्रुतज्ञानमित्याह–एकादशाङ्गानि–आचारादीनि प्रकीर्ण-

१ पदेषु–सं. नास्ति ॥ २ प्रसरत्येव–खं. सं. नास्ति ॥ ३ य-सि. सं. । ये-ख.॥ ४ भवति–मु. सि. ॥

कानि–उत्तराध्ययन-नन्द्यध्ययनादीनि दृष्टिवादः–परिकर्मसूत्रादिः, अङ्गत्वेऽपि पृथगुपादानमस्य प्राधान्यख्यापनार्थम्, चशब्दादुपाङ्गानि चौपपातिकादीनि, स भवत्यधिगमरुचिः ॥९५६॥

विस्ताररुचिमाह–'दव्वाण' मित्यादि, द्रव्याणां–धर्मास्तिकायादीनामशेषाणामपि सर्वे भावाः–पर्यायाः सर्वप्रमाणैः–अशेषैः प्रत्यक्षादिभिर्यस्योपलब्धाः–यस्य प्रमाणस्य यत्र व्यापारस्तेनैव प्रमाणेन प्रतीताः, 'सव्वाहिं' ति सर्वैश्च नयविधिभिः–नैगमादिनयप्रकारैः, अमु' भावमयम्, अमु' चायं 'नयभेद इच्छतीति स विस्ताररुचिरिति ज्ञातव्यः, सर्ववस्तुपर्यायप्रपञ्चावगमेन तस्य रुचेरतिविमलरूपतया भावात् ॥९५७॥

क्रियारुचिमाह–'नाणे' इत्यादि, ज्ञाने तथा दर्शनं च चारित्रं च दर्शन-चारित्रं समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन्, तथा तपसि विनये च, तथा सर्वासु समितिषु–ईर्यासमित्यादिषु सर्वासु च गुप्तिषु–मनोगुप्तिप्रभृतिषु, 'सच्च' त्ति पाठे तु सत्या–निरुपचरितास्ताश्च ताः समितिगुप्तयश्च, यदिवा सत्यं च–अविसंवादनयोगाद्यात्मकं समितिगुप्तयश्च सत्य-समिति-गुप्तयस्तासु यः क्रियाभावरुचिः, किमुक्तं भवति ?–यस्य भावतो ज्ञानाद्याचारानुष्ठाने रुचिरस्ति स खलु क्रियारुचिर्नाम, इह च चारित्रान्तर्गतत्वेऽपि तपःप्रभृतीनां पुनरुपादानं विशेषत एषां मुक्त्यङ्गत्वख्यापनार्थम् ॥९५८॥

सङ्क्षेपरुचिमाह–'अणभिग्गहिय०' गाहा, अनभिगृहीता–अनङ्गीकृता कुत्सिता दृष्टिः-सौगतादिदर्शनं येन स तथा, अविशारदः–अकुशलः प्रवचने–जिनप्रणीते शेषेषु च–कपिलादिप्रणीतेषु प्रवचनेषु

१ नयभेदमि(द इ) च्छतीति मु० ॥

अनभिगृहीतो--न विद्यतेऽभीत्याभिमुख्येनोपादेयतया गृहीतं-ग्रहणं ज्ञानमस्येत्यनभिगृहीतः, पूर्वमनभिगृहीतकुदृष्टिरित्यनेन दर्शनान्तरपरिग्रहः प्रतिषिद्धः, अनेन तु परदर्शनपरिज्ञानमात्रमपि निषिद्धमिति विशेषः। इदमत्र तात्पर्यम् 'य उक्तविशेषणो[1] सङ्क्षेपेणैव चिलातीपुत्रवदुपशमादिपदत्रयेण तत्त्वरुचिमवाप्नोति स सङ्क्षेपरुचिरुच्यते इति ॥९५९॥

धर्मरुचिमाह—'जो अत्थिकाय०' गाहा, यः खलु जीवोऽस्तिकायानां-धर्मास्ति[2]कायादीनां धर्म--गत्युपष्टम्भकत्वादिरूपं स्वभावं श्रुतधर्मम्--अङ्गप्रविष्टाद्यागमस्वरूपं चारित्रधर्मं च-सामायिकादिकं जिनाभिहितं-तीर्थकृदुक्तं श्रद्धाति--तथेति प्रतिपद्यते स धर्मरुचिरिति ज्ञातव्यः। इह च शिष्यमतिव्युत्पादनार्थमित्थमुपाधिभेदेन सम्यक्त्वभेदाभिधानम्, अन्यथा हि निसर्गोपदेशयोरधिगमादौ वा क्वचित्केषाञ्चिदन्तर्भावोऽस्त्येवेति ॥९६०॥

अथ पूर्वोक्तान्येव क्षायिकादीनि त्रीणि सम्यक्त्वानि प्रसङ्गतो नारकादिजीवेषु चिन्तयन्नाह—'आई पुढवीसु' इत्यादिगाथाद्वयम्, आद्यासु तिसृषु पृथिवीषु-रत्नप्रभा-शर्कराप्रभा-वालुकाप्रभासु '[3]खयउवसमवेयग' ति सूचकत्वात् सूत्रस्य क्षायिकमौपशमिकं वेदकं च सम्यक्त्वं भवति, इह च वेद्यन्ते-अनुभूयन्ते शुद्धसम्यक्त्वपुञ्जपुद्गला अस्मिन्निति वेदकं-क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमुच्यते, औपशमिकक्षायिकसम्यक्त्वयोः पुद्गलवेदनस्य सर्वथैवाभावात्, यत्पुनः क्षप्यमाणसम्यक्त्वपुञ्जपुद्गलचरमग्रासलक्षणं वेदकसम्यक्त्वं पूर्वमुक्तं तदिह पृथग् न विवक्षितम्, पुद्गलवेदनस्य समानत्वेन क्षायोपशमिकसम्यक्त्व

१ यः उक्तविशेषणो सं० खं. सं. ॥ २ ०यानां-खं. ॥ ३ खयोव० मु. । वेयउवसमत्ति-सि. ॥

एव तस्यान्तर्भावात्, ततोऽयमर्थः—आद्यनरकपृथिवीत्रयवर्तिनारकाणां क्षायिकौपशमिकक्षायोपशमिकानि त्रीण्यपि सम्यक्त्वानि सम्भवन्तीति, तथाहि-योऽनादिमिथ्यादृष्टिर्नारकः प्रथमं सम्यक्त्वमवाप्नोति तस्यान्तरकरणकालेऽन्तर्मुहूर्तमौपशमिकं सम्यक्त्वं भवति। औपशमिकसम्यक्त्वाच्चानन्तरं शुद्धसम्यक्त्वपुञ्जपुद्गलान् वेदयतस्तस्यापि क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्यते, मनुष्य-तिर्यग्भ्यो वा यः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्नारकेषूत्पद्यते तस्यैतत्पारभविकं लभ्यते, विराधितसम्यक्त्वो हि षष्ठीपृथिवीं यावत् गृहीतेनापि सम्यक्त्वेन सैद्धान्तिकमतेन कश्चिदुत्पद्यते।

कार्मग्रन्थिकमतेन तु वैमानिकदेवेभ्योऽन्यत्र तिर्यङ्मनुष्यो वा वान्तेनैव क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेनोत्पद्यते न गृहीतेनेति, यदा पुनः कश्चिन्मनुष्यो नारकयोग्यमायुर्बन्धं विधाय पश्चात्क्षपकश्रेणिमारभते बद्धायुष्कत्वाच्च तां न समापयति केवलं दर्शनसप्तकं क्षपयित्वा क्षायिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति, ततश्च मनुष्यायुस्त्रुटिसमये मृत्वा नारकेषूत्पद्यते तदा आद्यपृथिवीत्रयनारकाणां पारभविकं क्षायिकं सम्यक्त्वमवाप्यते, न तु ताद्भविकम्, मनुष्यस्यैव तद्भवे क्षायिकसम्यक्त्वारम्भकत्वादिति। तथा वैमानिकदेवानां 'पणिंदितिरियाण' त्ति व्याख्यानतो विशेषावगतौ पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्याणां तिरश्चां [1]वा सङ्ख्येयवर्षायुषामेवमेव--पूर्वोक्तमेव, त्रीण्यपि सम्यक्त्वानि भवन्तीत्यर्थः॥

तत्र वैमानिकदेवानामौपशमिकं क्षायिकं च नारकवदेव, क्षायोपशमिकं त्वौपशमिकसम्यक्त्वानन्तरकालभावि [2]ताद्भविकम्, तिर्यङ् मनुष्यो वा यः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिः सन् वैमानिकेषूत्पद्यते तस्यैतत्पारभविकं च लभ्यते। मनुष्यास्तु द्विविधाः सङ्ख्येयवर्षायुषोऽसङ्ख्येयवर्षायुषश्च।

१ वा-मु.॥ २ ताद्भा० खं.॥

तत्र सङ्ख्येयवर्षायुषां नुष्याणामौपशमिकं सम्यक्त्वमनन्तरोक्तन्यायेन प्रथमसम्यक्त्व[1]लाभकाले भवत्युपशमश्रेण्यां वा तदनन्तरकालादिभावि तु क्षायोपशमिकं ताद्भविकम्, देवादीनां तु क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिनां मनुष्येषूत्पत्तौ पारभविकं क्षायोपशमिकम्, क्षायिकं तु क्षपकश्रेण्यां ताद्भविकं, नारकदेवानां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां मनुष्येषूत्पत्तौ पारभविकं [2]तथैव । असङ्ख्येयवर्षायुषां पुनर्मनुष्याणामौपशमिकं क्षायिकं च नारकवदेव वाच्यम्, क्षायोपशमिकं तु [3]तदनन्तरकालादिभावि ताद्भविकं तथैव । तिर्यङ्मनुष्यास्तु क्षायोपशमिकसम्यक्त्वयुक्ता वैमानिकेष्वेव जायन्ते नान्यत्र । ये तु मिथ्यादृष्टयवस्थायां बद्धायुष्कत्वादेषूत्पद्यन्ते ते अवश्यं मरणसमये मिथ्यात्वं गत्वैवोत्पद्यन्ते इति पारभविकं क्षायोपशमिकं [4]सम्यक्त्वममीषां न लभ्यते इति कार्मग्रन्थिकाः ।

सैद्धान्तिकास्तु मन्यन्ते-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वसंयुक्ता अपि बद्धायुष्का अमी केचिदेतेषूत्पद्यन्ते इति पारभविकमपि क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वममीषां लभ्यते । असङ्ख्येयवर्षायुष्कतिरश्चां पुनस्त्रीण्यपि सम्यक्त्वान्यसङ्ख्येयवर्षायुष्कमनुष्यवद्वाच्यानि । शेषाणामाद्यपृथिवीत्रयव्यतिरिक्तानां नारकाणां पङ्कप्रभाद्यधस्तनपृथिवीचतुष्टयनारकाणामित्यर्थः । **'निरियत्थीणं च'** त्ति असङ्ख्येयवर्षायुष्कसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां तत् स्त्रीणां च, तथा त्रिविधदेवानां–भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्कलक्षणानां नास्त्येव क्षायिकं सम्यक्त्वम्, क्षायिकं हि सम्यक्त्वमेतेषु ताद्भविकं तावन्न भवति, सङ्ख्येयवर्षायुष्कमनुष्यस्यैव क्षायिकसम्यक्त्वारम्भकत्वात्, पारभविकमपि न भवति क्षायिकसम्यग्दृष्टेरेतेष्वनुत्पत्तेः, औपशमिक-क्षायोपशमिके तु भवत इति । **'सम्मं अन्नेसिं चेव जीवाणं'** ति अन्येषां पुनर्जीवानां सम्यक्त्वमेव नास्ति, चः

१ ०लाभ० खं. सं. नास्ति ॥ २ च तदिति—ख. सं. ॥ ३ तदनुत्तर० सं. ॥ ४ सम्यक्त्वमेषा-मु. ॥

पुनरर्थे, एवोऽवधारणे भिन्नक्रमः स च योजित एव ।

एतदुक्तं भवति–एक द्वि त्रि चतुरिन्द्रिया ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां तद्भवं परभवं वा अपेक्ष्य प्रस्तुतसम्यक्त्वत्रयमध्य एकमपि न सम्भवति । सास्वादनसम्यक्त्वं पुनर्बादरपृथिव्यम्बुवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेष्वपर्याप्तावस्थायां पारभविकं पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु तु ताद्भविकमवाप्यते । सूक्ष्मैकेन्द्रियबादरतेजोवायुषु पुनः सम्यक्त्वलेशवतामप्युत्पादाभावात् सास्वादनं नास्तीत्येष **कार्मग्रन्थिकाभिप्रायः** । सूत्राभिप्रायेण तु पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणां सास्वादनसम्यक्त्वं नास्ति । यदुक्तं **प्रज्ञापनायां**–

"पुढविकाइयाणं पुच्छा, गोयमा ! पुढविकाइया नो सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी नो सम्मामिच्छदिट्ठी, एवं जाव वणप्फइकाइया" [पद १८ । सू. १४०२] इति ।।९६१ ॥ ९६२ ॥ १४९ ॥

इदानीं '**कुलकोडीणं संखा जीवाणं**' ति पञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह—

बारस सत्त य तिन्नि य सत्त य कुलकोडिसयसहस्साइं ।
नेया पुढवि-दगा-ऽगणि-वाऊणं चेव परिसंखा ॥९६३॥
कुलकोडिसयसहस्सा सत्तट्ठ य नव य अट्ठवीसं च ।
बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-हरियकायाणं ॥९६४॥
अद्धत्तेरस बारस दस दस नव चेव सयसहस्साइं ।
जलयर-पक्खि--चउप्पय-उर--भुयसप्पाण कुलसंखा ॥९६५॥

१५० द्वारे
कुलकोटी-
संख्या
गाथा
९६३-
९६७
प्र. आ.
२८६

॥१९९॥

छव्वीसा [1]पणवीसा सुरनेरइयाण सयसहस्साइं ।
बारस य सयसहस्सा कुलकोडीणं [2]मणुस्साणं ॥१६६॥
एगा कोडाकोडी सत्ताणउई भवे सयसहस्सा ।
पन्नासं च सहस्सा कुलकोडीणं मुणेयव्वा ॥१६७॥ [जीवसमास गा.४०-४४]

'बारसे' त्यादिगाथापञ्चकम्, पृथिव्युदकाग्निवायूनामेव कुलान्याश्रित्य [3]परिसङ्ख्यानं परिसङ्ख्या यथाक्रमं ज्ञेया, [4]तद्यथा–द्वादश कुलकोटिशतसहस्राणि–लक्षाः पृथिवीकायिकानाम्, सप्त उदकजीवानाम्, त्रीण्यग्निकायिकानाम्, वायूनां पुनः सप्तैव [5]कुलकोटिशतसहस्राणि ॥१६३॥

'कुलकोडि०' गाहा, अत्रापि यथासङ्ख्येन योजना, द्वीन्द्रियाणां सप्त कुलकोटिशतसहस्राणि, अष्टौ त्रीन्द्रियाणाम्, नव चतुरिन्द्रियाणाम्, अष्टाविंशतिर्हरितकायिकानां–समस्तवनस्पतिकायिकानाम् ॥१६४॥

'अद्धत्तेरस' गाहा, अत्रापि यथाक्रमं पदघटना, तत्र जले चरन्ति–पर्यटन्तीति जलचराः–मत्स्य-मकरादयः, तेषामर्धत्रयोदश कुलकोटिशतसहस्राणि, सार्धा द्वादश कुलकोटिलक्षा इत्यर्थः, पक्षिणां–केकि-काकादीनां द्वादश, चतुष्पदानां–गज-गर्दभादीनां दश, उरःपरिसर्पाणां–भुजगादीनां दश, भुजपरिसर्पाणां–गोधा-नकुलादीनां नव, कुलकोटिलक्षाणि भवन्ति ॥१६५॥

---

१ पणु० ता. ॥ २ मुणेयव्वा—ता. ॥ ३ परिसङ्ख्यानं-मु. नास्ति ॥ ४ तुला–जीवसमासवृत्तिः प. ३० तः ॥ ५ कुलकोटीना शत० खं. सं. ॥

'छव्वीसे' त्यादि, सर्वेषां भवनपत्यादिसुराणां षड्विंशतिः, कुलकोटिलक्षाणि नारकाणां तु पञ्चविंशतिः, मनुष्याणां पुनर्द्वादश कुलकोटीनां शतसहस्राणि भवन्तीति ॥९६६॥

अथ पूर्वोक्तानामेव कुलानां सर्वसङ्ख्यामाह—'**एगा कोडाकोडी**' गाहा, सर्वसङ्ख्यया एका कुलकोटीकोटिः सप्तनवतिः कुलकोटीनां शतसहस्राणि पञ्चाशच्च सहस्राः कुलकोटीनां ज्ञातव्याः ॥९६७॥१५०॥

इदानीं '**जोणिलक्ख चुलसी**' त्येकपञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह—

पुढविदगअगणिमारुय एक्केक्के सत्त जोणिलक्खाओ ।
वणपत्तेयअणंते दस चउदस जोणिलक्खाओ ॥९६८॥
विगलिंदिएसु दो दो चउरो चउरो य नारयसुरेसु ।
तिरिएसु [1]होंति चउरो चउदस लक्खा उ मणुएसु ॥९६९॥ [बृहत्सं. गा. ३५१-२]
समवन्नाइसमेया बहवोऽवि हु [2]जोणिभेयलक्खाओ ।
सामन्ना घिप्पंतिह एक्कगजोणीइ[3] गहणेण ॥९७०॥

'पुढविदगे'त्यादिगाथाद्वयम्, [4]'यु मिश्रणे' इत्यस्य धातोर्युवन्ति—भवान्तरसङ्क्रमणकाले तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्तो जीवा औदारिकादिशरीरप्रायोग्यपुद्गलस्कन्धैर्मिश्रीभवन्त्यस्यामिति औणादिके निप्रत्यये योनिः, जीवानामुत्पत्तिस्थानमित्यर्थः । तत्र [5]पृथिव्युदकाग्निमरुतां सम्बन्धिन्येकैकस्मिन् समूहे सप्त सप्त योनिलक्षा भवन्ति । तद्यथा—सप्त पृथिवीनिकाये, सप्तोदकनिकाये, सप्ताग्निनिकाये, सप्त वायु-

१ हुंति-ता. सि ॥ २ जोणिलक्खभेयाओ-मु. ॥ ३ ०ए-ता. सं. ॥ ४ तुला-जीवसमासवृत्तिः प. ३१ ॥ ५ तुला-बृहत्सं. मलय. वृत्तिः प. १३६ ॥

निकाये, [1]वनस्पतिनिकायो द्विविधस्तद्यथा–प्रत्येकोऽनन्तकायश्च, तत्र प्रत्येकवनस्पतिनिकाये दश योनिलक्षाः, अनन्तवनस्पतिनिकाये चतुर्दश लक्षाः । विकलेन्द्रियेषु–द्वीन्द्रियादिषु-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियरूपेषु प्रत्येकं द्वे द्वे योनिलक्षे, तद्यथा–द्वे योनिलक्षे द्वीन्द्रियेषु, द्वे त्रीन्द्रियेषु, द्वे चतुरिन्द्रियेषु । तथा चतस्रो योनिलक्षा नारकाणाम् , चतस्रो देवानाम् , तथा तिर्यक्षु पञ्चेन्द्रियेषु चतस्रो योनिलक्षाः । चतुर्दशयोनिलक्षा मनुष्येषु । सर्वसङ्ख्यायाश्च मीलने चतुरशीतिर्योनिलक्षा भवन्तीति ।

[2]न च वक्तव्यमनन्तानां जीवानामुत्पत्तिस्थानान्यप्यनन्तानि प्राप्नुवन्ति । यतो जीवानां सामान्याधारभूतो लोकोऽप्यसङ्ख्येयप्रदेशात्मक एव, विशेषाधाररूपाण्यपि नरकनिष्कुटदेव[3]शयनीयप्रत्येकसाधारणजन्तुशरीराण्यसङ्ख्येयान्येव, ततो जीवानामानन्त्येऽपि कथमुत्पत्तिस्थानानामानन्त्यम् ?, भवन्तु तह्यसङ्ख्येयानीति चेन्नैवम् , यतो बहून्यपि तानि केवलिदृष्टेन केनचिद्वर्णादिना धर्मेण सदृशान्येकैव योनिरिष्यते, ततोऽनन्तानामपि जन्तूनां केवलिविवक्षितवर्णादिसादृश्यतः परस्परान्तर्भावचिन्तया चतुरशीतिलक्षसङ्ख्या एव योनयो भवन्ति, न हीनाधिकाः ॥९६८-९६९॥

एतदेवाह–'समवन्नाइ' गाहा, समैः–सदृशैर्वर्णादिभिः–वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शैः समेता–युक्ताः समानवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा इत्यर्थः । बहवोऽपि–प्रभूता अपि योनिभेदलक्षा, हुः–निश्चितमिह एकयोनिजातिग्रहणेन गृह्यन्ते, कुतः ?–सामान्यात्–व्यक्तिभेदतः प्राभूत्येऽपि समानवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शसद्भावेन सादृश्यादिति ।

१ वनस्पतिकायो–खं. सं. ॥ २ तुला–जीवसमासवृत्तिः प. ३१॥ ३ ०शयनप्र० खं. सं. ॥

[1]ननु योनि-कुलयोः कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते, [2]योनिर्जीवानामुत्पत्तिस्थानम् । यथा वृश्चिकादेर्गोमयादि कुलानि तु योनिप्रभवानि, तथाहि- एकस्यामेव योनावनेकानि कुलानि भवन्ति, यथा छगणयोनौ कृमिकुलं कीटकुलं वृश्चिककुलमित्यादि, यदिवा तस्यैव वृश्चिकादेर्गोमयाद्येकयोन्युत्पन्नस्यापि कपिल-रक्तादिवर्णभेदादनेकविधानि कुलानीति ।

अथ [3]प्रज्ञापनाद्यनुसारेण योनिविषयोऽपरोऽपि विशेषः कश्चिदुपदर्श्यते--यथा शीतोष्णमिश्रभेदात् त्रिधा योनिः । तत्र नारकाणां शीता उष्णा च, [4]आद्यकासु तिसृषूष्णवेदनासु पृथिवीषु शीता, चतुर्थ्यां बहुषूपरितनेषु उष्णवेदनेषु [5]नरकावासेषु शीता, अधः स्तोकेषु शीतवेदनेषु उष्णा । पञ्चम्यां बहुषु शीतवेदनेषु उष्णा, स्तोकेषु उष्णवेदनेषु शीता, षष्ठी-सप्तम्योश्च शीतवेदनयोर्नारकाणां योनिरुष्णैव शीतयोनिकानां हि उष्णवेदनाऽभ्यधिका भवति, उष्णयोनिकानां तु शीतवेदना । नारकाणां च यथा वेदनाप्राचुर्यमापद्यते प्रायः सर्वं तथैव परिणमति ततो वेदनाक्रमप्रातिकूल्येन योनिक्रमसम्भवः । सुराणां गर्भजतिर्यङ्नराणां च शीतोष्णरूपोभयस्वभावा योनिः, नैकान्तेन शीतं नाप्युष्णम्, किन्त्वनुष्णाशीतं तदुपपातक्षेत्रमिति भावः । पृथिव्यम्बु-वायु-वनस्पति-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-सम्मूर्च्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-सम्मूर्च्छिममनुष्याणामुपपातस्थानानि शीतस्पर्शान्युष्णस्पर्शान्युभयस्पर्शान्यपि भवन्तीति तेषां त्रिधा योनिः; केषाञ्चिच्छीता केषाञ्चिदुष्णा, केषाञ्चिन्मिश्रेति, तेजस्कायिकानामुष्णैव योनिः, उष्णस्पर्शपरिणत एव क्षेत्रे तेषामुत्पत्तेः ।

१ तुला जीवसमासवृत्तिः प. ३१ ॥ २ तुला-समयसुन्दरगणिकृतं श्रीविशेषणशतकम् प. ४५ ॥ ३ प्रज्ञापना पद ९/सू. ७३९, पृ. १९१ द्रष्टव्यम् । जीवसमासवृत्तिः गा. ४७, ४६, ४५ द्रष्टव्या ॥ ४ आद्यासु-मु. ॥ ५ नार० खं. ॥

तथा सचित्ता-ऽचित्त-मिश्रभेदादपि त्रिधा योनिः। तत्र नारकाणां देवानां चाचित्ता, तदुपपातक्षेत्रस्य केनापि जन्तुनाऽपरिगृहीतत्वेनाचेतनत्वात्, यद्यपि च सूक्ष्मैकेन्द्रियाः सकललोकव्यापिनस्तथापि न तत्प्रदेशैरुपपातस्थानपुद्गला अन्योऽन्यानुगमेन सम्बद्धा, इत्यचित्तैव तेषां योनिः। एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियसम्मूर्च्छिमतिर्यग्नराणां [1]त्रिविधाऽपि योनिः। जीवति गवादावुत्पद्यमानानां कृम्यादीनां सचित्ता, अचित्ते काष्ठे समुत्पद्यमानानां घुणादीनामचित्ता, सचित्ता-चित्तेषु काष्ठगोक्षतादिषु घुण-कृम्यादीनामेव मिश्रा, गर्भजतिर्यग्नराणां पुनर्मिश्रा, ये हि शुक्रमिश्राः शोणितपुद्गला योन्याऽऽत्मसात्कृतास्ते सचित्ताः, अन्ये त्वचित्ता इति।

तथा संवृतविवृतोभयभेदादपि त्रिधा योनिः, तत्र नारकदेवैकेन्द्रियाणां संवृता योनिः, नारकोत्पत्तिस्थानानां निष्कुटानां संवृतगवाक्षकल्पत्वात्, देवानां तु देवशयनीयेषु देवदूष्याभ्यन्तरे संवृतस्वरूपे[2] समुत्पादात्, एकेन्द्रियाणां तु योनेः स्पष्टमनुपलक्ष्यमाणत्वात् द्वित्रिचतुरिन्द्रियसम्मूर्च्छिमतिर्यग्नराणां विवृता योनिः, तेषामुत्पत्तिस्थानस्य जलाशयादेः स्पष्टमुपलक्ष्यमाणत्वात्, गर्भजतिर्यग्नराणां तूभयरूपा योनिः, गर्भस्य संवृतविवृतरूपत्वात्, गर्भो ह्यन्तः स्वरूपतो नोपलभ्यते, बहिः पुनरुदरवृद्ध्यादिना समुपलक्ष्यते इति।

अथ मनुष्ययोनिगतो विशेषः प्रतिपाद्यते–यथा मनुष्याणां योनिस्त्रिधा--कूर्मोन्नता शङ्खावर्ता वंशीपत्रा च, कूर्मपृष्ठमिवोन्नता कूर्मोन्नता, शङ्खस्येवावर्तो यस्यां सा शङ्खावर्ता, संयुक्तवंशीपत्रद्वयाकारा ॥२०४॥

१ त्रिविधा–खं. सं. ॥ २ ०पेषु–सं. ॥

वंशीपत्रा । तत्र कूर्मोन्नतायां योनौ तीर्थकृच्चक्रवर्ति-वासुदेव-बलदेवा उत्पद्यन्ते; वंशीपत्रायां सामान्यमनुष्या जायन्ते, [1]शङ्खावर्ता तु स्त्रीरत्नस्यैव भवति; तस्यां च गर्भ उत्पन्नोऽपि न निष्पत्तिं याति, प्रबलतम-कामाग्निपरितापतो ध्वंसगमनादिति वृद्धप्रवादः ॥९७०॥१५१॥

सम्प्रति 'तिक्कालाईवि तत्थ विवरणं' ति द्विपञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह—

त्रैकाल्यं ३ द्रव्यषट्कं ६ नवपदसहितं जीवषट्कायलेश्याः ६,
पञ्चान्ये चास्तिकाया ५ व्रत ५ समिति ५ गति ५ ज्ञान ५ चारित्र ५ भेदाः ।
इत्येते मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशै ।
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वैशुद्धदृष्टिः ॥९७१॥

एयस्स विवरणमिणं तिक्कालमईयवट्टमाणेहिं ।
होइ भविस्सजुएहिं दव्वच्छुक्कं पुणो एयं ॥९७२॥
धम्मत्थिकायदव्वं १ दव्वमहम्मत्थिकायनामं २ च ।
आगास ३ काल ४ पोग्गल ५ जीवदव्वस्सरूवं च ६ ॥९७३॥
जीवा १ जीवा २ पुन्नं ३ पावा ४ ऽऽसव ५ संवरो य ६ निज्जरणा ७ ।
बंधो ८ मोक्खो ९ य इमाइं नव पयाइं जिणमयम्मि ॥९७४॥

1 शङ्खावर्तीस्तु—खं. ॥

जीवं छक्कं इग १ बि २ ति ३ चउ ४ पणिंदिय ५ अणिंदियसरूवं ६ ।
छक्काया पुढवि १ जला २ नल ३ वाउ ४ वणस्सइ ५ तसेहिं[1] ६ ॥९७५॥
छल्लेसाओ कण्हा १ नीला २ काऊ य ३ तेउ ४ पउम ५ सिया ६ ।
कालविहीणं दव्वच्छक्कं इह अत्थिकायाओ ॥९७६॥
पाणिवह १ मुसावाए २ अदत्त ३ मेहुण ४ परिग्गहेहि ५ इहं ।
पंच वयाइं भणियाइं पंच समिईओ साहेमि ॥९७७॥
इरिया १ भासा २ एसण ३ गहण ४ परिट्ठवण ५ नामिया ताओ ।
पच [2]गईओ नारय १ तिरि २ नर ३ सुर ४ सिद्ध ५ नामाओ ॥९७८॥
नाणाइं पंच मइ १ सुय २ ओहि ३ मण ४ केवलेहि ५ भणियाइं ।
सामाइय १ छेय २ परिहार ३ सुहम ४ अहक्खाय ५ चरणाइं ॥९७९॥

'त्रैकाल्य' मित्यादिवृत्तम्, त्रयः कालाः समाहृतास्त्रिकालम्, त्रिकालमेव त्रैकाल्यमतीतादि-कालत्रिकमित्यर्थः, द्रव्यषट्कं—धर्मास्तिकायादिभेदात्, नवभिः पदैः—जीवादिभिस्तत्त्वैः सहितं—युक्तं द्रव्यषट्कमेव ज्ञातव्यम् । तथा षट्शब्दस्य डमरुकमणिन्यायेनोभयत्र सम्बन्धात् षट् जीवा-एकेन्द्रियादयः, षट् कायाः—पृथिवीकायादयः, षट् च लेश्याः—कृष्णादयः, अपरे च पञ्चास्ति-

१ ०व-ता. ॥ २ गतीओ-वि ॥

काया—धर्मास्तिकायादयः, तथा पञ्चशब्दस्य प्रत्येकमत्रापि योजनात्पञ्च व्रतभेदाः—प्राणिवधविरमणादयः, पञ्च समितिभेदा—ईर्यासमित्यादयः, पञ्च गतिभेदा—नरकगत्यादयः, पञ्च ज्ञानभेदाः—मतिज्ञानादयः, पञ्च चारित्रभेदाः—सामायिकादयः, इत्येते पूर्वोक्ताः सर्वेऽपि पदार्थास्त्रिभुवनमहितैः—त्रिलोकार्चितैरर्हद्भिः—तीर्थकरैरीशैः—स्वाभाविककर्मक्षयजन्यसुरविरचितचतुस्त्रिंशदतिशयस्वरूपपरमैश्वर्योपशोभितैर्मोक्षमूलं-निर्वाणकारणं प्रोक्तम्—उपदिष्टम्। अतो यः पुमान् मतिमान्—प्रवेकविवेक[1]कलितएतान् प्रत्येति—स्वरूपतोऽवगच्छति श्रद्धाति—इदमेव तत्त्वमित्यात्मनो रोचयति स्पृशति च—यथायथं सम्यगासेवते, स वै स्फुटं 'शुद्धदृष्टिः' शुद्धा—मिथ्यात्वमलानाविला दृष्टिः—सम्यक्त्वं यस्य स शुद्धदृष्टिरितिः ॥९७१॥

अथैनं वृत्तं व्याचिख्यासुः कालत्रिकं प्रतिपादयन्नाह—'एयस्स'गाहा, एतस्य—पूर्वोक्तस्य त्रैकाल्यमित्यादेः स्रग्धरावृत्तस्येदं—वक्ष्यमाणं विवरणं—व्याख्यानं विज्ञेयमिति शेषः। तत्र त्रैकाल्यमतीत-वर्तमानाभ्यां भविष्ययुक्ताभ्यां भवति, अतीत-वर्तमान-भविष्यल्लक्षणास्त्रयः काला इत्यर्थः। तत्रातिशयेन इतो—गतोऽतीतो, वर्तमानत्वमतिक्रान्त इत्यर्थः। वर्तत इति वर्तमानः—साम्प्रतमुत्पन्नः, सर्वसूक्ष्मनिरंशसमयमात्रमान इति भावः। भविष्यतीति भविष्यन्—वर्तमानत्वं न प्राप्तोऽनागत इति हृदयम्। द्रव्यषट्कं पुनरिदं—वक्ष्यमाणम् ॥९७२॥

तदेवाह—'धम्मत्थिकाय०'गाहा, धर्मास्तिकाया-ऽधर्मास्तिकाया-ऽऽकाशास्तिकाय-काल-पुद्गला-

१ ०कलित—खं. सं. नास्ति ॥

स्तिकायजीवास्तिकायस्वरूपाणि षड् द्रव्याणि। तत्र जीवानां पुद्गलानां च स्वत एव गतिक्रियापरिणतानां [1]तत्स्वभावधरणात्–तत्स्वभावपोषणाद्धर्मः, अस्तयश्चेह प्रदेशास्तेषां कायः–सङ्घातोऽस्तिकायः। ततो धर्मश्चासावस्तिकायश्च धर्मास्तिकायः। सकललोकव्यापी असंख्येयप्रदेशात्मकोऽमूर्त्तो द्रव्यविशेष इत्यर्थः।

जीवपुद्गलानामेव तथैव गतिपरिणतानां तत्स्वभावेऽधरणादधर्मः, स चासावस्तिकायश्चाधर्मास्तिकायः। किमुक्तं भवति ? जीव-पुद्गलानां स्थितिपरिणामपरिणतानां तत्परिणामोपष्टम्भकोऽमूर्त्तो लोकव्यापी [2]असंख्येयप्रदेशात्मकोऽधर्मास्तिकायः। लोकमात्रत्वं चानयोरेतदवष्टम्भकाकाशदेशस्यैव लोकत्वात्, अलोकव्यापित्वे त्वनयोर्जीव-पुद्गलानामपि तत्र प्रचारप्रसंगेन तस्यापि लोकत्वप्राप्तेरिति।

[3]तथा आङिति मर्यादया तत्संयोगेऽपि स्वकीयस्वकीयस्वरूपेऽवस्थानतः सर्वथा तत्स्वरूपाप्राप्तिलक्षणया काशन्ते–स्वभावलाभेनावस्थितिकरणेन च दीप्यन्ते पदार्थसार्था यत्र तदाकाशम्। यदा त्वभिविधावाङ्, तदाऽऽङिति सर्वभावाभिव्याप्त्या काशते–प्रतिभासते इत्याकाशम्, तच्च तदस्तिकायश्चाकाशास्तिकायो, लोकालोकव्यापी अनन्तप्रदेशात्मको द्रव्यविशेष इत्यर्थः।

तथा कलनं–समस्तवस्तुस्तोमस्य सङ्ख्यानमिति कालः, अथवा कलयन्ति समयोऽस्यानेन रूपेणोत्पन्नस्यावलिका मुहूर्तादि वा इत्यादिप्रकारेण सर्वमपि सचेतनाचेतनं वस्त्ववगच्छन्ति केवल्यादयोऽनेनेति कालः–[4]समयावलिकादिरूपो द्रव्यविशेषः।

तथा पूरण-गलनधर्माणः पुद्गलाः–परमाण्वादयोऽनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्ताः। एते हि कुतश्चिद्

१ च तत्स्व० जे.॥ २असङ्ख्यात० सि.॥ ३ अथ आङिति–जे.॥ ४ समयावलिकारूपो–मु.॥

द्रव्याद्गलन्ति-वियुज्यन्ते, किञ्चित्तु द्रव्यं स्वसंयोगतः पूरयन्ति-पुष्टं कुर्वन्ति, पुद्गलाश्च तेऽस्तिकायश्च पुद्गलास्तिकायः ।

तथा जीवन्ति जीविष्यन्ति जीवितवन्त इति जीवास्ते च तेऽस्तिकायश्च जीवास्तिकायः, प्रत्येकमसङ्ख्येयप्रदेशात्मकसकललोकभाविनानाजीवद्रव्यसमूह इत्यर्थः । अत्र च जीवपुद्गलानां गत्यन्यथानुपपत्तेर्धर्मास्तिकायस्य, तेषामेव स्थित्यन्यथानुपपत्तेरधर्मास्तिकायस्य, जीवादिपदार्थानामाधारान्यथानुपपत्तेराकाशास्तिकायस्य, बकुलाशोकचम्पकादिपुष्पफलप्रदाननैयत्यान्यथाऽनुपपत्तेः कालस्य, घटादिकार्यान्यथानुपपत्तेः पुद्गलास्तिकायस्य, प्रतिप्राणि स्वसंवेदनसिद्धचैतन्यान्यथानुपपत्तेश्च [1]जीवास्तिकायस्य सत्त्वं समवसेयमिति ॥१७३॥

अथ नव पदान्याह—'**जीवाजीवा**' गाहा, जीवाः—सुखदुःखोपयोगलक्षणाः, अजीवाः—तद्विपरीता धर्मास्तिकायादयः, पुण्यं-शुभप्रकृतिरूपं कर्म, पापं—तद्विपरीतं कर्मैव, आश्रवति—आगच्छति कर्मानेनेत्याश्रवः, शुभाशुभकर्मोपादानहेतुः हिंसादिः, संवरणं संवरो—गुप्त्यादिभिराश्रवनिरोधः, निर्जरणं निर्जरा—विपाकात्तपसो वा कर्मणां देशतः क्षपणम् , बन्धो—जीवकर्मणोरत्यन्तसंश्लेषः, मोक्षः—कृत्स्नकर्मक्षयादात्मनः स्वात्मन्यवस्थानम्, इत्येतानि नवसङ्ख्यानि पदानि—तत्त्वानि जिनमते—अर्हत्प्रवचने विज्ञेयानीति । इह च आश्रवबन्धपुण्यपापानि मुख्यं संसारकारणमिति हेयानि, संवरनिर्जरे मुख्यं मोक्षकारणम् , मोक्षस्तु मुख्यं साध्यमित्येतानि त्रीण्यप्युपादेयानीत्येवं शिष्यस्य हेयोपादेयतापरिज्ञानार्थं मध्यमप्रस्थानापेक्षया

१ जीवादिका० खं. ॥

नवेत्युक्तम् अन्यथा सङ्क्षेपापेक्षया जीवा-ऽजीवयोरेव पुण्य-पापादीनामन्तर्भावसंभवाद् द्वित्वसङ्ख्ययैवाभिधेयं[1] स्यात् । तथा चोक्तं **स्थानाङ्गे**—

'जदत्थि च णं लोए तं सव्वं दुपडोयारं, तंजहा—जीवा चेव अजीवा चेव' [सू. ५७] त्ति ।

विस्तरतस्तु तदुत्तरोत्तरभेदविवक्ष[2]याऽनन्तमेव स्यात् । अथ कथं जीवा-ऽजीवयोरेव पुण्यपापादीनामन्तर्भावसम्भव इति चेदुच्यते, पुण्य-पापे कर्मणी, बन्धोऽपि तदात्मक एव, कर्म च पुद्गलपरिणामः, पुद्गलाश्चाजीवा इति । आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामो जीवस्य, स चात्मानं पुद्गलांश्च मुक्त्वा कोऽन्यः ?, संवरोऽप्याश्रवनिरोधलक्षणो देशसर्वभेद आत्मनः परिणामो निवृत्तिरूपः । निर्जरा तु कर्मपरिशाटो जीवः कर्मणां यत्पार्थक्यमापादयति स्वशक्त्या । मोक्षोऽपि सकलकर्मविरहित आत्मैवेति । [3]अन्यत्र पुनः पुण्यपापयोर्बन्धेऽन्तर्भावात् सप्तैव तत्त्वान्युक्तानि ॥९७४॥

अथ जीवषट्क-कायषट्के प्राह—[4]'जीवच्छक्कं' गाहा, इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धादेकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियानिन्द्रियस्वरूपं जीवषट्कम् । तत्र एकं—स्पर्शनलक्षणमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः—पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतयः, द्वे स्पर्शनरसनलक्षणे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः-शङ्ख-शुक्तिका-चन्दनक-कपर्दक जलूका-कृमि-गण्डोलक-पूतरकादयः, त्रीणि स्पर्शन-रसन-घ्राणलक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः--यूका-मत्कुण -गर्दभकेन्द्रगोपक-कुन्थु-मत्कोट-पिपीलिकोपदेहिका[5]कार्पासास्थि त्रपुसबीजक

१ ०य-खं. सं। द्वित्वसङ्ख्यैवाभिधेया सि.॥ २ ०यानन्त्यमेव-मु. ॥ ३ तत्त्वार्थसूत्रादिषु (१।) इति ध्येयम् ॥ ४ 'इगे' त्यादि, इन्द्रिय० मु. ॥ ५ ०कर्पासा० खं. सं. ॥

[1]तुम्बरकादयः, चत्वारि स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुर्लक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रयाः--भ्रमर-मक्षिका दंश-मशक-वृश्चिक-कीट-पतङ्गादयः, पञ्च स्पर्शन-रसनघ्राण-चक्षुःश्रोत्रलक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः--करि-मकर-मयूर मनुजादयः; निखिलकर्मनिर्मुक्तत्वेन शरीरविरहितत्वान्न विद्यते इन्द्रियं-स्पर्शनादि येषां ते अनिन्द्रियाः--सिद्धाः ।

[2]तथा षट् कायाः पृथ्वी-जला-ऽनल वायु-वनस्पति-त्रसभेदात् , पृथ्वीकाय-जलकाया-ऽनलकाय-वायुकाय-वनस्पतिकाय-त्रसकायलक्षणाः षट् काया इत्यर्थः । तत्र पृथिवी--काठिन्यादिलक्षणा, सैव कायः-शरीरं येषां ते पृथिवीकायाः, जलं-पानीयम् , तदेव कायः--शरीरं येषां ते जलकायाः, अनलो--वह्निः, स एव कायः--शरीरं येषां तेऽनलकायाः, वायु-पवनः, स एव कायः--शरीरं येषां ते वायुकायाः, वनस्पतिः-लतादिरूपः, स एव कायः--शरीरं येषां ते वनस्पतिकायाः; त्रसनशीलास्त्रसाः--चलनधर्माणः कायाः--शरीराणि येषां ते त्रसकायाः ॥१७५॥

अथ लेश्याषट्कमस्तिकायपञ्चकं चाह--'छल्लेसओ' गाहा, लिश्यते-श्लिष्यते कर्मणा सह जीवो यकाभिस्ता लेश्याः--कृष्ण-नील-कापोततेजःपद्म-शुक्लवर्णद्रव्यसाहाय्याज्जीवस्याशुभाः शुभाश्च परिणाम-विशेषाः । उक्तं च--

'कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ॥१॥

१ ० तुम्बुर० ख स. ॥ तुलना– 'तंबरुणमज्जिया म.प्र. । तिंबुरणमज्जिया–ध. । इति प्रज्ञापना सूत्रे पाठान्तराणि' पद १ । सू. ५७ ॥ २ तत्र पृथ्वी० सं. ॥

कृष्णादिद्रव्याणि च केचिद् 'योगपरिणामो लेश्या' [ ] इतिवचनाद्योगान्तर्गतद्रव्याण्याहुः, [1]अन्ये तु 'सकलकर्मप्रकृतिनिःस्यन्दरूपाणि', अपरे पुनः 'कार्मणशरीरवत्पृथगेव कर्माष्टकात्कार्मणवर्गणानिष्पन्नानि कृष्णादिद्रव्याणी' ति प्रतिपादयन्ति । तत्त्वं तु तीर्थकृतो विदन्तीति । एताश्च परिणामविशेषात्मिका लेश्याः षड् भवन्ति । तद्यथा--कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, 'सिय' त्ति सितलेश्या, शुक्ललेश्येत्यर्थः । तत्र कृष्णद्रव्यात्मिकाकृष्णद्रव्यजनिता वा लेश्या कृष्णलेश्येत्यर्थः । एवं नीललेश्येत्यादिपदेष्वपि भावनीयम्, तासु चाद्यास्तिस्रोऽशुभाः, अपरास्तु तिस्रः शुभाः । एतासां च विशेषतः स्वरूपनिरूपणार्थं जम्बूखादकषट्पुरुषीदृष्टान्तो ग्रामघातकदृष्टान्तश्चोच्यते ।

तथाहि-- [2]कस्मिंश्चित्कानने क्षुत्क्षामकुक्षयः षट् पुरुषाः सुपरिपक्वसरसफलभरावनमित--सकलशाखं कल्पशाखिसदृक्षमेकं जम्बूवृक्षमद्राक्षुः । ततः सर्वैरपि प्रमुदितैः प्रोक्तम् अहोऽवसरप्राप्तमस्य दर्शनम्, अपनयामो बुभुक्षाम्, भक्षयामः स्वेच्छयाऽतुच्छान्यस्यस्वादुफलानीत्यैकमत्ये सति तन्मध्ये क्लिष्टपरिणामेनैकेनोक्तं--'युक्तमिदं केवलमस्मिन्ननोकहे दुरारोहे समारोहतां जीवितव्यस्यापि संशयः; तस्मात्तीक्ष्णधारैः कुठारैरमुं मूलत एव कर्तयित्वा तिर्यक्प्रपात्य सुखेनैव सकलानि फलान्यभ्य[3]वहरामः । एष एवंजातीयः कृष्णलेश्यापरिणामः । द्वितीयेन तु किञ्चित्सशूकेनोक्तं--'किमस्माकमेतेनातिमहता पादपेन छिन्नेन ? महीयसीं[4] शाखामेवैकां कर्तयित्वा फलान्यास्वादयामः ।' एवंप्रकारो नीललेश्यापरि-

१ विशेषार्थं द्रष्टव्या प्रज्ञापनावृत्तिः, प. ३३१ ॥ २ केचित् कस्मि० मु. ॥ ३ ०वहारामः एष स एवं-सि. वि. ॥
४ ०सीमस्य-मु. । महीय०सी-जे. ॥

णामः । तृतीयः पुनः प्राह--किमेतया महाशाखया छिन्नया ?, तदेकदेशभूताः प्रशाखा एव कर्तयामः ।' इत्येवंविधः कापोतलेश्यापरिणामः । चतुर्थश्चोवाच--'किमाभिरपि वराकीभिः कर्तिताभिः ?, तत्पर्यन्तवर्तिनः कांश्चिद्गुच्छानेव छिन्नः ।' एष तैजसलेश्यापरिणामः । पञ्चमः पुनः प्रोवाच--'गुच्छैरपि किं नश्छिन्नैः ?, तन्मध्यात्सुपक्वानि भक्षणोचितानि कानिचित्फलान्येव गृह्णीम' इत्यसौ पद्मलेश्यापरिणामः ।' षष्ठस्तु बभाषे--किं तैरपि त्रोटितैः ?, यावत्प्रमाणैः प्रयोजनमस्माकं तावत्प्रमाणानि फलान्यधस्तादपि पतितान्यस्य विटपिनः प्राप्यन्ते; तद्वयममीभिरेव प्राणवृत्तिं विदध्मः, किमुन्मूलनादिनाऽस्य शाखिनः खेदेन ? ।' इत्ययं शुक्ललेश्यापरिणाम इति ॥

ग्रामघातकदृष्टान्तस्तु कस्मिंश्चिद् ग्रामे धन-धान्यादिलुब्धैः षड्भिस्तस्करस्वामिभिर्मिलित्वा धाटी प्रक्षिप्ता । तत्रैकेनोक्तं--यत्किमपि द्विपद-चतुष्पद-पुरुष-स्त्री बाल-वृद्धादिकं पश्यथ तत्सर्वं मारयत । इत्येवंजातीयः कृष्णलेश्यापरिणामः । द्वितीयस्तु नीललेश्यापरिणामवर्ती बभाषे--'मानुषाण्येव मारयत किं तिर्यग्भिरिति ।' तृतीयः पुनः कापोतलेश्यायुक्तो जगाद--'पुरुषानेव व्यापादयत ?, किं स्त्रीभिरिति ।' चतुर्थस्तु तैजसलेश्यापरिणामान्वितः प्राह--'पुरुषेष्वपि सप्रहरणानेव निशुम्भत, किं निष्प्रहरणैरिति[2] ।पञ्चमः पुनः पद्मलेश्यापरिणामसम्पन्नः प्रोवाच--'सायुधेष्वपि युध्यमानानेव विनाशयत, किमन्यैर्निरपराधैरिति ।' षष्ठस्तु शुक्ललेश्यापरिणामपरिगतः प्रतिपादयति स्म--'अहो महदसमञ्जसं यदेकं तावद् द्रव्यमपहरथ, अपरं च वराकमेनं जनं विनाशयथ, तस्माद्यद्यपि द्रव्यमपहरथ तथापि प्राणांस्तावत्सर्वस्यापि लोकस्यरक्षतेति[3] ॥

१ ० तः-ख चि. । न०-सि. ॥ २ ०रपि-मु. ॥ ३ विशेषार्थं द्रष्टव्यं योगशास्त्रे (४।४४) ॥

तथा कालविहीनं—काललक्षणद्रव्य[1]विरहितं पूर्वोक्तं द्रव्यषट्कमेवास्तिकायाः—धर्मास्तिकाया-ऽधर्मास्तिकाया-ऽऽकाशास्तिकाय-पुद्गलास्तिकाय-जीवास्तिकायलक्षणाः प्रागुक्तस्वरूपाः पञ्चास्तिकाया इत्यर्थः। अथ यथा धर्मास्तिकाय इत्युक्तं तथा कालास्तिकाय इति कस्मान्नोच्यते ? इति चेत् , नैवम् , प्रदेशबहुत्व एवास्तिकायत्वोपपत्तेः, अत्र च तन्नास्ति । अतीता-ऽनागतसमया(ग्रन्थाग्रं १२०००) नां विनष्टा-ऽनुत्पन्नत्वेन प्रज्ञापकप्ररूपणाकाले वर्तमानसमयरूपस्यैव कालप्रदेशस्य सद्भावादिति । यद्येवमावलिका-मुहूर्त-दिवसादिप्ररूपणाया अप्यभावप्रसङ्गः प्राप्नोति, आवलिकादीनामप्यसङ्ख्येयसमयाद्यात्मकत्वेन प्रदेशबहुत्व एवोपपत्तेः, सत्यमेतत् , केवलं स्थिर[2]स्थूलकालत्रयवर्तिवस्त्वभ्युपगमपरव्यवहारनयमतमवलम्ब्याऽऽवलिकादिकालप्ररूपणाः निश्चयनयमतेन तु तदभाव एवेति न कालेऽस्तिकायता ॥९७६॥

पञ्च व्रतान्याह—'पाणिवहे' त्यादि, व्रतं—शास्त्रविहितो नियमः, तस्य च प्रत्येकमभिसम्बन्धात्प्राणिवधव्रत-मृषावादव्रता-ऽदत्तादानव्रत-मैथुनव्रत-परिग्रहव्रतैरिह—जिनसिद्धान्ते पञ्च व्रतानि भणितानि । इतः पञ्च समितीः 'साहेमि' त्ति कथयामि ॥९७७॥

ता एवाह— 'इरिये' त्यादि पूर्वार्धम् , ईर्यासमितिर्भाषासमितिरेषणासमितिर्ग्रहणसमितिः—आदाननिक्षेपसमितिरित्यर्थः, परिष्ठापनासमितिश्चेत्येताः पञ्च समितयः । व्रत-समितिस्वरूपं च षट्षष्टे सप्तषष्टे च द्वारे विस्तरेणोक्तमिति ।

अथ पञ्च गतीराह—'पंचे' त्यादि उत्तरार्धम् , नारकगति-तिर्यग्गति-नरगति-सुरगति-सिद्धगति-

१ ०रहित० मु. ॥ २ ०स्थूलकायत्रय० मु. । ०स्थुरकाल० खं. ॥

नामिकाः पञ्च गतयः । तत्र गम्यते—प्राप्यते स्वकर्मरज्जूसमाकृष्टैर्जन्तुभिरिति गतिः, नारकाणां गतिर्नारकगतिः तिरश्चाम्—एकेन्द्रियादीनां गतिस्तिर्यग्गतिः, नराणां—मनुष्याणां गतिर्नरगतिः; सुराणां—देवानां गतिः सुरगतिः, सिद्धगतिस्तु कर्मजन्या शास्त्रपरिभाषिता न भवति, केवलं गम्यत इति गतिरिति व्युत्पत्तिसाम्यमात्रादिहोपात्तेति ॥९७८॥

अथ पञ्च ज्ञानानि चारित्राणि चाह—'नाणाइ' इत्यादि, मतिश्रुता-ऽवधि-मनःपर्यय-केवललक्षणैर्भेदैः पञ्च ज्ञानानि । एतानि चाग्रे व्याख्यास्यन्ते ।

तथा चर्यते—गम्यते प्राप्यते भवोदधेः परकूलमेभिरिति चरणानि—चारित्राणि, तानि च पञ्च सामायिकं पदैकदेशेऽपि पदसमुदायोपचारात् छेदोपस्थापनिकं परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसम्परायं यथाख्यातं चेति ।

तत्र समो—राग-द्वेपरहितत्वाद् अयो—गमनं समायः, एष चान्यासामपि साधुक्रियाणामुपलक्षणम्, सर्वासामपि साधुक्रियाणां रागद्वेषरहितत्वात् । समायेन निर्वृत्तं समाये वा भवं सामायिकम्, यद्वा समानां—ज्ञान-दर्शन-चारित्राणामायो—लाभः समायः, समाय एव सामायिकम्; विनयादेराकृतिगणतया स्वार्थे इकण् । तच्च सर्वसावद्यविरतिरूपम्, यद्यपि च सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकम्, तथापि छेदादिविशेषैर्विशेष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते । प्रथमं पुनरविशेषणात्सामान्यशब्द एवावतिष्ठते सामायिकमिति । तच्च द्विधा—इत्वरं यावत्कथिकं च । तत्र स्वल्पकालभावि इत्वरम्, इदं च भरतैरावतेषु प्रथम-पश्चिमतीर्थकरतीर्थेष्वनारोपितमहाव्रतस्य शैक्षस्य विज्ञेयम्, अत्र जन्मनि यावज्जीवितकथाऽस्त्यात्मन०

स्तावत्कालभावि यावत्कथं तदेव यावत्कथिकं आभववर्तीत्यर्थः । एतच्च भरतैरावतभाविमध्यमद्वाविंशतितीर्थकरतीर्थेषु विदेहतीर्थकरतीर्थेषु च मुनीनामवसेयम्, तेषामुपस्थापनाया अभावात् ।

ननु चेत्वरमपि सामायिकं 'करोमि भदंत ! सामायिकं यावज्जीवम्' इत्येवं व्रतग्रहणकाले यावदायुरागृहीतम्, तत उपस्थापनाकाले तत्परित्यजतः कथं न प्रतिज्ञाभङ्गः ?, उच्यते, ननु प्रागेवोक्तं सर्वमेवेदं चारित्रमविशेषतः सामायिकम्, सर्वमपि [1]सर्वसावद्ययोगविरतिसद्भावात्, केवलं छेदादिविशुद्धिविशेषैर्विशेष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते । ततो यथा यावत्कथिकं सामायिकं छेदोपस्थापनं वा परमविशुद्धिविशेषरूपसूक्ष्मसम्परायादिचारित्रावाप्तौ न भङ्गमङ्गीकरोति तथा इत्वरमपि सामायिकं [2]विशुद्धिरूपच्छेदोपस्थापनावाप्तौ । यदि हि प्रव्रज्या परित्यज्यते तर्हि तद्भङ्ग आपद्यते न तु तस्यैव विशुद्धिविशेषावाप्ताविति ।

तथा छेदः पूर्वपर्यायस्य उपस्थापना च महाव्रतेषु यस्मिन् चारित्रे तच्छेदोपस्थापनम् [3]तदेव छेदोपस्थापनिकम्, [4]ते वा विद्यते यत्र तच्छेदोपस्थापनिकम्, तच्च द्विधा—सातिचारं निरतिचारं च । तत्र निरतिचारं यदित्वरसामायिकवतः शैक्षस्यारोप्यते; तीर्थान्तरसङ्क्रान्तौ वा, यथा पार्श्वनाथतीर्थाद्वर्धमानस्वामितीर्थं संक्रामतः पञ्चयामधर्मप्रतिपत्तौ । सातिचारं यन्मूलगुणघातिनः पुनर्व्रतारोपणम् ।

१ सर्व० मु. नास्ति ॥ २ विशुद्धिरूपसूक्ष्मपच्छेदो० खं. । ०विशुद्धिरूपसूक्ष्मच्छेदो० वि. । विशुद्धिरूपसूक्ष्मरूपच्छेदो० सि. ॥
३ तदेव छेदोपस्थानिकं ख. वि. सि. नास्ति ॥ ४ तदेव वा- मु सि. ॥

तथा परिहरणं परिहारः—तपोविशेषस्तेन विशुद्धिः—कर्मनिर्जरारूपा यस्मिन् चारित्रे तत्परिहारविशुद्धिकम्। तच्च द्विधा—निर्विशमानकं निर्विष्टकायिकं च, तत्र निर्विशमानका—विवक्षितचारित्रासेवकाः, निर्विष्टकायिका—आसेवितविवक्षितचारित्रकाया[1]ः, तदव्यतिरेकाच्चारित्रमप्येवमुच्यते । इह नवको गणश्चत्वारो निर्विशमानकाश्चत्वारश्चानुचारिणः एकः कल्पस्थितो वाचनाचार्यः, एतत्स्वरूपं च सविस्तरमेकोनसप्ततिद्वारे प्रत्यपादि ।

तथा सम्पर्येति—पर्यटति संसारमनेनेति सम्परायः—कषायोदयः, सूक्ष्मो—लोभांशावशेषः सम्परायो यत्र तत् सूक्ष्मसम्परायम्, तच्च द्विधा—विशुद्ध्यमानकं संक्लिश्यमानकं च। तत्र विशुद्ध्यमानकं क्षपकश्रेणिमुपशमश्रेणिं वा समारोहतः सङ्क्लिश्यमानं तूपशमश्रेणितः प्रच्यवमानस्य ।

तथा अथशब्दो– [2]याथातथ्यार्थे, आङ् अभिविधौ; [3]याथातथ्येन अभिविधिना [4]यत् ख्यातं—कथितम् अकषायचारित्रमिति तत् अथाख्यातम्; यथाख्यातमिति द्वितीयं नाम । तस्यायमन्वर्थः—यथा सर्वस्मिन् जीवलोके ख्यातं—प्रसिद्धमकषाय भवति चारित्रमिति तथैव यत्तत् यथाख्यातम्। इदं च द्विधा—छाद्मस्थिकं कैवलिकं च, तत्र छाद्मस्थिकमुपशान्तमोहगुणस्थानके क्षीणमोहगुणस्थानके वा; कैवलिकं सयोगिकेवलिभवमयोगिकेवलिभवं चेति ॥९७९॥१५२॥

१ ०काः- मु. ॥ २ यथा० वि. ॥ ३ यथा० मु. ॥ ४ वा-मु. ॥

इदानीं 'सड्ढपडिमाओ' त्ति त्रिपञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह—

[1]दंसण १ वय २ सामाइय ३ पोसह ४ पडिमा ५ अबंभ ६ सच्चित्ते ७ ।
आरंभ ८ पेस ९ उद्दिट्ठ १० वज्जए समणभूए ११ य ॥९८०॥
जस्संखा जा पडिमा तस्संखा तीए हुंति मासावि ।
कोरंतीसुवि कज्जाउ तासु पुव्वुत्तकिरिया उ ॥९८१॥
पसमाइगुणविसिट्ठं कुग्गहसंकाइसल्लपरिहीणं ।
[2]सम्मदंसणमणहं दंसणपडिमा हवइ पढमा १ ॥९८२॥
[3]बीयाणुव्वयधारी २ सामाइकडो य होइ तइयाए ३ ।
होइ चउत्थी चउद्दसीअट्ठमिमाईसु [4]दियहेसु ॥९८३॥
पोसह चउव्विहंपि य पडिपुण्णं सम्म सो उ अणुपाले ।
बंधाई अइयारे पयत्तओ [5]वज्जईमासु ॥९८४॥
सम्ममणुव्वयगुणवयसिक्खावयवं थिरो य नाणी य ।
[6]अट्ठमिचउद्दसीसु' पडिमं ठाएगराईयं ॥९८५॥

[1] तुलना-पञ्चाशकप्र १०।३तः, आवश्यकहारिभद्रीयावृत्तिः प. ६४६, धर्मसं. वृत्तिः भा. १ । प. २५८ तः । सुदंसणा चरियं उद्देश १६, गा. २७३ तः प. १३३ ॥ २ सम्मदंसणमेव–ता. ॥ ३ बीया अणुव्वयधरा-ता. ॥ ४ दिवसेसु-मु. दिहयेसु–जे. २ । पञ्चाशकेऽपि दिहयेसु इति पाठः ॥ ५ वज्जइ इमासु–ता. ॥ ६ अट्ठमी० मु. समवायाङ्गवृत्तौ [प. २० A] च । पञ्चाशकेऽपि अट्ठमि० इति पाठः ॥

असिणाण[1] वियडभोई मउलियडो दिवसबंभयारी य ।
रत्ति परिमाणकडो पडिमावज्जेसु दिवसेसु ॥९८६॥
झायइ पडिमाए ठिओ तिलोयपुज्जे जिणे जियकसाए ।
नियदोसपच्चणीयं अन्नं वा पंच जा मासा ॥९८७॥ [पञ्चाशकप्र. १०।१७-१९]
सिंगारकहविभूसुक्करिसं इत्थीकहं च वज्जिंतो ।
वज्जइ अबंभमेगंतओ य छट्ठाइ छम्मासे ॥९८८॥
सत्तमि सत्त उ मासे नवि आहारइ सच्चित्तमाहारं ।
जं जं हेट्ठिल्लाणं [2]तं तूवरिमाण सव्वंपि ॥९८९॥
आरंभसयकरणं अट्ठमिया अट्ठ मास वज्जेइ ।
नवमा नव मासे पुण पेसारंभेऽवि वज्जेइ ॥९९०॥
दसमा दस मासे पुण उद्दिट्ठकयंपि [3]भत्त नवि भुंजे ।
सो होइ उ छुरमुंडो सिहलिं वा धारए कोई ॥९९१॥
जं निहियमत्थजायं पुच्छंत [4]सुयाण नवरि सो तत्थ ।
जइ जाणइ तो साहइ अह नवि तो बेइ नवि याणे ॥९९२॥

---

१ ०णि-पो. ॥ २ त तं चरि० मु. । त तुमुवरि० ता. । तं तूवरि० पो. ॥ ३ भोत्तु नवि-जे.२ । भत्तमवि-जे. ॥
४ सुआ।ण-वि. ॥

खुरमुंडो [1]लोएण व रयहरणं पडिग्गहं च गिण्हित्ता ।
[2]समणब्भूओ विहरइ मासा एक्कारसुक्कोसं ॥९९३॥
ममकारेऽवोच्छिन्ने वच्चइ सन्नायपल्लि दट्ठं जे ।
तत्थवि साहुव्व जहा गिण्हइ [3]फासुं तु आहारं ॥९९४॥

'दंसण' गाहा, [8]दर्शनं च–सम्यक्त्वम्, व्रतानि च–अणुव्रतादीनि, सामायिकं च–सावद्या-ऽनवद्ययोगपरिवर्जनासेवनस्वरूपम्, पौषधं च–अष्टमी-चतुर्दश्यादिपर्वदिनानुष्ठेयोऽनुष्ठानविशेषः, प्रतिमा च कायोत्सर्गः, अब्रह्म च–अब्रह्मचर्यम्, सचित्तं च–सचेतनद्रव्यम् इति समाहारद्वन्द्वः । तत एतस्मिन् विषये प्रतिमेति प्रस्तावादवसेयम्, अत्र च दर्शनादिषु पञ्चसु विधिद्वारेण प्रतिमाभिग्रहः, अब्रह्म सचित्तयोस्तु प्रतिषेधमुखेनेति । तथा आरम्भश्च–स्वयं कृष्यादिकरणम्, [4]प्रैषश्च–प्रेषणं परेषां पापकर्मसु व्यापारणम्, उद्दिष्टं च–तमेव श्रावकमुद्दिश्य [5]सचेतनं सदचेतनीकृतं पक्वं वा यो वर्जयति–परिहरति स [7]आरम्भप्रैषोद्दिष्टवर्जकः । प्रतिमेति प्रकृतमेव, इह च प्रतिमानां प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रतिमा-प्रतिमावतोरभेदोपचारात्प्रतिमावतो निर्देशः कृतः, एवमुत्तरत्रापि । तथा श्रमणः–साधुः स इव यः स श्रमणभूतः, भूतशब्दस्योपमानार्थत्वात् । चः समुच्चये । आसां च दर्शन[8]प्रतिमा व्रतप्रतिमेत्यादिरूपोऽभिलापः कार्यः । एता एकादश श्राद्धानाम्–उपासकानां प्रतिमाः–प्रतिज्ञा अभिग्रहाः श्राद्धप्रतिमा इति ॥९८०॥

१ ०डा-ता. ॥ २ समणो हुओ-मु. ॥ ३ फास-वि. सि ॥ ४ तुलना–पञ्चाशकवृत्ति. प. १६३ ॥ ५ प्रेषश्च-ख. सि. ॥ ६ सचेतनमचे० वि. ॥ ७ आरम्भप्रेषो० ख. सि पञ्चाशकवृत्तौ च ॥ ८ प्रतिमाव्रतानां-खं. प्रतिमादीनां प्रतिमे० सि. ॥

अथैतासामेव प्रतिमाणां प्रत्येकं स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुः प्रथमं तावत् कालमानं सामान्यस्वरूपं चाह— जस्संखे' त्यादि, यत्सङ्ख्या–यावत्सङ्ख्यामाना प्रथम-द्वितीयादिकेत्यर्थः प्रतिमा तस्यां मासा अपि तत्सङ्ख्याः–तावत्प्रमाणा भवन्ति । अयमर्थः–प्रथमायां प्रतिमायामेको मासः कालमानम्, द्वितीयायां द्वौ मासौ, तृतीयायां त्रयो मासा यावदेकादश्यां प्रतिमायामेकादश मासा इति ।

एतच्च कालमानं यद्यपि दशाश्रुतस्कन्धादिषु साक्षान्नोपलभ्यते [1]तथाऽप्युपासकदशासु प्रतिमाकारिणामानन्दादिश्रमणोपासकानां सार्धवर्षपञ्चकलक्षणं प्रतिमैकादशप्रमाणं प्रतिपादितमस्ति, तच्च पूर्वोक्तयैव एकादिकयैकोत्तरया वृद्धया सङ्गच्छत इति । तथा उत्तरोत्तरास्वपि तासु प्रतिमासु क्रियमाणासु पूर्वपूर्वप्रतिमाप्रतिपादिताः सर्वा अपि क्रिया–अनुष्ठानविशेषरूपाः कर्तव्या एव । तुशब्द एवकारार्थः ।

इदमत्र तात्पर्यम्–द्वितीयायां प्रतिमायां प्रथमप्रतिमोक्तमनुष्ठानं निरवशेषमपि कर्तव्यम्, तृतीयायां तु प्रतिमायां प्रथमद्वितीय [2]प्रतिमाद्वयोक्तमप्यनुष्ठानं विधेयम्, एवं यावदेकादश्यां प्रतिमायां पूर्वप्रतिमा [3]दशकोक्तं सर्वमप्यनुष्ठानं विधेयम्, एवं यावदेकादश्यां प्रतिमायां पूर्वप्रतिमा[4]दशकोक्तं सर्वमप्यनुष्ठानं कार्यमिति ॥९८१॥

अथ दर्शनप्रतिमास्वरूपनिरूपणायाह— **'पसमे'** त्यादि, सम्यग्दर्शनं–सम्यक्त्वं [5]प्रथमा दर्शन-

१ उपासकदशावृत्तिः (प. १७ तः) द्रष्टव्या ॥ २ ०प्रतिमोक्त० खं. ॥ ३ ०दशोक्तं–खं. ॥ ४ ०दशोक्तं–खं. ५ प्रतिमा–रो. ॥

प्रतिमा भवतीति सम्बन्धः । कथम्भूतं सम्यग्दर्शनमित्याह—प्रशमादिगुणविशिष्टं— [1]प्रशम-संवेग-निर्वेदा-ऽनुकम्पा-ऽऽस्तिक्यलक्षणैः पञ्चभिर्गुणैर्विशिष्टम्—अन्वितम्, तथा कुग्रहश्च-तत्त्वं प्रति शास्त्रबाधितत्वेन कुत्सितोऽभिनिवेशः, शङ्कादयश्च—शङ्का-काङ्क्षा-विचिकित्सा-मिथ्यादृष्टिप्रशंसा-तत्संस्तवरूपाः पञ्च सम्यक्त्वातीचाराः कुग्रहशङ्कादयस्त एव शल्यते—अनेकार्थत्वाद्बाध्यते जन्तुरेभिरिति शल्यानि, तैः परिहीनं—रहितम्, अत एव अनघं—निर्दोषम्,

अयमत्र भावार्थः—सम्यग्दर्शनस्य कुग्रहशङ्कादिशल्यरहितस्याणुव्रतादिगुणविकलस्य योऽभ्युपगमः सा [2]दर्शनप्रतिमेति । सम्यग्दर्शनप्रतिपत्तिश्च तस्य पूर्वमप्यासीत् केवलमिह शङ्कादिदोषराजाभियोगाद्याकारषट्कवर्जितत्वेन यथावत्सम्यग्दर्शनाचारविशेषपरिपालनाभ्युपगमेन च प्रतिमात्वं सम्भाव्यते । कथमन्यथा उपासकदशासु एकमासं प्रथमायाः [3]प्रतिमायाः पालनेन, द्वौ मासौ द्वितीयायाः प्रतिमायाः पालनेन, एवं यावदेकादश मासानेकादश्याः पालनेन पञ्च सार्धानि वर्षाण्यर्थतः प्रतिपादितानीति, न चायमर्थो

१ तुलना— "अत्थिक्काइगुणजुतो–(१०।६) अथ गुणसद्भावमाह—आस्तिक्यादिगुणयुत आस्तिक्या-ऽनुकम्पा-निर्वेद-संवेग-प्रशमगुणान्वितः । ग्रन्थान्तरे तु यथाप्रधानन्यायमाश्रित्य प्रशमादयोऽभिधीयन्ते । इह त्वास्तिक्यप्रभवत्वात्क्रमेणान्येषामेवमुपन्यासः । आस्तिक्यमेव चोररीकृत्य दशाश्रुतस्कन्धादौ दर्शनप्रतिमोच्यते । तथाहि—'पढमं उवासगपडिमं पडिवण्णे समणोवासए सव्वधम्मरुई आविभवई, आहियदिट्ठी आहियपण्णे' (   ) इत्यादि तत्सूत्रम् । अत आस्तिक्यादिगुणयुत इत्युक्तम् ।" इति पञ्चाशकवृत्तौ प. १६४॥
२ दर्शन० जे.खं. नास्ति, सि. प्रतौ पार्श्वभागे योजितम् ॥ ३ प्रतिमायाः-खं. सि. पो. नास्ति ॥

दशाश्रुतस्कन्धादावुपलभ्यते । श्रद्धामात्ररूपायास्तत्र तस्याः प्रतिपादनात्, एवं दर्शन (व्रत) प्रतिमादिष्वपि यथायोगं भावना कार्या ॥१८२॥

अथ गाथाद्वयेन व्रत-सामायिक-पौषधप्रतिमात्रयमाह—'बीये' त्यादि, अणुव्रतानि—स्थूलप्राणातिपात-विरमणादीनि, उपलक्षणत्वाद् गुणव्रतानि शिक्षाव्रतानि च वध-बन्धाद्यतिचाररहितानि निरपवादानि च धारयतः सम्यक्परिपालयतो द्वितीया व्रतप्रतिमा भवति । सूत्रे च प्रतिमा-प्रतिमावतोरभेदोपचारादित्थं निर्देशः । तथा तृतीयायां—सामायिकप्रतिमायां सामायिकं—सावद्ययोगपरिवर्जननिरवद्ययोगासेवनस्वभावं कृतं-विहितं देशतो येन स सामायिककृतः । आहिताग्न्यादिदर्शनात् क्तान्तस्योत्तरपदत्वम् । इदमुक्तं भवति—अप्रतिपन्नपौषधस्य दर्शनव्रतोपेतस्य प्रतिदिनमुभयसन्ध्यं सामायिककरणं तृतीया प्रतिमेति । तथा [1]भवति चतुर्थी पौषधप्रतिमा यस्यां चतुर्दश्यष्टम्यादिषु दिवसेषु—चतुर्दश्यष्टम्यमावास्यापौर्णमासीषु पर्वतिथिषु चतुर्विधमप्याहार-शरीर-सत्कारा-ऽब्रह्मचर्य-व्यापारपरिवर्जनरूपं पौषधं परिपूर्णम्, न पुनरन्यतरेणापि प्रकारेण परिहीनं सम्यग् आगमोक्तविधिना स—प्रतिमाप्रतिपत्ता तुशब्दस्यावधारणार्थत्वादनुपालयत्येव—आसेवत एव । एतासु चतसृष्वपि व्रतादिषु प्रतिमासु बन्धादीन्—बन्ध-वध-च्छविच्छेदप्रभृतीन् [2]पष्टिसंख्यान् अतिचारान् द्वादशव्रतविषयान् प्रयत्नतो वर्जयति—परिहरतीति ॥१८३॥१८४॥

अथ प्रतिमाप्रतिमास्वरूपमाह—'सम्ममणुव्वय' गाहा, सम्म' त्ति सम्यक्त्वं मकारोऽला-

१ भवति मु. नास्ति ॥ २ पष्टिसङ्ख्यान्-जे. नास्ति सि. प्रतौ पार्श्वभागे योजितम् ॥

क्षणिकः अणुव्रत-गुणव्रत-[1]शिक्षाव्रतपदानि च यस्य विद्यन्ते स तद्वान्, पूर्वोक्तप्रतिमाचतुष्टयान्वित इत्यर्थः। स्थिरः-अविचलसत्त्वः, इतरो हि तद्विराधको भवति। यतोऽस्यां प्रतिमायां निशि चतुष्पथादौ कायोत्सर्गः क्रियते, तत्र चोपसर्गाः प्रभूताः सम्भवन्तीति। ज्ञानी च-प्रतिमाकल्पादिपरिज्ञानप्रवणः, अजानानो हि सर्वत्राप्ययोग्यः किं पुनरेतत्प्रतिमाप्रतिपत्ताविति। अष्टमीचतुर्दश्योरुपलक्षणत्वादष्टमीचतुर्दश्यमावास्या-पौर्णमासीरूपेषु पौषधदिनेष्वपि द्रष्टव्यम्, 'प्रतिमां' कायोत्सर्गं 'ठाइ' त्ति तिष्ठति, धातूनामनेकार्थत्वात्करोतीत्यर्थः। किम्प्रमाणामित्याह-एका रात्रिः परिमाणमस्या इत्येकरात्रिकी- [2]सर्वरात्रिकी तां यस्तस्य प्रतिमा [3]प्रतिमा भवतीति शेषः ॥९८५॥

शेषदिनेषु यादृशोऽसौ भवति तद्दर्शयितुमाह— [4]'असिणाणे' त्यादि, अस्नानः-स्नानपरिवर्जकः, विकटे-प्रकटे प्रकाशे दिवा न रात्रावित्यर्थः, दिवापि वा प्रकाशदेशे भुङ्क्ते-अशनाद्यभ्यवहरतीति विकटभोजी। पूर्वं किल रात्रिभोजनेऽनियम आसीत् तदर्थमिदमुक्तम्, 'मउलियडो' त्ति अबद्धपरिधानकच्छ इत्यर्थः। तथा दिवसे-दिवा ब्रह्म चरतीत्येवंशीलो दिवसब्रह्मचारी। 'रत्तिं' त्ति रात्रौ किमत आह-परिमाणं-स्त्रीणां तद्भोगानां वा प्रमाणं कृतं येन स परिमाणकृतः। कदेत्याह-प्रतिमावर्जेषु-कायोत्सर्गरहितेष्वपर्वस्वित्यर्थः, दिवसेषु-दिनेष्विति ॥९८६॥

---

१ शिक्षाव्रतानि-मु.। ०शिक्षापदानि-जे. खं. पो. ॥ शिक्षाव्रतपदानि-इति पञ्चाशकवृत्तौ पाठः प. १६८। तुलना-पञ्चाशकवृत्तिः ॥ २ सार्वे० मु.। खं. सि. पो. प्रतिषु पञ्चाशकवृत्तावपि सर्व० इति पाठः ॥ ३ प्रतिमा-मु. नास्ति ॥ ४ तुला-'असिणाइ' त्ति अस्नायी स्नानपरिवर्जकः, क्वचित्पठ्यते-'अनिसाइ' त्ति न निशायामत्तीत्यनिशादी।' इति समवायाङ्गवृत्तौ प. २० A ॥

अथ कायोत्सर्गस्थितो यच्चिन्तयति तदाह— '**झायई**' त्यादि, ध्यायति—चिन्तयति प्रतिमायां कायोत्सर्गस्थितः—अवस्थितस्त्रिलोकपूज्यान्—त्रिभुवनाभ्यर्चनीयान् जिनान्-तीर्थकृतो जितकषायान्—निरस्तसमस्तद्वेषादिदोषान्, अन्यद्वा जिनापेक्षया निजदोषप्रत्यनीकं—स्वकीयकाम-क्रोधप्रमुखदूषणप्रतिपक्षभूतं कामनिन्दा-क्षान्तिप्रभृतिकं ध्यायति । कियत्प्रमाणेयं पञ्चमी प्रतिमेत्याह— [1]पञ्च मासान् यावदिति ॥९८७॥

अथ षष्ठीं प्रतिमामाह— '**सिंगारे**' त्यादि, शृङ्गारकथा—कामकथा, तथा विभूषायाः—स्नानविलेपन-[2]धूपनप्रभृतिकाया [3]उत्कर्षः— [4]प्रकर्षः, ततः समाहारद्वन्द्वः, तद्वर्जयन्—परिहरन्; उत्कर्षग्रहणाच्छरीरमात्रानुगां विभूषां विदधान्यपीति । तथा स्त्रिया—योषिता सह रहसि कथां—प्रणयवार्तां वर्जयन्; किमित्याह—वर्जयति अब्रह्म-मैथुनमेकम्, '**तओ य**' त्ति [5]तकः—असौ प्रतिमाप्रतिपत्ता, षष्ठ्याम्—अब्रह्मवर्जनप्रतिमायां षण्मासान् यावत् । पूर्वस्यां हि प्रतिमायां दिवस एव मैथुनं प्रतिषिद्धम्, रात्रौ पुनरप्रतिषिद्धमासीत्; अस्यां तु दिवापि रजन्यामपि च सर्वथापि मैथुनप्रतिषेधः । अत एवात्र चित्तविप्लुतिविधायिनां कामकथादीनामपि प्रतिषेधः कृत इति ॥९८८॥

अथ सप्तमीं प्रतिमामाह—'**सत्तमी**' त्यादि, सप्तम्यां—सचित्ताहारवर्जनप्रतिमायां सप्त मासान् यावत् सचित्तं—सचेतनमाहारम्—अशन-पान-खादिम-स्वादिमस्वरूपं नैवाहारयति—अभ्यवहरति । तथा यद्यदधस्तनीनां— [6]प्राक्तनीनां प्रतिमानामनुष्ठानं तत्तत्सर्वमपि—निरवशेषमुपरितनीनाम्—अग्रेतनप्रतिमानामव-

१ एव पञ्च-पो. ॥ २ ०धूपप्र० मु. ॥ ३ उत्कर्षतः—खं. पो. ॥ ४ प्रकर्षतः-खं. ॥ ५ ततः कोसौ प्रतिमाप्रत्त्या—जे. ॥ ६ प्राक्तनीनां—ख. नास्ति ॥

सेयम्, एतच्च प्रागुक्तमपि विस्मरणशीलविनेयजनानुग्रहाय पुनरुपन्यस्तम्, एवमन्यत्रापि ॥१८९॥

अथाष्टमी-नवम्यौ प्रतिमे प्रतिपादयितुमाह—'आरंभे' त्यादि, अष्टमी—स्वयमारम्भवर्जनप्रतिमा भवति यस्यामष्टौ मासान् यावदारम्भस्य—पृथिव्याद्युपमर्दनलक्षणस्य स्वयम्—आत्मना करणं—विधानं वर्जयति—परिहरति । स्वयमिति वचनाच्चैतदापन्नं— [1]वृत्तिनिमित्तमारम्भेषु तथाविधतीव्रपरिणामरहितः परैः कर्मकरादिभिः सावद्यमपि व्यापारं कारयतीति ।

ननु स्वयमप्रवर्तमानस्याप्यारम्भेषु प्रेष्यान् व्यापारयतः प्राणिहिंसा तदवस्थैव, सत्यम्, किन्तु [2]या सर्वथैव स्वयमारम्भाणां करणतः परैश्च कारणत उभयजन्या हिंसा सा स्वयमकरणतस्तावत्परिहृतैव । यतः स्वल्पोऽपि प्रारम्भः परिहृयमाणः प्रोज्जृम्भमाणमहाव्याधेः स्तोकतर-स्तोकतमक्षय इव हित एव [3]भवतीति ।

एषा पुनर्नवमी—प्रेष्यारम्भवर्जनप्रतिमा भवति; यस्यां नव मासान् यावत् पुत्र-भ्रातृप्रभृतिषु न्यस्त-समस्तकुटुम्बादिकार्यभारतया धन-धान्यादिपरिग्रहेष्वल्पाभिष्वङ्गतया प्रेष्यैरपि—कर्मकरादिभिरपि आस्तां स्वयम् आरम्भान्—सपापव्यापारान् महतः कृष्यादीनिति भावः । आसनदापनादिव्यापाराणां पुनरतिलघू-नामनिषेध एव; तथाविध[4]कर्मबन्धहेतुत्वाभावेनारम्भत्वानुपपत्तेः ॥१९०॥

अथ दशमीं प्रतिमामाह—'दसमे' त्यादि, दशमी पुनरुद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमा दश मासान् याव-द्भवति, यस्यामुद्दिष्टम्—उद्देशस्तेन कृतं—विहितमुद्दिष्टकृतम्; तमेव श्रावकमुद्दिश्य संस्कृतमित्यर्थः ।

१ वृत्तिनिवृत्त० ख. ॥ २ या—जे. नास्ति ॥ ३ भवति—मु. सि. ॥ ४ ०कर्म० जे. नास्ति ॥

एवंस्वरूपं भक्तमपि–ओदनादिकं नैव भुञ्जीत, आस्तां तावदितरसावद्यव्यापारकरणमित्यपिशब्दार्थः । 'सो होइ' त्ति स पुनर्दशमप्रतिमाप्रतिपत्ता कश्चित् क्षुरमुण्डः–क्षुरमुण्डितमस्तको भवति, 'सिहिलिं' ति शिखां वा शिरसि कोऽपि धारयतीति ॥९९१॥

तथा–'जं निहिय' गाहा, नवरं–केवलं स श्रावकस्तत्र–तस्यां दशमप्रतिमायां स्थितो यन्निहितं–भूम्यादौ [1]निक्षिप्तमर्थजातं–द्रव्यं सुवर्णादिकं तत्पृच्छतां सुतानां- पुत्राणाम् उपलक्षणत्वाद्भ्रात्रादीनां च यदि जानाति ततः कथयति, अकथने वृत्तिच्छेदप्राप्तेः; अथ नैव जानाति ततो ब्रूते–नैवाहं किमपि जानामि–स्मरामीति । एतावन्मुक्त्वा नान्यत्किमपि तस्य गृहकृत्यं कर्तुं कल्पत इति तात्पर्यम् ॥९९२॥

अथैकादशीं प्रतिमामाह–'खुरमुंडो' गाहा, क्षुरेण मुण्डो- मुण्डितः क्षुरमुण्डो लोचेन वा–हस्तलुञ्चनेन मुण्डः सन् रजोहरणं पतद्ग्रहं च उपलक्षणमेतत् सर्वमपि साधूपकरणं गृहीत्वा [2]'समणभूओ' त्ति श्रमणो–निर्ग्रन्थस्तद्वद् यस्तदनुष्ठानकरणात्स श्रमणभूतः साधुकल्प इत्यर्थः, विहरेत्–गृहान्निर्गत्य निखिलसाधुसामाचारीसमाचरणचतुरः समिति-गुप्त्यादिकं [3]च सम्यगनुपालयन् , [4]भिक्षार्थं गृहिकुलप्रवेशे सति श्रमणोपासकाय प्रतिमाप्रतिपन्नाय भिक्षां दत्तेति भाषमाणः, कस्त्वमिति कस्मिंश्चित्पृच्छति प्रतिमाप्रतिपन्नः श्रमणोपासकोऽहमिति ब्रुवाणो ग्राम-नगरादिष्वनगार इव मासकल्पादिना विचरेदेकादश मासान् यावदिति । एतच्चोत्कृष्टतः कालमानमुक्तम् , जघन्यतः पुनरेकादशापि प्रतिमाः प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तादिमाना एव; तच्च मरणे वा प्रव्रजितत्वे वा [5]सम्भवति, नान्यथेति ॥९९३॥

१ क्षिप्त० सि. वि. ॥ २ समणहूओ-मु. ॥ ३ च-मु. नास्ति ॥ ४ तुला–समवायाङ्गवृत्तिः प. २० ॥ ५ प्रव्रजति-सि. वि. ॥

तथा—'**ममकारे**' गाहा, ममेत्यस्य करणं ममकारस्तस्मिन्नव्यवच्छिन्ने—अनपगते सति, अनेन स्वजनदर्शनार्थित्वकारणमुक्तम्, संज्ञाताः—स्वजनास्तेषां पल्ली—सन्निवेशस्तां संज्ञातपल्लीं व्रजति—गच्छति द्रष्टुं—विलोकयितुं संज्ञातानिति गम्यते। 'जे' इति पादपूरणे, तत्रापि—संज्ञातपल्ल्यामपि, आस्तामन्यत्र, साधुरिव—संयत इव वर्तते, न पुनः स्वजनोपरोधेन गृहचिन्तादिकं कुर्यात्। यथा च साधुः प्रासुकमेषणीयं च गृह्णाति तथा सोऽपि श्रमणभूतप्रतिमाप्रतिपत्ता[1] प्रासुकमेव—प्रगतासुकमेवाचेतनमेवोपलक्षणत्वादस्यैषणीयं चाहारम्—अशनादिकं गृह्णातीति। ज्ञातयो हि स्नेहादनेषणीयं भक्तादि कुर्वन्ति, आग्रहेण च तद् ग्राहयितुमिच्छन्ति, अनुवर्तनीयाश्च ते प्रायो भवन्तीति तद्ग्रहणं सम्भाव्यते, तथापि तदसौ न गृह्णातीति भावः॥

इह चोत्तरासु सप्तसु प्रतिमास्वा**वश्यकचूर्ण्यां** प्रकारान्तरमपि दृश्यते, तथाहि—

[2]''राईभत्तपरिन्नाएत्ति पञ्चमी, सचित्ताहारपरिन्नाएत्ति षष्ठी, दिया ब्रह्मचारी राओपरिमाणकडेत्ति सप्तमी, दियावि[3]राओवि बंभयारी असिणाणए वोसट्ठकेसमंसुरोमनहेत्ति अष्टमी, सारंभपरिन्नाएत्ति नवमी, पेसारंभपरिन्नाएत्ति दशमी, [4]उद्दिट्ठभत्तविवज्जए समणभूएत्ति एकादशी'' [भा. २। पृ. १२०] ति ॥९९४॥१५३॥

इदानीं '**धन्नागम[5]बीयत्तं**' ति चतुष्पञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह—

जव १ जवजव २ गोहुम ३ सालि ४ वीहि ५ धन्नाण कोट्ठयाईसु[1]।
खिविऊणं पिहियाण लित्ताणं मुद्दियाणं च ॥९९५॥

१ °न्नः-मु.॥ २ तुला—समवायाङ्गवृत्तिः प. १०तः। पञ्चाशकवृत्तिः १०।३६॥ ३ राओवि-वि. नास्ति ॥ ४ उद्दिट्ठन्नविवज्जए-मु। उद्दिट्ठभत्तवज्जए-इति समवायाङ्गवृत्तौ [प. २१ A] पञ्चाशकवृत्तौ [१०।३६] च पाठः॥ उद्दिट्ठभत्तविवज्जिए ख.वि.॥ ५ वीयति त्ति खं. ॥ तुलना-भगवतीसू. २४७ ॥

उक्कोसेणं ठिइ [1]होइ तिन्नि वरिसाणि तयणु एएसिं ।
विद्धंसिज्जइ जोणी तत्तो जायइ अबीयत्तं ॥९९६॥
तिल १ मुग्ग २ मसुर ३ कलाय ४ मास ५ [2]चवलय ६ कुलत्थ ७ तुवरीणं ८ ।
तह कसिणचणय ९ वल्लाण १० कोट्ठयाईसु खिविऊणं ॥९९७॥
ओलित्ताणं पिहियाण लंछियाणं च मुद्दियाणं च ।
उक्किट्ठठिई वरिसाण पंचगं तो अबीयत्तं ॥९९८॥
अयसी १ लट्टा २ कंगू ३ कोडूसग ४ सण ५ वरट्ट ६ सिद्धत्था ७ ।
कोद्दव ८ रालग ९ मूलगबीयाणं १० [3]कोट्ठयाईसु ॥९९९॥
निक्खित्ताणं एयाणुक्कोसठिईए[4] सत्त वरिसाइं ।
होइ जहन्नेण पुणो अंतमुहुत्तं समग्गाणं ॥१०००॥

'जव जवे' त्यादिगाथाद्वयम् , यवा गोधूमाश्च प्रतीताः, यवयवा–यवविशेषाः, शालयः–कलमादि-विशेषाः, व्रीहयः–सामान्यतः, एतेषां धान्यानां कोष्ठकादिषु–कुशूल-पल्यप्रभृतिषु क्षिप्त्वा–प्रक्षिप्य पिहितानां–तथाविधपिधानकेन स्थगितानाम् , लिप्तानां–द्वारदेशे पिधानेन सह गोमयादिना सर्वतोऽवलिप्तानाम् , मुद्रितानां च–मृत्तिकादिमुद्रावतामुत्कर्षतस्त्रीणि वर्षाणि यावत् स्थितिः--अविनष्टयोनिकत्वेन अवस्थानं [5]भवति । तदनु–ततः परमेतेषां--यवादीनां पञ्चानां धान्यानां योनिः--अङ्कुरोत्पत्तिहेतुर्विध्वस्यते--क्षीयते,

१ होई-वि. सि. ॥ २ कव० वि. सि. ॥ ३ कोट्ठईयासु–मु. । कोट्टाईयाईसु–सि. । कोट्ठयाईसु–ता. ॥ ४ ०ए-वि. नास्ति ॥ ५ भवतीति–मु. ॥

ततो--योनिविध्वंसे सति जायतेऽबीजत्वं--तद्बीजमबीजं भवति, उप्तमपि नाङ्कुरमुत्पादयतीति भावः ॥९९५॥९९६॥

तथा-'तिले' त्यादि, तिल-मुद्ग-माष-चवलकाः प्रतीताः, [1]मसूरो--वृत्ताकारो धान्यविशेषः, (ग्रन्था० ७००) [2]चनकिका इत्यन्ये, [3]कलायः--त्रिपुटाख्यो धान्यविशेषः, कुलत्थाः--चवलकाकारा [4]श्चिपिटिका भवन्ति, तुवर्यः--आढक्यः, वृत्तचणकाः--शिखारहिता वृत्ताकाराश्चणकविशेषाः, वल्ला--निष्पावाः, एतेषां दशानां धान्यानां कोष्ठकादिषु क्षिप्त्वा पिहितानां ततोऽवलिप्तानां ततो लाञ्छितानां--रेखादिभिः कृतलाञ्छनानां मुद्रितानां चोत्कृष्टा स्थितिर्वर्षपञ्चकं यावद्भवतिः ततोऽबीजत्वं जायते । छन्दोऽनुरोधाच्च पिहिता-ऽवलिप्तयोर्व्यतिक्रमनिर्देशः ॥९९७॥९९८॥

प्र. आ. २९६

'अयसी' त्यादि गाथाद्वयम् , अतसी--क्षुमा, लट्टाकुसुम्भम् , कङ्गुः--पीततण्डुलाः,'कोडूसग' त्ति कोरदूषकः[5] कोद्रवविशेषः, शणं--त्वक्प्रधानो धान्यविशेषः, [6]'वरट्ट' त्ति धान्यविशेषः, स बरठीति सपादलक्षादिषु प्रसिद्धः, सिद्धार्थाः--सर्षपाः, कोद्रवाः प्रतीता एव, रालकः--कङ्गुविशेषः, मूलकं--शाकविशेषस्तस्य बीजानि मूलकबीजानि, एतेषां दशानामपि धान्यानां कोष्ठकादिषु निक्षिप्तानाम् , उपलक्षणमेतत् पिहितानामवलिप्तानां लाञ्छितानां मुद्रितानां चोत्कृष्टायां स्थितौ सप्त वर्षाणि भवन्ति ।

जघन्येन पुनः समग्राणां--सर्वेषामपि पूर्वोक्तानां धान्यानामन्तर्मुहूर्तं [7]स्थितिर्भवति । अन्तर्मुहू-

१ तुला-भगवतीसूत्रवृत्तिः प. २७४ ॥ २ चनि० खं. ॥ ३ कलायास्त्रि० ख. सि. ॥ ४ ०श्चिपिटा-खं. ॥
५ ०काः-कोद्रवविशेषा -मु. ॥ ६ वरठत्ति-मु. । वरट्टीत्ति सि. ॥ ७ स्थितिर्भवेत्-वि. सि. ॥

र्ताच्च परतः स्वायुःक्षयादेवाचित्तता जायते; सा च परमार्थतोऽतिशयज्ञानेनैव सम्यक्परिज्ञायते, न छाद्मस्थिकज्ञानेनेति न व्यवहारपथमवतरति। अत एव च पिपासापीडितानामपि साधूनां स्वभावतः स्वायुःक्षयेणाचित्तीभूतमपि तडागोदकं पानाय **वर्धमानस्वामी** भगवान् नानुज्ञातवान् । इत्थंभूतस्याचित्तीभवनस्य छद्मस्थानां दुर्लक्षत्वेन मा भूत्सर्वत्रापि तडागोदके सचित्तेऽपि पाश्चात्यसाधूनां प्रवृत्तिप्रसङ्ग इति कृत्वा ॥९९१॥१०००॥१५४॥

इदानीं '**खेत्ताइयाणऽचित्तं**' ति पञ्चपञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह—

जोयणसयं तु गंता अणहारेणं तु भंडसंकंतो ।
[1]वायागणिधूमेहि य विद्धत्थ होइ लोणाई ॥१००१॥
हरियालो मणसिल पिप्पली उ खज्जूर मुद्दिया अभया ।
आइन्नमणाइन्ना तेऽवि हु एमेव नायव्वा ॥१००२॥
आरुहणे ओरुहणे निसियण गोणाइणं च गाउम्हा ।
भोम्माहारच्छेओ उवक्कमेणं तु परिणामो ॥१००३॥

[बृहत्कल्पभाष्ये गा. ९७३-५ । निशीथभाष्ये गा. ४८३३-५]

'**जोयणसयं तु**' गाहा, एकं योजनशतं गत्वा—अतिक्रम्य लवणादि विध्वस्तम्—अचित्तं भवति; केनेत्याह—अनाहारेण—स्वदेशजसाधारणाहाराभावेन । अयमर्थः—विवक्षितक्षेत्रादन्यत्र क्षेत्रे लवणादिकं यदा नीयते तदा तत्प्रतिदिनं विध्वस्यमानं २ तावद्गच्छति यावद्योजनशतम्; योजनशतादूर्ध्वं पुनर्भिन्नाहारत्वेन

१ वायागणिधूमेहिं-सि॰ निशीथभाष्ये च । वायागणि धूमेण—इति बृ॰ क॰ भाष्ये, धर्मसङ्ग्रहवृत्तौ [भा॰ १ प॰ ७७] च पाठः ॥

शीतादिसम्पर्कतश्चावश्यमचित्ती [1]भवतीति। केचित्तु योजनशतस्थाने गव्यूतशतं पठन्ति। यदुक्तं निशीथचूर्णौ 'केई पठंतिगाउयसयगाहा' [भाष्यगाथा ४८३३, भा. ३, पृ. ५१६] इति ।

तथा 'भंडसंकंतो' ति प्राकृतत्वेन विभक्तिव्यत्ययात् भाण्डसङ्क्रान्त्या—पूर्वभाजनादपरभाजनप्रक्षेपणेन पूर्वभाण्डशालाया वाऽन्यभाण्डशालासञ्चारणेन वाता-ऽग्निधूमैश्च योजनशतमगतमपि स्वस्थानेऽन्तरे वा वर्तमानं लवणादिकमचित्तं भवतीति । इत्थं च क्षेत्रादिक्रमेणाचित्तीभवनं पृथिवीकायिका[2]दीनां वनस्पतिपर्यन्तानां सर्वेषामपि प्रतिपत्तव्यम् ॥१००१॥

अत एवाह—'हरियाले' त्यादि, हरितालादयः प्रतीता एव, नवरं [3]मुद्रिका--द्राक्षा, अभया--हरितकीः, एतेऽप्येवमेव ज्ञातव्याः, योजनशतात्परतः पूर्वोक्तैरेव हेतुभिरचित्तीभवन्तीति भावः । 'आइन्नमणाइन्न' त्ति योजनशतादागता अपि केचिदाचीर्णाः, केचित्पुनरनाचीर्णाः, तत्र पिप्पली-हरितक्यादय आचीर्णा अतो गृह्यन्ते, खर्जूर द्राक्षादयः पुनरनाचीर्णास्ततोऽ[4]चित्ता अपि न गृह्यन्ते इति ॥१००२॥

अथ लवणादीनामेवाचित्तताकारणाभिव्यञ्जनायाह—'आरुहणे' इत्यादि, तेषां लवणादीनामारोहणे--शकटगवादिपृष्ठादिष्वधिरोपणे सति, तथा अवरोहणे शकटादिभ्य एवावतारणे, तथा निषीदन्तीति नन्द्यादेराकृतिगणत्वाद्युप्रत्यये निषदना--लवणाद्युपरि निविष्टपुरुषाः, तेषां गवादीनां च गात्रोष्मणा; तथा यो यस्य लवणादेराहारो भौमादिः--पार्थिवादिस्तस्य व्यवच्छेदे च--अभावे सति, तथा उपक्रम्यते--बहु-

१ भवति-मु.॥ २ ०कानां-मु.॥ ३ मुद्रि (मृद्वी) का-इति धर्मसंग्रहवृत्तौ [भा. १। प. ७८] पाठः। द्राक्षापर्याये तु मृद्वीका दृश्यन्ते न मुद्रिका, अभिधानचिन्तामणावपि-द्राक्षा तु गोस्तनी। मृद्वीका हारहूरा च (४।२२१-२२२)॥ ४ ० चित्तता-खं. वि ॥

कालवेद्यमप्यायुः स्तोकेनैव कालेन निष्ठां नियते अनेनेत्युपक्रमः--स्वकायशस्त्रादिः, तथाहि- किञ्चित्कस्यचित् स्वकायशस्त्रं यथा क्षारोदकं मधुरोदकस्यः किञ्चित्परकायशस्त्रं यथा ज्वलनो वनस्पतेः, किञ्चित्तूभयशस्त्रं यथा मृत्तिकामिश्रमुदकं शुद्धोदकस्यः तेन च परिणामः--अचित्तता भवति । सचित्त[1]मप्येतैः कारणैरचित्ततारूपेण परिणमतीत्यर्थः ॥१००३॥ १५५॥

इदानीं च 'धन्नाइ चउव्वीस' ति षट्पञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह—

[2]धन्नाइं चउवीसं जव १ गोहुम २ सालि ३ वीहि ४ सट्ठी ५ य ।
कोद्दव ६ अणुया ७ कंगू ८ रालय ९ तिल १० मुग्ग ११ मासा १२ य ॥१००४॥
अयसि १३ [3]हरिमंथ १४ [4]तिउडग १५ निप्फाव १६ सिलिंद १७ रायमासा १८ य ।
इक्खू १९ मसूर २० तुवरी २१ कुलत्थ २२ तह धन्नय २३ कलाया २४ ॥१००५॥

धान्यानि चतुर्विंशतिर्भवन्ति, यथा—यवाः १ गोधूमाः २ शालयो ३ व्रीहयः ४ षष्ठिकाः ५ कोद्रवा ६ अणुकाः ७ कङ्गुः ८ रालकः ९ तिला १० मुद्गा ११ माषाश्च १२ तथा अतसी १३ हरिमन्थाः १४ [5]त्रिपुटकाः १५ [6]निष्पावाः १६ शिलिन्दा १७ राजमाषा १८ [7]इक्षवः १९ मसूराः २० तुवर्यः २१ कुलत्था २२ स्तथा धान्यकं २३ कलायाः २४ इत्येतानि च प्रायेण लोकप्रसिद्धानि प्रागुक्तान्येव । नवरं

---

१ ०मप्येभिः–मु ॥ २ तुलना-धर्मसं. भा. १। प.६८॥ ३ हिरि० वि. । हरिमत्थ-सि.॥ ४ तिउगड मु.। तिउडउ-इति धर्मसं. वृत्तौ पाठः । तिउडग–जे.॥ ५ त्रिपुटिकाः-मु.सि. "त्रिपुटकोमालवकप्रसिद्धो धान्यविशेषः" इति धर्म सं.वृत्तौ। तुला–दशवै. वृत्ति. प. १३३॥ ६ निष्पावा वल्लाः–इतिधर्मसं. वृत्तौ ॥ ७ इक्षुर्बरट्टिका सम्भाव्यते–इति धर्म सं.वृत्तौ ॥

पष्टिकाः-शालिभेदाः[1] ये षष्टिरात्रेण पच्यन्ते, [2]अणुका-युगन्धरी,बृहच्छिरा कङ्गुः, अल्पतरशिरो रालकः, हरिमन्थाः-कृष्णचणकाः, शिलिन्दाः-मकुष्टाः, राजमाषाः - [3]चवलकाः, धान्यकं- [4]कुसुम्भरी, कलाया-अत्र वृत्तचणका इति ||१००४-५||१५६||

अधुना 'मरणं सत्तरसभेयं' ति सप्तपञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह-

आवीइ १ ओहि २ अंतिय ३ वलायमरणं ४ वसट्टमरणं च ५ ।
अंतोसल्लं ६ तब्भव ७ बालं ८ तह पंडियं ९ मीसं १० ||१००६||
छउमत्थमरण ११ केवलि १२ [5]वेहायस १३ गिद्धपिट्ठमरणं १४ च।
मरणं भत्तपरिन्ना १५ इंगिणि १६ पाओवगमणं च १७ ||१००७||
अणुसमयनिरंतरमा[6]विइसन्नियं तं भणंति पंचविहं ।
दव्वे खेत्ते काले [7]भवे य भावे य संसारे ||१००८||
एमेव ओहिमरणं जाणि मओ ताणि चेव मरइ पुणो ।
एमेव [8]होइ अंतियमरणं नवि मरइ ताणि पुणो ||१००९||
संजमजोगविसन्ना मरंति जे तं वलायमरणं तु ।
इंदियविसयवसगया मरंति जे तं वसट्टं तु ||१०१०||

१ ०दाः-मु. खं.|| २ "अणवो मिणाचवाख्या धान्यभेदा इति हैमद्व्याश्रयवृत्तौ, यद्वाऽणुका युगन्धरी इत्यपि क्वापि दश्यते ।" इति धर्म सं. वृत्तौ भाः १।प.६८|| ३ चपलकाः-इति धर्म सं वृत्तौ || ४ कसु० खं. कस्तु० इति दशवै. वृत्तौ पाठः || ५ वेहाणस-ता. सि वि. । उत्त. निर्युक्तावपि वेहाणस इति || ६० विति० ता. ०विस० सि. वि. || ७ भावे । य भवे वि || ८ आइ० मु. ||

गारवपंकनिवुड्डा अइयारं जे परस्स न [1]कहंति ।
दंसणनाणचरित्ते ससल्लमरणं हवइ तेसिं ॥१०११॥
मोत्तुं अकम्म[2]भूमियनरतिरिए सुरगणे य नेरइए ।
सेसाणं जीवाणं तब्भवमरणं च केसिंचि ॥१०१२॥

[उत्तराध्ययननिर्युक्तिः–२१२३-५-६-७-२१९-२२१]

मोत्तूण [3]ओहिमरणं आवीइ अंतियंतिय चेव ।
सेसा मरणा सव्वे तब्भवमरणेण नायव्वा ॥१०१३॥
अविरयमरणं बालं मरणं विरयाण पंडियं बिंति ।
जाणाहि बालपंडियमरणं पुण देसविरयाणं ॥१०१४॥
मणपज्जवोहिनाणी सुयमइनाणी मरंति जे समणा ।
छउमत्थमरणमेयं केवलिमरणं [4]तु केवलिणो ॥१०१५॥
गिद्धाइभक्खणं [5]गिद्धपिट्ठ उब्बंधणाइ वेहासं ।
एए दोन्निऽवि मरणा कारणजाए अणुन्नाया ॥१०१६॥

[उत्तराध्ययननिर्युक्तिः-२२२-४]

---

१ कहिंति-ता. ॥ २ भूमिं-ता । ३ ओहिमरणं आवी (ई) यतियंतियं चेव-मु. । ओहिमरणं मरणं आवीइ अंतियं चेव-ता. । ओहिमरणं आवीयं अंतियं तियं चेव-सि. । ओहिमरणं आवियं अंतियं तयं चेव-वि. ॥ ४ च-ता. ॥ ५ गद्धपिट्ठ-सि. ॥

मरणं भत्तपरिन्ना इंगिणि पायवगमणं च तिन्नि मरणाइं[१] ।
कप्पसमज्झिममजेट्ठा [१]धिइसंघयणेण उ [२]विसिट्ठा ॥१०१७॥

'आवीई' त्यादिगाथाद्वयम्, [३]मरणशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धादावीचिमरणम्, अवधिमरणम्, 'अतिय' ति आत्यन्तिकमरणम्, आर्षत्वाच्चेत्थं निर्देशः, एवमुत्तरत्रापि । [४]'वलायमरणं' ति वलन्मरणम्, वशार्त्तमरणं च अन्तःशल्यमरणं तद्भवमरणं बालमरणं तथा पण्डितमरणं मिश्रमरणं छद्मस्थमरणं केवलिमरणम्, [५]'वेहायसं' ति वैहायसमरणं गृध्रपृष्ठं च मरणं 'भत्तपरिन्न' त्ति भक्तपरिज्ञामरणम्, इंगिनीमरणं पादपोपगमनमरणं चेति ॥१००६-७॥

एतानि क्रमशः स्वयमेव विवरीपुरावीचिमरणं तावदाह—'अणुसमय' गाहा, अनुसमयं—'समयं [६]समयमाश्रित्य, इदं च व्यवहितसमयाश्रयणतोऽपि भवतीति मा भूद्भ्रान्तिरत आह—निरन्तरम्—[७]न सान्तरमन्तरालाभावात्; किं तदेवंविधम् ?—'आवीचिसंज्ञितम्' आ—समन्तात् वीचय इव वीचयः—प्रतिसमय[८]मनुभूयमानायुषोऽपरापरायुर्दलिकोदयात्पूर्वपूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिन् मरणे तदावीचि । तत आवीचीति संज्ञा सञ्जाता यस्मिन् तदावीचिसंज्ञितम्, तारकादित्वादितचि रूपमिदम्; अथवा वीचिः—विच्छेदस्तद[९]भावादवीचिः; दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात्; उभयत्र प्रक्रमान्मरणम्, तदेवम्भूतं

१ ठिइ-ता. ॥ २ वसिट्ठा–वि. ॥ ३ आद्वारं, तुलना-उत्तराध्ययनस्य शान्तिसूरिवृत्तिः प. २३० B तः ॥ ४ वलायन्मरणं-ता. वलाजन्म० सि ॥ ५ वेहाणसं–सि. वि. ३ । वैहाणसं-खं. ॥ ६ समय–मु. सि. नास्ति ॥ ७ असा० मु. । उत्तरा. वृत्तावपि-न सा० इति ॥ ८ ०मनुलोममनुभूय० वि. सि. । तुला–भगवतीसूत्रवृत्तिः प. ६२९ ॥ ॥ ९ ०मावोऽवीचिः-मु. । उत्तराध्ययनवृत्तौ समवायाङ्गवृत्तावपि च [प. ३४A] ०भावादवीचिः-इति पाठः ॥

प्रतिक्षणमायुर्द्रव्यविचटनलक्षणमावीचिमरणं पञ्चविधं भणन्ति तीर्थकर-गणधरादयोऽस्मिन् संसारे—जगति । पञ्चविधत्वमेवाह—द्रव्ये क्षेत्रे काले भवे [1]च भावे च; द्रव्याऽऽवीचिमरणं क्षेत्राऽऽवीमचिरणं कालाऽऽवीचिमरणं भवाऽऽवीचिमरणं भावाऽऽवीचिमरणं चेत्यर्थः । तत्र द्रव्याऽऽवीचिमरणं नाम यन्नारकतिर्यग्नरामराणामुत्पत्तिसमयात्प्रभृति निजनिजायुःकर्मदलिकानामनुसमयमनुभवनाद्विचटनम्; तच्च नारकादिभेदाच्चतुर्विधम्, एवं नारकादिगति[2]चातुर्विध्यापेक्षया तद्विषयं क्षेत्रमपि चतुर्विधम् । ततस्तत्प्राधान्यापेक्षया क्षेत्रावीचिमरणमपि चतुर्धैव । काल इति यथायुष्ककालो गृह्यते, न तु अद्धाकालस्तस्य देवादिष्वसम्भवात्; स च देवायुष्ककालादिभेदाच्चतुर्विधः, अतस्तत्प्राधान्यापेक्षया कालावीचिमरणमपि चतुर्विधमेव । नारकादिचतुर्विधभवापेक्षया भवावीचिमरणमपि चतुर्धैव; तेषामेव च नारकादीनां चतुर्विधायुःक्षयलक्षणभावप्राधान्यापेक्षया भावावीचिमरणमपि चतुर्धैवेति ॥१००८॥

[3]अथावधिमरणमाह—"[4]एमेवे'त्यादिगाथापूर्वार्द्धम्, एवमेव यथाऽऽवीचिमरणं द्रव्य-क्षेत्र-काल भव भावभेदतः पञ्चविधं तथेदमवधिमरणमपीत्यर्थः । तत्स्वरूपमाह—यानि मृतः सम्प्रतीति शेषः, तानि चैव 'मरइ पुण'त्ति तिङ्व्यत्ययेन मरिष्यति पुनः; किमुक्तं भवति ?—अवधिः—मर्यादा, ततश्च यानि नारकादिभवनिबन्धनतयाऽऽयुःकर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते, पुनर्यदि तान्येवानुभूय मरिष्यति तदा द्रव्यावधिमरणम्; तद्द्रव्यापेक्षया पुनस्तद्ग्रहणा[5]वधि यावज्जीवस्य मृतत्वात् । सम्भवति हि गृहीतोज्झितानामपि कर्मदलिकानां पुनर्ग्रहणं परिणामवैचित्र्यादिति । एवं क्षेत्र-कालादिष्वपि भावना कार्या ।

१ च-मु. नास्ति ॥ २ ०चतु० खं. ॥ ३ अथावधि-मु. ॥ ४ एवमेवेत्यादि, एवमेव—मु. ॥
५ वधेर्या० मु. । ०वधिया० सि. वि. खं. प्रतौ भगवतीसूत्रवृत्तौ [प. ६२५] अपि ०वधिं० या इति ॥

मरणं भत्तपरिन्ना इंगिणि पायवगमणं च तिन्नि मरणाइं ।
कन्नसमज्झिमजेट्ठा [1]धिइसंघयणेण उ [2]विसिट्ठा ॥१०१७॥

'आवीई' त्यादिगाथाद्वयम्, [3]मरणशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धादावीचिमरणम्, अवधिमरणम्, 'अतिय' ति आत्यन्तिकमरणम्, आर्षत्वाच्चेत्थं निर्देशः, एवमुत्तरत्रापि । [4]'**वलायमरणं**' ति वलन्मरणम्, वशार्त्तमरणं च अन्तःशल्यमरणं तद्भवमरणं बालमरणं तथा पण्डितमरणं मिश्रमरणं छद्मस्थमरणं केवलिमरणम्, [5]'**वेहायसं**' ति वैहायसमरणं गृध्रपृष्ठं च मरणं '**भत्तपरिन्न**' त्ति भक्तपरिज्ञामरणम्, इंगिनीमरणं पादपोपगमनमरणं चेति ॥१००६-७॥

एतानि क्रमशः स्वयमेव विवरीषुरावीचिमरणं तावदाह—'**अणुसमय**' गाहा, अनुसमयं—[6]समयं समयमाश्रित्य, इदं च व्यवहितसमयाश्रयणतोऽपि भवतीति मा भूद्भ्रान्तिरत आह—निरन्तरम्—[7]न सान्तरमन्तरालाभावात्; किं तदेवंविधम् ?—'आवीचिसंज्ञितम्' आ—समन्तात् वीचय इव वीचयः—प्रतिसमय[8]मनुभूयमानायुषोऽपरापरायुर्दलिकोदयात्पूर्वपूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिन् मरणे तदावीचि । तत आवीचीति संज्ञा सञ्जाता यस्मिन् तदावीचिसंज्ञितम्, तारकादित्वादितच्चि रूपमिदम्; अथवा वीचिः—विच्छेदस्तद[9]भावादवीचिः; दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात्; उभयत्र प्रक्रमान्मरणम्, तदेवम्भूतं

१ ठिइ-ता. ॥ २ वसिट्ठा—वि. ॥ ३ आद्वारं, तुलना-उत्तराध्ययनस्य शान्तिसूरिवृत्तिःप. २३० B तः ॥ ४ वलायन्मरणंता वलाजन्म० सि ॥ ५ वेहाणस—सि. वि. ३ । वैहाणसं-खं. ॥ ६ समयं—मु. सि. नास्ति ॥ ७ असा० मु. । उत्तरा. वृत्तावपि-न सा० इति ॥ ८ ०मनुलोममनुभूय० वि. सि. । तुला—भगवतीसूत्रवृत्तिः प. ६२५ ॥ ॥ ९ ०भावोऽवीचिः-मु. । उत्तराध्ययनवृत्तौ समवायाङ्गवृत्तावपि च [प. ३४A] ०भावादवीचिः-इति पाठः ॥

प्रतिक्षणमायुर्द्रव्यविचटनलक्षणमावीचिमरणं पञ्चविधं भणन्ति तीर्थकर-गणधरादयोऽस्मिन् संसारे—जगति । पञ्चविधत्वमेवाह—द्रव्ये क्षेत्रे काले भवे [1]च भावे च; द्रव्याऽऽवीचिमरणं क्षेत्राऽऽवीमचिरणं कालाऽऽवीचिमरणं भवाऽऽवीचिमरणं भावाऽऽवीचिमरणं चेत्यर्थः । तत्र द्रव्याऽऽवीचिमरणं नाम यन्नारकतिर्यग्नरामराणामुत्पत्तिसमयात्प्रभृति निजनिजायुःकर्मदलिकानामनुसमयमनुभवनाद्विचटनम्; तच्च नारकादिभेदाच्चतुर्विधम्, एवं नारकादिगति[2]चातुर्विध्यापेक्षया तद्विषयं क्षेत्रमपि चतुर्विधम् । ततस्तत्प्राधान्यापेक्षया क्षेत्रावीचिमरणमपि चतुर्धैव । काल इति यथायुष्ककालो गृह्यते, न तु अद्धाकालस्तस्य देवादिष्वसम्भवात्; स च देवायुष्ककालादिभेदाच्चतुर्विधः, अतस्तत्प्राधान्यापेक्षया कालावीचिमरणमपि चतुर्विधमेव । नारकादिचतुर्विधभवापेक्षया भवावीचिमरणमपि चतुर्धैव; तेषामेव च नारकादीनां चतुर्विधायुःक्षयलक्षणभावप्राधान्यापेक्षया भावावीचिमरणमपि चतुर्धैवेति ॥१००८॥

[3]अथावधिमरणमाह—"एमेवे'त्यादिगाथापूर्वार्द्धम्, एवमेव यथाऽऽवीचिमरणं द्रव्य-क्षेत्र-काल भव भावभेदतः पञ्चविधं तथेदमवधिमरणमपीत्यर्थः । तत्स्वरूपमाह—यानि मृतः सम्प्रतीति शेषः, तानि चैव 'मरइ पुण'त्ति तिङ्व्यत्ययेन मरिष्यति पुनः; किमुक्तं भवति?—अवधिः--मर्यादा, ततश्च यानि नारकादिभवनिबन्धनतयाऽऽयुःकर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते, पुनर्यदि तान्येवानुभूय मरिष्यति तदा द्रव्यावधिमरणम्; तद्द्रव्यापेक्षया पुनस्तद्ग्रहणा[5]वधिं यावज्जीवस्य मृतत्वात् । सम्भवति हि गृहीतोज्झितानामपि कर्मदलिकानां पुनर्ग्रहणं परिणामवैचित्र्यादिति । एवं क्षेत्र-कालादिष्वपि भावना कार्या ।

१ च-मु. नास्ति ॥ २ ०चतु० ख. ॥ ३ अथावधि-मु. ॥ ४ एवमेवेत्यादि, एवमेव—मु. ॥
५ वधेर्या० मु. । ०वधिया० सि. वि. खं. प्रतौ भगवतीसूत्रवृत्तौ [प. ६२५] अपि ०वधिं० या इति ॥

आत्यन्तिकमरणमाह—'एमेवे'त्यादिगाथोत्तरार्द्धम्, एवमेव—अवधिमरणवदात्यन्तिकमरणमपि द्रव्यादिभेदतः पञ्चविधम्; विशेषः पुनरयं—'नवि मरइ ताणि पुणो' त्ति अपिशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैव तानि—द्रव्यादीनि पुनर्म्रियते। अयमर्थः—यानि नरकाद्यायुष्कतया कर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते, मृतश्च न पुनस्तान्यनुभूय मरिष्यतीत्येवं यन्मरणं तद् द्रव्यापेक्षयाऽत्यन्तभावित्वादात्यन्तिकमिति। एवं क्षेत्रादिष्वपि वाच्यम् ॥१००९॥

वलन्मरणमाह—'संजमे' त्यादिगाथापूर्वार्द्धम्, संयमयोगाः—संयमव्यापारास्तैस्तेषु वा विषण्णाः संयमयोगविषण्णाः—अतिदुश्चरं तपश्चरणमाचरितुमक्षमाः व्रतं च कुलादिलज्जया मोक्तुमशक्नुवन्तः कथञ्चिदस्माकमितः कष्टानुष्ठानान्मुक्ति[1]र्भवत्विति विचिन्तयन्तो म्रियन्ते यच्च तद्वलतां-संयमानुष्ठानान्निवर्तमानानां मरणं वलन्मरणम्, तुशब्दो विशेषणार्थो भग्नव्रतपरिणतीनां व्रतिनामेवैतदिति विशेषयति। अन्येषां हि संयमयोगानामेवासम्भवात् कथं [2]तद्विषादः ?, तदभावे च कथं तदिति ॥

वशार्त्तमरणमाह—'इंदिये' त्यादिगाथोत्तरार्द्धम्, इन्द्रियाणां—चक्षुरादीनां विषया—मनोज्ञरूपादय इन्द्रियविषयाः, तद्वशं गताः—प्राप्ता इन्द्रियविषयवशगताः स्निग्धदीपकलिकावलोकनाकुलशलभवन्म्रियन्ते [3]येन तद्वशार्तमरणम्. वशेन—इन्द्रियविषयपारतन्त्र्येण ऋताः—पीडिता वशार्त्ताः, तेषां मरणमप्युपचाराद्वशार्त्तमुच्यते इति ॥१०१०॥

अन्तःशल्यमरणमाह—'गारवे' त्यादि, गौरवं—सातर्द्धिरसगौरवात्मकम्, तदेव कालुष्यहेतुतया

१ ०भविष्यति इति विचिन्तया ये च तद्वलनां—सि ॥ २ तद्विषयद.—खं. ॥
३ येन नास्ति-मु। यत्तद्वशार्तं० इति उत्तरा०वृत्तिः ॥

पङ्कः–कर्दमः, तस्मिन्निमग्नाः तत्क्रोडीकृततया अतिचारम्–अपराधं ये परस्य–आलोचनार्हस्याचार्यादेर्न कथयन्ति; मा भूदस्माकमालोचनार्हमाचार्यादिकमुपसर्पताम् ; [1]तद्वन्दनादिना-तदुक्ततपोऽनुष्ठानासेवनेन ऋद्धिरससाताभावसम्भव इति। उपलक्षणं चैतत्, ततो बहुश्रुतोऽहं तत्कथमल्पश्रुतोऽयं मम शल्यमुद्धरिष्यति ?, कथं चाहमस्मै वन्दनादिकं [2]दास्यामि ?, अपभ्राजनार्हीयं मम इत्यभिमानेन लज्जया वा–अनुचितानुष्ठानसंवरणस्वरूपया येऽतिचारं न कथयन्तीति। किं विषयमित्याह–दर्शन ज्ञान-चारित्रे–दर्शनज्ञान-चारित्रविषयम्; तत्र दर्शनविषयं शङ्कादि, ज्ञानविषयं कालातिक्रमादि, चारित्रविषयं समित्यननुपालनादि। शल्यमिव शल्यं कालान्तरेऽप्यनिष्टफलविधानं प्रत्यवन्ध्यतया सह तेन सशल्यम्, तच्च तन्मरणं च सशल्यमरणम्–अन्तःशल्यमरणं भवति तेषां–गौरवपङ्कनिमग्नानामिति ॥१०११॥

तद्भवमरणमाह—'मोत्तु' इत्यादि, मुक्त्वा–अपहाय, कान् ?–अकर्मभूमिजाश्च ते देवकुरूत्तरकुर्वादिषूत्पन्नतया नरतिर्यञ्चश्चाकर्मभूमिजनरतिर्यञ्चस्तान्; तेषां हि तद्भवानन्तरं देवेष्वेवोत्पादः। तथा सुरगणांश्च–सुरनिकायान्, किमुक्तं भवति ?–चतुर्निकायवर्तिनोऽपि देवान्, तथा निरयो–नरकस्तस्मिन् भवा नैरयिकास्तांश्च मुक्त्वेति सम्बन्धः; तेषां देवानां च तद्भवानन्तरं तिर्यग्मनुष्येष्वेवोत्पत्तेः, शेषाणाम्–एतदुद्धरितानां कर्मभूमिजनरतिरश्चां जीवानां-प्राणिनां तद्भवमरणम्; तेषामेव पुनस्तत्रोत्पत्तेः; तद्

१ तद्वन्दनादितदुक्त० मु.। उत्तराध्ययनवृत्तावपि ०नादिना तदुक्त इति ॥ २ दास्यामि ? अयं च ज्ञानहीनोऽयं वा मम सम इत्य०–मु.। दास्याम्यपभ्राजनार्ही नोयमम–खं.। दास्यामपभ्राजना हीनायं मम–सि.। दास्यामपभ्राजनाहीनोऽयं स मे इत्य० जे.। अपभ्राजना हि इय मम- इति उत्तरा.वृत्तिः।

विद्यते यस्मिन् भवे-तिर्यग्मनुष्यलक्षणे वर्तते जन्तुस्तद्भवयोग्यमेवायुर्बद्ध्वा पुनस्तत्क्षयेण म्रियमाणस्य भवति; तु-शब्दस्तेषामपि सङ्ख्येयवर्षायुषामेवेति विशेषख्यापकः; असङ्ख्येयवर्षायुषां हि युगलधार्मिकत्वादकर्मभूमिजानामिव देवेष्वेवोत्पादः, तेषामपि न सर्वेषाम्; किन्तु केषाञ्चित्तद्भवोपादानरूपमेवायुःकर्मोपचिन्वतामिति ॥१०१२॥

अत्रान्तरे' [1]'मोत्तूण ओहिमरणं' इत्यादिगाथा सूत्रे दृश्यते, न चास्या भावार्थः सम्यगवगम्यते, नाप्यसावुत्तराध्ययनचूर्ण्यादिषु व्याख्यातेत्युपेक्ष्यते ॥१०१३॥

सम्प्रति बाल-पण्डित-मिश्रमरणान्याह—'अविरये' त्यादि, विरमणं विरतं-हिंसा-ऽनृतादेरुपरमणम्, न विद्यते तद्येषां [2]तेऽमि अविरतास्तेषां-मृतिसमयेऽपि देशविरतिमप्यप्रतिपद्यमानानां मिथ्यादृशां सम्यग्दृशां [3]वा मरणमविरतमरणम्, तद् बाला इव बालाः--अविरतास्तेषां मरणं बालमरणमिति ब्रुवते इति सम्बन्धः। तथा विरतानां--सर्वसावद्यनिवृत्तिमभ्युपगतानां मरणं पण्डितमरणं ब्रुवते तीर्थकरगणधरादय इति। तथा जानीहि बालपण्डितमरण[4]मिति मिश्रमरणम्, पुनःशब्दः पूर्वापेक्षया विशेषद्योतनार्थः; [5]देशात्सर्वविरतविषयापेक्षया स्थूलप्राणिव्यपरोपणादेर्विरता देशविरतास्तेषां देशविरतानाम् ॥१०१४॥

एवं चरणद्वारेण बालादिमरणत्रयमभिधाय ज्ञानद्वारेण छद्मस्थमरण-केवलिमरणे [6]प्राह—'मणपज्जवो' इत्यादि, मनःपर्यायज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनो मतिज्ञानिनश्च म्रियन्ते ये श्रमणाः--तप-

१ आवीई इति गाथा-मु.॥ मोत्तुण ओहिमरणं ओहिमरणं इत्यादि-जे. सि.। मोत्तुण ओहिमरणं इत्यादि-खं.॥
२ तेऽवि० मु.। तेमीवि० खं. उत्तराध्ययनवृत्तावपि तेमी अवि० इति पाठः॥ ३ वा-खं. सि. नास्ति॥
४ ण मिश्र०-मु.। णमिति मिश्र० खं.॥ ५ देशा. सर्व० जे. सि.॥ ६ प्याह-सि वि.॥

स्थिनः, छादयन्तीति छद्मानि ज्ञानावरणादीनि कर्माणि, तेषु तिष्ठन्तीति छद्मस्थास्तेषां मरणं छद्मस्थमरणमेतत्। इह च प्रथमतो मनःपर्याय[1]निर्देशो विशुद्धिकृतप्राधान्याङ्गीकारेण चारित्रिण[2] एतदुपजायते इति स्वामिकृतप्राधान्यापेक्षया द्रष्टव्यम्; एवमवध्यादिष्वपि यथायोगं स्वधियैव हेतुर्वाच्य इति। तथा केवलमरणं केवलिनः–उत्पन्नकेवलज्ञानस्य सकलकर्मपुद्गलशाटनतो म्रियमाणस्य भवतीति ॥१०१५॥

साम्प्रतं **वैहायस-गृध्रपृष्ठमरणे** अभिधातुमाह–[3]'**गिद्धाई**' त्यादि, गृध्राः--प्रतीताः, ते आदिर्येषां शकुनिकाशिवादीनां तैर्भक्षणं गम्यमानत्वादात्मनस्तदनिवारणादिना तद्भक्ष्यकरि-करभादिशरीरानुप्रवेशेन च गृध्रादिभक्षणम्; तत्किमुच्यते ? इत्याह–'[4]**गिद्धपिट्ठ**' त्ति गृध्रैः स्पृष्टं–स्पर्शनं यस्मिन् तद् गृध्रस्पृष्टम्, यदि वा गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वादुदरादि च मर्तुर्यस्मिन् तद् गृध्रपृष्ठम्; स ह्यलक्तकपूणिकापुटप्रदानेनात्मानं गृध्रादिभिः पृष्ठादौ भक्षयतीति। पश्चान्निर्दिष्टस्यापि [5]चास्य प्रथमतः प्रतिपादनमत्यन्तमहासत्त्वविषयतया कर्मनिर्जरां प्रति प्राधान्यख्यापनार्थम्।

'**उव्वंधणाइ वेहास**' मिति उद्–ऊर्ध्वं वृक्षशाखादौ बन्धनमुद्बन्धनम्, तदादिर्यस्य तरुगिरिभृगुप्रपातादेरात्मनैव[6] जनितस्य मरणस्य तदुद्बन्धनादि। '**वेहास**' मिति [7]प्राकृतत्वाद्यलोपे विहायसि–व्योमनि भवं वैहायसम्। उद्बद्धस्य हि विहायस्येव भवनमिति तत्प्राधान्यविवक्षयेत्थमुक्तमिति। नन्वेवं

१ निर्देशाद्विशु॰ मु.सि. ॥ २ ॰णि-सि.वि. ॥ ३ गद्धाइ गाहा-खं. ॥ ४ गद्धपट्ठ-ख. सि. वि. ॥ ५ तस्य-मु. सि. । तस्याः-जे. । चास्या-खं. । वि. प्रतौ उत्तराध्ययनवृत्तोऽपि चास्य-इति पाठः ॥ ६ ॰वात्मजनितस्य-खं. ॥
७ स्थानाङ्गवृत्तौ तु-प्राकृतत्वेन 'वेहाणस'-मित्युक्तमिति ॥

गृध्रपृष्ठस्याप्यात्मघातरूपत्वाद्वैहायस एवान्तर्भावः, सत्यमेतत् केवलमस्याल्प[1]सत्त्वैरध्यवसातुमशक्यत्व-ख्यापनार्थं भेदोपन्यासः । ननु—

△ 'भावियजिणवयणाणं ममत्तरहियाण नत्थि हु विसेसो ।
अप्पाणंमि परम्मि य तो वज्जे पीडमुभओऽवि ॥१॥ इत्यागमः ।

एते चानन्तरोक्ते मरणे अत्यन्तमात्मपीडाकारिणी इति कथं नागमविरोधः ?, अत एव च [2]भक्त-परिज्ञानादिषु पीडापरिहाराय—

❁ 'चत्तारि विचित्ताइं । विगईनिज्जूहियाइं चत्तारि ॥' [पञ्चव० ५७४]

इत्यादिसंलेखनाविधिः पानकादिविधिश्च तत्राभिहितः । दर्शनमालिन्यं चोभयत्रेत्याशङ्क्याह-एते-अनन्त-रोक्ते द्वे अपि-गृध्रपृष्ठवैहायसाख्ये मरणे 'कारण' त्ति प्राकृतत्वेन सप्तमीलोपात् कारणे-दर्शनमालिन्यपरि-हारादिके जाते-समुत्पन्ने यद्वा कारणजाते-कारणप्रकारे सति उदायिनृपानुमृततथाविधगीतार्थाचार्यव-दनुज्ञाते इत्यदोषः ॥१०१६॥

प्र. आ.
३००

सम्प्रति अन्त्यमरणत्रयमाह— [3]'मरण' मित्यादि, भक्तं--भोजनं तस्य परिज्ञानं परिज्ञा; सा द्विधा—ज्ञपरिज्ञा प्रत्याख्यानपरिज्ञा च । ज्ञपरिज्ञयाऽनेकविधमस्माभिर्भुक्तपूर्वमेतद्धेतुकं च सर्वमवद्यमिति परि-ज्ञानम्; प्रत्याख्यानपरिज्ञया च—

△ भावितजिनवचनाना ममत्वरहिताना नास्त्येव विशेषः आत्मनि च परस्मिश्च ततो वर्जयेत् पीडामुभयोरपि ॥१॥

❁ चत्वारि (वर्षाणि)विचित्राणि विकृतिनिर्यूढानि चत्वारि ॥

१ °सत्त्वैर्विधातु मु. । °सत्त्वैरध्यवसायितु° सि. वि. °सत्त्वैरध्यवसातु° खं. । तुलनीया-उत्तराध्ययनवृत्तिः [प. २३४] ॥ २ °ज्ञ नादिषु मु ॥ ३ भत्तपरिन्ना गाहा खं. ॥

❀ "सव्वं च असणपाणं चउव्विहं [1]जा य बाहिरो उवही ।
अब्भिन्तरं [2]च उवहिं जावज्जीवं च वोसिरइ ॥१॥" [महापच्चक्खाणपयन्नो गा. ३४]

इत्यागमवचनाच्चतुर्विधाहारस्य [3]त्रिविधाहारस्य वा यावज्जीवमपि परित्यागात्मकं प्रत्याख्यानं भक्तपरिज्ञोच्यते ।

तथा इङ्ग्यते–प्रतिनियतदेश एव चेष्ट्यतेऽस्यामनशनक्रियायामितीङ्गिनी । भक्तपरिज्ञायां हि त्रिविधं चतुर्विधं वाऽऽहारं प्रत्याचष्टे शरीरपरिकर्म च स्वतः [4]करोति परतश्च कारयति । इङ्गिन्यां तु नियमाच्चतुर्विधाहारविरतिः परपरिकर्मविवर्जनं च भवति; स्वयं पुनरिङ्गितदेशाभ्यन्तरे उद्वर्तनादि [5]चेष्टात्मकं परिकर्म यथासमाधि विदधात्यपीति विशेषः । तथा पादैः–अधःप्रसर्पिमूलात्मकैः पिबतीति पादपो–वृक्षः । उपशब्दश्चौपम्ये उपमेयेऽपि सादृश्येऽपि च दृश्यते । ततश्च पादपमुपगच्छति–सादृश्येन प्राप्नोतीति पादपोपगमनम्; किमुक्तं भवति ?–यथैव पादपः क्वचित्कथञ्चिन्निपतितः [6]सममसममिति वा अविभावयन् निश्चल एवास्ते, तथा अयमपि भगवान् यद्यथा समविषमदेशेऽङ्गमुपाङ्गं वा प्रथमतः पतितं न तत्तच्चलयतीति । इह चैवंविधानशनोपलक्षितानि मरणान्यप्येवमुक्तानि । अत एवाह--त्रीणि मरणानि ।

❀ सर्वं चाशनपानं चतुर्विधं यश्च बाह्य उपधिः । अभ्यन्तरं च उपधिं यावज्जीवं च व्युत्सृजति ॥१॥

१ जो–मु प्रकीर्णके च ख. । वि. सि. उत्तराध्ययनवृत्तावपि जा-इति पाठः ॥ २ चउविहं–मु. । खं. सि. प्रत्योः प्रकीर्णके उत्तराध्ययन-वृत्तावपि च उवहिं--इति पाठः ॥ ३ त्रिविधाहारस्य–इति पाठ उत्तराध्ययनवृत्तौ [प.२३५A] नास्ति । तत्रैव टिप्पने 'वाशब्दः पूर्वगाथोक्तसोपध्याहारत्यागसूचार्थः ।' इति ॥ ४ करोति–खं.वि.सि. नास्ति ॥ ५ चेष्टादिकं–ख. ॥ ६ सममसम वा-मु. । समविसम वा-सि.वि. । सममसममिति चावि० इति उत्तराध्ययनवृत्तौ पाठः ॥

अथैतेषामेव त्रयाणां मरणानां किञ्चित् स्वरूपमाह—'कन्नस'त्ति सूत्रत्वात् कनिष्ठं-लघु जघन्यमिति-यावत्, मध्यमं—लघु-ज्येष्ठयोर्मध्यभावि, ज्येष्ठम्--अतिशयवृद्धमुत्कृष्टमित्यर्थः । तत एतेषां द्वन्द्वे कनिष्ठ-मध्यम-ज्येष्ठानि यथासङ्ख्येन त्रीण्यपि मरणान्यवसेयानि । तथा 'धिइ' त्ति धृतिः—संयमं प्रति चित्तस्वास्थ्यम्, संहननं—शरीरसामर्थ्यहेतुर्वज्रऋषभनाराचादि; ततः समाहारद्वन्द्वे धृति-संहननं तेन विशिष्टान्येतानि । इदमुक्तं भवति—यद्यपि त्रितयमप्येतत्—-

△ धीरेणवि मरियव्वं [1]काउरिसेणावि अवस्स मरियव्वं । तम्हा अवस्समरणे वरं खु धीरत्तणं[2] मरिउं ॥१॥'

इत्यादिभावनातः शुभाशयवानेव प्रतिपद्यते, फलमपि च वैमानिकता मुक्तिलक्षणं च त्रयस्यापि समानम्, तथा चोक्तम्—

★"एयं पच्चक्खाणं अणुपालेऊण सुविहिओ सम्मं । वेमाणिओ व देवो हविज्ज अहवावि [3]सिज्झिज्जा ॥१॥"

तथापि विशिष्ट-विशिष्टतर विशिष्टतमधृतिमतामेव [4]तत्प्राप्तिरिति ज्येष्ठत्वादिस्तद्विशेष उच्यते । तथाहि—भक्तपरिज्ञामरणमार्यिकादीनामप्यस्ति । यत उक्तम्—

∠"सव्वावि य अज्जाओ सव्वेवि य पढमसंघयणवज्जा । सव्वेवि देसविरया पच्चक्खाणेण उ मरंति ॥१॥"

[निशीथभाष्य गाथा ३६१८]

△ धीरेणापि मर्तव्यं कापुरुषेणाप्यवश्य मर्तव्य । तस्मादवश्यमरणे धीरत्वेनैव मर्तुं वरम् ॥१॥

★ एतत् प्रत्याख्यानमनुपाल्य सुविहितः सम्यक् । वैमानिको देवो वा भवेत् अथवापि सिध्येत् ॥

∠ सर्वा अपि चार्या. सर्वेऽपि च प्रथमसंहननवर्जाः । सर्वेऽपि देशविरताः प्रत्याख्यानेनैव म्रियन्ते ॥१॥

१ कापुरि-मु. ॥ २ ०णं-मु. ॥ ३ सिज्झेज्ज-खं. ॥ ४ च तत्प्रा० मु. । खं. सि. वि. उत्तराध्ययनवृत्तावपि च-नास्ति ॥

अत्र च प्रत्याख्यानशब्देन भक्तपरिज्ञैव भणिता । तत्र प्राक् ❀ पादपोपगमादेरन्यथा भणनात्, इङ्गिनीमरणं तु विशिष्टतरधृतिसंहननवतामेव भवतीत्यार्यिकादिनिषेधत एवावसीयते । ❀ पादपोपगमनं तु नाम्नैव विशिष्टतमधृतिमतां वज्रर्षभनाराचसंहननिनामेव [1]भवति । उक्तं च—

△ "पढमंमि य संघयणे वट्टंते सेलकुड्डसामाणा[2] ।
तेसिंपि य वोच्छेओ चोद्दसपुव्वीण वोच्छेए ॥१॥ इति । [व्यवहारभा. उ. १०।गा. ५७]

तीर्थकरसेवितत्वाच्च पादपोपगमनस्य ज्येष्ठत्वम्; इतरयोश्च [3]विशिष्टसाधुसेवितत्वादन्यथात्वम्, यतोऽभ्यधायि—

"^ सव्वे सव्वद्धाए सव्वन्नू सव्वकम्मभूमीसु । सव्वगुरू सव्वमहिया सव्वे मेरुम्मि अभिसित्ता ॥१॥
सव्वाहिं लद्धीहिं सव्वेऽवि परिसहे पराजित्ता । सव्वेवि य तित्थयरा पाओवगया उ सिद्धिगया ॥२॥
अवसेसा अणगारा तीयपडुप्पन्नऽणागया सव्वे । केई पाओवगया पच्चक्खाणिंगिणी केई ॥३॥"
[व्यवहारभाष्ये उ. १० । गा.५२४-६] इति ।

❀❀ चिह्नद्वयमध्यवर्ती पाठः खं. नास्ति ॥ १ च भ० मु. ॥ २ ०णे इति उत्तराध्ययन वृत्तौ [प. २३६] पाठः ॥
△ प्रथमे च संहनने वर्त्तमाने शैलकुडयसमानाः । तेषामपि च व्युच्छेदश्चतुर्दशपूर्विणां व्युच्छेदे ॥१॥
३ ०श्चावि० इति उत्तराध्ययनवृत्तौ पाठः ॥
^ सर्वे सर्वाद्धायां सर्वज्ञाः सर्वकर्मभूमिषु सर्वगुरवः सर्वमहिताः सर्वे मेरौ अभिषिक्ताः ॥१॥
सर्वाभिर्लब्धिभिर्युक्ताः । सर्वानपि च परिषहान् पराजित्य । सर्वेऽपि च तीर्थकराः पादपोपगताः सिद्धिगताः ॥२॥
अवशेषा अनगाराः अतीतप्रत्युत्पन्नानागताः सर्वे । केचित् पादपोपगताः प्रत्याख्यानिन इङ्गिनश्च केचित् ॥३॥

तस्माद्भक्तपरिज्ञानं कनिष्ठम्, इङ्गिनीमरणं मध्यम्, पादपोपगमनं तु ज्येष्ठमिति ॥१०१७॥१५७॥

१५८ द्वारे
पल्योपम-
स्वरूपं
गाथा
१०१८-
१०२६
प्र. आ.
३०२

इदानीं 'पलिओवमं' इत्यष्टपञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह—

[1]पलिओवमं च तिविहं उद्धारऽद्धं च खेत्तपलियं च ।
एक्केक्कं पुण दुविहं बायरसुहुमं च नायव्वं ॥१८॥
जं जोयणविच्छिन्नं तं तिउणं परिरएण सविसेसं ।
तावइयं उव्विद्धं पल्लं पलिओवमं नाम ॥१९॥
एगाहियबेहियतेहियाण उक्कोस सत्तरत्ताणं ।
सम्मट्ठं संनिचियं भरियं बालग्गकोडीणं[2] ॥२०॥ [ज्योतिष्करण्डे गा. ७६]
तत्तो समए समए [3]एक्विक्के अवहियंमि जो कालो ।
संखिज्जा खलु समया बायरउद्धारपल्लंमि ॥२१॥
एक्केक्कमओ लोमं कट्टुमसंखिज्जखंडमद्दिस्सं ।
समछेयाणंतपएसियाण पल्लं भरिज्जाहि ॥२२॥
तत्तो समए समए [4]एक्केक्के अवहियंमि जो कालो ।
संखिज्ज वासकोडी सुहुमे उद्धारपल्लंमि ॥२३॥

---

१ एतद् गाथाष्टकम् (१०१८-२५) बृहत्सङ्ग्रहणी-मलयगिरिवृत्तावपि (प ८) दृश्यते ॥
२ हिं-मु. । तुला-अनुयोगद्वारे सू. ३७४, ज्योतिष्करण्डके गाथा ७९॥
३ इक्किक्के-मु. । एक्केक्के-इति जीवसमासे पाठः ॥ ४ एक्केक्के अविहियंमि जो कालो-ता. ॥

वाससए वाससए एक्केक्के बायरे अवहियंमि ।
बायरअद्धापलियं संखेज्जा वासकोडीओ ॥२४॥
वाससए वाससए एक्केक्के अवहियम्मि सुहुमंमि ।
सुहुमं अद्धापलियं हवंति वासा असंखिज्जा ॥२५॥
बायरसुहुमायासे खेत्तपएसाणुसमयमवहारे ।
बायरसुहुमं खेत्तं उस्सप्पिणीओ असंखेज्जा ॥२६॥ [तुलना-जीवसमास-गा. ११७-१८-१९-२०-२१-२२-२५-२६-३१]

'पलिओवमं' इत्यादिगाथानवकम्, पल्यो-वर्तुलाकृतिर्धान्याधारविशेषः, [1]पल्यवत्पल्यः-पुरस्ताद्वक्ष्यमाणस्वरूपः तेनोपमा यत्र कालप्रमाणे तत्पल्योपमम् । तच्च त्रिधा-उद्धारपल्योपमम्, अद्धापल्योपमं क्षेत्रपल्योपमं च । तत्र वक्ष्यमाणस्वरूपवालाग्राणां तत्खण्डानां चोद्धारेण द्वीप-समुद्राणां वा प्रतिसमयमुद्धरणम्-अपहरणमुद्धारः, तद्विषयं तत्प्रधानं वा पल्योपममुद्धारपल्योपमम् । तथा अद्धा-कालः स चेह प्रक्रमाद्वक्ष्यमाणवालाग्राणां तत्खण्डानां वा प्रत्येकं वर्षशतलक्षण उद्धारकालो गृह्यते । अथवा प्रस्तुताद्धापल्योपमपरिच्छेद्यो नारकाद्यायुष्कलक्षणः कालोऽद्धा, तत्प्रधानं तद्विषयं वा पल्योपममद्धापल्योपमम् । तथा क्षेत्रं-विवक्षिताकाशप्रदेशस्वरूपं तदुद्धारप्रधानं पल्योपमं क्षेत्रपल्योपमम् । एतेषां च मध्ये

१ तुलना-जीवसमासप्रकरणं प. १०९ तः। बृहत्सङ्ग्रहणी-मलयगिरिवृत्तिः प. ६ तः ॥

पुनरेकैकं द्विभेदं ज्ञातव्यं—बादरं सूक्ष्मं च; तत्र वालाग्राणां सूक्ष्मखण्डाकरणतो यथावस्थितानां स्थूलानां ग्रहणाद्बादरम्, तेषामेवासङ्ख्येयसूक्ष्मखण्डकरणतः सूक्ष्ममिति ॥१८॥

कः पुनरसौ पल्यो येन पल्योपमे उपमा विधीयते ? इत्याह—'जं जोयण०' गाहा, नाम इति शिष्यस्य कोमलामन्त्रणे 'पलिओवमं' इत्यत्र प्राकृतत्वेन विभक्तिव्यत्ययात् सप्तमी; 'पल्लं' इत्यादावपि लिङ्गव्यत्ययात् पुंस्त्वम्, ततश्च पल्योपमे—पल्योपमविषये धान्यपल्यवत्पल्यः प्रागुदिष्टः स विज्ञेयो। यः किमित्याह—यो विस्तीर्णः, कियदित्याह—योजनमुत्सेधाङ्गुलकमनिष्पन्नम्; वृत्ताकारत्वाद्दैर्घ्येणापि योजनमिति द्रष्टव्यम्; [1]तच्च योजनं त्रिगुणं सविशेषं परिरयेण; प्रमितिमङ्गीकृत्य सर्वस्यापि वृत्तपरिधेः किञ्चिन्न्यूनषड्भागाधिकत्रिगुणत्वादस्यापि पल्यस्य किञ्चिन्न्यूनषड्भा(ग्रं०—९००)गाधिकानि त्रीणि योजनानि परिधिर्भवतीत्यर्थः। 'उव्विद्धं' उच्चोऽपि तावदेव योजनमेवेत्यर्थः, आयामविष्कम्भाभ्यां प्रत्येकमेकयोजनमानः [2]उच्चत्वेनापि योजनप्रमाणः, परिधिना तु किञ्चिन्न्यूनषड्भागाधिकयोजनत्रयमानो यः पल्यः स इह पल्योपमं विज्ञेय इति तात्पर्यम् ॥१९॥

अथ अयमेव पल्यो यत्स्वरूपैर्वालाग्रैः पूर्यते तदेतन्निरूपयितुमाह—'एगाहिये' त्यादि, एकेनाह्ना निर्वृत्ता एकाहिक्यः, द्वाभ्यां त्रिभिश्चाहोभिर्निष्पन्ना द्व्याहिक्यस्त्र्याहिक्यश्च, तासामेकाहिकी-द्व्याहिकी-त्र्याहिकीनामेवं चतुराहिकीनामेवं यावदुत्कर्षतः सप्तरात्रप्ररूढानां वालानामेवातिसूक्ष्मत्वादग्रकोटयो

१ तथा-वि. ॥ २ उच्चत्वे पि-ख. ॥

वालाग्रकोटयस्तासां भृतोऽसौ पल्योऽत्राधिक्रियते । तत्र मुण्डिते शिरस्येकेनाह्ना यावत्प्रमाणा वालाग्रकोटय उत्तिष्ठन्ति ता एकाहिक्यः, द्वाभ्यां तु या उत्तिष्ठन्ति ता द्व्याहिक्यः, त्रिभिस्तु त्र्याहिक्यः, एवं यावत्सप्तरात्रप्ररूढाः सप्तरात्रिक्य इति । कथं पुनस्तासां वालाग्रकोटीनां भृत इत्याह-संमृष्टः-आकर्णं पूरितः संनिचितः-प्रचयविशेषान्निबिडीकृतः; किं बहुना ?, तथा कथञ्चनापि भृतोऽसौ [1]पल्यो यथा तानि वालाग्राणि न वायुरपहरति, नापि वह्निर्दहति, न च तेषु सलिलं प्रविश्य कोथमापादयति । तदुक्तम्—
"●ते णं वालग्गा नो अग्गी डहेज्जा, नो वाऊ हरेज्जा, [2]नो सलिलं कुत्थेज्जा" [अनुयोगद्वारसूत्र ३७२] इत्यादि ॥२०॥

ततः किमित्याह—'तत्तो' इत्यादि, ततो—यथोक्तवालाग्रभृतपल्यात् समये समये—प्रतिसमयमेकैकस्मिन् वालाग्रेऽपह्रियमाणे यावान् कालो लगति, प्रतिसमयं वालाग्राकर्षणाद्यावता कालेन सकलोऽपि स पल्यः सर्वात्मना निर्लेपो भवतीत्यर्थः, तावान् कालो बादरमुद्धारपल्योपमं इत्यावृत्त्या प्रथमान्ततयाऽप्यत्र सम्बद्ध्यते । कियान् पुनरसौ काल इति कथ्यतामित्याह—खल्ववधारणे सङ्ख्येया एव समया अस्मिन् बादरे उद्धारपल्योपमे भवन्ति नासङ्ख्येयाः, वालाग्राणामप्यत्र सङ्ख्यातत्वात् , तेषां च प्रतिसमयमेकैकापहारे सङ्ख्येयस्यैव समयराशेः सद्भावादिति ॥२१॥

---

१ पल्यो—सि.वि. नास्ति । तुलनीया-ज्योतिष्करण्डवृत्तिः प. ४६ ॥
● तान् वालाग्रान् नाग्निर्दहेत् न वायुर्हरेत् न सलिलं कोथयेत् ॥
२ नो सलिल कुत्थेज्जा—मु. । नो सलिले कुत्थेज्जा-वि. । नो कुहेजा-इति सटीके अनुयोगद्वारसूत्रे (सू. १३६ प. १८०) पाठः । नो कुत्थेजा इति अनुयोगद्वारे (महावीरविद्यालय संस्करणे सू ३७२) पाठः ॥

उक्तं बादरमुद्धारपल्योपमम् , अथ क्रमप्राप्तमेव **सूक्ष्ममुद्धारपल्योपममभिधित्सुराह**—**'एक्केक्के'** त्यादि, अतः–सहजवालाग्रभृतपल्यादेकैकं लोम–पूर्वोक्तवालाग्रलक्षणमसङ्ख्येयानि खण्डानि यत्र तदसङ्ख्येयखण्डमदृश्यं कृत्वा; एतदुक्तं भवति–पूर्वं वालाग्राणि सहजान्येव गृहीतानि, अत्र तु तान्येव वालाग्राणि प्रत्येकं तावदसत्कल्पनया खण्डयन्ते, [1]यावददृश्यस्वरूपासङ्ख्येयखण्डरूपतामेकैकं वालाग्रं भजत इति। तत्पुनरेकैकं वालाग्रखण्डं [2]द्रव्यतोऽत्यन्तविशुद्धलोचनश्छद्मस्थः पुरुषो यदतीव सूक्ष्मं पुद्गलद्रव्यं चक्षुषा पश्यति तदसङ्ख्येयभागमात्रम्; क्षेत्रतस्तु सूक्ष्मपनकशरीरं यावति क्षेत्रेऽवगाहते तदसङ्ख्येयगुणक्षेत्रावगाहि द्रव्यप्रमाणम्। तथा **चानुयोगद्वारसूत्रम्**—

"तत्थ णं एगमेगे वालग्गे असंखेज्जाइं खंडाइं किज्जइ, ते णं वालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असंखेज्जइभागमेत्तातो सुहुमस्स पणगजीवस्स सरीरोगाहणाउ असंखेज्जगुणा" [सू ३७४] इति।

वृद्धास्तु व्याचक्षते-- [3]बादरपर्याप्तपृथिवीकायशरीरतुल्यमिति। तथा **चानुयोगद्वारमूलटीकाकृदाह हरिभद्रसूरिः**—

"बादरपृथिवीकायिकपर्याप्तशरीरतुल्यान्यसङ्ख्येयखण्डानीति **वृद्धवादः**" (प. ८६)।

---

१ यावददृश्यतास्व० मु। यावददृश्यानां–खि. वि.। जीवसमासेऽपि यावददृश्यस्व० इति पाठः॥ २ तुलना-बृहत्सं. वृत्तिः प. ६ B त। ज्योतिष्करण्डवृत्तिः प. ४६॥ तत्रैकैकस्य वालाग्रस्यासंख्येयानि खण्डानि क्रियन्ते तानि वालाग्राणि दृष्ट्यवगाहनातोऽसंख्येयभागमात्राणि सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य शरीरावगाहनाया असंख्येयगुणानि॥ ३ बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकपर्याप्तश० वि. मि.। बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकश० खं [सू. ३७४] इति।

[1]एवं कृत्वा ततः किं विधेयमित्यत्रोच्यते--ततोऽमीषां सर्वेषामपि समच्छेदानां--परस्परं तुल्यखण्डीकृतानां प्रत्येकं चाद्याप्यनन्तप्रादेशिकानामनन्तपरमाण्वात्मकानां तमेव पूर्वोक्तं पल्यं विभृया--[2]बुद्ध्या परिपूर्णं विदध्यास्त्वमिति ॥२२॥

एवं च तस्मिन् भृते यत्कर्तव्यं तदाह-'**तत्तो**' गाहा ततः-सूक्ष्मखण्डीकृतवालाग्रभृतपल्यात्प्रतिसमयमेकैकस्मिन् सूक्ष्मवालाग्रखण्डेऽपह्रियमाणे यावान् कालो लगति तावत्प्रमाणं सूक्ष्ममुद्धारपल्योपमं ★ भवतीति प्राग्वदत्रापि सम्बन्धः कियान् पुनरसौ कालो भवतीत्याह-सङ्ख्येया वर्षकोटयः सूक्ष्मे उद्धारपल्योपमे भवन्तीति ★ ज्ञातव्यम् । वालाग्राणामिह प्रत्येकमसङ्ख्येयखण्डात्मकत्वादेकैकस्यापि वालाग्रस्य सम्बन्धिनां खण्डानामपहारेऽसङ्ख्येयसमयराशिप्राप्तेः सर्ववालाग्रखण्डात्मकापहारे भवन्त्येव सङ्ख्याता वर्षकोटयः ॥२३॥

अथ **बादरमद्धापल्योपमं प्रतिपादयितुमाह–'वाससए'**गाहा[3] तस्मिन्नेवोत्सेधाङ्गुलप्रमितयोजनप्रमाणायामविष्कम्भोद्वेधे पल्ये पूर्वोक्तसहजबादरवालाग्रैर्निभृतं भृते सति प्रति वर्षशतमेकैकं वालाग्रमपह्रियते [4]यावता च कालेन स पल्यो निर्लेपीक्रियते तावान् कालो बादरमद्धापल्योपमं विज्ञेयम् । तत्र [5]च बादरेऽद्धापल्योपमे सङ्ख्येया [6]वर्षकोट्यो भवन्तीति ।।२४॥

अथ **सूक्ष्ममद्धापल्योपममाह—'वाससए'** गाहा, स एव पल्यः प्राग्वदसङ्ख्येयखण्डीकृतसूक्ष्मवालाग्रैरा[7]कर्णं परिपूर्णः क्रियते; ततो वर्षशते वर्षशतेऽतिक्रान्ते सत्येकैकसूक्ष्मवालाग्रापहारतो यावता

१ तुलना-जीवस. प. १११त. ॥ २ बिभृतयः वि. । विभृतयाः-सि. ॥ ★★ चिह्नद्वयमध्यवर्त्तीपाठः खं. नास्ति ॥ ३ तुलना बृहत्स. वृत्तिः प ७ A तः । ४ यावता का० मु. । यावताच्च का० जे. ॥ ५ च मु. नास्ति ॥ ६ वर्षकोटयः ख. ॥ ७ ०राकीर्णं परिपूर्णं-वि. ॥

कालेन स पल्यः सर्वात्मना रिक्तो भवति तावान् कालः सूक्ष्ममद्धापल्योपममवबोद्धव्यम् , तत्र च सूक्ष्मेऽद्धापल्योपमे भवन्त्यसंख्येयानि वर्षाणि; असंख्येया वर्षकोटयो भवन्तीत्यर्थः ॥२५॥

सम्प्रति **बादरं सूक्ष्मं च क्षेत्रपल्योपममाह—'बायरे'** त्यादि, [1]बादराणि च सूक्ष्माणि च बादरसूक्ष्माणि पूर्वोक्तपल्यगतानि सहजान्यसंख्येयखण्डीकृतानि च यानि वालाग्राणीत्यर्थः; तेषामवगाढत्वसम्बन्धेन सम्बन्धि यदाकाशं तत्र ये क्षेत्रप्रदेशा–निरंशनभोविभागस्वरूपास्तेषामनुसमयं--प्रतिसमयमेकैकापहारे क्रियमाणे यावान् कालो लगति तदात्मकं यथाक्रममेव बादरं सूक्ष्मं च क्षेत्रं-क्षेत्रपल्योपमं भवति ।

इयमत्र भावना–स एवोत्सेधाङ्गुलप्रमितयोजनप्रमाणविष्कम्भायामा[2]वगाहः पल्यः पूर्ववदेकाहोरात्रयावत्सप्ताहोरात्रप्ररूढैर्वालाग्रैराकर्णं निचितो भ्रियते; ततस्तैर्वालाग्रैर्ये नभःप्रदेशाः स्पृष्टास्ते समये समये एकैकनभःप्रदेशप्रति[3]समयापहारेण यावता कालेन सर्वात्मना निष्ठामुपयाति तावान् कालविशेषो बादरं क्षेत्रपल्योपमम् । एतच्चासङ्ख्येयोत्सर्पिणीमानम् , यतः क्षेत्रस्यातिसूक्ष्मत्वेनैकैकवालाग्रावगाढक्षेत्रप्रदेशानामपि प्रतिसमयमेकैकापहारे ★ **'अगुलअसंखभागे ओसप्पिणीओ असंखेज्जा'** [ ] इति वचनात् असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो लगन्तिः, किं पुनः सर्ववालाग्रावगाढक्षेत्रदेशापहार इति ।

[4]तथा स एव पूर्वोक्तः पल्यः पूर्ववदेकैकं वालाग्रमसंख्येयखण्डं कृत्वा तैराकर्णं भृतो निचितश्च तथा क्रियते यथा मनागपि न तत्राग्न्यादिकमाक्रामति । एवं भृते तस्मिन् पल्ये ये आकाशप्रदेशास्तैर्वा-

१ तुलना–जीवस० प ११५ तः। २ ०मावगाढ –मु. ॥ ३ ०प्रति० खं. वि. सि. नास्ति ॥
★ अङ्गुलासंख्येयभागे अवसर्पिण्योऽसख्येयाः ॥ ४ तुलना–बृहत्सं.वृत्तिः प. ७B तः ॥

लाग्रैः स्पृष्टा ये च न स्पृष्टास्ते सर्वेऽप्येकैकस्मिन् समये एकैकाकाशप्रदेशापहारेण समुद्ध्रियमाणा यावता कालेन सर्वात्मना निष्ठामुपयान्ति तावान् कालविशेषः सूक्ष्मं क्षेत्रपल्योपमम्, इदमप्यसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानमेव केवलं पूर्वस्मादसंङ्ख्येयगुणम्; वालाग्रस्पृष्टनभःप्रदेशेभ्योऽस्पृष्टानामसंख्यातगुणत्वादिति।

ननु यैर्वालाग्रैरेकान्ततो निचितमापूरिते सति तस्मिन् पल्ये वह्न्यादिकमपि सर्वथा नाक्रामति तत्र कथं तैर्वालाग्रैः अस्पृष्टा नभःप्रदेशाः सम्भाव्यन्ते ? ॐ [1]येनोच्यते तैर्वालाग्रैरस्पृष्टा इति, ॐ अत्रोच्यते, वालाग्रेभ्योऽसङ्ख्येयखण्डीकृतेभ्योऽपि नभःप्रदेशानामत्यन्तसूक्ष्मत्वात्। तथा चात्रार्थे प्रश्ननिर्वचनरूपम**नुयोगद्वारसूत्रं**—

☐ ''तत्थ णं चोयगे पण्णवगमेवं वयासी—अत्थि णं तस्स पल्लस्सागासप्पएसा जे णं तेहिं वालग्गेहिं [2]अफुन्ना ?, हंता अत्थि, जहा को दिट्ठंतो ?, से जहानामए [3]एगे पल्ले सिया से णं कोहंडाणं भरिए तत्थ माउलिंगा पक्खित्ता तेवि माया तत्थ णं बिल्ला पक्खित्ता तेवि माया तत्थ णं आमलगा पक्खित्ता

१ ॐ ॐ चिह्नद्वयमध्यवर्त्तीपाठः ख प्रतौ नास्ति ॥ २ भणप्फुण्णा इति अनुयोगद्वारे पाठः ॥ ३. एगे-खं. वि.सि. नास्ति। ०नामए कोट्ठए सिआ—इति अनुयोगद्वारसूत्रे ॥

☐ तत्र चोदकः प्रज्ञापकमेवमवादीत्—सन्ति तस्य पल्यस्याकाशप्रदेशा ये तैर्वालाग्रैरस्पृष्टाः ?, हन्त सन्ति, यथा को दृष्टान्तः ?, तद्यथा नाम एकः पल्यः स्यात स कूष्माण्डैर्भृतः तत्र मातृलिङ्गानि प्रक्षिप्तानि तान्यपि मातानि, तत्र चणकाः प्रक्षिप्तास्तेऽपि माताः, एवमनेन दृष्टान्तेन सन्ति तस्य पल्यस्याकाशप्रदेशा ये तैर्वालाग्रैर्न स्पृष्टाः ॥

तेवि माया तत्थ णं बदरा पक्खित्ता तेवि माया, तत्थ णं चणगा पक्खित्ता ते वि माया, एवमेएणं दिट्ठंतेणं अत्थि णं तस्स पल्लस्स आगासप्पएसा जे णं तेहिं वालग्गेहिं 'अणुप्फुन्ना[1]" [सू. ३९७] इति।

तदेवमर्वाग्दृष्टयो यद्यपि यथोक्तपल्ये शुपिराभावतोऽस्पृष्टनभःप्रदेशान्न सम्भावयन्ति तथापि सूक्ष्माणापि वालाग्राणां बादरत्वादाकाशप्रदेशानां पुनरतिसूक्ष्मत्वात्सन्त्येवासङ्ख्याता अस्पृष्टा नभःप्रदेशाः। दृश्यन्ते च निविडतया सम्भाव्यमानेऽपि स्तम्भादौ आस्फालितानां कीलिकानां प्रभूतानां तदन्तः प्रवेशः, न चासौ शुपिरमन्तरेण भवतीति।

ननु [2]यद्याकाशप्रदेशा वालाग्रैः स्पृष्टा अस्पृष्टाश्च परिगृह्यन्ते ततः किं वालाग्रैः प्रयोजनम्?, एवं प्ररूपणा क्रियताम्–उत्सेधाङ्गुलप्रमितयोजनायामविष्कम्भावगाहे[3] पल्ये यावन्तो नभःप्रदेशा इति, सत्यमेतत्, केवलमनेन सूक्ष्मपल्योपमेन **दृष्टिवादे** स्पृष्टास्पृष्टभेदेन द्रव्यप्रमाणं क्रियते, यथा यैर्वालाग्रैः स्पृष्टा नभःप्रदेशास्तेषां प्रतिसमयमेकैकनभःप्रदेशापहारेण यत् [4]बादरक्षेत्रपल्योपमं तत्प्रमाणान्येतानि द्रव्याणि [5]ये तु वालाग्रैः स्पृष्टा अस्पृष्टा वा नभःप्रदेशास्तेषां प्रतिसमयमेकैकनभःप्रदेशापहारेण यत् सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमं तावत्प्रमाणा[6]नीमानि द्रव्याणि। ततो **दृष्टिवादे** वालाग्रैः प्रयोजनमिति तत्प्ररूपणा क्रियते इति ॥ १०२६॥१५८॥

प्र. आ. ३०४

१ अणप्फुण्णा इति अनुयोगद्वारे पाठ ॥ २ तुलना-बृहत्सं. वृत्तिः प. ८ A तः॥ ३ ०ढे-मु.॥ ४ सूक्ष्मं क्षे० सि.। सूक्ष्म क्षे० वि.॥ ५ न तु-सि. वि. ६ णाण्येतानि- मु.॥

इदानीं 'अयर' त्येकोनषष्टयधिकशततमं द्वारमाह—

उद्धारपल्लगाणं कोडाकोडी भवेज्ज दसगुणिया ।
तं सागरोवमस्स उ एक्कस्स भवे परिमाणं ॥२७॥
जावइओ उद्धारो अड्ढाइज्जाण सागराण भवे ।
तावइआ खलू लोए हवंति दीवा समुद्दा य ॥२८॥
तह अद्धापल्लाणं कोडाकोडी भवेज्ज दसगुणिया ।
तं सागरोवमस्स उ परिमाणं हवइ एगस्स ॥२९॥
सुहुमेण उ अद्धासागरस्स माणेण सव्वजीवाणं ।
कम्मठिई कायठिई [1]भवट्ठिई होइ नायव्वा ॥३०॥
इह खेत्तपल्लगाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया ।
त सागरोवमस्स उ एक्कस्स भवे परीमाणं ॥३१॥
एएण खेत्तसागरउवमाणेणं हविज्ज नायव्वं ।
पुढविदगअगणिमारुयहरियतसाणं च परिमाणं ॥३२॥ [तुलना-जीवस. १२३-२४-२७-३०-३२-३३]

'उद्धारे' त्यादिगाथाषट्कम् , अतिमहत्त्वसाम्यात्सागरेण—समुद्रेणोपमा यस्य तत्सागरोपमम् ; तदपि

१ भवठिइ-ता. ॥

त्रिधा—उद्धारा-ऽद्धा क्षेत्रसागरोपमभेदात् । पुनरेकैकं द्विधा—बादरं सूक्ष्मं च । तत्र [1]उद्धारमाह—उद्धार-पल्ययोः [2]पूर्वोक्तस्वरूपयोर्बादर-सूक्ष्मभेदभिन्नयोर्या प्रत्येकं कोटीकोटिर्दशभिर्गुणिता दश कोटीकोटय इत्यर्थः तदेतत्प्रत्येकमेकस्य बादरोद्धारसागरोपमस्य [3]सूक्ष्मोद्धारसागरोपमस्य च परिमाणं भवेदिति । दशभिर्बादरोद्धारपल्योपमकोटिकोटिभिरेकं बादरोद्धारसागरोपमं भवति । दशभिश्च सूक्ष्मोद्धारपल्योपम-कोटिकोटिभिरेकं सूक्ष्मोद्धारसागरोपमं भवतीत्यर्थः ॥२७॥

अथ **सूक्ष्मोद्धारसागरोपमस्य प्रयोजन**माह—'**जावइओ**' गाहा, अर्धतृतीयप्रमाणानां [4]सूक्ष्मोद्धार[4]सागरोपमाणां पञ्चविंशति[5]पल्यकोटिकोटिष्वित्यर्थः, [6]वालाग्रोद्धारोपलक्षितः समयराशिरित्यर्थः, भवेत्—जायेत तावन्त एव लोके द्वीपाः समुद्राश्च भवन्ति ।

एतदुक्तं भवति—सार्धे सूक्ष्मोद्धारसागरोपमद्वये सूक्ष्मोद्धारपल्योपमानां पञ्चविंशतिकोटिकोटिष्वित्यर्थः यावन्तो वालाग्रोद्धारविषयाः समया भवन्ति तावत्सङ्ख्यास्तिर्यग्लोके द्वीपसमुद्रा अपि सर्वे [7]भवन्तीत्यर्थः । इह च यद्यपि सूत्रे सामान्येनैवोक्तं तथापि सूक्ष्मोद्धारसागरोपमस्यैवेदं द्वीपसमुद्रसङ्ख्यानयनलक्षणं प्रयो-जनमवसेयम् । △ 'एएहिं सुहुमेहिं उद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारो घिप्पइ' [तुलना-अनुयोगद्वार सू. १५१ पृ. १५१]

१ उद्धारमाह-मु. नास्ति । उद्धारगाहा पल्य० जे ॥ २ तुलना—जीवसमासवृत्तिः प. ११२ तः ॥ ३ सूक्ष्मोद्धार-सागरोपमस्य-सि वि नास्ति ॥ ४ पल्योपमानां ख वि. ॥ ५ ०पल्य० वि. सि. नास्ति ॥ ६ सूक्ष्मवा० मु. । जीव-समासेऽपि [प.११२] सूक्ष्म० इति पाठो नास्ति ॥ ७ सम्भवन्तीं मु. ॥ △ एताभ्या सूक्ष्मोद्धारपल्योपमसागरोपमाभ्यां द्वीपसमुद्राणामुद्धारोगृहयते ।

इति वचनात् । बादरोद्धारसागरोपमेण तु न किमपि प्रयोजनम्, केवलं बादरे प्ररूपिते सूक्ष्मप्ररूपणा क्रमनिष्पन्नत्वात् सुखकर्तव्या सुखावसेया च भवतीत्यतस्तत्प्ररूपणामात्रं कृतम्, एवं बादराद्धाक्षेत्रसागरोपमयोर्बादरपल्योपमत्रये च वाच्यमिति ॥२८॥

अथ **बादरं सूक्ष्मं चाद्धासागरोपमम**माह—**'तहअद्धा'**० गाहा, तथेति समुच्चये [1]अद्धापल्योपमयोमयोर्बादरसूक्ष्म[2]भेदभिन्नयोर्या प्रत्येकं कोटिकोटिर्दशभिर्गुणिता दश कोटिकोटय इत्यर्थः तदेतत्प्रत्येकमेकस्य बादराद्धासागरोपमस्य सूक्ष्मद्धासागरोपमस्य च प्रमाणं भवेत्; भावार्थस्तु उद्धारसागरोपमवदिति ॥२९॥

अथ **सूक्ष्माद्धासागरोपमप्रयोजन**माह–**'सुहुमेण उ'** गाहा, सूक्ष्मेणाद्धासागरोपमस्य मानेन–प्रमाणेन [3]सर्वेषां–नारकतिर्यगादिजीवानां कर्मस्थिति-कायस्थिति-भवस्थितयो भवन्ति ज्ञातव्याः । तत्र कर्मणां–ज्ञानावरणादीनां स्थितिः–अवस्थानकालस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिरूपः कर्मस्थितिः कायः–पृथिव्यादिकायोऽत्राभिप्रेतः, ततश्चैकस्मिन् काये पुनः पुनस्तत्रैवोत्पत्त्या स्थितिः असङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यात्मिका कायस्थितिः । भवो–नारकाद्येकजीवस्य [4]विवक्षितमेव जन्म, तत्र स्थितिः–आयुःकर्मानुभवनपरिणतिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमादिरूपा भवस्थितिः । एताः कर्म-काय भवस्थितयः सूक्ष्माद्धासागरोपमेण प्रमीयन्ते इति भावः ॥३०॥

१ तुलना–जीवसमासवृत्तिः प. ११३ तः ॥ २ तुलना–पञ्चसङ्ग्रहमलयगिरिवृत्तिः २/३७ प. ७३ तः ॥ ३ तुलना–जीवसमासवृत्तिः प. ११५ तः ॥ ४ विवक्षितमेकमेव-मु. ॥

अथ बादरं सूक्ष्मं च क्षेत्रसागरोपममाह–'इहे' त्यादि, इह–अस्मिन् प्रक्रमे 'बादरक्षेत्रपल्योपमानां दशभिः कोटिकोटिभिर्बादरं क्षेत्रसागरोपमम्, सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमानां तु दशभिः कोटिकोटिभिः सूक्ष्मं क्षेत्रसागरोपममिति तात्पर्यार्थः, अक्षरार्थस्तु पूर्ववदिति ॥३१॥

सूक्ष्मक्षेत्रसागरोपमस्य प्रयोजनमाह–'एतेणे' त्यादि, एतेन–सूक्ष्म[2]क्षेत्रसागरोपमस्यैव मानेन–प्रमाणेन ज्ञातव्यम्, किमित्याहपरिमाणं–सङ्ख्यानम्, केषां १–पृथिव्युदकाऽग्नि-वायु-वनस्पति--त्रसजीवानाम्, एतच्च प्राचुर्येण दृष्टिवादे प्रतिपादितं सकृदेवान्यत्र, सूक्ष्मोद्धाराद्धाक्षेत्रपल्योपमानामप्येतान्येव प्रयोजनानि द्रष्टव्यानीति ॥१०३२॥१५६॥

इदानीं 'ओसप्पिणि' त्ति षष्ट्यधिकशततमं द्वारमाह—

दस कोडाकोडीओ अद्धाअयराण हुंति पुन्नाओ ।
अवसप्पिणीए तीए भाया छच्चेव कालस्स ॥३३॥
[3]सुसमसुसमा य १ सुसमा २ तइया पुण सुसमदुस्समा ३ होइ ।
दूसमसुसम[4] चउत्थी ४ दूसम ५ अइदूसमा छट्ठी ६ ॥३४॥
सुसमसुसमाए[5] कालो चत्तारि हवंति कोडिकोडीओ ।
तिन्नि सुसमाए[6] कालो दुन्नि भवे सुसमदुसमाए ॥३५॥

१ तुलना-जीवसमासवृत्ति प. १६७ तः ॥ २ ०क्षेत्र० खं. वि. नास्ति ॥ ३ गाथात्रयम् (१०३४-६) ज्योतिष्करण्डे ८५-७ तुलनीयम् । गाथा पञ्चकम् [१०३४-७) उपदेशपद वृत्तावपि गा. १७ प. ३३ दश्यते ॥ ४ ०मा-ता. ॥ ५ एँ-मु. ॥ ६ एँ-मु. ॥

[1]एक्का कोडाकोडी बायालीसाए[2] जा सहस्सेहिं ।
वासाण होइ ऊणा दूसमसुसमाइ सो कालो ॥३६॥
अह दूसमाए[3] कालो वाससहस्साइं एक्कवीसं तु ।
तावइओ चेव भवे कालो अइदूसमाएवि ॥३७॥

'**दसे**' त्यादिगाथापञ्चकम्, अवसर्पति हीयमानारकतया अवसर्पयति वाऽऽयुष्कशरीरादिभावान् ह्रापयतीत्यवसर्पिणी तस्याम्, तरीतुमशक्यानि प्रभूतकालतरणीयत्वादतराणि—सागरोपमाणीत्यर्थः, सूक्ष्माद्धासागरोपमाणां सम्पूर्णा दश कोटीकोटचो भवन्ति; सूक्ष्माद्धासागरोपमाणां दशभिः कोटीकोटीभिर्निष्पन्नोऽवसर्पिणीलक्षणः काल विशेषोऽवगन्तव्य इति [4]तात्पर्यम् । तस्यां चावसर्पिण्यां कालस्य भागा—विच्छेदाः सुषमसुषमादयः षडेव भवन्ति ॥३३॥

तानेवाह—'**सुसमे**' त्यादि, शोभनाः समाः—वर्षाण्यस्यामिति सुषमा; अत्यन्तं सुषमा [5]सुषमसुषमा; सर्वथा दुष्षमानुभावरहित एकान्तसुषमारूपोऽवसर्पिण्याः प्रथमो भागः । द्वितीया सुषमा, तृतीया पुनः सुषमदुष्षमा भवति, दुष्टाः समा अस्यां सा दुष्षमा, सुषमा चासौ दुष्षमा च सुषमदुष्षमा; सुषमानुभावबहुला अल्पदुष्षमानुभावेत्यर्थः । चतुर्थी दुष्षमसुषमा, दुष्षमा चासौ सुषमा च दुष्षमसुषमा,

१ एगा—ना. ॥ २ एँ—मु. ॥ ३ एँ—मु. ॥ ४ तात्पर्यार्थः- मु. । तात्पर्यार्थम्-खं. ॥ ५ सुषमासुषमा-मु. ॥

दुष्षमानुभावबहुला अल्पसुषमानुभावेत्यर्थः । पञ्चमी दुष्षमा । षष्ठी त्वतिशयेन दुष्षमा अतिदुष्षमा, सर्वथा सुषमानुभावरहिता दुष्षमदुष्षमेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अथैतेषामेव **सुषमसुषमादीनां षण्णामरकाणां प्रमाणमाह**—'**सुसमसुसे**' त्यादि, सुषमसुषमायां कालः—कालप्रमाणं सागरोपमाणां चतस्रः कोटिकोटयो भवन्ति; सुषमायां तिस्रः सागरोपमकोटिकोटयः; सुषमदुष्षमायां द्वे सागरोपमकोटिकोटयौ; एका—एकसङ्ख्या सागरोपमकोटिकोटिर्द्विचत्वारिंशता वर्षाणां सहस्रैर्या न्यूना भवति स दुष्षमसुषमायाः कालो; द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रन्यूनैकसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणा दुष्षमसुषमेत्यर्थः । अथ दुष्षमायां कालप्रमाणमेकविंशतिवर्षसहस्राणि तावानेव च—दुष्षमाप्रमाण एव भवेत् कालः अतिदुष्षमायामपि; एकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणा दुष्षमदुष्षमापि भवतीति भावः ।

अस्यां चावसर्पिण्यां शरीरोच्छ्रयायुष्ककल्पवृक्षादिशुभभावानां परतोऽनन्तगुणा परिहानिः । तथाहि—सुषमसुषमायां मनुष्याणां गव्यूतत्रितयं शरीरोच्छ्रयः, त्रीणि च पल्योपमान्यायुः, शुभपरिणामोऽपि कल्पवृक्षादिरनेकः । सुषमायां द्वे गव्यूते द्वे च पल्योपमे कल्पपादपादिपरिणामश्च शुभो हीनतरः । सुषमदुष्षमायामेकं गव्यूतम् , एकं पल्योपमं हीनतमश्च कल्पवृक्षादिपरिणामः । दुष्षमसुषमायां पञ्च धनुःशतप्रभृति सप्तहस्तान्तं तनुमानमायुरपि पूर्वकोटिप्रमाणं परिहीनश्च कल्पवृक्षादिपरिणामः । दुष्षमायामनियतं देहमानमायुरप्यनियतं वर्षशतादर्वाक् पर्यन्ते विंशतिवर्षाणि परमायुः, शरीरोच्छ्रयो हस्तद्वयम् , औषधिवीर्यपरिहाणिश्चानन्तगुणा । अतिदुष्षमायामप्यनियतं शरीरोच्छ्र्यादि सर्वं पर्यन्ते तु हस्तप्रमाणं वपुः षोडश वर्षाणि परमायुर्निरवशेषौषधिपरिहानिश्चेति । एवमन्यदप्येतत्स्वरूपं समयात् समवसेयमिति ॥१०३५-३६-३७॥१६०॥

इदानीं 'उस्सप्पिणि' त्ति एकषष्ट्यधिकशततमं द्वारमाह–

अवसप्पिणीव[1] भागा हवंति उस्सप्पिणीइवि छ एए ।
पडिलोमा परिवाडी नवरि विभाएसु नायव्वा ॥३८॥

'अवसप्पिणी' त्यादि, उत्सर्पति–वर्धतेऽरकापेक्षया उत्सर्पयति वाभभावानायुष्कादीन् वर्धयतीत्युत्सर्पिणी । अस्यामप्येत एवावसर्पिण्याः सम्बन्धिनः [2]सुषमसुषमादयो षट् कालविभागा भवन्ति; नवरं–केवलं विभागेषु–अरकेषु प्रतिलोमा–विपरीता परिपाटी–आनुपूर्वी ज्ञातव्या ।

अयमर्थः–अवसर्पिण्यां सुषमसुष[3]माद्या दुष्षमदुष्षमान्ताः षडरका उक्ताः, उत्सर्पिण्यां तु दुष्षमदुष्षमाद्याः सुषमसुषमापर्यन्ताः षडरका भवन्तीति । तदेवं विंशतिसूक्ष्माद्धासागरोपमकोटीकोटीप्रमाणद्वादशारकमेतदवसर्पिण्योः कालचक्रं पञ्चसु भरतेष्वैरवतेषु च पञ्चस्वनाद्यन्तं परिवर्तते । यथाऽहोरात्रे वासरो रजनी वा न शक्यते निरूपयितुमादित्वेनान्तत्वेन वा, अनादित्वादहोरात्र[4]चक्रकप्रवृत्तेस्तथेदमपीति ॥१०३८॥१६१॥

इदानीं 'दव्वे खेत्ते काले । भावे पोग्गलपरियट्टो' त्ति द्विषष्ट्यधिकशततमं द्वारमाह—

ओसप्पिणी अणंता पोग्गलपरियट्टओ मुणेयव्वो ।
तेऽणंता तीयद्धा अणागयद्धा अणंतगुणा ॥३९॥

१ य-ता. । ०इ- सि.वि. ॥ २ दुषमदुष० वि. सि. ॥ ३ ०मादयो-खं. ॥ ४ चक्रप्र० मु. ॥

पोग्गलपरियट्टो इह दव्वाइचउव्विहो मुणेयव्वो ।
थूलेयरभेएहिं जह होइ तहा निसामेह ॥४०॥
ओरालविउव्वातेयकम्मभासाणपाणमणएहिं ।
फासेवि सव्वपोग्गल मुक्का अह बायरपरट्टो ॥४१॥
अहव इमो दव्वाई ओरालविउव्वतेयकम्मेहिं ।
नोसेसदव्वगहणंमि बायरो होइ परियट्टो ॥४२॥
दव्वे सुहुमपरट्टो जाहे एगेण अह सरीरेणं ।
फासेवि सव्वपोग्गल अणुक्कमेणं नणु गणिज्जा ॥४३॥
लोगागासपएसा जया मरंतेण एत्थ जीवेणं ।
पुट्ठा कमुक्कमेणं खेत्तपरट्टो भवे थूलो ॥४४॥
जीवो जइया एगे खेत्तपएसंमि अहिगए मरइ ।
पुणरवि तस्साणंतर[1] बीयपएसंमि जइ मरए[2] ॥४५॥
एवं तरतमजोगेण सव्वखेत्तंमि जइ मओ होइ ।
सुहुमो खेत्तपरट्टो अणुक्कमेणं नणु गणिज्जा ॥४६॥

१ ०रि सि मु ॥ २ मरइ-ता. ॥

ओसप्पिणीए समया जावइया ते य नियमरणेणं ।
पुट्ठा कमुक्कमेण कालपरट्टो भवे थूलो ॥४७॥
सुहुमो पुण ओसप्पिणी पढमे समयंमि जइ मओ होइ ।
पुणरवि तस्साणंतरबीए समयंमि जइ मरइ ॥४८॥
एवं तरतमजोएण सव्वसमएसु चेव एएसु ।
जइ कुणइ पाणचायं अणुक्कमेण नणु गणिज्जा ॥४९॥
एगसमयंमि लोए सुहुमागणिजिया उ जे उ पविसंति ।
ते [1]हुंतऽसंखलोयप्पएसतुल्ला असंखेज्जा ॥५०॥
तत्तो असंखगुणिया अगणिक्काया उ तेसि कायठिई ।
तत्तो संजमअणुभागबंधठा[2]णाणिऽसंखाणि ॥५१॥
ताणि मरंतेण जया पुट्ठाणि कमुक्कमेण सव्वाणि ।
भावंमि बायरो सो सुहुमो य कमेण बोद्धव्वो ॥५२॥

'ओसप्पी' त्यादि गाथाचतुर्दशकम्, [3]इह अवसर्पिणीग्रहणेनोत्सर्पिण्यप्युपलक्ष्यते; ततोऽयमर्थः—अवसर्पिण्युत्सर्पिण्योऽनन्ता [4]समुदिताः पुद्गलपरावर्तो ज्ञातव्यः; ते च पुद्गलपरावर्ता अनन्ता

१ हुंति-ता. ॥ २ ०णाण० वि.सि. । णाण कम्माइं- ता. ॥ ३ इह-मु. नास्ति ॥ ४ मिलिताः समु० मु. ॥

अतीताद्धा; अनन्तपुद्गलपरावर्तात्मकोऽतीतः काल इत्यर्थः । अतीताद्धापेक्षया चानन्तगुणोऽनागताद्धा भविष्यत्काल इत्यर्थः ।

ननु भगवत्यां 'अणागयद्धा णं तीयद्धाओ [1]समयाहिय' [श. २५ उ ५ सू. ७४८] त्ति [2]सूत्रेऽनागतकालोऽतीतकालात्समयाधिक [3]उक्तः; तथाहि—"अतीतानागतौ कालावनादित्वानन्तत्वाभ्यां तुल्यौ, तयोश्च मध्ये भगवतः प्रश्नसमयो वर्तते; स चाविनष्टत्वेनातीते न प्रविशतीत्यविनष्टसाधर्म्यादनागते क्षिप्तः, ततोऽतीतकालादनागताद्धा समयाधिको भवती" ति [ ] इह पुनरतीताद्धातोऽनागताद्धाऽनन्तगुणाऽभिहिता तत्कथं न विरोधः ? । अत्रोच्यते, यथा अनागताद्धाया अन्तो नास्ति ❀ एवमतीताद्धाया आदिरित्युभयोरप्यन्ताभावमात्रेण तत्र तुल्यत्वं विवक्षितमिति न दोषः । यदि च अतीतानागताद्धे वर्तमान ❀ समये समे स्यातां ततः समयातिक्रमेऽनागताद्धा समयेनोना स्यात् ततो द्वयादिभिः समयैः, एवं च समत्वं नास्ति; तस्मादतीताद्धायाः सकाशादनागताद्धाऽनन्तगुणेति स्थितम्, अत एवानन्तेनापि कालेन गतेन नासौ क्षीयत इति, वर्तमानैकसमयरूपा वर्तमानाद्धाऽप्यस्ति; सा च सूक्ष्मत्वान्नेह पृथक्प्रतिपादितेति ॥३९॥

पुद्गलपरावर्तभेदानभिधातुमाह—'पोग्गले' त्यादि, [5]इह—अस्मिन् पारमेश्वरप्रवचने पुद्गलपरावर्तो द्रव्यादितो—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावभेदतश्चतुर्विधः—चतुष्प्रकारो ज्ञातव्यः; तद्यथा—द्रव्यपुद्गलपरावर्तः, ॥२६४॥

१ समाहि० खं. ॥ २ सूत्रेणाना० खं. ॥ ३ उक्तत्वात–सि. वि. ॥ ४ ❀ ❀ चिह्नद्वयमध्यवर्तिपाठः ख. नास्ति ॥
५ तुलना–पञ्चसंग्रहमलयगिरिवृत्तिः २/३७ प. ७२ तः ॥

क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः, कालपुद्गलपरावर्तो भावपुद्गलपरावर्तश्च, पुनरप्येकैकः पुद्गलपरावर्तः स्थूलेतरभेदाभ्यां—बादरसूक्ष्मत्वभेदेन द्विधा—बादरः सूक्ष्मश्च । स च यथा भवति तथा निशमयत—शृणुतेति ॥ ४० ॥

तत्र **बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्त**माह—'ओराले' त्यादि, एकेन जन्तुना विकटां भवाटवीं पर्यटता अनन्तेषु भवेषु औदारिक वैक्रिय-तैजस-कार्मण-[1]भाषा-ऽऽन-प्राण-मनोलक्षणपदार्थसप्तकरूपतया चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकवर्तिनः सर्वेऽपि पुद्गलाः स्पृष्टा—परिभुज्य यावता कालेन मुक्ता भवन्ति एष बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्तः । किमुक्तं भवति ?—यावता कालेनैकेन जीवेन सर्वेऽपि जगद्वर्तिनः परमाणवो यथायोगमौदारिकादिसप्तकस्वभावत्वेन परिभुज्य२ परित्यक्तास्तावान् कालविशेषो बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्तः । आहारकशरीरं चोत्कृष्टतोऽप्येकजीवस्य वारचतुष्टयमेव सम्भवति, ततस्तस्य पुद्गलपरावर्तं प्रत्यनुपयोगान्न ग्रहणं कृतमिति ॥४१॥

अथ **मतान्तरेण द्रव्यपुद्गलपरावर्तमाह**—'अहवे' त्यादि, अथवा—**अन्येषामाचार्याणां** मतेनौदारिक-वैक्रिय-तैजस-कार्मणशरीरचतुष्टयरूपतया निःशेषद्रव्यग्रहणे एकजीवेन सर्वलोकपुद्गलानां परिभुज्य २ परित्यजनेऽयं बादरः—स्थूलः पुद्गलपरावर्तो भवति, किंविशिष्टः ?—द्रव्यादिः, द्रव्यशब्द आदिर्यस्य पुद्गलपरावर्तस्य स द्रव्यादिः, द्रव्यपुद्गलपरावर्त इत्यर्थः ॥४२॥

सूक्ष्मं द्रव्यपुद्गलपरावर्तमाह—'दव्वे' इत्यादि, अथ द्रव्ये—द्रव्यविषयः सूक्ष्मः पुद्गलपरावर्तो भवति, [2]यदा औदारिकादिशरीराणामेकेन—अन्यतमेन शरीरेण एको जीवः संसारे परिभ्रमन् सर्वानपि पुद्ग-

१ भाषानपान० वि. । ०भाषानापात० खं. । ०भाषानपात० सि. ॥ २ यथा—मु.॥

लान् स्पृष्ट्वा-परिभुज्य २ मुञ्चति। इयमत्र भावना—यावता कालेन सर्वेऽपि लोकाकाशभाविनः परमाणव औदारिकाद्यन्यतमैकविवक्षितशरीररूपतया परिभुज्य २ निष्ठां नीयन्ते तावान् कालविशेषः सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तः।

पुद्गलानां—परमाणूनामौदारिकादिरूपतया विवक्षितैकशरीररूपतया वा सामस्त्येन परावर्तः—परिणमनं यावति काले स तावान् कालः पुद्गलपरावर्त्तः। इदं च शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तम्; अनेन च व्युत्पत्तिनिमित्तेन स्वैकार्थसमवायिप्रवृत्तिनिमित्तमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपं लक्ष्यते; तेन क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तादौ पुद्गलपरावर्तनाभावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्तस्यानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपस्य विद्यमानत्वात्पुद्गलपरावर्त्तशब्दः प्रवर्तमानो न विरुद्ध्यते; यथा गोशब्दः पूर्वं गमने व्युत्पादितः; तेन च गमनेन व्युत्पत्तिनिमित्तेन [1]स्वैकार्थसमवायिखुर-ककुद-लाङ्गूल-सास्नादिमत्स्वरूपं प्रवृत्तिनिमित्तमुप[2]लक्ष्यते; ततो गमनरहितेऽपि गोपिण्डे प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावाद्गोशब्दः प्रवर्तते इति।

'अणुक्कमेण नणु गणेज्ज' त्ति एतांश्च पुद्गलान् अनुक्रमेण—विवक्षितैकशरीरस्पृष्टतारूपया परिपाट्या ननु—निश्चितं गणयेत्। इदमत्र तात्पर्यम्—एतस्मिन् सूक्ष्मे द्रव्यपुद्गलपरावर्ते विवक्षितैकशरीरव्यतिरेकेणान्यशरीरतया ये परिभुज्य २ [3]परित्यज्यन्ते ते न गण्यन्ते, किन्तु प्रभूतेऽपि काले गते सति ये च विवक्षितैकशरीररूपतया परिणम्यन्ते त एव परमाणवो गण्यन्त इति। **प्रथमपक्षा**भिप्रायेण तुऔदारिकादिसप्तकमध्यादन्यतमेनैकेन केनचित्पूर्वोक्तरीत्या सर्वपुद्गलस्पर्शने सूक्ष्मपुद्गलपरावर्तो भवतीति ॥४३॥

१ स्वैका० सि. वि. ॥ २ ०लभ्यते- खं. ॥ ३ परि० खं. नास्ति ॥

अथ **बादरक्षेत्रपुद्गलपरावर्तमाह–'लोगे'** त्यादि, लोकस्य–चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्याकाशप्रदेशा–निर्विभागा नभोभागा यदा म्रियमाणेनात्र–जगति जीवेन स्पृष्टा–व्याप्ताः क्रमेण–तदनन्तरभावलक्षणेनोत्क्रमेण वा–अर्दवितर्दमरणाक्रान्तक्षेत्रप्रदेशरुपेण तदा क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो भवेत् स्थूलो–बादरः; किमुक्तं भवति ?–यावता कालेनैकेन जीवेन क्रमेण उत्क्रमेण वा यत्र तत्र म्रियमाणेन सर्वेऽपि लोकाकाशप्रदेशा मरणे संस्पृष्टाः क्रियन्ते स तावान कालविशेषो बादरः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः ॥४४॥

सम्प्रति **सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्तमाह–'जीवो जइया'** इत्यादिगाथाद्वयम्, एकः कश्चिज्जन्तुरनन्तभवभ्रमणपरो यदा एकस्मिन् क्षेत्रप्रदेशेऽधिगते–प्राप्ते सति, तत्र स्थित इत्यर्थः कल्पनया, [1]परमार्थेन असङ्ख्यातप्रदेशावगाढत्वाज्जीवस्य, म्रियते–प्राणान् परित्यजति पुनरपि तस्य–प्रथममरणस्पृष्टप्रदेशस्यानन्तरे अव्यवहिते द्वितीये प्रदेशे यदि म्रियते, पुनरप्यनन्तरे तृतीये [2]प्रदेशे यदि म्रियते, एवं तरतमयोगेन–अनन्तरानन्तरप्रदेशमरणलाभलक्षणेन सर्वस्मिन्नपि क्षेत्रे–लोकाकाशे मृतो भवति तदा सूक्ष्मः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो ज्ञेयः । अत्र च क्षेत्रप्रदेशान् अनुक्रमेणैव–प्रथमप्रदेशानुबद्धप्रदेशपरम्परापरिपाट्यैव गणयेत्; न पुनः पूर्वस्पृष्टान् व्यवहितान् वा प्रदेशान् गणयेत् ।

इयमत्र भावना– [3]यद्यपि जीवस्यावगाहना जघन्याऽप्यसङ्ख्येयप्रदेशात्मिका भवति, तथापि विवक्षिते कस्मिंश्चिद्देशे म्रियमाणस्य विवक्षितः कश्चिदेकः प्रदेशोऽवधिभूतो विवक्ष्यते, ततस्तस्मात्प्रदेशादन्यत्र प्रदेशान्तरे ये नभःप्रदेशा मरणेन व्याप्यन्ते ते न गण्यन्ते, किन्त्वनन्तेऽपि काले गते सति विवक्षिता-

१ न परं० मु. ॥ २ समये-खं.वि.सि. ॥ ३ तुलना-पञ्चसङ्ग्रहमलय० वृत्तिः २।३६ प.७४ ॥

त्प्रदेशादनन्तरो यः प्रदेशो मरणेन व्याप्तो भवति स गण्यते, तस्मादप्यनन्तरो यः प्रदेशो [1]मरणेन व्याप्तः स गण्यते, एवमानन्तर्यपरम्परया यावता कालेन सर्वलोकाकाशप्रदेशा मरणेन स्पृष्टा भवन्ति तावान् कालविशेषः सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्तः । [2]अन्ये तु व्याचक्षते-येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढो जीवो मृतस्ते सर्वेऽप्याकाशप्रदेशा गण्यन्ते, न पुनस्तन्मध्यवर्ती विवक्षितः कश्चिदेक एवाकाशप्रदेश इति ॥४५॥४६॥

अथ बादरं कालपुद्गलपरावर्तमाह—'ओसप्पिणीए' गाहा, अवसर्पिण्या उपलक्षणत्वादुत्सर्पिण्याश्च यावन्तः समयाः-परमसूक्ष्माः कालविभागास्ते यदा एकजीवेन निजमरणैः[3] क्रमेणोत्क्रमेण वा स्पृष्टा भवन्ति तदा कालपुद्गलपरावर्तो भवेत् स्थूलः । अयमर्थः-यावता [4]यावता कालेनैको जीवः सर्वानप्यवसर्पिण्युत्सर्पिणीसमयान् क्रमेणोत्क्रमेण वा मरणेन व्याप्तान् करोति तावान् कालविशेषो बादरः कालपुद्गलपरावर्तः ॥४७॥

सूक्ष्मं कालपुद्गलपरावर्तमाह-'सुहुमो' इत्यादिगाथाद्वयम्, सूक्ष्मः पुनः कालपुद्गलपरावर्तो भवति, तद्यथा—एकः कश्चिज्जीवोऽवसर्पिण्याः प्रथमे समये यदि मृतो भवति पुनरपि तस्यावसर्पिणीप्रथमसमयस्यानन्तरे द्वितीये समये यदि म्रियते, एवं तरतमयोगेन-अनन्तरानन्तरसमयमरणलाभलक्षणेन एतेषु सर्वेष्वप्यवसर्पिण्युत्सर्पिणीसम्बन्धिषु समयेषु यदि प्राणपरित्यागं करोति तदा सूक्ष्मः [5]पुद्गलपरावर्तो भवति । इहापि समयान् अनुक्रमेणैव-प्रथमसमयानुगतसमयपरम्परापरिपाट-

१ मरणे-मु । मरण० सि ॥ २ पञ्चमकर्मग्रन्थस्य देवेन्द्रसूरिकृतवृत्तिः [गा. ८८] द्रष्टव्या ॥ ३ ०णेन-मु ॥ ४ यावता-मु. सि नास्ति ॥ ५ काल पु० मु ॥

थैव गणयेत्, न पुनः पूर्वस्पृष्टान् व्यवहितान् वा समयान् गणयेदिति । अत्रापीयं भावना–इहावसर्पिणी-प्रथमसमये कश्चिज्जीवो मृत्युमुपगतः, ततो यदि समयोनविंशतिसागरोपमकोटीकोटीभिरतिक्रान्ताभि-र्भूयोऽपि स जन्तुरवसर्पिणी–द्वितीयसमये म्रियते तदा स द्वितीयः समयो मरणस्पृष्टो गण्यते; शेषास्तु समया मरणस्पृष्टा अपि सन्तो न गण्यन्ते; यदि पुनस्तस्मिन्नवसर्पिणीद्वितीयसमये न म्रियते किन्तु समयान्तरे तदा सोऽपि न गृह्यते; किन्त्वनन्तास्ववसर्पिण्युत्सर्पिणीषु गतासु यदाऽवसर्पिणीद्वितीयसमये एव मरिष्यति तदा स समयो गण्यते । एवमानन्तर्यप्रकारेण यावता कालेन सर्वेऽप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणी-समया मरणव्याप्ता भवन्ति तावान् कालविशेषः सूक्ष्मः कालपुद्गलपरावर्तः ॥४८॥४९॥

साम्प्रतं द्विविधमपि भावपुद्गलपरावर्तं विवक्षुः प्रथमं **तावदनुभागबन्धस्थानपरिमाणमाह**— **'एगसमयंमि'** त्यादिगाथाद्वयम्, लोके इह–जगति एकस्मिन् समये ये पृथिवीकायिकादयो जीवाः **'सुहुमागणिजिया उ'** त्ति सप्तम्यर्थत्वात्प्रथमायाः सूक्ष्माग्निजीवेषु–सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्तिषु तेजस्कायिक-जीवेषु प्रविशन्ति–उत्पद्यन्ते ते भवन्त्यसङ्ख्येयाः; असङ्ख्येयत्वमेवाह–असङ्ख्येयलोकप्रदेशतुल्याः–असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः ।

इह च विजातीयजीवानां जात्यन्तरतयोत्पत्तिः प्रवेश उच्यते । इत्थमेव **प्रज्ञप्तौ** प्रवेशनकशब्दार्थस्य व्याख्यातत्वात्; [1]ततो ये जीवाः पृथिव्यादि[2]भ्योऽन्यकायेभ्यो बादरतेजस्कायेभ्यश्च सूक्ष्मतेजस्कायत-

१ ततस्ते-मु. । ततो ते-सि ॥ २ ०भ्योऽवका० सि. । ०भ्योप्का० वि ॥

योत्पद्यन्ते ते इह गृह्यन्तेः, ये पुनः पूर्वमुत्पन्नाः (सूक्ष्म)स्तेजस्कायिकाः पुनर्मृत्वा तेनैव पर्यायेणोत्पद्यन्ते; न गृह्यन्तेः तेषां पूर्वमेव प्रविष्टत्वात् । ततः सर्वस्तोका एकसमयसमुत्पन्नसूक्ष्माग्निकायिकाः ॥५०॥

'तत्तो' त्ति ततः- 'तेभ्यः एकसमयोत्पन्नसूक्ष्माग्निकायिकेभ्योऽसङ्ख्यगुणिता—असङ्ख्येयगुणा अग्निकायाः पूर्वोत्पन्नाः सर्वेऽपि सूक्ष्माग्निकायिकजीवाः; कथमिति चेदुच्यते—एकः सूक्ष्माग्निकायिको जीवः समुत्पन्नोऽन्तर्मुहूर्तं जीवति; एतावन्मात्रायुष्कत्वात्तेषाम् ; तस्मिंश्चान्तर्मुहूर्ते ये समयास्तेषु प्रत्येकमसङ्ख्येय-लोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः सूक्ष्माग्निकायिकाः समुत्पद्यन्ते; अतः सिद्धमेकसमयोत्पन्नसूक्ष्माग्निकायिकेभ्यः सर्वेषां पूर्वोत्पन्नसूक्ष्माग्निकायिकानामसङ्ख्येयगुणत्वम् : तेभ्योऽपि सर्वसूक्ष्माग्निकायिकेभ्यस्तेषामेव प्रत्येकं कायस्थितिः-पुनः पुनस्तत्रैव काये समुत्पत्तिलक्षणाऽसङ्ख्यातगुणाः, एकैकस्यापि सूक्ष्माग्निकायिकस्यासङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणायाः कायस्थितेरुत्कर्षतः प्रतिपादितत्वादिति । तस्या अपि कायस्थितेः सकाशात्संयमस्थानान्यनुभागबन्धस्थानानि च प्रत्येकमसङ्ख्येयगुणानिः, कायस्थितावसङ्ख्येयानां[2] स्थितिबन्धानां भावात् , एकैकस्मिंश्च स्थितिबन्धेऽसङ्ख्येयानामनुभागबन्धस्थानानां सद्भावादिति । संयमस्थानान्यप्यनुभागबन्धस्थानैस्तुल्यान्येवेति तेषामुपादानम् , तत्स्वरूपं चाग्रे वक्ष्यामः ।

अथानुभागबन्धस्थानानीति कः शब्दार्थः[1], उच्यते, तिष्ठत्यस्मिन् जीव इति स्थानम् , अनुभागबन्धस्य स्थानमनुभागस्थानबन्धस्थानम् ; एकेन काषायिकेणाध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपुद्गलानां विवक्षितैक-

१ विशेषार्थं द्रष्टव्यः पञ्चसङ्ग्रह [ ] कर्मग्रन्थ [ ] लोकप्रकाशाः [३५/७६] ॥ २ ०सङ्ख्येयगुणानां-मु. ॥

समयबद्धरससमुदायपरिमाणमित्यर्थः; तानि चानुभागबन्धस्थानान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि; तेषां चानुभागबन्धस्थानानां निष्पादका ये कषायोदयरूपा अध्यवसायविशेषास्तेऽप्यनुभागबन्धस्थानानीत्युच्यन्ते; कारणे कार्योपचारात् । तेऽपि चानुभागबन्धाध्यवसाया असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा इति ॥५१ ॥

अथ **बादरं सूक्ष्मं च भावपुद्गलपरावर्तमाह**—'**ताणी**' त्यादि, तानि—अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि सर्वाण्यप्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि म्रियमाणेन यदा जीवेनैकेन क्रमेण आनन्तर्येणोत्क्रमेण च—पारम्पर्येण स्पृष्टानि भवन्ति एष बादरभावपुद्गलपरावर्तः । किमुक्तं भवति ? यावता कालेन क्रमेणोत्क्रमेण वा सर्वेष्वप्यनुभागबन्धाध्यवसायेषु वर्तमानो मृतो भवति तावान् कालो बादरभावपुद्गलपरावर्तः; सूक्ष्मः पुनः भावपुद्गलपरावर्तो बोद्धव्यो यदा क्रमेण—परिपाट्या सर्वाण्यप्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि स्पृष्टानि भवन्ति ।

इयमत्र भावना—कश्चिज्जन्तुः सर्वजघन्ये कषायोदयरूपेऽध्यवसाये वर्तमानो मृतस्ततो यदि स एव जन्तुरनन्तेऽपि काले गते सति प्रथमादनन्तरे द्वितीयेऽध्यवसायस्थाने वर्तमानो म्रियते तदा तन्मरणं गण्यते, शेषाण्युत्क्रमभावीन्यनन्तान्यपि मरणानि, ततः कालान्तरे भूयोऽपि यदि द्वितीयस्मादनन्तरे तृतीयेऽध्यवसायस्थाने वर्तमानो म्रियते तदा तृतीयं मरणं गण्यते, न शेषाण्यपान्तरालभावीन्यनन्तान्यपि मरणानि । एवं क्रमेण [1]सर्वाण्यप्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि यावता कालेन मरणेन स्पृष्टानि भवन्ति तावान् कालविशेषः सूक्ष्मभावपुद्गलपरावर्तः । इह च बादरे प्ररूपिते सति सूक्ष्मः सुखेनैव शिष्यैः

१ सर्वाण्यनु० मु. सि. ॥

समधिगम्यते इति बादरपुद्गलपरावर्तप्ररूपणा क्रियते, न पुनः कोऽपि बादरपुद्गलपरावर्तः क्वचिदपि सिद्धान्तप्रदेशे प्रयोजनवानुपलभ्यत इति । तथा सूक्ष्माणामपि चतुर्णां पुद्गलपरावर्तानां मध्ये **जीवाभिगमादौ** पुद्गलपरावर्तः क्षेत्रतो बाहुल्येन [1]परिगृहीतः, क्षेत्रतो मार्गणायां तस्योपादानात् । था च तत्सूत्रम्—

★'जे से [2]साए सपज्जवसिए [3]मिच्छदिट्ठी से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उसप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं' इत्यादि ।

ततोऽन्यत्रापि यत्र विशेषनिर्देशो नास्ति तत्र पुद्गलपरावर्तग्रहणे क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो गृह्यते इति सम्भाव्यते, तत्त्वं तु बहुश्रुता एव विदन्तीति ॥१०५२॥ १६२॥

इदानीं 'पन्नरस कम्मभूमीओ' त्ति त्रिषष्ट्यधिकशततमं द्वारमाह—

भरहाइ ५ विदेहाइ ५ एरवयाइं च ५ पंच पत्तेयं ।
भन्नति कम्मभूमी[4]उ धम्मजोग्गा उ पन्नरस ॥५३॥ [विचारसार गा. ४२]

'भरहाइं' गाहा, भरतानि **'विदेहाइ'** ति महाविदेहा ऐरवतानि च प्रत्येकं पञ्च पञ्च भण्यन्ते पञ्चदश कर्मभूमयः । एतासामेव स्वरूपमाह—धर्मस्य श्रुतचारित्ररूपस्य योग्या—उचितास्तदनुष्ठानस्य तत्रैव सम्भवात् । अयमर्थः—कर्म—कृषि-वाणिज्यादि मोक्षानुष्ठानं वा, तत्प्रधाना भूमयः कर्मभूमयः, ताश्च पञ्चदश

★ य स सादिसपर्यवसितो मिथ्यादृष्टि स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टेनानन्तं कालम्, अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽपार्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोनम् ।

१ परि० मु सि. नास्ति ॥ २ साइए- मु. ॥ ३ मिच्छा० मु ॥ ४ उ मु.नास्ति । तुला—विचारसारः गा. ४२ ॥

भवन्ति, तद्यथा—एकं भरतक्षेत्रं जम्बूद्वीपे, द्वे धातकीखण्डे, द्वे च पुष्करवरद्वीपार्धे, एवं भरतानि पञ्च । एवं महाविदेहा ऐरवतानि च प्रत्येकं पञ्च पञ्चेति ॥१०५३॥१६३॥

१६४द्वारे अकर्मभूमयः गाथा १०५४-५

इदानीं 'अकम्मभूमीओ तीस' त्ति चतुःषष्ट्यधिकशततमं द्वारमाह—

हेमवयं १ हरिवासं २ देवकुरू ३ तह य उत्तरकुरूवि ४ ।
रम्मय ५ एरन्नवय ६ इय छब्भूमी उ पंचगुणा ॥५४॥ [विचारसार गा. ४१]
एया अकम्मभूमीउ तीस सया जुअलध[1]म्मिजणठाणं ।
दसविहकप्पमहद्दुमसमुत्थभोगा पसिद्धाओ ॥५५॥

'हेमवय' मित्यादिगाथाद्वयम्, हैमवतं हरिवर्षं देवकुरवस्तथा उत्तरकुरवो रम्यकमैरण्यवतं चेत्येताः षड्भूमयः पञ्चभिर्गुणितास्त्रिंशदकर्माणो-यथोक्तकर्मविकला [2]भूमयोऽकर्मभूमयो भवन्ति । षण्णां पञ्चानां त्रिंशत्सङ्ख्यात्मकत्वात् । एताश्च सर्वा अपि सदा—सर्वकालं युगलधार्मिकजनानां स्थानं—आश्रयः, युगलधार्मिका एव नरतिर्यञ्चस्तत्र वसन्तीति भावः । तथा दशविधा ये कल्पमहाद्रुमा वक्ष्यमाणस्वरूपास्तत्समुत्थेन-तदुत्पन्नेन भोगेन—अन्न-पान-वसना-ऽलङ्कारादिना प्रसिद्धाः—प्रख्याता इति ॥१०५४-१०५५॥१६४॥

१६५ द्वारे मदाः गाथा १०५६ प्र. आ. ३११

साम्प्रतं 'अट्ठ मय' त्ति पञ्चषष्ट्यधिकशततमं द्वारमाह—

जाइ १ कुल २ रूव ३ बल ४ सुय ५ तव ६ लाभि ७ [3]स्सरिय ८ अट्ठ मयमत्तो ।
एयाइं चिय बंधइ असुहाइं [4]बहुं च संसारे ॥५६॥

१ ०धम्म० मु. ॥ २ ०ल भू० सि. वि. ॥ ३ स्सरय-सि. वि. ॥ ४ बहुयं-ता. ॥

'जाइकुल' गाहा, जाति-कुल-रूप-बल-श्रुत-तपो-लाभैश्वर्यस्वरूपैरष्टभिर्मदैः—अभिमानैर्मत्तः—परवशः प्राणी एतान्येव—जात्यादीन्यशुभानि—हीनानि बध्नाति—अर्जयति, बहुं च—प्रभूतं कालं यावदस्मिन् संसारे परिभ्रमतीति शेषः। अयमर्थः—जातिमदं विदधानो जन्तुरन्यजन्मनि तामेव जातिं हीनां लभते, विकटां च भवाटवीं पर्यटतीति; एवमग्रेऽपि भावना कार्या,

तत्र जातिः—मातृकी विप्रादिका वा, कुलं—पैतृकमुग्रादिकं वा, रूपं—शरीरसौन्दर्यम्, बलं-सामर्थ्यम्, श्रुतम्—अनेकशास्त्रावबोधः, तपः—अनशनादि, लाभः—अभिलषितवस्तुप्राप्तिः, ऐश्वर्यं—[1]प्रभुत्वमिति ॥१०५६॥१६५॥

प्र. आ. ३११

इदानीं 'दुन्नि सया तेयाला भेया पाणाइवायस्स' इति षट्षष्ट्यधिकशततमं द्वारमाह—

भू १ जल २ जलणा ३ निल ४ वण ५ बि ६ ति ७ चउ ८ पंचिंदिएहिं ९ नव जीवा।
मणवयणकाय ३ गुणिया हवंति ते सत्तवीसंति[2] ॥५७॥
एक्कासीई सा करणकारणाणुमइताडिया होइ।
सच्चिय तिकालगुणिया दुन्नि सया होंति तेयाला २४३ ॥५८॥

'भू-जले' त्यादिगाथाद्वयम्, भूः—पृथ्वी, जलम्—आपः, ज्वलनः—अग्निः, अनिलो-वायुः, वनस्पतयः—प्रतीताः, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियाश्चेत्येतैर्भेदैर्नवविधा जीवाः; ते च मनो-वचन-कायलक्षणैस्त्रिभिः करणैर्गुणिताः सप्तविंशतिर्भवन्ति; तथा सा—सप्तविंशतिः करण-कारणा-ऽनुमतिभिस्ताडिता

१ च प्रभु० मु.॥ २ ०सत्ति–सि. वि.॥

-गुणिता एकाशीतिर्भवति; सैवैकाशीतिरतीत-वर्तमान-भविष्यल्लक्षणैस्त्रिभिः कालैर्गुणिता द्वे शते त्रिचत्वारिंशद-धिके भवतः ।

अयमत्र भावार्थः—पृथिव्यादीनां नवानामपि जीवानां मनसा वचनेन कायेन च प्रत्येकं वधस्य सम्भवात् सप्तविंशतिर्भेदाः, तत्रापि पृथिव्यादिवधं मनःप्रभृतीभिः कश्चित्स्वयं करोति, कश्चिदन्येन कारयति, कश्चित्पुनरन्यं कुर्वन्तमनुमन्यते, इति प्रत्येकं करण-कारणा-ऽनुमतिसम्भवेनैकाशीतिर्भेदाः, ते च प्रत्येकं कालत्रयेऽपि सम्भवन्तीति द्वे शते त्रिचत्वारिंशदधिके प्राणातिपातभेदा इति ॥१०५७॥१०५८॥१६६॥

सम्प्रति 'परिणामाणं अट्ठुत्तरसयं' ति सप्तषष्ट्यधिकशततमं द्वारमाह—

प्र. आ. ३१२

संकप्पाइतिएणं ३ मणमाईहिं ३ तहेव करणेहि ३ ।
कोहाइचउक्केणं ४ परिणामेऽट्ठोत्तरसयं च ॥५९॥
संकप्पो संरंभो १ परितावकरो भवे समारंभो २ ।
आरंभो ३ उद्दवओ सुद्धनयाणं च सव्वेसिं ॥६०॥

'संकप्पाइ' गाहा, इह सङ्कल्पशब्देन संरम्भ उपलक्ष्यते पर्यायत्वात्; आदिशब्दात्समारम्भारम्भ-परिग्रहः, ततो वक्ष्यमाणस्वरूपाः संरम्भ-समारम्भा-ऽऽरम्भास्त्रयो मनो-वचन-कायैर्गुण्यन्ते जाता नव; तथा 'करणेहिं' ति बहुवचननिर्देशात्कारणा-ऽनुमतिपरिग्रहः, ततः पूर्वोक्ता नव करण-कारणा-ऽनुमतित्रिकेण गुण्यन्ते जाताः सप्तविंशतिः; साऽपि क्रोधादिचतुष्केण—क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणैश्चतुर्भिः कषायैर्गुण्यते

जातं 'परिणामे' षष्ठी-सप्तम्योरर्थं [1]प्रत्यभेदात् परिणामानां—चित्तादिपरिणतिविशेषाणामष्टोत्तरं शतमिति ।

इदमत्र तात्पर्यम्—उद्भूतक्रोधपरिणाम आत्मा करोति स्वयं कायेन संरम्भमित्येको विकल्पः; तथा आविर्भूतमानपरिणाम आत्मा स्वयं करोति कायेन संरम्भमिति द्वितीयः; तथा समुपजातमायापरिणतिरात्मा [2]करोति स्वयं कायेन संरम्भमिति तृतीयः; तथा लोभकषायग्रस्त आत्मा करोति स्वयं कायेन संरम्भमिति चतुर्थः; एवं कृतेन चत्वारो विकल्पाः, कारितेन चत्वारः, अनुमत्याऽपि चत्वारः, एते द्वादश कायेन लब्धाः, तथा वचसा द्वादश, मनसाऽपि द्वादश; एते षट्त्रिंशत्संरम्भेण लब्धाः तथा समारम्भेणापि षट्त्रिंशत्, तथा आरम्भेणापि षट्त्रिंशदित्येवमष्टोत्तरं परिणामशतं भवतीति ॥५९॥

अथ **सङ्कल्पादीनामेव स्वरूपमाह**—

'संकप्पो' गाहा, प्राणातिपातं [3]करोमीति यः सङ्कल्पः—अध्यवसायः स संरम्भः; यः पुनः परस्य परितापकरः—पीडाविधायी व्यापारः स समारम्भः; अपद्रावयतो जीवितात्परं व्यपरोपयतो व्यापार आरम्भः । एतच्च संरम्भादित्रितयं सर्वेषामपि शुद्धनयानां सम्मतम्, अयमर्थः—इह नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवंभूतलक्षणाः सप्त नयाः । तत्र शुद्धेरन्तर्भूतकारितार्थत्वात् शोधयन्ति कर्ममलिनं जीवमिति शुद्धाः-नैगम-सङ्ग्रहव्यवहाररूपास्त्रयः, ते हि अनुयायिद्रव्याभ्युपगमपराः; ततो भवान्तरेऽपि कृतकर्मफलोपभोगोपपत्तेः सद्धर्मदेशनादौ प्रवृत्तियोगतो भवति तात्त्विकी शुद्धिस्तस्मात्त एव शुद्धाः ।

ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवंभूतस्वरूपास्तु[4] चत्वारो नया अशुद्धाः; ते हि पर्यायमात्रमभ्युपगच्छन्ति,

१ प्रति भे० सि. वि. ॥ २ स्वय करोति कायेन-मु. ॥ ३ करोतीति—जे. ॥ ४ ०पाश्चत्वारो-ख ॥

पर्यायाणां परस्परमात्यन्तिकं भेदं च; एवं च सति कृतविप्रणाशादिदोषप्रसङ्गः; तथाहि–मनुष्येण कृतं कर्म किल देवो भुङ्क्ते, मनुष्यावस्थातश्च देवावस्था भिन्नाः; ततो मनुष्यकृतकर्मविप्रणाशो, मनुष्येण सता तस्योपभोगाभावात्, देवस्य च फलोपभोगोऽकृताभ्यागमः, देवेन सता तस्य कर्मणोऽकरणात्, [1]कृतविप्रणाशादिदोषपरिज्ञाने [2]च न कोऽपि धर्मश्रवणेऽनुष्ठाने वा प्रवर्तते इति मिथ्यात्वशुद्ध्यभावः; तदभावाच्च न ते शुद्धा इति ।

अथवा शुद्धनयानां चेत्यत्र प्राकृतत्वात्पूर्वस्याकारस्य लोपो द्रष्टव्यः, ततः सर्वेषामप्यशुद्धनयानामेतत्संरम्भादित्रितयं सम्मतं न तु शुद्धानामिति, तत्र नैगम-सङ्ग्रहव्यवहाररूपा आद्यास्त्रयो नया अशुद्धाः, व्यवहाराभ्युपगमपरत्वात् ; उपरितनास्तु चत्वारः शुद्धाः, नैश्चयिकत्वादिति । तदिदमत्र तात्पर्यं–संरम्भ-समाऽऽरम्भलक्षणं त्रितयं नैगमादीनामेव त्रयाणां सम्मतम् ; व्यवहारपरतया तेषां मतेन [3]त्रितयस्यापि सम्भवात्; ऋजुसूत्रादयस्तु हिंसाविचारप्रक्रमे न बाह्यवस्तुगतां हिंसामनुमन्यन्ते । यतस्तन्मतेनात्मैव तथाऽध्यवसायपरिकलितो हिंसा, न बाह्यमनुष्यादिपर्यायविनाशनम्, 'आया चेव उ हिंसा' [ ] इति वचनात् । ततः संरम्भ एव हिंसा, न समारम्भो नाप्यारम्भः, ऋजुसूत्रादीनां मतेनेति ॥१०६०॥१६७॥

सम्प्रति '**बंभमट्ठदसभेयं**' ति अष्टषष्ट्यधिकशततमं द्वारमाह—

दिव्वा कामरइसुहा तिविहं [4]तिविहेण नवविहा विरई ।
ओरालि[4]याउवि तहा तं बंभं अट्ठदसभेयं ॥६१॥

१ कृत प्र० मु. ॥ २ च कोऽपि धर्मश्रवणेऽनुष्ठाने वा न प्रव० सि.वि. ॥ ३ त्रितयस्य-खं. ॥
४ ०याभो तिविहा–ता. । ०वावि–वि. ॥

'दिव्वा' गाहा, दिवि भवं दिव्यम्, तच्च वैक्रियशरीरसम्भवम्; काम्यन्त इति कामा—विषयास्तेषु रतिः—अभिष्वङ्गस्तस्मात्सुखं कामरतिसुखं सुरतसुखमिति भावः, तस्माद्दिव्यात्कामरतिसुखात् त्रिविधं यथा भवति कृत-कारिता-ऽनुमतिभिरित्यर्थः, त्रिविधेन—मनोवाक्कायलक्षणेन [1]करणेन नवविधा विरतिः; एवमौदारि[2]कादपि तिर्यङ्मनुष्यसम्भवात् [3]तत् तथा—त्रिविधं त्रिविधेन नवविधा विरतिः; इत्येवं तद्—ब्रह्मचर्यमष्टादशभेदं भवति। इयमत्र भावना—मनसाऽब्रह्म न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमपि परं नानुमन्ये; एवं वचसा कायेन चेति दिव्ये ब्रह्मणि नव भेदाः, एवमौदारिकेऽपीत्यष्टादशेति ॥१०६१॥१६८॥

सम्प्रति 'कामाण चउव्वीस' त्येकोनसप्तत्यधिकशततमं द्वारमाह—

कामो चउवीसविहो संपत्तो खलु तहा असंपत्तो ।
चउदसहा संपत्तो दसहा पुण होअसंपत्तो ॥६२॥
तत्थ [4]असंपत्तेऽत्था १ चिंता २ तह सद्ध ३ संभरण ४ मेव ।
विक्कवय ५ लज्जनासो ६ पमाय ७ उम्माय ८ तब्भावो ९ ॥६३॥
मरणं च होइ दसमो[5] १० संपत्तंपि य समासओ वोच्छं ।
दिट्ठीए संपाओ १ दिट्ठीसेवा २ य संभासो ३ ॥६४॥

१ करणेन—सि. वि. नास्ति ॥ २ कादिष्वपि तिर्यग्मनुष्यसम्भवादि तत तथा-वि. सि ॥ ३ तत्—मु. नास्ति ॥ ४ असंपत्ति० ता. । असंपत्त० वि ॥ ५ मे—मु । तुलना-दशवै. निर्युक्तिः ॥

हसिय ४ ललिओ ५ वगूहिय ६ दंत ७ नहनिवाय ८ चुंबणं ९ चेव ।
आलिंगण १० मादाणं ११ कर १२ सेवण १३ ऽणंगकीडा १४ य ॥६५॥

[तु. दशवै. नि. २५९-६२]

'कामो' गाहा, कामश्चतुर्विंशतिविधः—चतुर्विंशतिभेदो भवति । तत्र प्रथमं तावत्सामान्येन द्विधा—सम्प्राप्तः—कामिनामन्योऽन्यं सङ्गमसमुत्थः; तथा असम्प्राप्तश्च—विप्रलम्भस्वरूपः । तत्र सम्प्राप्तश्चतुर्दशधा—चतुर्दशप्रकारः, दशधा पुनः—दशप्रकारो भवत्यसम्प्राप्त इति ॥६२॥

तत्राल्पतरवक्तव्यत्वादसम्प्राप्तं तावदाह--'तत्थ असंपत्तो' इत्यादिगाथा, तत्र—द्वयोः सम्प्राप्ता-ऽसम्प्राप्तयोर्मध्ये असम्प्राप्तोऽयं—'अत्थे' ति अर्थनमर्थः—अदृष्टेऽपि रमण्यादौ श्रुत्वा तदभिलाषमात्रम् १, चिन्ता—अहो रूपादयस्तस्यागुणा इत्यनुरागेण चिन्तनम् २; तथा श्रद्धा—तत्सङ्गमाभिलाषः ३, तथा संस्मरणं—सङ्कल्पिततद्रूपस्यालेख्यादिदर्शनेनात्मनो विनोदनम् ४, तथा विक्लवता—तद्विरहदुःखातिरेकेणाहारादिष्वपि निरपेक्षता ५, तथा लज्जानाशो—गुर्वादिसमक्षमपि तद्गुणोत्कीर्तनम् ६, तथा प्रमादः—तदर्थमेव सर्वारम्भेषु प्रवर्तनम् ७, तथोन्मादो—नष्टचित्ततया आलजालजल्पनम् ८, तथा तद्भावना—स्तम्भादीनामपि तद्बुद्ध्या-ऽऽलिङ्गनादिचेष्टा ९, मरणं च भवति दशमोऽसम्प्राप्तकामभेदः १० । इदं च सर्वथा प्राणपरित्यागलक्षणं न ज्ञातव्यम् , शृङ्गाररसभङ्गप्रसङ्गात् ; किन्तु मरणमिव मरणं—निश्चेष्टावस्था मूर्च्छाप्राया काचिदित्यर्थः । इत्थमेवा-भिनवगुप्तेन भरतवृत्तिकृताऽपि व्याख्यातत्वादिति ।

●अथ संप्राप्तं काममाह— 'संपत्तंपी' त्यादि, ●संप्राप्तमपि कामं समासतः—सङ्क्षेपेण वक्ष्ये, तदेवाह—'दृष्टेः' सम्पातः स्त्रीणां कुचाद्यवलोकनं १ तथा दृष्टिसेवा—हावभावसारं तद्दृष्टेर्दृष्टिमीलनम् २, तथा सम्भाषणम्—उचितकाले स्मरकथाभिजल्पः ३, ॥ ६३ ॥६४॥ 'हसिय' गाहा, हसितं च—वक्रोक्तिगर्भं हसनम् ४, ललितं—पासकादिक्रडा ५, उपगूढं—गाढतरपरिष्वक्तम् ६, दन्तपातो—दशनच्छेदविधिः ७, नखनिपातः—कररुहविपाटनप्रकारः ८; चुम्बनं—वक्त्रसंयोगः ९, आलिङ्गनम्—ईषत्स्पर्शनम् १०, आदानं—कुचादिग्रहणम् ११, 'करसेवणं' ति प्राकृतशैल्या करणा-ऽऽसेवने, तत्र करणं—सुरतारम्भयन्त्रं चतुरशीतिभेदं वात्स्यायनप्रसिद्धम् १२ आसेवनं-मैथुनक्रिया १३, अनङ्गक्रीडा च—आस्यादावर्थक्रियेति १४ ॥१०६५॥१६९॥

इदानीं 'दस पाण' त्ति सप्तत्यधिकशततमं द्वारमाह—

इंदिय ५ बल ३ ऊसासा १ उ १ पाण चउ छक्क सत्त अट्ठेव ।
इगि विगल ¹असन्नी सन्नो नव दस पाणा य बोद्धव्वा ॥६६॥

'इंदिय' गाहा, इन्द्रियबलोच्छ्वासायूंषि प्राणा इत्यभिधीयन्ते; ते च दश; तत्रेन्द्रियाणि—स्पर्शनादीनि पञ्च; बलं कायवाङ्मनोभेदात् त्रिधाः, उच्छ्वासशब्देनाविनाभावित्वान्निःश्वासोऽपि² गृह्यते, तत उच्छ्वासनिःश्वासरूप एको भेदः, आयुश्च दशममिति । सम्प्रति येषां जीवानां यावन्तः प्राणाः सम्भवन्तीत्येतदाह—

● ● चिह्नद्वयमध्यवर्तिपाठः खं.वि. सि. नास्ति ॥ १ सन्नि-ता. ॥ २ ०ऽपि–मु. नास्ति ॥

'चउछक्के' त्यादि, इह सूचकत्वात्सूत्रस्य 'इगि' त्ति एकेन्द्रियाः; 'विगल' त्ति विकलेन्द्रियाः, द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया इत्यर्थः; ततः एकेन्द्रियाणां द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाणां च यथासङ्ख्यं चत्वारः षट् सप्त अष्टौ च प्राणा भवन्ति। इयमत्र भावना—स्पर्शनेन्द्रिय-कायबलोच्छ्वासा-ऽऽयुर्लक्षणाश्चत्वारः प्राणा एकेन्द्रियाणां पृथिव्यादीनाम्; स्पर्शनेन्द्रिय-रसनेन्द्रिय-काय-बल-वाग्बलोच्छ्वासा-ऽऽयुःस्वरूपाः षट् प्राणा द्वीन्द्रियाणाम्; त एव घ्राणेन्द्रियसहिताः सप्त प्राणास्त्रीन्द्रियाणाम्; त एव सप्त चक्षुरिन्द्रियसहिता अष्टौ प्राणाश्चतुरिन्द्रियाणाम्; तथा असंज्ञिनां संज्ञिनां च नव दश प्राणा बोद्धव्याः; अत्राप्ययमर्थः—इन्द्रियपञ्चककायवाग्बलोच्छ्वासनिःश्वासायुर्लक्षणा नव प्राणा असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाम्; संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां तु पूर्वोक्ता दशापि प्राणा भवन्तीति ॥१०६६॥

सम्प्रति 'दस कप्पदुम' त्ति एकसप्तत्यधिकशततमं द्वारमाह—

मत्तंगया य १ भिंगा २ तुडियंगा ३ दीव ४ जोइ ५ चित्तंगा ६ ।
चित्तरसा ७ मणियंगा ८ गेहागारा ९ अणियणा य १० ॥
मत्तंगएसु मज्जं सुहपेज्जं भायणाणि भिंगेसु ।
तुडियंगेसु य संगयतुडियाइं बहुप्पगाराइं ३ ॥६८॥
दीवसिहा जोइसनामगा य एए करेंति उज्जोयं ।
चित्तंगेसु य मल्लं चित्तरसा भोयणट्ठाए १० ॥६९॥

१ विकलसि-मु. सं. ॥ २ वलोच्छ्वासायु-मु. ॥ ३ [illegible]

मणियंगेसु य भूसणवराइं ८ भवणाइ भवणरुक्खेसु ९ ।
तह अणियणेसु [1]य धणियं वत्थाइं बहुप्पयाराइं १० ॥७०॥

'मत्तंगया य' गाहा, इह मत्तं-मदस्तस्याङ्गं-कारणं मदिरास्तद्ददतीति मत्ताङ्गदाः, यद्वा मत्तस्य-मदस्याङ्गं-कारणं मदिरारूपं येषु ते मत्ताङ्गास्त एव मत्ताङ्गकाः १ ।

'भिंग' त्ति भृतं-भरणं पूरणं [2]तत्राङ्गानि कारणानि भृताङ्गानि-भाजनानि, न हि भरणक्रिया भरणीयं भाजनं विना भवतीति तत्सम्पादकत्वाद् वृक्षा अपि भृताङ्गाः, प्राकृतत्वाच्च भिंगा उच्यन्ते २ ।

तथा त्रुटितानि-तूर्याणि तत्कारणत्वात् त्रुटिताङ्गाः ३ ।

'दीवजोइचित्तंग' त्ति इहाङ्गशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते; ततो दीपः-प्रकाशकं वस्तु तत्कारणत्वा-द्दीपाङ्गाः ४ । ज्योतिः-अग्निस्तत्र च सुषमसुषमायामग्नेरभावात् ज्योतिरिव यद्वस्तु [3]सोष्मप्रकाशमिति भावः, तत्कारणत्वाज्ज्योतिरङ्गाः ५ । तथा चित्रस्य-अनेकप्रकारस्य विवक्षाप्राधान्यात् माल्यस्य कारणत्वा-च्चित्राङ्गाः ६ ।

तथा चित्रा-विविधा मनोज्ञा रसा-मधुरादयो येभ्यस्ते चित्ररसाः ७ ।

तथा मणीनां-मणिप्रधानाभरणानां कारणत्वान्मण्यङ्गाः ८ ।

तथा गेहं-गृहं तद्वदाकारो येषां ते गृहाकाराः ९ ।

'अणियण' त्ति विचित्रवस्त्रदायित्वान्न विद्यन्ते नग्नास्तन्निवासिनो जना येभ्यस्तेऽनग्नाः १० ।

१ य- मु. नास्ति ॥ २ तत्राङ्गकानि-ख ॥ ३ सोष्मप्रकाशकमिति- मु. ॥

इत्येते दश कल्पद्रुमा भवन्तीति ॥६७॥

अथैतेषां मध्ये येषु यद्भवति तदाह– 'मत्तङ्गएसु' इत्यादिगाथात्रयम्, मत्ताङ्गकेषु कल्पद्रुमेषु सुखपेयं परमातिशयसंपन्नवर्णादिविशिष्टत्वेन पातुमभिलषणीयं सुपक्वेक्षु-द्राक्षादिरसनिष्पन्नं मद्यं भवति। कोऽर्थः १–तेषां फलानि विशिष्टबलवीर्यकान्तिहेतुविश्रसापरिणतसरससुगन्धिविविधपरिपाकागतहृद्यमद्यपरिपूर्णानि [1]स्फुटित्वा स्फुटित्वा मद्यं मुञ्चन्तीति १।

तथा भृताङ्गेषु भाजनानि–स्थालप्रभृतीनि भवन्ति। अयमर्थः–यथा इह मणि-कनक-रजतादिमय-विचित्रभाजनानि [2]दृश्यन्ते, तथैव विश्रसापरिणतैरपरिमितैः स्थाल-कच्चोलक-कलश-करकादिभिर्भाजनैः फलैरिवोपशोभमानाः प्रेक्ष्यन्ते २।

तथा त्रुटिताङ्गेषु सङ्गतानि–सम्यग्–यथोक्तरीत्या सम्बद्धानि त्रुटितानि–आतोद्यानि बहुप्रकाराणि–तत-वितत-घन-शुषिरभेदभिन्नानि फलानीव भवन्ति। तत्र

'ततं–वीणादिकं ज्ञेयम्; विततं–पटहादिकम्। घनं तु–कांस्यतालादिः, शुषिरं–काहलादिकम् ॥१॥' इति ३।

तथा दीपशिखा ज्योतिषिकनामकाश्च एते कल्पतरव उद्योतं–प्रकाशं कुर्वन्ति। इदमुक्तं भवति–यथेह स्निग्धं प्रज्ज्वलन्त्यः[3] काञ्चनमणिमय्यो दीपिका उद्योतं कुर्वाणा दृश्यन्ते तद्वद्विश्रसापरिणताः (दीप-

१ भवन्ति स्फुटित्वा स्फु० वि.॥ २ स्थालप्रभृतीनि- दृश्यन्ते-मु.॥ ३ ०न्त्याः-खं. वि.॥

शिखाकल्पवृक्षाः)-प्रकृष्टोद्योतेन सर्वमुद्योतयन्तो वर्तन्ते: ज्योतिषिकास्तु सूर्यमण्डलमिव स्वतेजसा 'सर्व-
मध्यमवभासयन्तः सन्तीति ४-५ ।

तथा चित्राङ्गेषु माल्यम्—अनेकप्रकारसरससुरभिमनोहरवर्णकुसुमदामरूपं भवति ६ ।

तथा चित्ररसा भोजनार्थाय—युगलधार्मिकाणां भोजननिमित्तं भवन्ति । एतदुक्तं भवति—इहत्यविशि-
ष्टदालिकलमशालिशालिनकपक्वान्नप्रभृतिभ्योऽतीवपरिमितरसादुत्कादिगुणोपेतेन्द्रियबलपुष्टिहेतुभूतस्वादभोज्य-
वस्तुपरिपूर्णैः फलैः राजमानाश्चित्ररसा अवतिष्ठन्ते ७ ।

तथा मण्यङ्गेषु वराणि—श्रेष्ठानि भूषणानि—विश्रसापरिणतानि कटककेयूरकुण्डलादीन्याभरणानि
सन्ति ८ ।

तथा भवनवृक्षेषु गेहाकारनामकेषु कल्पद्रुमेषु भवनानि—विश्रसापरिणतानि प्रांशुप्राकारोपगूढ-
सुखारोहसोपानपङ्क्तिकलितानि विचित्रशालाविततानि नानाप्रकाराणि निकेतनानि ...
विधानि निकेतनानि भवन्ति ९ ।

तथा अनग्नेषु कल्पपादपेषु 'मणियंगे'ति ... अनग्नत्वार्थं बहुप्रकाराणि विचित्राणि वस्त्राणि—विश्रसापरिणत-
पक्षातिसूक्ष्मसुकुमारदेवदूष्यानुकारीणि मनोहारीणि निर्मलभांसि वासांसि समुपजायन्ते इति १० ॥१०६७-
१०६९-१०७०॥

१ सर्वमव० खं. ॥ २ कटककुण्डलकेयूरादी० मु ॥ ३ प्रांशु० खं. नास्ति ॥ ४ ति-मु. नास्ति ॥

इदानीं 'नरय' त्ति द्विसप्तत्यधिकशततमं द्वारमाह—

घम्मा १ वंसा २ सेला ३ अंजण ४ रिट्ठा ५ मघा ६ य माघवई ७ ।
[1]नरयपुढवीण नामाइं हुंति रयणाइं गोत्ताइं ॥७१॥
रयणप्पह १ सक्करपह २ वालुयपह ३ [2]पंकपहभिहाणाओ ४ ।
धूमपह ५ तमपहाओ ६ तह महातमपहा ७ पुढवी ॥७२॥ [तुलना—बृहत्सं. गा. २३१]

'घम्मे' त्यादि गाथाद्वयम् , इह यदनादिकालप्रसिद्धमन्वर्थरहितमभिधानं तत्सर्वकालं यथाकथञ्चिद-न्वर्थनिरपेक्षतया नमनात्—प्रवर्तनान्नामेत्युच्यते । यत्पुनः सान्वर्थं तद्गोः—स्वाभिधायकवचनस्य त्राणाद्—यथार्थत्वसम्पादनेन पालनाद्गोत्रमिति । तत्र घर्मा वंशा शैला अञ्जना रिष्ठा मघा माघवती चेत्येतानि नरक-पृथिवीनां सप्तानां यथाक्रमं नामानि भवन्ति ।

तथा 'रयण' त्ति एकदेशेन समुदायोपचाराद्रत्नप्रभादीनि गोत्राणि भवन्ति । तत्र प्रभाशब्दो बाहुल्य-वाची । ततो रत्नानां—कर्केतनादीनां प्रभा—बाहुल्यं यस्यां सा रत्नप्रभा रत्नबहुलेति भावः । एवं शर्कराणा-मुपलखण्डानां प्रभा यस्यां सा शर्कराप्रभा । वालुकायाः परुषपांसूत्कररूपायाः प्रभा यस्यां सा वालुका-प्रभा । पङ्कस्य प्रभा यस्यां सा पङ्कप्रभा, कर्दमाभद्रव्योपलक्षितेत्यर्थः । धूमस्य प्रभा यस्यां सा धूमप्रभा, धूमाभद्रव्योपलक्षितेति भावः । तमसः प्रभा—बाहुल्यं यत्र सा तमःप्रभा । तथा महातमसः—अतिशायितमसः

१ नरय० त्रि. बृहत्संग्रहण्यां नास्ति ॥ २ पंकप्पभिहा० सि. खि. । पंकप्पहा० त्रि. ॥

प्रभा—बाहुल्यं यत्र सा महातमःप्रभा । अपरे तु तमस्तमस्य—प्रकृष्टतमसस्तमस्तमसो वा—अत्यन्ततमसः प्रभा—बाहुल्यं यस्यां सा [1]तमस्तमप्रभा तमस्तमःप्रभेति [2]वा मन्यन्त इति ॥७१-७२॥ १७२॥

सम्प्रति 'नेरइयाणं आवास' त्ति त्रिसप्तत्यधिकशततमं द्वारमाह—

तीसा य १ पन्नवीसा २ पन्नरस ३ दस ४ चेव तिन्नि ५ य हवंति ।
पंचूण सयसहस्सं ६ पंचेव ७ अणुत्तरा नरया ॥७३॥

[तुलना-बृ.सं. गा. २५५/भगवतीसू. १।५।४३]

'तीसा य' गाहा, नारकाणामावासाः क्रमशः सप्तस्वपि पृथिवीषु त्रिंशल्लक्षादयो भवन्ति । [3]तथाहि—प्रथमायां पृथिव्यां त्रिंशच्छतसहस्रा-लक्षा इत्यर्थः । एवं द्वितीयस्यां पञ्चविंशतिः, तृतीयस्यां पञ्चदश, चतुर्थ्यां दश, पञ्चम्यां त्रीणि, षष्ठ्यां पञ्चभिरूनं शतसहस्रं लक्षमित्यर्थः, सप्तम्यां पञ्चैवानुत्तराः—सर्वाधोवर्तिनो [4]नरकावासाः । ते चैवं—पूर्वस्यां दिशि कालनामा नरकावासः, अपरस्यां दिशि महाकालः, दक्षिणस्यां [5]दिशि [6]रोरुकः, उत्तरस्यां [7]महारोरुकः, मध्येऽप्रतिष्ठानः[8], मिलिताश्चैते चतुरशीतिर्लक्षाः ॥७३॥१७३॥

---

१ तमस्तमप्रभा- मु. नास्ति । तमस्तमःप्रभा-सि. ॥ २ वाहुल्यं-वि. ॥ ३ तुलना श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणकृता बृहत् संग्रहणी गा. २५५ प. १०२ A ॥ ४ नारका० मु. ॥ ५ दिशि-मु नास्ति ॥ ६ रौरवः-सि. वि. ॥ ७ महारौरवः सि. वि. । तुलना-लोकप्रकाशः सर्ग १४ । २७५ पश्चात् ॥ ८ ०नकः-मु । ०निका-वि ॥

सम्प्रति 'वेयण' त्ति चतुःसप्तत्यधिकशततमं द्वारमाह—

[1]'सत्तसु खेत्तसहावा अन्नोऽन्नुदीरिया य जा छट्ठी ।
तिसु आइमासु वियणा परमाहम्मियसुरकया य ॥७४॥

'सत्त०' गाहा, क्षेत्रस्वभावा—क्षेत्रस्वभावसमुद्भूता दुःखवेदना तावदविशेषेण सप्तस्वपि नरकपृथिवीषु भवति । **'अन्नोऽन्नुदीरिया य जा छट्ठी'** त्ति यावच्छब्दोऽयमव्ययत्वेनानेकार्थत्वादिह मर्यादावाची । ततोऽन्यो-ऽन्योदीरिता—नारकैरेव परस्परमुपजनिता वेदना षष्ठीं पृथिवीं यावत्—षष्ठ्या अर्वाक्पञ्चमीमभिव्याप्य भवतीति । इदमुक्तं भवति—अन्योऽन्योदीरिता वेदना द्विधा—प्रहरणकृता शरीरकृता च । तत्र प्रहरणकृता आद्यास्वेव पञ्चसु पृथिवीषु भवति; शरीरकृता तु सामान्येन सप्तस्वपि पृथिवीषु । न चैतदनार्षम् । तथा चोक्तं **जीवाभिगमोपांगे** —

△"इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया जाव एगत्तंपि पहू विउव्वित्तए पुहुत्तंपि पहू विउव्वित्तए', एगत्तं विउव्वमाणा एगं महं मुग्गररूवं वा, [2]एवं [3]करवत्त-असि-सत्ति-हल-गया-मुसल-चक्क-नाराय-कुंत-तोमर-सूल-लगुडजाव भिंडिमालरूवं वा, पुहुत्तं [4]विउव्वमाणा मुग्गररूवाणि वा जाव भिंडमालरूवाणि वा, ताइं संखेज्जाइं नो असंखेज्जाइं संबद्धाइं नो असंबद्धाइं सरिसाइं नो असरिसाइं

१ तुलना-बृहत्सं. वृत्तिः प. १७ A ॥ २ मुसुढीरूवं वा एव—मु. ॥ ३ करवत्ति०—सि.वि. ॥ ०४ विउव्वे० मु. ॥
△ "अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका यावद् एकत्वमपि प्रभुर्विकुर्वितुं पृथक्त्वमपि प्रभुर्विकुर्वितुम् ?,

विउव्वंति । विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं अभिभवमाणा वेयणं उदीरयन्ति,... एवं जाव धूमप्पभाए पुढवीए, छट्ठसत्तमासु णं पुढवीसु नेरइया लोहियकुंथुरूवाइं वइरामयतुंडाइं गोमयकीडसमाणाइं विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा २ खाएमाणा २ सयपोराकिमिया इव चालेमाणा चालेमाणा अन्तो अन्तो अणुप्पविसमाणा वेयणमुदीरयंति'' त्ति [तुलना· सू. ८९, प. ११७ A तः]।

अत्र पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची, ततः पृथक्त्वं—प्रभूतानि मुद्गरादीनि भिण्डिमालपर्यन्तानि प्रहरणानि विकुर्वन्तः परिमितानि स्वशरीरसंलग्नानि समानरूपाणि च विकुर्वन्ति । असङ्ख्यातानां स्वशरीर[1]पृथग्भूतानां विसदृशानां च प्रहरणानां विकुर्वणे तथाभवस्वाभाव्येन सामर्थ्याभावात् । [2]**'समतुरङ्गेमाणा समतुरङ्गेमाणा'** इति समतुरङ्गा इवाचरन्तः समतुरङ्गायमाणाः; अश्वा इवान्योऽन्यमारोहन्त इत्यर्थः । शतपर्वकृमय इव—इक्षुकृमय इव **'चालेमाणा चालेमाणा'** शरीरमध्येन सञ्चरन्तः सञ्चरन्त इति ॥

एकत्वं विकुर्वन्त एकं महत मुद्गररूप वा मुषण्ढीरूप वा एवं करपत्रा-ऽसि शक्ति-हल-गदा-मुशल-चक्र-नाराचकुन्त-तोमर-शूल-लकुटयावत् भिण्डिमालरूपं वा, पृथक्त्वं विकुर्वन्तो मुद्गररूपाणि वा यावद् भिण्डिमालरूपाणि वा, तानि सङ्ख्येयानि नासङ्ख्येयानि, सम्बद्धानि नासम्बद्धानि, सदृशानि नासदृशानि विकुर्वन्ति । विकुर्व्य अन्योऽन्यस्य कायमभिभवन्तो वेदनामुदीरयन्ते । एवं यावद् धूमप्रभायां पृथ्व्याम्, षष्ठी-सप्तम्योः पृथ्व्योर्नैरयिका लौहितकुन्थुरूपाणि वज्रमयतुण्डानि गोमृतककीटसमानानि विकुर्व्य अन्योऽन्यस्य कायं समतुरङ्गायमाणा २ खादन्तः २ शतपर्वकृमय इव चालयन्तः २ अन्तरन्तरनुप्रविशन्तो वेदनामुदीरयन्ते ॥

१ पृथग्जातानां—वि. सि. ॥ २ समतुरंगेणमाणा-सि. वि. ॥

तथा [1]तिसृष्वाद्यासु पृथिवीषु परमाधार्मिकसुरकृताऽपि वेदना भवति । तत्र क्षेत्रस्वभावजा (ग्रन्थाग्रं-१३०००) रत्नप्रभा-शर्कराप्रभा-वालुकाप्रभासूष्णा । एतन्नारकाणां हि शीतयोनिकत्वेन केवलं हिमप्रतिम-शीतप्रदेशात्मकत्वात् योनिस्थानादन्यत्र च सर्वस्यापि भूम्यादेः खदिराङ्गारेभ्योऽप्यत्यन्तप्रतप्तत्वाद् गाढतर उष्णवेदनानुभवः; एवमन्यास्वपि वाच्यम्, पङ्कप्रभायां बहुषूपरितनेषु नरकावासेषूष्णा अधस्तनेषु स्तोकेषु च शीता; धूमप्रभायां बहुषु शीता स्तोकेषूष्णा; षष्ठ्यां सप्तम्यां च पृथिव्यां केवला [2]शीत-वेदनैव । इयं च वेदना सर्वाऽप्यधोऽधोऽनन्तगुणतया तीव्रा तीव्रतरा तीव्रतमा चावसेया ।

उष्णवेदनायाः शीतवेदनायाश्च स्वरूपं पुनरित्थं प्रदर्शयन्ति प्रवचनवेदिनः—यथा निदाघचरम-समयमध्याह्ने नभोमध्यमधिरूढे प्रौढे चण्डरोचिषि, सर्वथाऽपि जलदपटलविकले गगनतले, मनागप्यस्फुरति [3]मरुति, प्रभूतपित्तकोपाभिभूतस्य, कृतातपवारणनिवारणस्य, सर्वतः प्रज्वलज्ज्वलन[4]ज्वालाकरालितकले-वरस्य कस्यचित्पुंसः किल वाक्पथातीतसंवेदना यादृगुष्णवेदना प्रादुर्भवति ततोऽप्युष्णवेदनेषु नरकेषु नारकाणामनन्तगुणा । अपिच—यदि नारका उष्णवेदनेभ्यो नरकेभ्य उत्पाट्य धमनीमुखोध्मायमानखादिरा-ङ्गारराशिशय्याशायिनः क्रियन्ते तदा [5]सुधारससेकातिरेकनिर्वाप्यमाणा इवात्यन्तसुखास्वादमेदुरमनसो निद्रामपि लभेरन् ।

तथा पौषे माघे वा निशीथे सर्वथाऽप्यभ्रविभ्रमविरहितेऽपि वियति सर्वतोऽपि [6]वपुःप्रकम्पकृति प्रवाति

१ लोकप्रकाशः १४/२२० पश्चात् द्रष्टव्यः ॥ २ शीता-मु. ॥ ३ मारुति-मु. ॥ ४ ०जाल जालकारा० खं. ॥ ५ सुधासारस० ख. वि. ॥ ६ वपुः प्रकम्पः संपत्कृति-खं.वि. । वपुः प्रकंपसंपत्कृति-सि. ॥

वाते तुषारशिखरिशिखरकृतस्थितेस्तुहिनकणगणसम्पर्किणो निरग्नेर्निराश्रयस्य निरावरणस्य पुंसो या शीतवेदना ततो भवति शीतवेदनेषु नारकाणामनन्तगुणा । किञ्च—यदि ते नारकाः शीतवेदनेभ्यो नरकेभ्य उत्पाट्य यथोक्तपुरुषस्थाने स्थाप्यन्ते तदा ते प्राप्तात्यन्तनिर्वातस्थाना इव निरुपमसुखसम्पत्तेर्निद्रामप्यासादयेयुरिति ।

तथा क्षुत्पिपासाकण्डूपारवश्यज्वरदाहभयशोकादिकाऽन्याऽपि नारकाणां वेदना श्रुते श्रूयते । तथाहि—ते नारकाः सर्वदैवाक्षयक्षुदग्निदह्यमानशरीराः सकलजगद्गतसुस्निग्धघृतादिपुद्गलाहारेणापि न तृप्यन्ति । पिपासाऽपि[1] तेषां शश्वत्कण्ठोष्ठतालुजिह्वादिशोषकृन्निखिल[2]पयोधिपयःपानेऽपि नोपशाम्यति । कण्डूः पुनः कण्डूयमाना क्षुरिकादिभिरप्यनुच्छेद्या । पारवश्य-ज्वर-दाह-भय-शोकादयोऽप्यत्रत्येभ्योऽनन्तगुणाः । यदपि च नारकाणामवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानं वा तदपि तेषां दुःखकारणम् । ते हि दूरत एव तिर्यगूर्ध्वमधश्च निरन्तरं दुःखहेतुमापतन्तमालोकयन्ति; आलोक्य च भयेन कम्पमानकायाः सोद्वेगमवतिष्ठन्ते । इयं सर्वाऽपि क्षेत्रस्वभावजा दुःखवेदना ।

अथ परस्परोदीरिता प्रतिपाद्यते—इह द्विविधा नारकाः—सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च । तत्र ये मिथ्यादृष्टयस्ते मिथ्याज्ञानावलिप्तचेतसः परमार्थमजानानाः परस्परमुदीरयन्ति दुःखानि । ये तु सम्यग्दृष्टयस्ते तु नूनमस्माभिः कृतं जन्मान्तरेऽपि तत्किमपि पापं प्राणिहिंसादिरूपं येन निमग्ना वयं परमदुःखाम्भोधाविति परिभावयन्तः सहन्ते सम्यक्परोदीरितानि दुःखानि, न पुनरन्येषामुत्पादयन्ति;

१ ०ऽपि-खं नास्ति ॥ २ ०पयोनिधि० वि. सि. ॥

दृष्टनिजकर्मविपाकत्वात् । अत एव च ते मिथ्यादृष्टिभ्योऽधिकतरदुःखाः [1]प्रवचने प्रतिपाद्यन्ते; भूयिष्ठतया मानसिकदुःखसम्भवात् ।

येऽपि च मिथ्यादृष्टयः परस्परमुदीरयन्ति दुःखानि तेऽप्येवं-यथेह जगत्यपूर्वाद् ग्रामान्तरादागच्छतः शुनो दृष्ट्वा तद्ग्रामवास्तव्याः श्वानो निर्दयं क्रुद्ध्यन्ति परस्परं प्रहरन्ति च, तथा नारका अपि विभङ्गज्ञानबलेन दूरत एवान्योऽन्यमालोक्य क्रोधान्धा वैक्रियं भयानकं रूपमाधाय तेष्वेव स्वस्वनरकावासेषु क्षेत्रानुभावजनितानि पृथिवीपरिणामरूपाणि शूल-शिला-मुद्गर-कुन्त-तोमर-खड्ग-यष्टि-परशुप्रभृतीनि प्रहरणानि वैक्रियाणि वाऽऽदाय तैः कर-चरण-दशनैश्च परस्परमभिघ्नन्ति; ततः परस्पराभिघाततो विकृताङ्गा निस्स्वनन्तो गाढवेदनाः सूनान्तःप्रविष्टमहिषादय इव रुधिरकर्दमे विचेष्टन्ते । एवमादिकाः परस्परोदीरिता दुःखवेदनाः ।

परमाधार्मिककृतास्तु तप्तत्रपुपान-तप्तायोमयस्त्रीसमालिङ्गन-कूटशाल्मल्यग्रारोपण-अयोघनाघात-वास्यादितक्षणक्षतक्षारोष्णतैलक्षेपण-कुन्तादिप्रोतन-भ्राष्ट्रभर्जन-यन्त्रपीलन--करपत्रपाटन- वैक्रियानेक[2]कंकोलूकसिंहादिकदर्थन-तप्तवालुकावतारण -असिपत्रवनप्रवेशन-वैतरणीतरङ्गिणीप्लावन--परस्परायोधनादिजनिता अपरिमिताः समयसमुद्रादवगन्तव्याः । किञ्च-कुम्भीषु पच्यमानास्तीव्रतापात्ते नारका उत्कर्षतः पञ्च योजनशतान्यूर्ध्वमुच्छलन्ति । तथा चोक्तं जीवाभिगमे—

---

१ भगवतीसू. १।२। सू. २१ द्रष्टव्यम् ॥ २ ०कांकोलूक० मु. ॥

△'नेरइयाणुप्पाओ उक्कोसं पंच जोयणसयाइं । दुक्खेणऽभिहुयाणं वेयण[1]सयसंपगाढाणं ॥१॥'
[सू. ६५, गा. ७, प. १२६ A]

पतन्तश्च विकुर्वितैर्वज्रतुण्डैरण्डजैरन्तराले त्रोटिभिस्त्रोट्यन्ते, किञ्चिच्छेषास्तु भूमिपतिता व्याघ्रादिभिर्विलुप्यन्त इति ॥७४॥१७४॥

इदानीम् 'आउ' त्ति पञ्चसप्तत्यधिकशततमं द्वारमाह--

सागरमेगं १ तिय २ सत्त ३ दस ४ य सत्तरस ५ तह य बावीसा ६ ।
तेत्तीसं ७ जाव ठिई सत्तसु पुढवीसु उक्कोसा ॥ ७५ ॥
जा पढमाए जेट्ठा सा बीयाए कणिट्ठिया भणिया ।
तरतमजोगो एसो दसवाससहस्स रयणाए ॥ ७६ ॥ [बृहत्सं. जिनभद्रीया गा. २३३-४]

'सागरमेगं' गाहा, [2]सप्तस्वपि नरकपृथिवीष्वियं यथासङ्ख्यमुत्कृष्टा स्थितिः; तद्यथा—रत्नप्रभायां पृथिव्यां सागरोपममेकमुत्कृष्टा स्थितिः, शर्कराप्रभायां त्रीणि सागरोपमाणि[3], वालुकाप्रभायां सप्त, पङ्कप्रभायां दश, धूमप्रभायां सप्तदश, तमःप्रभायां द्वाविंशतिः, तमस्तमःप्रभायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टा स्थितिरिति ॥ ७५ ॥

सम्प्रति **सप्तस्वपि पृथिवीषु जघन्यां स्थितिमाह — 'जा पढमाए'** गाहा, या प्रथमायां—

△ नैरयिकाणामुत्पात उत्कृष्टतः पञ्च योजनशतानि । दुःखेनाभिद्रुतानां वेदनाशतसंप्रगाढानाम् ॥१॥

१ ०समय० खं. वि. सि. ॥ २ तुलना-बृहत्संग्रहणीवृत्तिः प. ८६ B तः ॥ ३ ०नि–खं. सि. वि. । एवमग्रेऽपि ॥

रत्नप्रभायां ज्येष्ठा-उत्कृष्टा स्थितिरेकसागरोपमलक्षणा सा द्वितीयायां पृथिव्यां शर्कराप्रभाभिधानायां कनिष्ठा–जघन्या भणिता । एष तरतमयोगो–जघन्योत्कृष्टस्थितियोगः सर्वास्वपि पृथिवीषु भावनीयः । तद्यथा–या द्वितीयायामुत्कृष्टा सा तृतीयायां जघन्या, या तृतीयायामुत्कृष्टा सा चतुर्थ्यां जघन्या, एवं या षष्ठ्यामुत्कृष्टा सा सप्तम्यां जघन्या; रत्नप्रभायां प्रथमपृथिव्यां जघन्या स्थितिर्दश वर्षसहस्राणीति । अयमभिप्रायः–प्रथमपृथिव्यां रत्नप्रभायां जघन्या स्थितिर्दश वर्षसहस्राणि, शर्कराप्रभायामेकं सागरोपमम् , वालुकाप्रभायां त्रीणि सागरोपमाणि, पङ्कप्रभायां सप्त, धूमप्रभायां दश, तमःप्रभायां सप्तदश, तमस्तमःप्रभायां कालादिषु चतुर्षु नरकावासेषु द्वाविंशतिसागरोपमाणि जघन्या स्थितिः । जघन्योत्कृष्टान्तरालवर्तिनी[1] तु स्थितिः सर्वत्रमध्यमा बोद्धव्या ॥७५-७६॥१७५॥

इदानीं 'तणुमाणं' ति षट्सप्तत्यधिकशततमं द्वारमाह—

'पढमाए' इत्यादिगाथाद्वयम् ,

पढमाए पुढवीए नेरइयाणं तु होइ उच्चत्तं ।
सत्त धणु तिन्नि रयणी छच्चेव य अंगुला पुण्णा ॥७७॥
सत्तमपुढवीए पुणो पंचेव धणुस्सयाइं तणुमाणं ।
मज्झिमपुढवीसु पुणो अणेगहा मज्झिमं नेयं ॥७८॥
जा जम्मि होइ भवधारणिज्ज अवगाहणा य नरएसु ।
सा दुगुणा बोद्धव्वा उत्तरवेउव्वि उक्कोसा ॥७९॥

---

१ ०नीषु सर्वत्र- जे.सि. ॥

भवधारणिज्जरूवा उत्तर [1]वेउव्विया य नरएसु ।
ओगाहणा जहन्ना अंगुलअस्संखभागो [2]य ॥८०॥ [तु. बृहत्सं. २७१-८०]

'पढमाए' इत्यादिगाथाद्वयम्, अवगाहते—अवतिष्ठते जीवोऽस्यामित्यवगाहना—तनुः शरीरमित्येकोऽर्थः; सा द्विधा—भवधारणीया उत्तरवैक्रिया च । भवे—नारकादावायुः समाप्तिं यावदनवरतं धार्यतेऽसाविति भवधारणीया; स्वाभाविकं शरीरमित्यर्थः । सहजशरीरग्रहणोत्तरम्—उत्तरकालं कार्यविशेषमाश्रित्य विविधा क्रियत इत्युत्तरवैक्रिया । एकैकाऽपि च द्विधा—जघन्या उत्कृष्टा च ।

तत्र प्रथमं तावत् **प्रतिपृथिवि**[3] **उत्कृष्टा भवधारणीयाऽवगाहना** प्रोच्यते—प्रथमायां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नारकाणामुत्कर्षतो भवधारणीयावगाहनोच्चत्वं सप्त धनूंषि तिस्रो रत्नयः—त्रयो हस्ता इत्यर्थः, षडेव चाङ्गुलानि पूर्णानि, उत्सेधाङ्गुलेन [4]सपादैकत्रिंशद्धस्ता इति भावः । सप्तमपृथिव्यां पुनः पञ्चैव धनुःशतान्युत्कर्षतो नारकाणां तनुमानं—शरीरोच्छ्रयः । मध्यमपृथिवीषु—शर्कराप्रभाद्यासु तमःप्रभापर्यन्तासु पुनर्मध्यमं—प्रथम-सप्तमपृथिवीनारकतनुमानयोर्मध्यवर्ति अनेकधा । पूर्वपूर्व पृथिवीत उत्तरोत्तरपृथिवीषु द्विगुणद्विगुणं तनुमानमुत्कर्षतो ज्ञातव्यम् । तथाहि—रत्नप्रभानारकतनुमानाद् द्विगुणं शर्कराप्रभायां—पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादश चाङ्गुलानि देहमानम्, एवं वालुकाप्रभायामेकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः, पङ्कप्रभायां द्वाषष्टिर्धनूंषि द्वौ हस्तौ, धूमप्रभायां पञ्चविंशं धनुःशतम्, तमःप्रभायां सार्धे द्वे धनुःशते, तमस्तमःप्रभायां पञ्चैव धनुःशतानीति ॥७७-७८॥

सम्प्रति प्रतिपृथिव्युत्कर्षत [1]उत्तरवैक्रियामवगाहनामाह—'जा जम्मी' त्यादि, [2]सप्तसु नरकेषु—नरकपृथिवीषु मध्ये यस्मिन्नरके—नरक पृथिव्यामुत्कृष्टा भवधारणीया याऽवगाहना उक्ता सा द्विगुणा सती यावत्प्रमाणा भवति तावती तस्यां नरकपृथिव्यामुत्कृष्टा उत्तरवैक्रियरूपा अवगाहना बोद्धव्या। तद्यथा—रत्नप्रभायामुत्कृष्टा उत्तरवैक्रियावगाहना पञ्चदश धनूंषि द्वौ च सार्धौ हस्तौ, शर्कराप्रभायामेकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः, वालुकाप्रभायां द्वाषष्टिर्धनूंषि द्वौ च हस्तौ, पङ्कप्रभायां पञ्चविंशं धनुःशतम्, धूमप्रभायां सार्धे द्वे शते, तमःप्रभायां पञ्च धनुःशतानि, तमस्तमःप्रभायां धनुःसहस्रमिति ॥७९॥

सम्प्रति भवधारणीयामुत्तरवैक्रियां च जघन्यामाह—'भवधारणिज्ज०' गाहा, नरकेषु—सर्वासु नरकपृथिवीषु नारकाणां जघन्या भवधारणीया अङ्गुलस्यासङ्ख्येयो भागः; सा चोत्पत्तिसमये द्रष्टव्या; न त्वन्यदा। उत्तरवैक्रियरूपा पुनरवगाहना जघन्याऽङ्गुलसङ्ख्येयभागमात्रा; साऽपि च प्रारम्भकाले द्रष्टव्या; केवलं सा प्रथमसमयेऽपि तथाविध[3]प्रयत्नाभावादङ्गुलसङ्ख्येयभागमात्रैव भवति न त्वसङ्ख्येयभागमात्रा, केचिच्च 'अंगुलअसंखभागो उ' इति पठन्तो जघन्यामुत्तरवैक्रियामप्यङ्गुलासङ्ख्यातभागप्रमाणामाहुः; तदसङ्गतमेव समयविरोधात्, तथा च प्रज्ञापनासूत्रम्—

"तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं धणुसहस्स [पद २१-सूत्र २७२। प. ४१७]" मिति।

---

१ उत्कृष्टवै० वि.॥ २ तुलना—बृहत्सं. वृत्तिः ३ गा. २७१, प. ३१० तः॥ ३ प्रयत्न मा० इति बृ.सं. वृत्तौ॥

तथा अनुयोगद्वारटीकायां हरिभद्रसूरिरप्याह—

''उत्तरवैक्रिया तु तथाविध[1]प्रयत्नाभावादाद्यसमयेऽप्यङ्गुलसङ्ख्येयभागमात्रैव'' [प. ८०] त्ति ॥८०॥१७६॥

इदानीम् 'उप्पत्ति-नास-विरहो' त्ति सप्तसप्तत्यधिकशततमं द्वारमाह—

गाथा १०८१-२

चउवीसई[2] मुहुत्ता १ सत्त अहोरत्त २ तह य पन्नरस ३ ।
मासो य ४ दो य ५ चउरो ६ छम्मासा ७ विरहकालो उ ॥८१॥
उक्कोसो रयणाइसु सव्वासु जहन्नओ भवे समओ[3] ।
एमेव य उव्वट्टणसंखा पुण [4]सुरवरुतुल्ला ॥ ८२ ॥ [तुलना-बृहत्सं. २८१-२]

प्र. आ. ३१९

'चउवीसइ मुहुत्ता' इत्यादिगाथाद्वयम्, [5]इह नरकगतौ तिर्यङ्मनुष्यगतिका जीवास्तावदनवरतं सदैवोत्पद्यन्ते, कदाचित्त्वन्तरमपि भवति; तच्च सामान्येन सर्वामपि नरकगतिमाश्रित्य जघन्येनैकः समयः, उत्कृष्टतस्तु द्वादश मुहूर्ताः । एतावन्तं कालमन्यत आगत्यैकोऽपि जन्तुर्नरकगतौ नोत्पद्यते इति भावः । इदं च सूत्रेऽनुक्तमपि स्वयमेव द्रष्टव्यम् । यदुक्तम्—

१ प्रयत्न मात्रा० इति बृ. सं. वृत्तौ पाठः ॥ २ ८यं-सि. प्रकरणरत्नाकरे (भा. ३) भीमसिंह संस्करणे बृ. सङ्ग्रहण्यां च ॥ ३ समयो-मु. । तुला-बृ. सङ्ग्रहणी ॥ ४ सुरवरुतुल्ला (राण समा)-मु. । सुखरू० इति बृहत्संग्रहिण्यां पाठः ॥ सुरवरा- इति भगवती. वृत्तौ [प. १०७ A] पाठः ॥ ५ तुलना-बृहत्स. वृत्तिः प. १११ A तः । जीवसमासवृत्तिः प. २६० ॥

"निरइगई णं भन्ते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं बारस मुहुत्त" [समवायाङ्ग सू. १५४]त्ति ।

प्रतिपृथिवीषु (वि तू) त्पादान्तरमुत्कृष्टतो रत्नप्रभायां चतुर्विंशतिमुहूर्ताः, शर्कराप्रभायां सप्ताहोरात्राः, वालुकाप्रभायां पञ्चदश, पङ्कप्रभायामेको मासः, धूमप्रभायां द्वौ मासौ, तमःप्रभायां चत्वारो मासाः, तमस्तमःप्रभायां षण्मासा विरहकालः—अन्तरकाल उत्कृष्टतः । जघन्यतः पुनः सर्वास्वपि रत्नप्रभादिकासु पृथिवीषु प्रत्येकं भवत्येकः समयो विरहकालः ।

'एवमेव य उव्वट्टण' त्ति यथोपपातविरहकाल उक्तः, एवमेव उद्वर्तनविरहकालोऽपि जघन्यत उत्कर्षतश्च वाच्यः । किमुक्तं भवति ?—नरकेभ्यो नारकाः प्रायः सततं च्यवन्ते कदाचिदेव त्वन्तरम् ; तच्च सामान्येन नरकगतिमाश्रित्य जघन्यत एकः समयः, उत्कृष्टतस्तु द्वादश मुहूर्ताः । विशेषचिन्तायां तु जघन्यतः सर्वास्वपि पृथिवीषु उद्वर्तनाविरहकाल एकः समयः, उत्कर्षतो रत्नप्रभायां चतुर्विंशतिमुहूर्ताः, शर्कराप्रभायां सप्त दिनाः, वालुकाप्रभायां पक्षः, पङ्कप्रभायां मासः, धूमप्रभायां द्वौ मासौ, तमःप्रभायां चत्वारो मासाः, तमस्तमःप्रभायां षण्मासाः । एकस्मिन्नारके उद्वृत्ते पुनरियता कालेनान्यो नारक उद्वर्तत इति भावः ।

'संखा पुण सुरवरतुल्ल' त्ति उपपातोद्वर्तनयोः सङ्ख्या पुनरेकस्मिन् समये कियन्तो नारका उत्पद्यन्ते च्यवन्ते चेत्येवंलक्षणा सुरवरैस्तुल्या, यथा सुराणां वक्ष्यते तथैव द्रष्टव्या । तद्यथा—एकस्मिन् समये नारका उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतस्तु सङ्ख्याता असङ्ख्याता [1]वेति ॥१०८१-८२॥१७७॥ ॥२९७॥

१ चेति- खं. ॥

सम्प्रति 'लेसाउ' त्ति अष्टसप्तत्यधिकशततमं द्वारमाह—

काऊ १ काऊ २ तह [1]काउनील ३ नीला ४ य नीलकिण्हा ५ य ।

किण्हा ६ किण्हा ७ य तहा सत्तसु पुढवीसु लेसाओ ॥८३॥ [तु. बृहत्सं. गा. २८९]

'काऊ' गाहा, इह सामान्येन तावन्नारकाणां लेश्याषट्कमध्यादाद्याः कृष्ण-नील-कापोताख्यास्तिस्र एव लेश्या भवन्ति । ताश्च प्रतिपृथिवि[2] प्रतिपाद्यन्ते । तत्र [3]कापोत्यादयो लेश्याः सप्तस्वपि पृथिवीषु यथा-सङ्ख्येन भवन्ति । तथाहि— [4]रत्नप्रभायामेका कापोतलेश्यैव भवति । शर्कराप्रभायामपि कापोतलेश्यैव; केवलं क्लिष्टतरा वेदितव्या । एवं सर्वत्र सजातीया विजातीया[5] च लेश्याऽधोऽधः क्लिष्टतरा क्लिष्टतमा वाच्या । वालुकाप्रभायां [6]कापोती नीला च लेश्या भवति; केषुचिदुपरितनेषु प्रस्तटेषु कापोतलेश्या, केषुचिद-धस्तनेषु नीललेश्येति भावः । पङ्कप्रभायां केवला नीललेश्यैव । धूमप्रभायां नीललेश्या कृष्णलेश्या च; केषुचिदुपरितनप्रस्तटेषु नीललेश्या, शेषेष्वधस्तनप्रस्तटेषु कृष्णलेश्या भवतीत्यर्थः । तमःप्रभायामेकैव कृष्णलेश्या । तमस्तमःप्रभायामप्यतिसङ्क्लिष्टतमा [7]कृष्णलेश्यैवेति ।

[8]इह च केचिदाचक्षते—यथैता नारकाणां वक्ष्यमाणाश्च देवानां बाह्यवर्णरूपाः किल द्रव्यलेश्या अवगन्तव्याः; अन्यथा सप्तमपृथिवीनारकाणां या सम्यक्त्वप्राप्तिः श्रुतेऽभिधीयते सा न युज्यते; [9]तेज-स्यादिलेश्यात्रय एव तदवाप्तेरुक्तत्वात् । यदुक्तमावश्यके—

१ काऊ नील-मु. ॥ २ ०वी- सि वि. ॥ ३ कापोतादयो-मु. ॥ ४ तुलना-जीवसमासवृत्तिः प. ६५ तः ॥ ५ ०यादि लेश्या० खं. ॥ ६ कापोत० मु ॥ ७ कृष्णलेश्यैव भवति-खं. ॥ ८ तुलना-बृहत्सं. वृत्तिः प. ११२ A ॥ ९ तेज० सि. ॥

△"सम्मत्तस्स य तिसु उवरिमासु पडिवज्जमाणओ होइ। पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए ॥ १॥"

उपरितन्यश्च तिस्रो लेश्यास्तेषां न सन्ति। सप्तमपृथिव्यां कृष्णलेश्याया एवोक्तत्वात्। तथा सौधर्मे तेजोलेश्यैव केवला वक्ष्यते; अस्याश्च प्रशस्तपरिणामहेतुत्वेन सङ्गमकादीनां भुवनगुरौ रौद्रोपसर्गकर्तृत्वानुपपत्तिः। तथा—★'काऊ नीला [1]कण्हा लेसाओ तिन्नि होंति नरएसु।' [तुलना बृ.सं.गा.२८८]

इत्यादिरूपो नियमोऽपि विरुध्यते।

□ 'देवाण नारयाण य दव्वल्लेसा हवंति एयाओ।

[2]भावपरावत्तिइ पुण सुरनेरइयाण छल्लेसा ॥ १ ॥' [जीवसमास गा. ७४] इति वचनात्।

तस्मादेता नारकाणां वक्ष्यमाणाश्च सुराणां बाह्यवर्णरूपा एवेति।

तदेतदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात्। [3]लेश्याशब्दो हि शुभाशुभे परिणामविशेषे व्याख्यातः, तस्य च परिणामविशेषस्योत्पादकानि कृष्णादिरूपाणि द्रव्याणि जन्तूनां सदा संनिहितानि सन्ति। एतैश्च कृष्णादिद्रव्यैर्जीवस्य ये परिणामविशेषा जन्यन्ते मुख्यतया त एव लेश्याशब्देनोच्यन्ते। गौणवृत्त्या पुनः कारणे कार्योपचारलक्षणया एतान्यपि कृष्णादिरूपाणि द्रव्याणि लेश्याशब्देन व्यपदिश्यन्ते। ततश्च नारकाणां

△ सम्यक्त्वस्य च तिसृषूपरितनीषु प्रतिपद्यमानको भवति। पूर्वप्रतिपन्नकोऽन्यतरस्यां पुनर्लेश्यायाम् ॥१॥

★ कापोती नीला कृष्णा लेश्यास्तिस्रो भवन्ति नरकेषु ॥

१ किण्हा-ख.॥ २ भावपरावत्तीए-सि. वि.। भावपरित्तीए-इति जीवसमासे पाठः॥ ३ तुलना-जीवसमासवृत्तिः प. ६६॥

□ देवानां नारकाणां च द्रव्यलेश्या भवन्त्येताः। भावपरावृत्तौ पुनः सुरनैरयिकाणां षट्लेश्या ॥१॥

देवानां च या लेश्यास्ता द्रव्यलेश्या द्रष्टव्याः। तत्तल्लेश्याद्रव्याणि तस्य तस्य नारकस्य देवस्य वा [1]सर्वदैवावतिष्ठन्तोदयानि [2]द्रष्टव्यानीति तात्पर्यम्। न पुनर्बाह्यवर्णरूपाः; तानि च लेश्याद्रव्याणि तिर्यङ्मनुष्याणामन्यलेश्याद्रव्योपधाने विशुद्धवस्त्रमिव मञ्जिष्ठादिरागयोगे सर्वथा स्वरूपत्यागात्तद्रूपेणैव परिणमन्ते; अन्यथैतल्लेश्यायाः पल्योपमत्रयस्थितेरपि सम्भवादुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमागमोक्तं विरुध्येत। नारकदेवलेश्याद्रव्याणां तु तदन्यलेश्याद्रव्यसम्पर्के तदाकारमात्रं [3]तत्प्रतिबिम्बमात्रं वा जायते; न पुनः स्वस्वरूपपरिहारेण तद्रूपता। तथाहि—यथा वैडूर्यादिमणेः[4] प्रोतकृष्णादिसूत्रसम्पर्कादस्पष्टं किञ्चित्तदाकारभावमात्रं भवति, स्फटिकोपलस्य वा जपाकुसुमादिसन्निधानतः स्पष्टं तत्प्रतिबिम्बमात्रम्; न तूभयत्रापि तद्रुपतापत्तिः। तथा कृष्णादिलेश्याद्रव्याण्यपि नीलादिलेश्याद्रव्यौघं प्राप्य कदाचिदस्पष्टं तदाकारभावमात्रं कदाचित्स्पष्टं तत्प्रतिबिम्बमात्रं प्रतिपद्यन्ते, न पुनस्तद्वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शतया परिणम्य नीलादिलेश्याद्रव्यरूपाण्येव भवन्ति। न चैतन्निजमनीषाविजृम्भितम्। **प्रज्ञापनायां** लेश्यापदे इत्थमेव प्रतिपादितत्वात्। तत्सूत्रं च विस्तरभयान्न लिखितमिति।

एवं च सप्तमपृथिव्यामपि यदा कृष्णलेश्या तेजोलेश्यादि[5]द्रव्याणि प्राप्य तदाकारमात्रेण तत्प्रतिबिम्बमात्रेण वाऽन्विता भवति[6]तदा सदावस्थितकृष्णलेश्याद्रव्ययोगेऽपि साक्षात्तेजोलेश्यादिद्रव्यसान्निध्ये इव शुभःपरिणामो नारकस्य जायते [7]जपोपरक्तस्फटिकसन्निधाने स्फटिकस्य रक्ततावत्; तत्परिणामे चास्य सम्यक्त्वावाप्तिरविरु-

१ सर्वदैवावस्थितोदयानि – मु.॥ २ द्रव्याणीति-सि. वि.॥ ३ तत्प्रतिबिम्बमात्रं-खं.। ४ ०णि–सि.। ०णिः-जे.॥ ५ ०द्रव्याण्यपि नीलादिलेश्याद्रव्याणि तदाकारमात्रेण वान्विता-सि. वि॥ ६ ०न्ति–मु.॥ ७ जपोपरक्तस्फटिकसन्निधाने स्फटिकस्य–मु.॥

द्धेति । न चैवमपि तेजोलेश्यादिसद्भावे सप्तमपृथिव्यां केवलकृष्णलेश्याभिधायिनः सूत्रस्य व्याघातः; यतस्तस्यां कृष्णैव सदावस्थायिनी तैजस्यादिका त्वाकारमात्रादिना कदाचिदेव जायते; न च जातापि चिरमवतिष्ठते ; न चावस्थितायामपि तस्यां [1]कृष्णलेश्याद्रव्याणि सर्वथा स्वस्वरूपं त्यजन्ति । ततोऽधिकृतसूत्रे कृष्णैव सप्तम्यामुक्तेत्येवं सर्वत्र भावनीयम् । अत एव सङ्गमकादीनामप्याकारमात्रादिना कृष्णलेश्यासम्भवादुपपद्यते त्रिभुवनगुरावुपसर्गविधातृत्वम् । या अपि भावपरावृत्त्या सुरनारकाणां षडपि लेश्या उक्तास्ता अपि प्रागुक्तेनैवाकारभावमात्रादिना प्रकारेण घटन्ते नान्यथा । लेश्यात्रयनियमस्तु सदावस्थितोदयलेश्याद्रव्यापेक्षत्वादविरुद्ध इति । किंच–आसां बाह्यवर्णरूपत्वे [2]प्रज्ञप्त्यादिषु—

'नेरइया णं भंते ! सव्वे समवन्ना ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा–पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य, तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धवन्नतरागा, जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविसुद्धवन्नतरागा, से एणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ नो नेरइया सव्वे [3]समवन्ना" [भगवती सू. १।२। सू. २१] । इति वर्णमुक्त्वा–

'नेरइया णं भंते ! सव्वे समलेसा ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?, गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा–पुव्वोववन्नगा पच्छोववन्नगा य, तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धलेसतरागा, जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविसुद्धलेसतरागा, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–नो

१ कृष्णलेश्यादिद्रव्याणि–मु. ॥ २ लेश्यास्वरूपविषये विशेषार्थं द्रष्टव्य योगशास्त्रे [जैनसाहित्यविकाशमण्डलप्रकाशिते] टिप्पनं प. ८१९ तः ॥ ३ समा० खं. ॥

नेरइया सव्वे समलेस्सा" [भगवती सू.१/२/सू. २१] । इति लेश्योक्तिरतिरिच्येत, वर्णानामेव लेश्यात्वाभ्युपगमात् । तेषां च पूर्वसूत्रेणैव प्रतिपादितत्वादिति ॥८३॥१७८॥

सम्प्रति 'अवहि' त्ति एकोनाशीत्यधिकशततमं द्वारमाह—

चत्तारि गाउयाइं १ अद्धुट्ठाइं २ [1]तिगाउयं चेव ३ ।
अड्ढाइज्जा ४ दोन्नि [2]य ५ दिवड्ढ ६ मेगं च ७ नरयोहो ॥८४॥ [तु. आव. नि. गा. ४७]

'चत्तारि' गाहा, इह रत्नप्रभायां नरकावासेषु नारकाणां चत्वारि गव्यूतान्यवधिः–उत्कृष्टमवधिक्षेत्रप्रमाणं भवति । शर्कराप्रभायां तु अर्धं चतुर्थस्य येषु तान्यर्धचतुर्थानि गव्यूतानि सार्धं गव्यूतत्रयमित्यर्थः । वालुकाप्रभायां गव्यूतत्रयम् । पङ्कप्रभायामर्धं तृतीयस्य येषु तान्यर्धतृतीयानि गव्यूतानि; धूमप्रभायां द्वे गव्यूते; तमायां द्वितीयस्यार्धं यत्र तद् द्व्यर्धं [3]गव्यूतम्, सप्तमपृथिव्यां पुनरेकं गव्यूतमुत्कृष्टमवधिप्रमाणम् ।

तथा सप्तस्वपि पृथिवीषु प्रत्येकमुत्कृष्टादवधिक्षेत्रप्रमाणादर्धगव्यूते व्यपनीते जघन्यमवधिक्षेत्रप्रमाणं भवति । तथाहि–प्रथमायां पृथिव्यां सार्धानि त्रीणि गव्यूतानि, द्वितीयायां त्रीणि गव्यूतानि, तृतीयायामर्धतृतीयानि गव्यूतानि, चतुर्थ्यां द्वे गव्यूते, पञ्चम्यां सार्धं गव्यूतम्, षष्ठ्यामेकं गव्यूतम्, सप्तम्यामर्धगव्यूतमिति । उक्तं च–

● " [4]अद्धुट्ठगाउयाई जहन्नयं [5]अद्धगाउयंताइं" [विशेषावश्यक-भाष्ये गा. ६९४] ति ॥८४॥१७९॥

---

१ तिगाउयाइ–ता. ॥ २ उ- ता. ॥ ३ गव्यूतं– सि. जि. नास्ति ॥ ४ अब्दुट्ठईयायाई-खं. । अद्धुट्ठईयाइं–इति विशेषावश्यके ॥ ५ अद्धगाउयंता" इति-मु. ॥ ● अध्युष्ठगव्यूतादिको जघन्योऽर्धगव्यूतान्त. ॥

सम्प्रति **'परमाहम्मिय'** त्ति अशीत्यधिकशततमं द्वारमाह—

अंबे १ अंबरिसी २ चेव, सामे य ३ सबलेइ य ४ ।
रुद्दो ५ वरुद्द ६ काले य ७, महाकालित्ति ८ आवरे ॥ ८५ ॥ [तुला-भगवती सूत्रे ३।७।४]
असिपत्ते ९ धणू १० कुंभे ११, वालू १२ वेयरणी इय १३ ।
खरस्सरे १४ महाघोसे १५, पन्नरस परमाहम्मिया ॥ ८६ ॥ [तुला-समवायाङ्गे सू. १५]

'अंबे' इत्यादि श्लोकद्वयम्, परमाश्च ते अधार्मिकाश्च सङ्क्लिष्टपरिणामत्वात् परमाधार्मिका–असुरविशेषाः । ते च व्यापारभेदेन पञ्चदश भवन्ति । तत्र यः परमाधार्मिको देवो नारकानम्बरतले नीत्वा निःशङ्कं विमुञ्चति सोऽम्ब इत्यभिधीयते १ ।

[1]यस्तु नारकान्निहतान् कल्पनिकाभिः खण्डशः कृत्वा भ्राष्ट्रपाकयोग्यान् करोतीत्यसावम्बरीषस्य–भ्राष्ट्रस्य सम्बन्धादम्बरीष इति २ ।

यस्तु रज्जुपाणिप्रहारादिना शातन-पातनादिकं करोति वर्णतश्च श्यामः स श्याम इति ३ ।

यश्चान्त्र-वसाहृदय-कालेज्यकादीन्युत्पाटयति वर्णतश्च शबलः–कर्बुरः, [1]शबल इति ४ ।

यः शक्तिकुन्तादिषु नारकान् प्रोतयति स रौद्रत्वाद्रौद्रः ५ ।

यस्तु तेषामङ्गोपाङ्गानि भनक्ति सोऽत्यन्तरौद्रत्वादुपरौद्रः ६ ।

यः पुनः कण्ड्वादिषु पचति वर्णतश्च कालः स कालः ७ ।

१ तुला-समवायाङ्गवृत्तिः प. २९ B । भगवतीसूत्रवृत्तिः ३ । ७ । ४ ॥

महाकाल इति चापरः परमाधार्मिक इति प्रक्रमः; स च श्लक्ष्णमांसानि खण्डयित्वा खादयति वर्णतश्च महाकाल इति ८।

असिः—खड्गस्तदाकारपत्रवद्वनं विकुर्व्य यस्तत्समाश्रितान्नारकानसिपत्रपातनेन तिलशश्छिनत्ति सोऽसिपत्रः ९।

यो धनुर्विमुक्तार्धचन्द्रादिभिर्बाणैः कर्णादीनां छेदन-भेदनानि करोति स धनुः १०।

भगवत्यां तु महाकालान्तर[1]मसिस्ततोऽसिपत्रस्ततः कुम्भ इति पठ्यते। तत्र योऽसिना नारकांश्छिनत्ति सोऽसिः; शेषं तथैव।

यः कुम्भ्यादिषु तान् पचति स कुम्भः ११।

यः कदम्बपुष्पाकारासु वज्राकारासु वा [2]वैक्रियवालुकासु तप्तासु चनकानिव तान् पचति स वालुकः १२।

विरूपं तरणं प्रयोजनमस्या इति वैतरणीति यथार्था पूय-रुधिर-त्रपु ताम्रादिभिरतितापात्कलकलायमानैर्भृतां नदीं विकुर्वित्वा तत्तारणेन नारकान् यः कदर्थयति स वैतरणीति १३।

[3]यो वज्रकण्टका[4]कुलं शाल्मलीवृक्षं नारकमारोप्य खरं स्वरं कुर्वन्तं कुर्वन् वा कर्षति स खरस्वरः १४।

---

१ ०मसिभूतोस्ततो० खं वि.। मस्तिभूतो० सि.॥ २ वैक्रियासु-मु.। वैक्रिया-सि.॥ ३ ये- ख. वि.॥
४ कुलशाल्मलीवृक्षे- मु.। खं. वि. प्रत्योः समवायाङ्गवृत्तावपि कुलं शाल्मलीवृक्षम् इति पाठः [प. ३० A]॥

यस्तु भीतान् प्रपलायमानान्नारकान् पशूनिव वाटकेषु महाघोषं [1]कुर्वन् निरुणद्धि स महाघोष इति १५।

एवमेते पञ्चदश परमाधार्मिकाः प्राग्जन्मनि सङ्क्लिष्टक्रूरक्रियाः पापाभिरताः पञ्चाग्न्यादिरूपं मिथ्याकष्टतपः कृत्वा रौद्रीमासुरीं गतिमनुप्राप्ताः सन्तस्ताच्छील्यान्नारकाणामाद्यासु तिसृषु पृथिवीषु विविधवेदनाः समुदीरयन्ति, तथा कदर्थ्यमानांश्च नारकान् दृष्ट्वा इहत्यमेष-महिष-[2]कुक्कुटादियुद्धप्रेक्षकनरा इव हृष्यन्ति । [3]हृष्टाश्चाट्टहासं चेलोत्क्षेपं त्रिपद्यास्फालनादि च कुर्वन्ति । किं बहुना?, यथैषामित्थं प्रीतिर्न तथा नितान्तकान्ते प्रेक्षणकादाविति ॥१०८५-८६॥१८०॥

सम्प्रति '[4]नरयुव्वट्टाण लद्धिसंभवो' त्येकाशीत्यधिकशततमं द्वारमाह—

तिसु तित्थ चउत्थीए उ[5] केवलं पंचमीए[6] सामन्न ।
छट्ठीए विरइऽविरई सत्तमपुढवीए[7] सम्मत्तं ॥ ८७ ॥
पढमाउ[8] चक्कवट्टी बीयाओ[9] राम-केसवा हुंति ।
तच्चाओ अरहंता तहऽन्तकिरिया चउत्थीओ[10] ॥ ८८ ॥
उव्वट्टिया उ संता नेरइया तमतमाओ[11] पुढवीओ[12] ।
न लहंति माणुसत्तं तिरिक्खजोणिं उवणमंति ॥ ८९ ॥

१ कुर्वतो-मु. । ख. वि. प्रत्योः समवायाङ्गवृत्त्योरपि 'कुर्वन्' इति पाठः । बृ ॥ २ ०कुकुट० मु. सि. ॥ ३ हृष्टाश्चाट्टाट्टहासं-मु. सि. ॥ ४ नरयुवट्टण-ख. । नरए उव्वट्टाण-सि. वि. ॥ ५ उ-मु नास्ति ॥ ६ ०इ-मु. । उ-खं. ॥ ७ ०इ-मु. ॥ तुला-बृहत्सङ्ग्रहणी ॥ ८ ०ओ-मु. । तुला-बृहत्सङ्ग्रहणी ॥ ९ ए-ता. । ०उ-सि. ॥ १० ०ए- वि. ॥ ११ ०उ-वि. ॥ १२ ०उ सि. ॥

छट्ठीओ पुढवीओ उव्वट्टा इह अणंतरभवंमि ।
भज्जा [1]मणुस्सजम्मे संजमलंभेण उ विहीणा ॥ ९० ॥ [तुला-बृहत्सं. २९१-४]

'तिसु तित्थ' गाहा, [2]इह 'तिसु' त्ति सप्तम्याः प्राकृतत्वेन पञ्चम्यर्थत्वादाद्याभ्य तिसृभ्य एव पृथिवीभ्य उद्वृत्ता अनन्तरभवे तीर्थकृतो भवन्ति, न शेषपृथिवीभ्यः, सम्भवमात्रं चेदं, न नियमः । तेन ये [3]पूर्वबद्धनरकायुषः सन्तः स्वहेतूपात्ततीर्थकृन्नामगोत्राः श्रेणिकादय इव नरकेषु गच्छन्ति त एव तत उद्वृत्ता अनन्तरभवे तीर्थकृतो, न शेषाः । चतुर्थ्याः पृथव्या उद्वृत्ताः केचित् केवलं-केवलज्ञानं सामान्येन प्राप्नुवन्ति, तीर्थकृतस्तु नियमेन न भवन्ति । पञ्चम्या उद्वृत्ताः श्रामण्यं- [4]श्रमणभावं लभन्ते, न तु केवलज्ञानम् । षष्ठ्या उद्वृत्ता विरत्यविरतिं-देशविरतिं लभन्ते, न तु श्रामण्यम् । सप्तम्या उद्वृत्ता-सम्यक्त्वं-सम्यग्दर्शनरूपम् , न देशविरत्यादिकमिति । अयमत्र [5]भावार्थः-आद्याभ्यस्तिसृभ्य उद्वृत्तास्तीर्थकृतो भवन्ति, चतसृभ्य उद्वृत्ताः केवलज्ञानिनः, पञ्चम्या उद्वृत्ताः संयमिनः, षष्ठ्या उद्वृत्ताः देशविरताः सप्तम्या उद्वृत्ता सम्यग्दृष्टय इति ॥८७॥

पुनरपि लब्धिविशेषसम्भवं दर्शयन्नाह-'पढमाउ' गाहा, प्रथमायाः-रत्नप्रभाया एवोद्वृत्ताश्चक्रवर्तिनो भवन्ति, न शेषपृथिवीभ्यः । द्वितीयायाः-द्वितीयां मर्यादीकृत्य नरकेभ्य उद्वृत्ता राम केशवा-बलदेव-वासुदेवा भवन्ति । एवं सर्वत्र मर्यादा भावनीया । तृतीयाया उद्वृत्ता अर्हन्तो भवन्ति । चतुर्थ्या उद्वृत्ता

१ माणसजम्मे-इति बृहत्सङ्ग्रहण्या पाठः ॥ २ तुलना-बृहत्सं. वृत्तिः प. ११६ A तः ॥ ३ पूर्वनिबद्ध-मु. ॥ ४ सर्वविरतिरूपं-मु. ॥५ परमार्थः-ख. ॥

'अंतकिरिय' त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् अन्तक्रियासाधकाः, मुक्तिगामिनो भवन्तीत्यर्थः। तथा तमस्तमाभिधानायाः सप्तम्याः पृथिव्या उद्वृत्ताः सन्तो नारका नियमान्मानुषत्वं न लभन्ते। किन्तु तिर्यग्योनि [1]मुपनमन्ति–धातूनामनेकार्थत्वेन प्राप्नुवन्ति। तथा षष्ठ्याः–तमःप्रभाभिधानायाः पृथिव्या उद्वृत्ताः सन्तो नारका इहानन्तरभवे मनुष्यजन्मनि भाज्याः–केचिन्मनुष्या भवन्ति केचित्तु नेति भावः। येऽपि च मनुष्या भवन्ति तेऽपि नियमतः संयमलाभेन [2]सर्वविरतिरूपेण विहीना भवन्ति; न तु कदाचनापि तद्युक्ताः ॥१०८८-८९-९०॥१८१॥

इदानीं 'तेसु जेसिमुववाओ' इति द्व्यशीत्यधिकशततमं द्वारमाह—

अस्सन्नी खलु पढमं दोच्चं च [3]सरिसिवा तइय पक्खी।
सीहा जंति चउत्थिं उरगा पुण पंचमिं [4]पुढविं ॥ ९१ ॥
छट्ठिं च इत्थियाओ[5] मच्छा मणुया य सत्तमिं पुढविं।
एसो परमुववाओ बोद्धव्वो नरयपुढवीसु ॥ ९२ ॥
वालेसु य [6]दाढीसु य पक्खीसु य जलयरेसु उववन्ना।
संखिज्जाउठिईया पुणोऽवि नरयाउया हुंति ॥ ९३ ॥ [तुला-बृहत्सं. २८४-६]

'असन्नी'त्यादिगाथाद्वयम्, असंज्ञिनः– [7]सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियाः खलु प्रथमां नरकपृथिवीं

१ मुपनयन्ति–ख. ॥ २ सर्वविरतिलाभेन–मु. ॥ ३ सरिसवा–सि. वि. ॥ ४ पुहविं–सि. वि. ॥ ५ ०उ-सि. ॥ ६ दाढेसु–ता. ॥ ७ सम्मूर्च्छिमाः पञ्चे० मु. ॥ तुलना–बृहत्सं. वृत्तिः प. ११२ तः ॥

गच्छन्ति। खलुशब्दोऽवधारणे; तच्चावधारणमेवम्—असंज्ञिनः प्रथमामेव पृथिवीं यावद्गच्छन्ति; न परत इति; न तु त एव प्रथमां गच्छन्ति। गर्भजसरीसृपादीनामपि उत्तरपृथिवीषट्कगामिनां तत्र गमनभावात्। एवमुत्तरत्राप्य[1]वधारणीयम्। असंज्ञिनश्चात्र तिर्यञ्चो ज्ञेयाः; संमूर्च्छिममनुष्याणामपर्याप्तानामेव काल-करणतो नरकगतेरभावात्। तत्रापि पल्योपमासङ्ख्येयभागायुष्केष्वेव, उक्तं च—

○ "असन्नी णं नेरइयाउ[2] पकरेमाणा जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरिंति" [ ] त्ति।

तथा द्वितीयामेव पृथिवीं यावद्गच्छन्ति सरीसृपा—भुजपरिसर्पा गोधा-नकुलादयो गर्भव्युत्क्रान्ता, न ततः परतः। एवं तृतीयामेवगर्भजाः पक्षिणो—गृध्रादयः; चतुर्थीमेव सिंहाः—सिंहोपलक्षिताश्चतुष्पदा गर्भजाः, पञ्चमीमेव गर्भजा उरगाः[3] उरःपरिसर्पाः सर्पादयः, षष्ठीमेव स्त्रियः—स्त्रीरत्नाद्या महारम्भादियुक्ताः, सप्तमीं यावद्गर्भजा मत्स्या—जलचरा मनुजाश्च [4]अतिक्रूराध्यवसायिनो महापापकारिणः। एष जीवविशेष-भेदेन परमः—उत्कृष्ट उपपातो बोद्धव्यो नरकपृथिवीषु, जघन्यतस्तु सर्वेषामपि रत्नप्रभायाः प्रथमे प्रस्तटे, मध्यमतः पुनर्जघन्यात्परतः स्वस्वोत्कृष्टोपपातादर्वागिति ॥ ९१-९२ ॥

सम्प्रति **केषाञ्चित्तिर्यग्योनिजानां बाहुल्यकृतं विशेषमाह—'वालेसु'** इत्यादि, नरकेभ्य उद्वृत्ता व्यालेषु-सर्पादिषु, दंष्ट्रिषु—व्याघ्र-सिंहादिषु, पक्षिषु—गृध्रादिषु, जलचरेषु—मत्स्यजातिषु सङ्ख्यातायुः

○ असञ्ज्ञिनो नैरयिकायुः प्रकुर्वन्तो जघन्येन दश वर्षसहस्राणि उत्कृष्टतः पल्योपमस्यासख्येयभागं प्रकुर्वन्ति ॥

१ ०वधारणं भावनीयं-मु. ॥ २ उयं-खं ॥ ३ ०जाः-खं. । अति० सि. त्रि. नास्ति ॥

स्थितय उत्पन्नाः सन्तो भूयः क्रूराध्यवसायवशगाः पञ्चेन्द्रियवधादीन् विधाय नरकायुषो भवन्ति। एतच्च बाहुल्येनोच्यते,[1] न तु नियमः; यतो नारकेभ्योऽपि केचिदुद्वृत्त्य सम्यक्त्वादिप्राप्तिवशाच्छुभां गतिमासादयन्तीति ॥९३॥ १८२॥

सम्प्रति 'संखा उप्पज्जताण' त्ति त्र्यशीत्यधिकशततमद्वारस्य 'तह य उवट्टमाणाणं' ति चतुरशीत्यधिकशततमद्वारस्य चावसरो विवरणाय, परमुत्पत्तिनाशविरहकालद्वारे 'संखा पुणसुरवरतुल्ल' [गा. १०८२] त्ति गाथादलेन तदुद्वारद्वयमपि व्यक्तं प्राग्व्याख्यातमिति नेदानीं तद्विवृतमिति ॥१८३–१८४॥

१८५ द्वारे एकेन्द्रियादीनां कायस्थिति गाथा १०९४-५ प्र. आ. ३२४

सम्प्रति 'एगिंदियविगलिंदियसन्नीजीवाण कायठिइओ' त्ति पञ्चाशीत्यधिकशततमं द्वारमाह–

अस्संखोसप्पिणिसप्पिणीउ एगिंदियाण [2]य चउण्हं ।
ता चेव ऊ अणंता वणस्सइए उ बोद्धव्वा ॥ ९४ ॥ [उपदेशपद गा. १७]
वाससहस्सा संखा [3]विगलाणं ठिईउ होइ बोद्धव्वा ।
सत्तट्ठभवा उ भवे पणिंदितिरिमणुय उक्कोसा ॥ ९५ ॥ [तुलना-बृहत्सं गा. ३३३-४]

'असंखोसप्पिणि' त्यादि गाथाद्वयम् , एकेन्द्रियाणां चतुर्णां–पृथिव्यप्तेजोवायुरूपाणां प्रत्येकमुत्कृष्टा कायस्थितिः–मृत्वा मृत्वा तत्रैव कायेऽवस्थानमसङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । एतच्च कायस्थितिमानं कालतः; क्षेत्रतस्त्वसङ्ख्येया लोकाः । इदमुक्तं भवति–असङ्ख्येयेषु लोकाकाशेषु प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे सर्वप्रदेशापहारेण यावत्योऽसङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवन्ति तावत्य इति; ता एव–

१ ०न्ते-खं. ॥ २ (उ)–मु. ॥ ३ विगलाणं ठिइउ–मु. । वि. प्रतौ बृहत्सङ्ग्रहिण्यामपि विगलाण ठिईउ- इति पाठः ॥

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योऽनन्ता वनस्पतिकायिकस्योत्कृष्टा कायस्थितिः बोद्धव्या, इयमपि कालतः, क्षेत्रतस्तु पूर्वोक्तप्रकारेण अनन्ता लोकाः, असङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः; ते च आवलिकाया असङ्ख्येयतमे भागे यावन्तः समयाः तत्तुल्या, इयं च कायस्थितिः सांव्यवहारिकानाश्रित्यद्रष्टव्या; [1]असांव्यवहारिकजीवानां त्वनादिरवसेया; ततो न मरुदेव्यादिभिर्व्यभिचारः, तथा च क्षमाश्रमणाः[2] —

★'तह काय-ठिइ-कालादओ विसेसे पडुच्च किर जीवे ।
नाणाइवणस्सइणो जे संववहारबाहिरिया ॥१॥'' [विशेषणवती गा. ५६]

यापि [3]चासांव्यवहारिकजीवानामनादिः कायस्थितिः साऽपि केषाञ्चिदनादिरपर्यवसाना ये जातुचिदप्यसांव्यवहारिकराशेरुद्धृत्य सांव्यवहारिकराशौ न निपतिष्यन्ति, केषाञ्चिनादिः सपर्यवसाना, येऽसांव्यवहारिकराशेरुद्धृत्य सांव्यवहारिकराशौ निपतन्ति । अथ किमसांव्यवहारिकराशेर्विनिर्गत्य सांव्यवहारिकराशावागच्छन्ति ?, उच्यते, आगच्छन्ति, तथा चोक्तं विशेषणवत्याम्—

प्र. आ.
३२४

● ''सिज्झंति जत्तिया किर इह संववहारजीवरासीओ ।
इन्ति अणाइवणस्सइरासीओ तत्तिया तंमि ॥ १ ॥'' [गा. ६०]

तत्र येऽनादिसूक्ष्मनिगोदेभ्य उद्धृत्य शेषजीवेषूत्पद्यन्ते ते पृथिव्यादिविविधव्यवहारयोगात् सांव्यवहारिकाः, ये पुनरनादिकालादारभ्य सूक्ष्मनिगोदेष्वेवावतिष्ठन्ते ते तु तथाविधव्यवहारातीतत्वादसांव्यवहा-

१ असं० खं. ॥ २ ०णाः-ख. सि. ॥ ३ चासं० खं. सि. ॥

★ तथा काय-स्थिति-कालादयो विशेषान् जीवान् किल प्रतीत्य । नानादिवनस्पतीन् ये संव्यवहारबाह्याः ॥१॥
● सिध्यन्ति यावन्तः किलेह संव्यवहारजीवराशेः । आयान्ति अनादिवनस्पतिराशेस्तावन्तस्तस्मिन् ॥१॥

रिकाः । तत्र सांव्यवहारिकाः सूक्ष्मनिगोदेभ्य उद्धृत्य शेषजीवेषूत्पद्यन्ते, तेभ्योऽप्युद्धृत्य केचिद् भूयोऽपि तेष्वेव निगोदेषु गच्छन्ति, परं तत्रापि सांव्यवहारिका एव ते, व्यवहारे पतितत्वात् , तत्र च सूत्रोक्तमुत्कर्षतोऽवस्थानकालमानम् , असांव्यवहारिकास्तु सदा निगोदेष्वेवोत्पत्तिमरणभाजो, न कदाचनापि त्रसादिभावं लब्धवन्त इति ॥९४॥

तथा विकलानां—द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं [1]कायस्थितिस्तु सङ्ख्याता वर्षसहस्राः, 'विगलाण य वाससहस्सं संखेज्ज' त्ति [द्वार-२ गा. ४९] पञ्चसङ्ग्रहवचनात् , पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च संज्ञिपर्याप्तानामुत्कृष्टा कायस्थितिः सप्ताष्टौ वा भवा भवेत् । तत्र सप्त भवाः सङ्ख्येयवर्षायुषः, अष्टमस्त्वसङ्ख्येय[2]वर्षायुरेव । तथाहि—पर्याप्तमनुष्याः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो वा निरन्तरं यथासङ्ख्येयं सप्त नरभवांस्तिर्यग्भवान् वाऽनुभूय यद्यष्टमे भवे भूयस्तेष्वेवोत्पद्यन्ते [3]ततो नियमादसङ्ख्यायुष्केष्वेव नेतरेषु; [4]असङ्ख्यायुषश्च मृत्वा सुरेष्वेवोत्पद्यन्ते, ततो नवमोऽपि नरभवस्तिर्यग्भवो वा निरन्तरं न लभ्यते । अष्टसु च भवेषूत्कर्षतः कालमानं त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाधिकानि ; जघन्या तु सर्वत्रापि कायस्थितिरन्तमुहूर्तमिति ॥९५॥१८५॥

सम्प्रति 'एगिंदियविगलसन्निजीवाणं भवट्ठिइ' त्ति षडशीत्यधिकशततमं द्वारमाह—

बावीसइ[5] सहस्सा सत्तेव सहस्स तिन्निऽहोरत्ता ।
वाए तिन्नि सहस्सा दसवाससहस्सिया रुक्खा ॥९६॥

१ कायस्थितेभ्यः-खं. । कायस्थितिः-वि. ॥ २ ०वर्षायुष एव-मु. ॥ ३ तदा-मु. ॥ ४ असङ्ख्यायुश्च मु. ॥ ५ ०ई-मु. ॥

संवच्छराइं बारस राइंदिय हुंति [1]अणुणपन्नासं ।
छम्मास तिन्नि पलिया पुढवाईणं [2]ठिउक्कोसा ॥९७॥
सण्हा य १ सुद्ध २ वालुय ३ मणोसिला ४ सक्करा य ५ खरपुढवी ६ ।
एक्कं १ बारस २ चउदस ३ सोलस ४ अट्ठार ५ बावीसा ॥९८॥

[तुलना-बृहत्सं. गा. ३१२-४]

'बावीसाई' इत्यादिगाथाद्वयम्, [3]पृथिव्यादीनां मनुष्यपर्यन्तानां स्थितिः—आयुःप्रमाणरूपा एषा उत्कृष्टा, यथा—पृथिवीकायिकानां द्वाविंशतिर्वर्षसहस्राणि, अप्कायिकानां सप्त वर्षसहस्राणि, तेजस्कायिकानां त्रीणि रात्रिन्दिवानि, वाते—वातकाये त्रीणि वर्षसहस्राणि, वृक्षा—वनस्पतयो दशवर्षसाहस्रिकाः; किमुक्तं भवति ?—वनस्पतिकायिकानामुत्कर्षतः स्थितिर्दश वर्षसहस्राणीति । तथा द्वीन्द्रियाणामुत्कर्षत आयुःस्थितिर्द्वादश वर्षाणि, त्रीन्द्रियाणामेकोनपञ्चाशद्रात्रिन्दिवानि, चतुरिन्द्रियाणां षण्मासाः, पञ्चेन्द्रियाणां तिर्यग्मनुष्याणां त्रीणि पल्योपमानि; एषा चोत्कृष्टा स्थितिः, प्रायो निरुपद्रवस्थाने द्रष्टव्या, एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ॥ ९६॥ ९७॥

एवं सामान्येन पृथिव्यादीनामुत्कृष्टां स्थितिमभिधाय पृथिवीभेदेषु विशेषेणाह—'सण्हा य' गाहा, इह पूर्वार्धपदानामुत्तरार्धपदानां च यथाक्रमं योजना, सा चैवं—श्लक्ष्णा—मरुस्थल्यादिगता पृथिवी तस्या एकं वर्षसहस्रमुत्कृष्टमायुः, शुद्धा—कुमारमृत्तिका तस्या द्वादश वर्षसहस्राणि, वालुका—सिकता तस्याश्चतुर्दश

१ अउणपन्नासं-मु ॥ २ ठिइउ० इति बृहत्संग्रहण्यां पाठ ॥ ३ तुलना-बृहत्सं. वृत्तिः प. १२१ तः ॥

[1]वर्षसहस्राणि, मनःशिला प्रतीता तस्याः षोडश, शर्करा—दृषत्कर्करिका तस्या अष्टादश, खरपृथिवी— [2]शिला-पाषाणरूपा तस्या द्वाविंशतिर्वर्षसहस्राण्युत्कृष्टमायुः, जघन्यं तु सर्वत्राप्यन्तर्मुहूर्तमिति ॥१८॥१८६॥

सम्प्रति 'एएसिं तणुमाणं' ति सप्ताशीत्यधिकशततमं द्वारमाह—

१८७द्वारे एकेन्द्रियादीनां तनुमानम् गाथा १०९९-११०४ प्र.आ. ३२५

जोयणसहस्समहियं ओहपएगिंदिए तरुगणेसु ।
मच्छजुयले सहस्सं उरगेसु य गब्भजाईसु ॥१०९९॥ [बृहत्सं. गा. ३०७]
उस्सेहंगुलगुणियं जलासयं जमिह जोयणसहस्सं ।
तत्थुप्पन्न नलिणं विन्नेयं भणिय[3]मित्तं तु ॥११००॥
जं पुण जलहिदहेसुं पमाणजोयणसहस्समाणेसुं ।
उप्पज्जइ वरपउमं तं जाणसु भूवियारं ति[4] ॥११०१॥
वणऽणंतसरीराणं [5]एगमनिलसरीरगं पमाणेणं ।
अनलोदगपुढवीणं असंखगुणिया भवे वुड्ढी ॥२॥
विगलिंदियाण बारस जोयणा तिन्नि चउर कोसा य ।
सेसाणोगाहणया अंगुलभागो असंखिज्जो ॥३॥
गब्भचउप्पय छग्गाउयाइं भुयगेसु गाउयपुहुत्तं ।
पक्खीसु धणुपुहुत्तं मणुएसु य गाउया तिन्नि ॥४॥ [बृहत्सं.गा. ३११, ३१०, ३०८]

१ वर्षसहस्राणि-ख. नास्ति । वर्ष० वि. सि. नास्ति ॥ २ सिलारूपा-सि. ॥ ३ माणं ति-मु. ॥ ४ तु- ता. ॥ ५ एग अनि० ता. ॥

'जोयण सहस्स' गाहा, ओघपदे—सामान्यचिन्तायामेकेन्द्रिये पृथिव्यादिविशेषानाकाङ्क्षितानामेकेन्द्रियाणामित्यर्थः; विशेषचिन्तायां तरुगणेषु—प्रत्येकवनस्पतीनामित्यर्थः, उत्कर्षतः सातिरेकं योजनसहस्रं शरीरप्रमाणमवसेयम्, एतच्च समुद्रे गोतीर्थादिगतलतानलिननालाद्यधिकृत्य वेदितव्यम्; अन्यत्रैतावदौदारिकशरीरस्यासम्भवात् । तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चस्त्रिविधाः—जलचराः स्थलचराः खेचराश्च, जलचराः सम्मूर्छजा गर्भजाश्च पुनः प्रत्येकमपर्याप्ताः[1] पर्याप्ताश्चेत्येवं चतुर्विधाः; स्थलचरास्तु द्विविधाः—चतुष्पदाः परिसर्पाश्च; चतुष्पदाः पुनरपि सम्मूर्छजा गर्भजाश्च पुनः प्रत्येकमपर्याप्ताः पर्याप्ताश्चेत्येवं चतुर्विधाः; परिसर्पास्तु द्विविधाः—उरःपरिसर्पा भुजपरिसर्पाश्च; उभये अपि प्रत्येकं चतुष्पदवच्चतुर्विधाः; इत्येवं स्थलचराः सर्वेऽपि द्वादशविधाः । खेचरास्तु जलचरवच्चतुर्विधाः; तदेवं विंशतिभेदानां तिरश्चां तनुमानचिन्तायां मत्स्यानां—जलचराणां युगले—सम्मूर्छज-गर्भजलक्षणे उरगेषु च—उरःपरिसर्पेषु सर्पादिषु, [2]गर्भजातिषु-गर्भजेषु प्रत्येकं परिपूर्णं योजनसहस्रमिति ॥९१॥

प्र.आ. ३२५

ननु तनुप्रमाणमुत्सेधाङ्गुलेन 'उस्सेहपमाणओ मिणसु देहं' [बृहत्सं. गा. ३४९] इति वचनात्; समुद्र-पद्म-हृदादीनां तु प्रमाणं प्रमाणाङ्गुलेन; ततः समुद्रादीनां योजनसहस्रा[3]वगाहत्वात्तद्गतपद्मनालादीनामुत्सेधाङ्गुलापेक्षयाऽत्यंतदैर्घ्यं प्राप्नोतीत्यत आह— [4]'उस्सेह' मित्यादि, 'ज' मित्यादि, उत्सेधाङ्गुलेन 'परमाणू रहरेणू' इत्यादिक्रमनिष्पन्नेन गुणितः—प्रमितः सन् योऽसौ जलाशयः—समुद्रगोतीर्थादिरिह—मनुष्यलोके योजनसहस्रप्रमाणो भवति, तत्र समुत्पन्नं नलिनं—पद्मं भणितमानं—पूर्वोक्तकिञ्चित्समधिक- ॥३१४॥

१ ०प्ता-जे ॥ २ गर्भजातिषु-मु नास्ति ॥ ३ ०गाहनत्वा०-मु० ॥ ४ उस्सेहं गुलेत्यादिगाथाद्वयम्-खं. ॥

योजनसहस्रप्रमाणं विज्ञेयम्, यत् पुनः प्रमाणाङ्गुलानां योजनसहस्रमानेषु जलधि-ह्रदादिषु वरं–प्रधानं पद्ममुत्पद्यते तज्जानीहि भूविकारं-पृथिवीविकारमिति।

इदमुक्तं भवति–इह समुद्रमध्ये प्रमाणाङ्गुलतो योजनसहस्रावगाहे यानि पद्मानि तानि पृथिवीपरिणामरूपाण्येव। यथा श्रीदेवतायाः पद्महूदे पद्मम्; यानि पुनः शेषेषु गोतीर्थादिषु स्थानेषु पद्मानि तानि वनस्पतिपरिणामरूपाण्यपि भवन्तिः तानि च शेषेषु जलाशयेषु, वल्ल्यादयश्चोत्कर्षतो यथोक्तमाना भवन्ति। तथा चोक्तं विशेषणवत्याम्—

\+ "पुढवीपरिणामाइं ताइं किर सिरिनिवासपउमं व। गोतित्थेसु वणस्सइपरिणामाइं तु होज्जाहि ॥१॥
जन्थुस्सेहंगुलओ सहस्समवसेसएसु य जलेसु[1]। वल्लीलयादओऽवि य सहस्समायामओ होंति ॥२॥"

[गा. ७-८] ॥११००–११०१॥

तथा प्रत्येकवनस्पतिवर्जितानां पंचानामपि पृथिव्यादीनामङ्गुलासङ्ख्येयभागमानाऽवगाहना वक्ष्यते; ततस्तत्र विशेषमाह— [2]'वणे' त्यादि, 'विगले' त्यादि, 'गब्भे' त्यादि, 'वण' त्ति वनस्पतीनाम्, 'अणंत' त्ति अनन्तकायिकानां सूक्ष्माणां यान्यसङ्ख्येयानि शरीराणि तेषां प्रमाणेन–मानेनैकमनिलशरीरकं–वायुशरीरम्, किमुक्तं भवति?–सूक्ष्मसाधारणवनस्पतीनामसङ्ख्यातैः शरीरैस्तुल्यमेकं सूक्ष्मं वायुशरीरमिति। उक्तं च प्रज्ञप्तौ—

१ ०सु - मु.। तुलना-विशेषणवती॥ २ वणणंत गाहा वणत्ति-ख.॥
\+ तानि किल पृथ्वीपरिणामानि श्रीनिवासपद्ममिव। गोतीर्थेषु वनस्पतिपरिणामानि तु भवेयुः ॥१॥
यत्रोत्सेधांगुलतः सहस्रमवशेषेषु च जलेषु। वल्लीलतादयोऽपि च सहस्रामायामतो भवन्ति ॥२॥

'अणंताणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे सुहुमवाउसरीरे" [भगवतीसूत्र १९।३। सू.६५२] त्ति अनन्तकायिकानां यावन्ति शरीराणि तदेकं सूक्ष्मं वायुशरीरम्, तावत्शरीरप्रमाणमित्यर्थः; यावद्ग्रहणाच्चासङ्ख्यातानि शरीराणि ग्राह्याणि, अनन्तानामपि वनस्पतीनामेकाद्यसङ्ख्येयान्तशरीरत्वेनानन्तानां शरीराणामभावात्; ततो वायुकायिकशरीरादनलोदकपृथिवीनाम्–अग्निजलपृथिवीकायिकशरीराणां सूक्ष्माणां बादराणां च यथाक्रममसङ्ख्यगुणा भवति वृद्धिः ।

इयमत्र भावना–यावत्प्रमाणमेकं [1]सूक्ष्मवायुकायिकशरीरं ततोऽप्यसङ्ख्यातगुणमेकं सूक्ष्मतेजस्कायिकशरीरम्, ततोऽसङ्ख्यातगुणमेकं सूक्ष्माप्कायिकशरीरम्, ततोऽप्यसङ्ख्यातगुणमेकं सूक्ष्मपृथिवीकायिकशरीरम्, ततोऽप्यसङ्ख्यातगुणमेकं बादरवायुशरीरम् ततोऽसङ्ख्यातगुणमेकं बादराग्निशरीरम्, ततोऽप्यसङ्ख्यातगुणमेकं [2]बादराप्कयिकशरीरम्, ततोऽप्यसङ्ख्यातगुणमेकं बादरपृथिवीशरीरम्, तस्मादप्यसङ्ख्यातगुणमेकं बादरनिगोदशरीरमिति । एतच्च सर्वमपि भगवत्त्येकोनविंशतितमशतकतृतीयोद्देशकानुसारेणोक्तं न तु निजमनीषिकयेति । इह च पृथिव्यादीनामङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रावगाहनात्वेऽप्यसङ्ख्येयभेदत्वादङ्गुलासङ्ख्येयभागस्येतरेतरापेक्षयाऽसङ्ख्येयगुणत्वं न विरुद्ध्यते ॥२॥

अथ द्वीन्द्रियादीनामव[3]गाहनामानमाह–'विगलेंदिय' गाहा, विकलेन्द्रियाणां–द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां यथाक्रमं शरीरमानं द्वादश योजनानि, त्रयः क्रोशाः चत्वारः क्रोशाः । इयमत्र भावना–द्वीन्द्रियाणां

१ सूक्ष्मवायुकायिकादिशरीरं–सि. वि ॥ २ बादरप्कायश० खं. ॥ ३ ०गाहनामाह- विकलेन्द्रियाणां- मु. ॥

शङ्खादीनामुत्कर्षतो देहमानं द्वादश योजनानि, त्रीन्द्रियाणां कर्णशृगाली-मत्कोटकादीनां त्रीणि गव्यूतानि, चतुरिन्द्रियाणां भ्रमरादीनामेकं योजनम्, शेषाणां पृथिव्यप्तेजोवायूनां साधारणवनस्पतीनां संमूर्छिम-मनुष्याणां सर्वेषामपि चापर्याप्तजीवानामुत्कर्षतोऽवगाहना-देहमानमङ्गुलासङ्ख्येयो भागः ॥३॥

अथ **तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्याणां च देहमानमाह**- गर्भजचतुष्पदानां-हस्त्यादीनामुत्कृष्टं देहमानं षड्गव्यूतानि, भुजगेषु गर्भजेषु-गोधानकुलादिषु गव्यूतपृथक्त्वम्, पृथक्त्वं च द्विप्रभृत्यानवभ्यः । पक्षिषु-गृध्रादिषु 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ते' [ ] गर्भजेषु संमूर्छिमेषु च धनुःपृथक्त्वम्, मनुष्येषु च गर्भजेषु त्रीणि गव्यूतानि, '**मणुएसु य**' त्ति चकारोऽनुक्तसमुच्चये; ततः संमूर्छिमचतुष्पदानां गवादीनामुत्कर्षतो [1]देहमानं गव्यूतपृथक्त्वम्, संमूर्छिमभुजगानां धनुःपृथक्त्वम्, संमूर्छिमोरगाणां च योजनपृथक्त्वम् । एतच्च [2]प्रज्ञापनावगाहनासंस्थानपदोक्तानुसारेणास्माभिरभिहितमिति । इदं चोत्कर्षतः सर्वमपि देहमानम्, जघन्यतस्तु सर्वेषामपि जीवानामङ्गुलस्यासङ्ख्याततमो भागः, स चोपपातसमये बोद्धव्यः ॥ ४ ॥ १८७ ॥

सम्प्रति [3]'इंदियसरूवविसओ य एएसिं' ति अष्टाशीत्यधिकशततमं द्वारमाह—

कायंबपुप्फगोलय १ मसूर २ अइमुत्तयस्स कुसुमं च ३ ।
सोयं १ चक्खू २ घाणं ३ खुरप्पपरिसंठिअं रसणं ४ ॥ ५ ॥

१ देहं ग० सि.वि. ॥ २ प्रज्ञापनासूत्रे एकविंशं पदमित्यर्थः ॥ ३ इंदियविसओ-खं. । इंदियविसयविसओ-सि.वि. ॥

नाणागारं फासिंदियं तु बाहल्लओ य सव्वाइं ।
अंगुलअसंखभागं एमेव पुहुत्तओ नवरं ॥ ६ ॥
अंगुलपुहुत्त रसणं फरिसं तु सरीरवित्थडं भणियं ।
बारसहिं जोयणेहिं सोयं [1]परिगिण्हए सद्दं ॥ ७ ॥
रूवं गिण्हइ चक्खू जोयणलक्खाओ साइरेगाओ ।
गंधं रसं च फासं जोयणनवगाउ [2]सेसाइं ॥ ८ ॥
अंगुलअसंखभागा मुणंति विसयं जहन्नओ मोत्तुं ।
चक्खुं तं [3]पुण जाणइ अंगुलसंखिज्जभागाओ ॥ ९ ॥

'कायंब' गाहा, इन्दनादिन्द्रः—आत्मा सर्वद्रव्योपलब्धिरूपपरमैश्वर्ययोगात्; तस्य लिङ्गं–चिह्नमविनाभावि इन्द्रियम्; तद् द्विधा–द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं च । तत्र द्रव्येन्द्रियं द्विधा– [4]निर्वृत्तिरूपमुपकरणरूपं च । [5]निर्वृत्तिर्नाम प्रतिविशिष्टसंस्थानविशेषः । साऽपि द्विधा–बाह्या आभ्यन्तरा च । तत्र बाह्या [6]कर्ण-कर्पटिकादिरूपा; सा च विचित्रा न [7]प्रतिनियतरूपतया [8]व्यपदेष्टुं शक्यते; तथाहि–मनुष्यस्य श्रोत्रे नेत्रयोरुभयपार्श्वतो भाविनी [9]भ्रुवौ चोपरितने श्रवणबन्धापेक्षया समे, वाजिनो नेत्रयोरुपरि

१ परिगे० इति प्रज्ञापनावृत्तौ प. ३००B ॥ २ सेसाणि–मु. ॥ ३ परिजाणइ–ता. ॥ ४ निर्वृत्तिरूपकरणरूपं–लं. वि. सि. ॥ ५ तुला–प्रज्ञापनावृत्ति प. २९३ तः ॥ ६ कर्णपर्प० सि. । बाह्या पर्प० इति प्रज्ञापना. वृत्तौ ॥ ७ प्रतिनियत० जे. नास्ति । ०नियत० सि. नास्ति । ८ अश० जे.सि. ॥ ९ भ्रवा-सि. । भ्रुवौ-इति प्रज्ञापनावृत्तौ पाठः ॥

तीक्ष्णे चाग्रभागे इत्यादिजातिभेदान्नानाविधा । [1]आभ्यन्तरा तु निर्वृत्तिः सर्वेषामपि जन्तूनां समाना । तामेव चाधिकृत्य प्रस्तुतसूत्रोक्तं संस्थानमवसेयम् ; केवलं स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृतेः प्रायो न बाह्याभ्यन्तर-[2]भेदः, [3]तत्त्वार्थमूलटीकायां तथाऽभिधानात् ।

उपकरणं–खड्गस्थानीयाया बाह्यनिर्वृत्तेर्या खड्गधारासमाना स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिकाभ्यन्तरा [4]निर्वृत्तिः तस्याः शक्तिविशेषः । इदं चोपकरणरूपं द्रव्येन्द्रियमन्तर्निर्वृत्तेः कथञ्चिदर्थान्तरम् । शक्तिशक्तिमतोः कथञ्चिद्भेदात् । कथञ्चिद्भेदश्च सत्यामपि [5]तस्यामान्तर्निर्वृत्तौ द्रव्यादिनोपकरणस्य विघातसम्भवात् । तथाहि–सत्यामपि कदम्बपुष्पाद्याकृतिरूपायामन्तर्निर्वृत्तावतिकठोरतरघनगर्जितादिना शक्त्युपघाते सति न परिच्छेत्तुमीशते जन्तवः शब्दादिकमिति ।

भावेन्द्रियमपि द्विधा–लब्धिरुपयोगश्च, तत्र लब्धिः–श्रोत्रेन्द्रियादिविषयः सर्वात्मप्रदेशानां तदावरण कर्मक्षयोपशमः; उपयोगः–स्वस्वविषये लब्धिरूपेन्द्रियानुसारेणात्मनो [6]व्यापारः प्रणिधानमिति । तच्च पञ्चधा–श्रोत्रादिभेदात् । तत्र श्रोत्रमाभ्यन्तरीं निर्वृत्तिमधिकृत्य कदम्बपुष्पाकारं मांसगोलकरूपम्, चक्षुः किञ्चित्समुन्नतमध्यपरिमण्डलाकारमसूराख्यधान्यविशेषसदृशम्, घ्राणमतिमुक्तककुसुमदलचन्द्रकवत् किञ्चिद्[7]वृत्ताकारमध्यविनतम्, प्रदीर्घत्र्यस्रसंस्थितं कर्णाटकायुधं क्षुरप्रस्तत्परिसंस्थितं–तदाकारं रसनेन्द्रियमिति ॥५॥

प्र. आ. ३२७

१ अभ्य० खं. वि. जे. प्रज्ञापनावृत्तौ च । २ ०भेदाः–सि. ॥ ३ तत्त्वार्थसूत्रस्य [२।१७] वृत्तिर्द्रष्टव्या ॥
४ निवृत्तिः तस्याः निवृत्तिः तस्याः–खं. ॥ ५ तस्यामन्त० मु. ॥ ६ व्यापारप्रणि० मु. ॥
७ वृत्ताकारमध्यविनतं–मु. जे.खं. । विनताकारमध्यविनतं–सि. । वितता० वि० ॥

तथा—'नाणे' त्यादि, स्पर्शनेन्द्रियं पुनर्नानाकारम्–अनेकसंस्थानसंस्थितम् शरीरस्यासङ्ख्येयभेदत्वात् । तथा [1]बाहल्यतः सर्वाण्यपीन्द्रियाण्यङ्गुलस्यासङ्ख्येयो भागः ।

[2]ननु यदि स्पर्शनेन्द्रियस्याप्यङ्गुलासङ्ख्येयभागो [3]बाहल्यं ततः कथं खड्गाद्यभिघाते अन्तः शरीरस्य वेदनानुभवः ?, तदयुक्तम्, वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । त्वगिन्द्रियस्य हि विषयः शीतादयः स्पर्शाः । यथा चक्षुषो रूपम् । न च खड्गाद्यभिघाते अन्तः शरीरस्य [4]शीतादिस्पर्शवेदनमस्तीति; किन्तु केवलं दुःखवेदनम् । तच्चात्मा सकलेनापि शरीरेणानुभवति, न केवलेन त्वगिन्द्रियेण, ज्वरादिवेदनावत् । ततो न कश्चिद्दोषः ।

अथ शीतलपानकादिपाने अन्तः शीतस्पर्शवेदनाऽप्यनुभूयते, ततः कथं सा घटते ?, उच्यते, इह त्वगिन्द्रियं सर्वत्रापि प्रदेशपर्यन्तवर्ति विद्यते, तथा पूर्वसूरिभिर्व्याख्यानात् । तथा च प्रज्ञापनामूलटीका--"सर्वप्रदेशपर्यन्तवर्तित्वात्त्वचोऽभ्यन्तरतोऽपि शुषिरस्योपरि त्वगस्त्येव" [ ] इति । ततोऽभ्यन्तरतोऽपि शुषिरस्योपरि त्वगिन्द्रियस्य भावादुपपद्यते अन्तरपि शीतस्पर्शवेदनानुभवः । तथा एवमेव—अङ्गुलासङ्ख्येयभागप्रमाणान्येव पृथुत्वतो–विस्तरतोऽपीन्द्रियाणि भवन्ति ॥६॥

नवरं रसन-स्पर्शनयोर्विशेषः, तमेवाह—'अंगुले' त्यादि गाथापूर्वार्धम्, अङ्गुलपृथक्त्व[5]विस्तरं रसनेन्द्रियम् । स्पर्शनं पुनः शरीरविस्तृतं भणितम् । यस्य जीवस्य यावन्मानं शरीरं स्पर्शनमपि तस्य [5]विस्तरतस्तावत्प्रमाणमित्यर्थः ॥

१ बाहुल्यतः–जे.सि. ॥ २ तुला-प्रज्ञापनावृत्तिः प. २९४ ॥ ३ बाहुल्यं–जे.सि. ॥ ४ शीतादिस्पर्शने–मु. । शीतादिस्पर्शो–खं. । सि. प्रतौ प्रज्ञापनावृत्तावपि–शीतादिस्पर्शवे० इति ॥ ५ ०विस्तारं–मु. ॥

अथेन्द्रियविषयमानमाह—'बारे' त्यादि [1]सार्द्धगाथा, द्वादशभ्यो योजनेभ्य आगतं घनगर्जितादि-शब्दमुत्कृष्टतो गृह्णाति श्रोत्रम्, न परतः। [2]परत आगताः खलु ते शब्दपुद्गलास्तथास्वाभाव्यान्मन्दपरिणामास्तथोपजायन्ते येन स्वविषयं श्रोत्रविज्ञानं नोत्पादयितुमीशाः। श्रोत्रेन्द्रियस्य च तथाविधमत्यद्भुतं बलं न विद्यते येन परतोऽप्यागतं [3]शब्दं शृणुयादिति ॥७॥

तथा चक्षुरिन्द्रियमुत्कर्षतः सातिरेकाद्योजनलक्षादारभ्य कटकुड्यादिभिरव्यवहितं रूपं गृह्णाति–परिच्छिनत्ति। परतोऽव्यवहितस्यापि परिच्छेदे चक्षुषः शक्त्यभावात्। [4]एतच्चाभासुरद्रव्यमधिकृत्योच्यते। भासुरं तु [5]द्रव्यम् प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नेभ्य एकविंशतियोजनलक्षेभ्योऽपि परतः पश्यन्ति। यथा [6]पुष्करवरद्वीपार्धे मानुषोत्तरनगनिकटवर्त्तिनो नराः कर्कसंक्रान्तौ सूर्यबिम्बम्। उक्तं च—

"इगवीसं खलु लक्खा चउतीसं चेव तह सहस्साइं। तह पंच सया भणिया [7]सत्ततीसाए अइरित्ता ॥१॥
इह नयणविसयमाणं पुक्खरदीवड्ढवासिमणुयाणं। पुव्वेण य अवरेण य पिहं पिहं होइ नायव्वं ॥२॥"[ ]

तथा शेषाणि–घ्राण-रसन-स्पर्शनेन्द्रियाणि क्रमेण गन्धं रसं स्पर्शं च प्रत्येकमुत्कर्षतो नवभ्यो योजनेभ्य आगतं [8]गृह्णन्ति; न परतः। परत आगतानां मन्दपरिणामत्वभावात् घ्राणादीन्द्रियाणां च तथारूपाणामपि तेषां परिच्छेदं कर्तुमशक्तत्वात् ॥८॥

१ सार्धा–मु.॥ २ तुला–प्रज्ञापनावृत्तिः प. २६६ ॥ ३ शब्द–सि.वि. नास्ति ॥ ४ विशेषावश्यकभा. गा. ३४३ तः द्रष्टव्या ॥ ५ द्रव्यमधिकृत्य–मु.॥ ६ तुला–प्रज्ञापनावृत्तिः प. ३०१ A ॥ ७ सत्तत्ती० इति प्रज्ञापनावृत्तौ सि. प्रतौ च पाठः ॥ ८ गृह्णाति–सि.वि.॥

अथ जघन्यं विषयमानमाह—'अंगुले' त्यादि, चक्षुरिन्द्रियं मुक्त्वा शेषाणि चत्वारि श्रोत्रादीनि जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागादागतं स्वस्वविषयं शब्दादिकं जानन्ति। प्राप्तार्थपरिच्छेदकत्वात् । चक्षुः [1]पुनरप्राप्तकारित्वाज्जघन्यतोऽ[2]ङ्गुलमङ्ख्येयभागमात्रव्यवस्थितं पश्यतिः न तु ततोऽप्यर्वाक्तरमिति । प्रतिप्राणि प्रतीतश्चायमर्थः । तथा च नातिसन्निकृष्टमञ्जनरजोमलादिकं चक्षुः पश्यतीति ।

इह च पृथुत्वपरिमाणं स्पर्शनेन्द्रियव्यतिरेकेण शेषाणां चतुर्णामिन्द्रियाणामात्माङ्गुलेन प्रतिपत्तव्यम् , स्पर्शनेन्द्रियस्य तूत्सेधाङ्गुलेन, विषयपरिमाणं पुनः सर्वेषामप्यात्माङ्गुलेनैव । अत्र चोभयत्राप्युपपत्तिः सविस्तरतरा भाष्यादवसातव्या ॥९॥ १८८॥

इदानीं 'लेसाउ' त्ति एकोननवत्यधिकशततमं द्वारमाह—

पुढवीआउवणस्सइबायरपत्तेसु लेस चत्तारि ।
गब्भे तिरियनरेसु छल्लेसा तिन्नि सेसाणं ॥१०॥ [बृहत्सं. गा. ३४२]

'पुढवी०' गाहा, [3]बादरशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, प्रत्येकवनस्पतीनां च स्वरूपोपदर्शनार्थमेव व्यभिचाराभावात् । पर्याप्त इति विशेषणं च सामर्थ्याद् द्रष्टव्यम् । अन्यथा तेजोलेश्याया अयोगात् । ततो बादरपर्याप्तेषु पृथिवीकायिकेष्वप्कायिकेषु प्रत्येकवनस्पतिषु चाद्याश्चतस्रः कृष्ण-नील-कापोत-तेजोरूपा लेश्या भवन्ति । तेजोलेश्या कथमवाप्यते [4]इति चेद् , उच्यते, ईशानान्तदेवानामेतेषूत्पादात्कियन्तमपि

१ पुनरप्राप्ति० सि.वि.॥ २ ०ङ्गुलकस० सि.वि. ॥ ३ तुला—बृहत्सङ्ग्रहणि मलय०वृत्तिः प. १३०॥
४ नवा इति—खं. वि. सि. ॥

कालं तेजोलेश्यापि सम्भवति । यल्लेश्या हि जन्तवो म्रियन्ते परभवेऽपि तल्लेश्या एवोत्पद्यन्ते । न पुनः पाश्चात्यभवान्त्यसमयेऽन्यो लेश्यापरिणामोऽन्यश्चागामिकभवाद्यसमये ।

यदागमः—●"जल्लेसाइं दव्वाइं आइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ' [ ] त्ति । केवलं तिर्यङ्नरा आगामिभवसम्बन्धिलेश्याया अन्तमुहूर्तेऽतिक्रान्ते, सुरनारकास्तु स्वस्वभवसम्बन्धिलेश्याया अन्तमूहूर्ते शेषे सति परभवमासादयन्ति ।

गर्भजतिर्यङ्मनुष्येषु [1]षडपि लेश्याः; तेषामनवस्थितलेश्याकत्वात् । तथाहि—तिरश्चां पृथिवीकायिकादीनां नराणां सम्मूर्छिम-गर्भजानां शुक्ललेश्यावर्जा याः काश्चिल्लेश्याः सम्भवन्ति ताः प्रत्येकं जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तमुहूर्तस्थितयः । शुक्ललेश्या तु जघन्यतोऽन्तमुहूर्तावस्थाना उत्कर्षतः किञ्चिन्न्यूननववर्षोनपूर्वकोटिप्रमाणेति । इयं चोत्कृष्टा स्थितिः पूर्वकोटेरुद्धूर्वं संयमावाप्तेरभावात् । पूर्वकोट्यायुषः किञ्चित्समधिकवर्षाष्टकादूर्ध्वमुत्पादितकेवलज्ञानस्य केवलिनोऽवसेया । अन्येषां तूत्कर्षतोऽप्यन्तमुहूर्तावस्थानैवेति ।

शेषाणां [2]तेजोवायूनां सूक्ष्मपृथिव्यम्बुवनस्पतीनां साधारणानामपर्याप्तबादरपृथिव्यम्बुप्रत्येकवनस्पतीनां द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां सम्मूर्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नराणां च तिस्रः—कृष्ण-नील-कापोतनामानो लेश्या भवन्तीति ॥१०॥ १८९॥

इदानीम् 'एयाणं[3] जत्थ गइ' त्ति नवत्यधिकशततमं द्वारमाह—

● यल्लेश्यानि द्रव्याणि आदाय कालं करोति तल्लेश्येषूत्पद्यते । १ षडपि लेश्याः लेश्याकत्वात्–जे. सि. ॥ २ तेजोवायूनां सूक्ष्मप्रभृत्यम्बूनां सा० खं. । तेजोवायूक्ष्मपृथिवीवनस्पत्यन्तानां–सि. ॥ ३ ०णा- मु. ॥

एगेंदियजीवा जंति नरतिरिच्छेसु जुयलवज्जेसु[1] ।
अमणतिरियावि एवं नरयंमिवि जंति ते पढमे[1] ॥११॥
तह संमुच्छिमतिरिया भवणाहिववंतरेसु गच्छंति ।
जं तेसिं उववाओ पलियासंखेज्जआऊसु[1] ॥१२॥
पंचिंदियतिरियाणं [2]उववाउक्कोसओ सहस्सारे ।
नरएसु समग्गेसुवि वियला अजुयलतिरिनरेसु ॥१३॥
नरतिरिअसंखजीवी जोइसवज्जेसु जंति देवेसु ।
नियआउयसमहीणाउएसु ईसाणअंतेसु ॥१४॥
उववाओ तावसाणं उक्कोसेणं तु जाव जोइसिया ।
जावंति बंभलोगो चरगपरिव्वायउववाओ ॥१५॥
[3]जिणवयउक्किट्ठतवकिरियाहिं अभव्वभव्वजीवाणं ।
गेविज्जेसुक्कोसा गई जहन्ना भवणवईसु ॥१६॥
छउमत्थसंजयाणं उववाउक्कोसओ अ सव्वट्ठे ।
उववाओ सावयाणं उक्कोसेणऽच्चुओ जाव ॥१७॥ [तुला-बृहत्सं. गा. १७०]
उववाओ लंतगंमि चउदसपुव्विस्स होइ उ जहन्नो ।
उक्कोसो सव्वट्ठे सिद्धिगमो वा अकम्मस्स ॥१८॥ [बृहत्सं. गा. १६१]

१ ०मं-ता. ॥ २ उववाउक्कोसो उ-सि.वि. ॥ ३ जिणमय० ता० ॥

अविराहियसामन्नस्स साहुणो सावयस्सऽवि जहन्नो ।
सोहम्मे उववाओ वयभंगे वणयराईसुं ॥१९॥ [तुला-बृहत्सं गा. १७१]
सेसाण तावसाईण जहन्नओ वंतरेसु उववाओ ।
भणिओ जिणेहिं सो पुण नियकिरियठियाण विन्नेओ ॥२०॥ [बृहत्सं. गा. १७२]

'एगेंदियजीवा' गाहा, इह 'एगेंदियजीव' त्ति सामान्योक्तावपि न तेजो-वायवो गृह्यन्ते; तेषां मनुष्येष्वेवानुत्पादात् । उक्तं च—

● 'सत्तममहिनेरइया तेऊ वाऊ अणंतरुव्वट्टा । नवि पावे माणुस्सं तहा असंखाउया सव्वे ॥१॥'

तत एकेन्द्रियजीवाः—पृथिव्यम्बुवनस्पतयो युगलवर्जेषु—युगलधार्मिकवर्जितेषु सङ्ख्यातायुष्केष्वित्यर्थः; नरेषु तिर्यक्षु च यान्ति—उत्पद्यन्ते; न देवनारकासङ्ख्येयवर्षायुस्तिर्यग्नरेष्विति भावः । तथाऽमनस्कतिर्यञ्चोऽपि—असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्चोऽप्येवं-पूर्ववत् । सङ्ख्येयायुष्केषु नरतिर्यक्षु समुत्पद्यन्त इति भावः । नरकेऽपि च प्रथमे ते गच्छन्ति । इदमुक्तं भवति—असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय[1]तिर्यञ्चश्चतसृष्वपि गतिषूत्पद्यन्ते । केवलं नरकदेवगत्योरुत्पद्यमानानाममीषां विशेषः । तत्र नरकगतौ प्रथमपृथिव्यामेव, न शेषासु । [2]तत्राप्युत्कृष्टतोऽपि पल्योपमासङ्ख्येयभागायुष्केष्वेव जायन्ते, नाधिकायुष्केष्विति ॥११॥

देवगतौ पुनरुत्पद्यमानानां विशेषमाह—'तहे'-त्यादिगाथानवकम् , तथा संमूर्छिमतिर्यञ्चो देवेषू-

---

● सप्तममहीनैरयिकास्तेजोवायू अनन्तरोद्वृत्ताः । नैव प्राप्नुवन्ति मानुष्यं तथाऽसंख्यायुषः सर्वे ॥१॥

१ तिर्यञ्चश्च चतसृ० मु. ॥ २ तथाप्यु० सि० वि. ॥

१९० द्वारे
एकेन्द्रियादीनां गतिः
गाथा-
१११९-
२०

प्र. आ.
३२९

रपद्यमाना भवनपतिव्यन्तरेष्वेव [1]जायन्ते; न ज्योतिष्कादिषु। यस्मात्तेषां–सम्मूर्छिमतिरश्चां देवेषु पल्योपमासङ्ख्यातभागमात्रायुष्केष्वेवोपपातो नाधिकस्थितिष्विति ॥१२॥

'पंचेदिय०' गाहा पञ्चेन्द्रियतिरश्चामुत्कर्षत उपपातः सहस्रारं यावद्भवति। नरकेष्वपि [2]समग्रेषु–सर्वास्वपि नरकपृथिवीषु। इदमत्र तात्पर्यं–सङ्ख्यातायुष्कसंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियाश्चतसृष्वपि गतिषूत्पद्यन्ते। केवलं देवगतौ सहस्रारकल्पमेव यावदुत्पद्यन्ते; न तु [3]परेणानतादिषु। तथाविधयोग्यताऽभावादिति। तथा विकला–द्वित्रिचतुरिन्द्रिया युगलवर्जेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु चोत्पद्यन्ते, न देवनारकेषु ॥१३॥

'नरतिरि०' गाहा, असङ्ख्यजीविनः–असङ्ख्यवर्षायुषो नरास्तिर्यञ्चश्च ज्योतिष्कवर्जितेषु देवेषु यान्ति। देवगतिं विमुच्य शेषे गतित्रये मोक्षे च [4]नैते गच्छन्तीत्यर्थः। इह च यद्यपि सामान्येनासङ्ख्येयवर्षायुष्का[5]नरतिर्यञ्चो भणितास्तथापि 'सूचकत्वात् सूत्रस्य' विशिष्टा एव [6]खचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रिया अन्तरद्वीपजतिर्यग्नराश्च वेदितव्याः। तथाहि–असङ्ख्येयवर्षायुषो देवेषूत्पद्यमाना निजायुषः समस्थितिषु हीनस्थितिषु चोत्पद्यन्ते, नाधिकस्थितिषु। ततः पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रेणासङ्ख्येयवर्षायुषः [7]खचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रिया अन्तरद्वीपजतिर्यग्नराश्च ज्योतिष्कवर्जेषु, उपलक्षणमेतत्, ज्योतिष्क-सौधर्मेशानवर्जेषूत्पद्यन्ते, न ज्योतिष्कादिष्वपि अधिकस्थितिषूत्पादाभावात्, ज्योतिष्केषु हि जघन्यतोऽपि पल्योपमाष्टमभागः सौधर्मेशानयोश्च पल्योपमं स्थितिरिति।

॥३२६॥

---

१ गच्छन्ति–खं.॥ २ समग्रेषु–सर्वास्वपि–जे. सि. नास्ति ॥ ३ परत आनतादिषु-मु.॥ ४ नैव ते–मु.। नैते–खं. वि. सि.॥ ५ ०षो-खं। ०ष्को-सि.॥ ६-७ खेचर० मु.॥

शेपास्त्वसङ्ख्येयवर्षायुषो हैमवतादिक्षेत्रभाविनस्तथा सुपमसुषमादिषु त्रिष्वरकेषु भरतैरवतभाविनश्च तिर्यग्मनुष्या निजायुषः सम-हीनायुष्केषु सर्वेष्वपीशानान्तेषु गच्छन्ति । तत ऊर्ध्वं तु सर्वथा निषेधः । यत ईशानादूर्ध्वं सनत्कुमारादिषु जघन्यतोऽपि सागरोपमद्वयादिकैव स्थितिः । असङ्ख्यातवर्षायुषां तिर्यङ्मनुष्याणां पुनरुत्कर्षतोऽपि त्रीण्येव पल्योपमानीति ॥१४॥

'उववाओ' गाहा, तापसा—वनवासिनो मूल-कन्द-फलाहारा बालतपस्विनः, तेषामुपपात उत्कर्षतो भवति यावज्ज्योतिष्काः । तत ऊर्ध्वं [1]तु नोत्पद्यन्त इति भावः । तथा चरकपरिव्राजका—धाटिभैक्षोपजीविनस्त्रिदण्डिनः, अथवा चरकाः—कच्छोटकादयः, परिव्राजकाः—कपिलमुनिसूनवः, चरकाश्च परिव्राजकाश्च तेषामुत्कर्षत उपपातो यावद्ब्रह्मलोकः ॥ १५ ॥

'जिणवय'० गाहा, जिनोक्तानि यानि व्रतानि—प्राणातिपातविरमणादीनि, यच्चोत्कृष्टं—विशिष्टमष्टमादितपो याश्च क्रियाः—प्रतिदिनानुष्ठेयप्रत्युपेक्षणादिकाः, एतैः सर्वैरपि भव्यानामभव्यानां च मिथ्यादृशां जीवानां देवेषूत्पद्यमानानामुत्कृष्टा गतिर्ग्रैवेयकेषु । इयमत्र भावना—ये किल भव्या अभव्या वा सम्यक्त्वविकलाः सन्तः श्रमणगुणधारिणो निखिलसामाचार्यनुष्ठानयुक्ता द्रव्यलिङ्गधारिणश्च तेऽपि केवलक्रियाकलापप्रभावत उपरितनग्रैवेयकान् यावदुत्पद्यन्ते एव । असंयताश्चैते सत्यप्यनुष्ठाने चारित्रपरिणाम[2]शून्यत्वादिति । जघन्या तु गतिर्भवनपतिषु । एतच्च देवेषूत्पादापेक्षया द्रष्टव्यम् । (ग्रन्थाग्रं ८००) अन्यथा देवत्वादन्यत्रापि यथाध्यवसायमुत्पादो भवतीति ॥१६॥

१ तु—मु. नास्ति ॥ २ ०शून्यादिति-खं. ॥

'छउमत्थ'० गाहा, छाद्यते—आव्रियते यथाऽवस्थितमात्मनः स्वरूपं येन तच्छद्म—ज्ञानावरणीयादि-कर्म, तस्मिन् तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः, ते च ते संयताश्च छद्मस्थसंयताः; तेषामुत्कर्षत उपपातः सर्वार्थसिद्धे महाविमाने । श्रावकाणां— [1]देशविरतमनुष्याणां पुनरुपपात उत्कर्षतोऽच्युतं—द्वादशदेवलोकं यावदिति ॥१७॥

'उववाओ' गाहा, उपपातो लान्तके—षष्ठदेवलोके चतुर्दशपूर्वधरस्य जघन्यतो भवति । उत्कृष्टतस्तु सर्वार्थसिद्धे । अकर्मकस्य—क्षीणाष्टकर्मणः पुनश्चतुर्दशपूर्विणः, उपलक्षणत्वादन्येषां [2]च मनुष्याणां क्षीणकर्मणां सिद्धिगमो—मोक्षावाप्तिर्भवतीति ॥१८॥

'अविराहिय'० गाहा, साधोः प्रव्रज्याकालादारभ्याविराधितश्रामण्यस्य—अखण्डितसर्वविरतिरूपचारित्रस्य, श्रावकस्य चाविराधितश्रामण्यस्य—अखण्डितयथागृहीतदेशचारित्रस्य जघन्य[3] उपपातः सौधर्मे-प्रथमदेवलोके । केवलं तत्रापि साधोर्जघन्या स्थितिः पल्योपमपृथक्त्वम्, श्रावकस्य तु पल्योपममिति । तथा साधूनां श्रावकाणां च निजनिजव्रतभङ्गे [4]जघन्य उपपातो वनचरादिषु । वनचरा—व्यन्तरास्तेषामादयः—प्रथमाः, भवनपतिव्यन्तरादिक्रमेणागमे देवानां प्रसिद्धत्वात् भवनपतय इत्यर्थः; तेषु । तथा चोक्तं प्रज्ञापनायां—

"विराहियसंजमाणं जहन्नेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे" [पद २०सू. १४७०] तथा "विराहियसंजमासंजमाणं जहन्नेणं भवणवासीसु[5] उक्कोसेणं जोइसिएसु[6]" [पद. २० सू.१४७०] त्ति अत्र च

१ देशविरति-मु ॥ २ च-मु. नास्ति ॥ ३-४ जघन्यत-मु. ॥ ५-६ ०सु - सि. वि. नास्ति ॥

' [1]'विराधितसंयमानां' [2]विराधितः–सर्वात्मना खण्डितो न पुनः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या भूयः संधितः संयमः संयमासंयमश्च यैस्ते तथा तेषाम् ॥१९॥

'सेसाण' गाहा, शेषाणां तापसादीनां–तापस-चरक-परिव्राजकादीनां [3]जघन्य उपपातो जिनैः–तीर्थकरैर्भणितो व्यन्तरेषु । प्रज्ञापनायां तु तापसादीनां 'जहन्नेणं भवणवासीसु' [पद २०, सू. १४७०] इत्युक्तं, स पुनरुपपातविधिर्निजक्रियास्थितानां–निजनिजागमोक्तानुष्ठाननिरतानाम्, न स्वाचारहीनानामिति ॥२०॥१९०॥

इदानीम् 'एएसिं जत्तो आगइ' त्ति एकनवत्यधिकशततमं द्वारमाह—

नेरइयजुयलवज्जा [4]एगिंदिसु इंति अवरगइजीवा ।
विगलत्तेणं पुण ते हवंति [5]अनिरईय अमरजुयला ॥२१॥
हुंति हु अमणतिरिच्छा नरतिरिया जुयलधम्मिए मोत्तुं ।
गब्भचउप्पयभावं पावंति [6]अजुयलचउगइया ॥२२॥
नेरइया अमरावि य तेरिच्छा माणवा य जायंति ।
मणुयत्तेणं वज्जित्तु जुयलधम्मियनरतिरिच्छा[7] ॥२३॥

१ विराधितसंयमानां-खं. नास्ति । २ विराधितः–सर्वात्मना-सि. नास्ति ॥ ३ जघन्यत-मु.॥ ४ एगिंदिइंसु–सि.॥ ५ अनिरय–मु.॥ ६ अजुयच० खं. । अजुयचउगइया–सि०॥ ७ ०च्छे—मु.॥

'नेरइय०' गाहा, नैरयिक-युगलधार्मिकवर्जिता अपरगतिजीवाः सङ्ख्यातवर्षायुषः एकद्वित्रिचतुः-पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नराः सनत्कुमारादिदेवानामेकेन्द्रियेष्वनुत्पादात् भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवाश्च एकेन्द्रियेषु—पृथिव्यादिष्वागच्छन्ति । केवलं तथाभवस्वाभाव्याद्देवास्तेजोवायुवर्जितेषु पर्याप्तबादरेषु [1]च समायान्तीत्यवसेयम् । तथा नैरयिक-देव-युगलधार्मिकवर्जितास्ते—तिर्यङ्नरजीवा विकलेन्द्रियत्वेन—द्वित्रि[2]चतुरिन्द्रियत्वेन भवन्ति, द्वित्रिचतुरिन्द्रियेष्वागच्छन्तीति भावः ॥२१॥

'छु ति छु' गाहा, युगलधार्मिकास्तिरश्चो नरांश्च वर्जयित्वा शेषा नरास्तिर्यञ्चश्च भवन्त्यमनस्कतिर्यञ्चः; उपलक्षणत्वादमनस्का मनुजाश्च । इदमुक्तं भवति—सङ्ख्यातवर्षायुष्कनरतिर्यञ्च एवासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-नरेषूत्पद्यन्ते, न देवनारका इति । तथा युगलधार्मिकनरतिर्यग्वर्जिताश्चतुर्गतिका अपि जीवा गर्भजचतुष्पद-भावं प्राप्नुवन्ति । केवलं देवाः सहस्रारादर्वाग् द्रष्टव्याः । आनतादिदेवानां मनुष्येष्वेवोत्पादात् । एवं शेषाणामपि गर्भजतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां द्रष्टव्यम् । **जीवाभिगमादौ** चतुर्गतिकजीवानां [3]जलचरादिष्वप्यु-त्पादस्योक्तत्वात् ॥२२॥

'नेरइया' गाहा, नैरयिका अमराश्च तथा युगलधार्मिकनरतिर्यग्वर्जितास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च मनुज-त्वेन—गर्भजमनुष्यत्वेनोत्पद्यन्ते ॥२३॥ १९१॥

सम्प्रति **'उप्पत्तिमरणविरहो [4]'जायंतमरंतसंखा'** य' त्ति द्विनवति-त्रिनवत्यधिकशततमं द्वार-युग्ममाह—

१९२-१९३ द्वारयोः उत्पत्ति-मरणविरहः जात-मृत-संख्या च
गाथा ११२४-७
प्र. आ. ३३१
॥३३०॥

---

१ च-मु. नास्ति ॥ २ ०चतुरिन्द्रियेण-खं. ॥ ३ जलचरादिषूत्पा० मु. ॥ ४ जात० खं. ॥

भिन्नमुहुत्तो विगलेंदियाण संमुच्छिमाण य तहेव ।
बारस मुहुत्त गब्भे सव्वेसु जहन्नओ समओ ॥२४॥
उव्वट्टणावि एवं संखा समएण सुरवरु तुल्ला ।
नरतिरियसंख सव्वेसु [1]जंति सुरनारया गब्भे ॥२५॥
बारस मुहुत्त गब्भे मुहुत्त सम्मुच्छिमेसु चउवीसं ।
उक्कोसविरहकालो दोसुवि य जहन्नओ समओ ॥२६॥
एमेव य उव्वट्टणसंखा समएण [2]सुरवरुतुल्ला ।
मणुएसु उववज्जेऽसंखाउय मोत्तु सेसाओ ॥२७॥

[बृहत्सं. ३३७-८, ३४०-१]

'भिन्ने' त्यादिगाथाचतुष्कम्, विकलेन्द्रियाणां–द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां सम्मूर्छिमाणां च–असंज्ञि-[3]पञ्चेन्द्रियाणां तिरश्चां प्रत्येकं भिन्नः–खण्डो मुहूर्त्तोऽन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः, उत्कृष्ट उपपातविरहकालः । तथा 'गब्भे' त्ति गर्भजपञ्चेन्द्रियतिरश्चामुत्कृष्ट उपपातविरहकालो द्वादश मुहूर्ताः । [4]जघन्यः पुनः सर्वेष्वपि विकलेन्द्रियादिषूपपातविरहकाल एकसमयः ॥२४॥

विकलेन्द्रियाणां सम्मूर्छजानां गर्भव्युत्क्रान्तानां च पञ्चेन्द्रियतिरश्चां [5]एवं उपपातविरहकालसमतया

१ यति–वि. । अंति–सि. ॥ २ सुरवर० मु. ॥ ३ पञ्चेन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां-सि. वि. ॥ ४ जघन्यतः–मु. ॥
५ एवं- मु. नास्ति ॥

उद्वर्तनापि–उद्वर्तनाविरहकालोऽपि वक्तव्यः । तथा एतेषामेव द्वीन्द्रियादीनामेकेन समयेन–एकस्मिन् समये उपपाते उद्वर्तनायां च सङ्ख्या सुरवरैस्तुल्या भणनीया । सा चैवं—

'एगो व दो व तिन्नि व संखमसंखा य एगममएणं । उववज्जन्तेवइया उव्वट्टंतावि एमेव ॥१॥

[बृहत्सं. गा. १५६]

तथा नरास्तिर्यञ्चश्च सङ्ख्यातवर्षायुषः सर्वेष्वपि स्थानेषु यान्ति । चतसृष्वपि गतिषूत्पद्यन्ते इति भावः । 'सुरनारया गब्भे' त्ति सूत्रस्य सूचामात्रपरत्वात् सुरा नारकाश्च गर्भजपर्याप्तसङ्ख्यातवर्षायुष्कतिर्यङ्मनुष्येषु गच्छन्ति, नान्यत्र । नवरं सुरा एकेन्द्रियेष्वपि । उक्तं च—

'बायरपज्जत्तेसुं सुराण भूदगवणेसु उप्पत्ती । ईसाणंताणं चिय तत्थवि न उ उड्ढगाणंपि ॥१॥' ॥२५॥

उक्तस्तिरश्चामुपपात-च्यवनयोर्विरहकाल एकसमयसङ्ख्या च प्रसङ्गतः सामान्येन गतिद्वारं च, अथ मनुष्याणामेतदेवाह–'बारसे' त्यादि गाथाद्वयम्, गर्भजेषु मनुष्येषु उत्कर्षत उपपातविरहकालो द्वादश मुहूर्ताः; संमूच्छिम[१]मनुजेषु चतुर्विंशतिमुहूर्ताः । जघन्यतस्तूभयत्राप्येकः समयः ॥२६॥

तथा उद्वर्त्तनापि-उद्वर्त्तनाविरहकालोऽप्येवमेव–उपपातविरहकालवद्वेदितव्यः । सङ्ख्या पुनरेकस्मिन् समये उत्पद्यमानानामुद्वर्तमानानां च नराणां सुरवरैस्तुल्या । सा चैवम्—

[२]'एगो व दो व तिन्नि व संखमसंखा उ एगसमएणं । उववज्जंतेवइया उव्वट्टंतावि एमेव । १॥'

[बृहत्सं. गा. १५६] इति ।

---

१ मनुष्येषु–मु. ॥ २ एक्को-ख. । एको-सि. ॥

नवरमसङ्ख्यातत्वं सामान्यतो गर्भजसम्मूर्छिमसङ्ग्रहापेक्षया द्रष्टव्यम् , तथा असङ्ख्यातवर्षायुषो नरतिरश्चः उपलक्षणत्वात् सप्तमपृथिवीनारकतेजोवायूंश्च मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽपि सुरनरतिर्यङ्नारका मनुष्येषूत्पद्यन्त इति ॥२७॥११२-११३॥

सम्प्रति 'भवणवइ-वाणमन्तर-जोइसिय-विमाणवासिदेवाण ठिइ' त्ति चतुर्नवत्यधिकशततमं द्वारमाह—

भवणवइवाणमंतरजोइसियविमाण[1]वासिणो देवा ।
दस १ अट्ठ २ पंच ३ छव्वीस ४ संखजुत्ता कमेण इमे ॥२८॥
असुरा १ नागा २ विज्जू ३ सुवन्न ४ अग्गी ५ य वाउ ६ थणिया ७ य ।
उदही ८ दीव ९ दिसाविय १० दस भेया भवणवासीणं ॥२९॥
पिसाय १ भूया २ जक्खा ३ य रक्खसा ४ किन्नरा ५ य किंपुरिसा ६ ।
महोरगा ७ य गंधव्वा ८ अट्ठविहा वाणमंतरिया ॥३०॥ [बृहत्सङ्ग्रहणी गा. ४२,५८]
अणपन्निय १ पणपन्निय २ इसिवाइय ३ भूयवाइए ४ चेव ।
कंदिय ५ तह महकंदिय ६ कोहंडे ७ चेव पयगे ८ य ॥३१॥ [प्रज्ञापना सू. १९४/१५१]
इय पढमजोयणसए रयणाए अट्ठ वंतरा [2]अवरे ।
तेसु इह सोलसिंदा रुयगअहो दाहिणुत्तरओ ॥३२॥ [बृहत्सं. चन्द्र.४०-१]

॥३३३॥

१ ०वासिदेवाणं-खि. । ०वासिदेवाण-सि. ॥ २ एए- ता. ॥

चंदा १ सूरा २ य गहा ३ नक्खत्ता ४ तारया ५ य पंच इमे ।
एगे चलजोइसिया घंटायारा थिरा अवरे ॥३३॥
सोहंमी १ साण २ सणंकुमार ३ माहिंद ४ बंभलोयभिहा ५ ।
लंतय ६ सुक्क ७ सहस्सार ८ आणय ९ प्पाणया १० कप्पा ॥३४॥ [तुला-जीवसमास गा.१९-२०]
तह आरण ११ [1]ऽच्चुया १२ विहु इणिंह गेविज्जवरविमाणाइं ।
पढमं सुदरिसणं १३ [2]तह [3]बिईयं सुप्पबुद्धंति १४ ॥३५॥
तइय मणोरमं १५ तह विसालनामं १६ च सव्वओभद्दं १७ ।
सोमणसं १८ सोमाणस १९ महपीइकरं च २० आइच्चं २१ ॥३६॥
[4]विजयं च २२ वेजयंतं २३ जयंत २४ मपराजियं २५ च सव्वट्ठं २६ ।
एयमणुत्तरपणगं एएसिं चउव्विहसुराणं ॥३७॥
चमरबलि सारमहियं सेसाण सुराण आउयं वोच्छं ।
दाहिणदिवड्ढपलियं दो देसूणुत्तरिल्लाणं ॥३८॥
अद्धुट्ठ अद्धपंचमपलिओवम[5] असुरजुयलदेवीणं ।
सेसवणदेवयाण य देसूणद्धपलियमुक्कोसं ॥३९॥

---

१ भच्चुया-मु ॥ २ तस्स-ता. सि. ॥ ३ बिइयं-सि. वि. ॥ ४ विजयंतं-सि.वि. ॥ ५ ०वम-सि. वि. नास्ति ॥

दस भवणवणयराणं वाससहस्सा ठिई जहण्णेणं ।
[1]पलिओवममुक्कोसं वंतरियाणं वियाणिज्जा ॥४०॥ [बृहत्सङ्ग्रहणी गा. ५, ६, ४]
पलियं सवरिसलक्खं ससीण पलियं रवीण [2]ससहस्सं ।
गहणक्खत्ततारण पलियमद्धं च[3] चउब्भागो ॥४१॥
तद्देवीणवि तट्ठिइअद्धं अहियं तमंतदेविदुगे ।
पाओ जहन्नमट्ठसु तारयताराणमट्ठंसो ॥४२॥
दो साहि सत्त [4]साहिय दस चउदस सत्तरेव अयराइं ।
सोहम्मा जा सुक्को तदुवरि एक्केक्कमारोवे ॥४३॥ [बृहत्संग्र. गा. १२]
तेत्तीसऽयरुक्कोसा विजयाइसु ठिइ जहन्न इगतीसं ।
अजहन्नमणुक्कोसा सव्वट्ठे अयर तेत्तीसं ॥४४॥
पलि यंअहियं [5]सोहंमीसाणेसु तओऽहकप्पठिई ।
उवरिल्लमिजहन्ना कमेण जावेक्कतीसऽयरा ॥४५॥
सपरिग्गहेयराणं सोहंमीसाण पलियसाहीयं ।
उक्कोस सत्त [6]पन्ना नव पणपन्ना य देवीणं ॥४६॥ [बृहत्सङ्ग्रहणी गा. १७]

१ पलिओमु० सि.वि. ॥ २ सयसहस्स–मु. ॥ ३ च–मु. नास्ति ॥ ४ साही-सि. ॥
५ दोसारसाहि सुहकप्पठिई–ता. ॥ ६ वन्ना–मु. । पन्ना-सि. वि. ॥

'भवणे' त्यादिगाथा एकोनविंशतिः, दीव्यन्तीति देवाः—प्राग्भवोपात्तपुण्यप्राग्भारोपनतविशिष्टभोगसुखाः प्राणिविशेषाः । ते च मूलभेदतस्तावच्चतुर्विधाः । तद्यथा—भवनपतयो व्यन्तरा ज्योतिष्का विमानवासिनश्च । तत्र भवनानां पतयः—तन्निवासित्वात्स्वामिनो भवनपतयः । तन्निवासित्वं च बाहुल्यतो नागकुमाराद्यपेक्षया द्रष्टव्यम् । ते हि प्रायो भवनेषु वसन्ति कदाचिदावासेषु । असुरकुमारास्तु प्राचुर्येणावासेषु कदाचिद्भवनेषु । भवनानामावासानां चायं विशेषः—भवनानि बहिर्वृत्तान्यन्तः समचतुरस्राणि अधःकर्णिकासंस्थानानि । आवासास्तु कायमानस्थानीया महामण्डपा विचित्रमणिरत्नप्रभाभासितसकलदिक्चक्रा इति ।

[1]तथा विविधमन्तरं—शैलान्तरं कन्दरान्तरं वनान्तरं वा आश्रयरूपं येषां ते [2]वनान्तराः । यद्वा विगतमन्तरं विशेषो मनुष्येभ्यो येषां ते व्यन्तराः, तथाहि मनुष्यानपि चक्रवर्ति-वासुदेवप्रभृतीन् भृत्यवदुपचरन्ति केचिद्व्यन्तरा इति मनुष्येभ्यो विगतान्तराः । प्राकृतत्वाच्च सूत्रे 'वाणमंतरा' इति पाठः । यद्वा 'वानमन्तरा' इति पदसंस्कारः । तत्रापि वनानामन्तराणि [3]वनान्तराणि तेषु भवा वानमन्तराः । पृषोदरादित्वादुभयपदान्तरालवर्ती मागमः । इदं तु व्युत्पत्तिनिमित्तं प्रवृत्तिनिमित्तं तु सर्वत्रापि जातिभेद एवानुसर्तव्यः ।

तथा द्योतयन्ति—प्रकाशयन्ति जगदिति ज्योतींषि—विमानानि तेषु भवा ज्योतिष्काः ।

तथा विविधं मान्यन्ते—उपभुज्यन्ते पुण्यवद्भिर्जीवैरिति विमानानि, तेषु वसन्तीत्येवंशीला विमानवासिनः

एते च भवनपत्यादयो देवाः 'क्रमेण' यथासङ्ख्यं दशाष्टपञ्चषड्विंशतिसङ्ख्यैर्भेदैर्युक्ता भवन्ति ॥२८॥

सम्प्रत्येतानेव क्रमेण भेदानभिधित्सुः प्रथमं तावद्भवनपतिभेदानाह—'असुरे'त्यादि, भवन-

१ तुला-बृहत्सङ्ग्रहणीमलय. वृत्तिः प. ४ ॥ २ व्यन्तरा.-खं. बृहत्सं. मलय. वृत्तौ च ॥ ३ वनान्तराणि-खं. नास्ति ॥

वासिनां अवान्तरजातिभेदमधिकृत्य दश भेदा भवन्ति । तद्यथा—'असुरा' इति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादसुरकुमाराः । एवं नागकुमारा इत्याद्यपि [1]भावनीयम् । अथ कस्मादेते कुमारा इति व्यपदिश्यन्ते ?, उच्यते, कुमारवच्चेष्टनात् । तथाहि—सर्व एवैते कुमारा इव शृङ्गाराभिप्रायकृत[2]विशिष्टविशिष्टतरोत्तररूपक्रियासमुद्धतरूपवेषभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहना अत्युल्बणरागाः क्रीडनपराश्च । ततः कुमारा इव कुमारा इति । [3]गाथानुबन्धानुलोम्यादिकारणाच्च कुतश्चिदेते एवं पठिताः । प्रज्ञापनादौ त्वमुनैव क्रमेण पठ्यन्ते, तथाहि—

"असुरा नाग सुवन्ना विज्जू अग्गी य दीव उदही य ।
दिसिपवणथणियनामा दसहा एए भवणवासी ॥ १ ॥ [पद २ सूत्र १७७ गा. १३७] ॥ २९ ॥

व्यन्तरभेदानाह—'पिसाये' त्यादि, सुगमा ॥ ३० ॥

इहापरेऽप्यष्टौ व्यन्तरभेदाः सन्तीत्यतस्तानप्याह—'अणे' त्यादिगाथाद्वयम् , अप्रज्ञप्तिकाः, पञ्चप्रज्ञप्तिकाः, ऋषिवादिताः, भूतवादिताः, क्रन्दिताः, महाक्रन्दिताः, कूष्माण्डाः [4]पतगाश्चेत्येवमपरे-पिशाचादिव्यतिरिक्ता अष्टौ व्यन्तरनिकायाः रत्नप्रभायाः पृथिव्याः प्रथमे—उपरितने योजनशते भवन्ति ।

एतदुक्तं भवति—रत्नप्रभाया उपरितने रत्नकाण्डरूपे योजनसहस्रे अध उपरि च प्रत्येकं योजनशतरहिते पिशाचादयोऽष्टौ व्यन्तरनिकायाः सन्ति । तत्र च यदुपरि योजनशतं मुक्तं तत्राध उपरि च दशयोजनरहितेऽप्रज्ञप्तिकादयोऽष्टाविति । तेषु च—[5]अप्रज्ञप्तिकादिष्वष्टसु व्यन्तरनिकायेषु रुचकस्याधस्ता-

१ परिभावनीयं-मु. । खं. वि. सि. परि० नास्ति ॥ २ ०विशिष्टोत्तरोत्तर. मु. । ० विशिष्टविशिष्टतरोत्तर० खं. ॥
३ गाथा बन्धा० खं. ॥ ४ पतङ्गा० मु. ॥ ५ अप्रज्ञप्तादि० खं. ॥

दक्षिणत उत्तरतश्च द्वयोर्द्वयोरिन्द्रयोर्भावात् षोडश इन्द्रा भवन्ति । एवं पिशाचादिष्वप्यष्टसु षोडश, भवनपतिषु च दशसु विंशतिः । अत एव विंशतिर्भवनपतीन्द्राणाम् , द्वात्रिंशतो व्यन्तरेन्द्राणाम् , असङ्ख्यातत्वेऽपि चन्द्रार्काणां जातिमात्राश्रयणाद् द्वयोश्चन्द्रसूर्ययोर्ज्योतिष्केन्द्रयोः दशानां च सौधर्मादिकल्पेन्द्राणां मीलने चतुःषष्टिरिन्द्रा इति ॥३१-३२॥

ज्योतिष्कभेदानाह--'चंदे' त्यादि, चन्द्राः, सूर्याः, ग्रहाः, नक्षत्राणि, तारकाश्चेत्येवं[1] पञ्च ज्योतिष्कभेदा भवन्ति । तत्र चैके-मनुष्यक्षेत्रवर्तिनो ज्योतिष्काश्चला-मेरोः प्रादक्षिण्येन सर्वकालं भ्रमणशीलाः, अपरे पुनर्ये मानुषोत्तरपर्वतात्परेण स्वयंभूरमणसमुद्रं यावद्वर्तन्ते ते सर्वेऽपि स्थिराः-सदावस्थानस्वभावाः । अत एव घण्टाकारा अचलनधर्मकत्वेन घण्टावत् स्थानस्था एव तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥३३॥

वैमानिकभेदानाह-'सोहंमो' त्यादिगाथा[2]चतुष्कम् , इह वैमानिका द्विविधाः-कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च । तत्र कल्पः-आचारः, स चात्र इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंशादिव्यवस्थारूपः, तं प्रतिपन्नाः कल्पोपपन्नाः । ते च द्वादश । तद्यथा-सौधर्मदेवलोकनिवासिनः सौधर्माः, ईशानदेवलोकनिवासिन ईशानाः, एवं सर्वत्रापि भावनीयम् , भवति च 'तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशो' यथा पञ्चालदेशनिवासिनः [3]पञ्चाला इति ।

यथोक्तरूपं कल्पमतीताः-अतिक्रान्ताः कल्पातीताः-ग्रैवेयका अनुत्तरविमानवासिनः । सर्वेषामपि तेषामहमिन्द्रत्वात् । तत्र लोकपुरुषस्य ग्रीवाप्रदेशे भवानि विमानानि ग्रैवेयकानि । तानि च नव । तद्यथा-

१ ०ते-खं. ॥ २ ०चतुष्टयं-खं. ॥ ३ पाञ्चाला मु· । पञ्चाला- खं. वि सि. ॥

सुदर्शनम् १, सुप्रबुद्धम् २, मनोरमम् ३, विशालम् ४, सर्वतोभद्रम् ५, सुमनः ६, सौमनसम् ७, प्रीतिकरम् ८, आदित्यम् ९, चेति ।

तथा न विद्यन्ते उत्तराणि-प्रधानानि [1]विमानानि येभ्यस्तान्यनुत्तराणि; तानि च पञ्च । तद्यथा—विजयम्, वैजयन्तम्, जयन्तम्, अपराजितम्, सर्वार्थसिद्धं च । एतन्निवासिनो देवा एतन्नामानो द्रष्टव्याः । मिलिताश्च वैमानिकाः षड्विंशतिः ।

एतेषां मूलभेदापेक्षया चतुर्विधानां भवनपत्यादिदेवानां 'ठिइ' त्ति स्थितिरायुष्कलक्षणा प्रतिपाद्यते ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

तामेवाह—[2]'चमरे' त्यादि, इहासुरकुमारादयो दश भवनपतिनिकायाः । [3]एकैके च द्विधा—मेरोर्दक्षिणदिग्भागवर्तिनो मेरोरेवोत्तरदिग्भागवर्तिनश्च । तत्रासुरकुमाराणां दक्षिणदिग्भाविनामिन्द्रश्चमरः; उत्तरदिग्भाविनां च बलिः । तत्र 'चमर-बलि सारमहियं' ति पदैकदेशेऽपि पदसमुदायोपचारात् 'सार' मिति सागरोपमं द्रष्टव्यम्, प्राकृतत्वाच्चमर-बलिशब्दाभ्यां परतः षष्ठीविभक्तेर्लोपः । ततोऽयमर्थः—चमर-बल्योः क्रमेण सागरोपममधिकं चोत्कृष्टमायुः । किमुक्तं भवति ?—चमरस्यासुरेन्द्रस्य दक्षिणदिग्वर्तिन उत्कृष्टमायुरेकं परिपूर्णं सागरोपमम्, बलेरसुरेन्द्रस्य उत्तरदिग्वर्तिनः सागरोपमं किञ्चित्समधिकमिति ।

१ विमानानि-सि.वि. नास्ति ॥ २ 'चरम' गाहा-खं. ॥ पश्चमेऽपि 'चमर' स्थाने 'चरम' इति खं. प्रतौ ॥
३ तुला—बृहत्सं. मलय. वृत्तिः प. ६ A ॥

सम्प्रति शेषाणां चमर-बलिव्यतिरिक्तानां सुराणां–देवानां नागकुमाराद्यधिपतीनामित्यर्थः आयुर्वक्ष्ये । तदेव कथयति— [1]'दाहिणदिवड्ढपलियं दो देसूणुत्तरिल्लाणं' इत्यादि, दाक्षिणात्यानां नागकुमाराद्यधिपतीनां–धरणप्रमुखानां नवानामिन्द्राणामुत्कृष्टमायुः द्वितीयमर्धं यस्य तद् द्व्यर्धं पल्योपमम् सार्धं पल्योपममित्यर्थः । 'उत्तरिल्लाणं' ति [2]उत्तराहाणाम्–उत्तरदिग्भाविनां नागकुमारादीन्द्राणां भूतानन्दप्रभृतीनां नवानां देशोने–किञ्चिदूने द्वे पल्योपमे । उत्तरदिग्वर्तिनो ह्येते स्वभावादेव शुभाश्चिरायुषश्च भवन्ति । दक्षिणदिग्वर्तिनस्तु तद्विपरीता इति ॥ ३८ ॥

[3]इत्युक्तं भवनवासिनां देवानामुत्कृष्टमायुः; सम्प्रति भवनवासिव्यन्तरदेवीनामाह–'अड्ढुट्ठे' त्यादि, [4]असुरयोः–असुरेन्द्रयोश्चमरबलिनाम्नोर्युगलं असुरयुगलम् , तस्य देवीनां यथाक्रममुत्कृष्टमायुरर्धचतुर्थानि अर्धपञ्चमानि च पल्योपमानि । चमरेन्द्रदेवीनां सार्धानि त्रीणि, बलीन्द्रदेवीनां तु सार्धानि चत्वारि पल्योपमानीत्यर्थः । शेषाणां नागकुमाराद्यधिपतीनां तूत्तरदिग्वर्तिनां तथा 'वण' त्ति वनचराणां–[5]व्यन्तराणामुत्तरदक्षिणदिग्वर्तिनां चशब्दात् दक्षिणदिग्भाविनागकुमाराद्यधिपतीनां च सम्बन्धिनीनां [6]देवीनां यथाक्रममुत्कृष्टमायुर्देशोनं पल्योपममर्धपल्योपमं च ।

१ दाहिणेत्यादि खं. बृ. सं. वृत्तौ च ॥ २ औत्त० खं । उत्तराहीनां—इति बृ. सं. वृत्तौ ॥ ३ उक्तं च- खं. ॥ ४ तुला-बृहत्सङ्ग्रहणीवृत्तिः प. ६ B तः ॥ ५ व्यन्तराणामुत्कृष्टमायुर्देशोनं पल्योपमं दक्षिण० खं. ॥ ६ देवीनां चोत्कृष्टमायुर्धपल्योपमं च-खं. ॥

इयमत्र भावना—उत्तरदिग्भाविनागकुमाराद्यधिपतिदेवीनामुत्कृष्टमायुर्देशोनं पल्योपमम्, दक्षिणदिग्भाविनागकुमाराद्यधिपतिदेवीनां दक्षिणोत्तरदिग्भाविव्यन्तराधिपतिदेवीनां चोत्कृष्टमायुरर्धं पल्योपममिति । केचिद्व्यन्तरीणां पल्योपममुत्कृष्टमायुराहुः "श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितय" [ ] इति वचनश्रवणात् । तच्च तेषामागमानवगमविजृम्भितम्, यदुक्तं **प्रज्ञापनायाम्**—

"वाणमंतरीणं भंते ! केवइकालं ठिई पन्नत्ता ?, गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं' [पद ४ सूत्र ३९४] इति, श्रीप्रभृतयस्तु भवनपतिदेव्यः । तथा च **सङ्ग्रहणीटीकायां हरिभद्रसूरिः**—"तासां भवनपतिनिकायान्तर्गतत्वादि" [ ] ति ॥ ३९ ॥

अथ **भवनपति**[1]**व्यन्तरदेवदेवीनां जघन्यां व्यन्तरदेवानामुत्कृष्टां च स्थितिमाह—'दसे'**त्यादि, सूचकत्वात्सूत्रस्य 'भवण' त्तिभवनपतिदेवानाम्, [2]उपलक्षणत्वात्तद्देवीनां च [3]वनचराणां—व्यन्तरदेवानां तद्देवीनां च जघन्येन स्थितिर्दश वर्षसहस्राणि । [4]जघनम्—अधस्तान्निकृष्टो भागः, तत्र भवं जघन्यं-रोममलादि तच्च किल स्तोकम्, ततोऽन्यदपि स्तोकं लक्षणया जघन्यमित्युच्यते । केवलं भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य । जघन्येन—जघन्यतया सर्वस्तोकतयेत्यर्थः । तथा व्यन्तराणां—व्यन्तरदेवानामुत्कृष्टां[5] स्थितिं विजानीयात् [6]पल्योपमप्रमाणाम्, तद्देवीनां तु पल्योपमार्धमुत्कृष्टा स्थितिः प्रागेवोक्तेति ॥ ४० ॥

१ व्यन्तरदेवदेवानां-खं. । व्यन्तर देवानां-सि. ॥ २ उपलक्षणत्वात्तद्देवीनां च-खं. वि. नास्ति । उपलक्षणत्वात्-सि. नास्ति ॥ ३ व्यन्तराणां-सि० ॥ ४ जघन्यं खं. सि. ॥ ५ ०ष्ट-खं. ॥ ६ पल्योपमप्रमाणं-खं. ॥ पल्योपमं प्रमाणं-सि. ॥

सम्प्रति ज्योतिष्कदेवदेवीनामुत्कृष्टां जघन्यां च स्थितिमाह—'पलिये' त्यादिगाथाद्वयम्, ज्योतिष्कदेवास्तावच्चन्द्रा-ऽऽदित्य-ग्रह-नक्षत्र-तारकभेदात्पञ्चविधाः, तद्देव्योऽपि पञ्चविधा इति सर्वेऽपि दशविधाः। तत्र शशिनाम्—असङ्ख्येयद्वीपसमुद्रवर्तिचन्द्रविमानवासिदेवानां सवर्षलक्षं—वर्षाणां लक्षेणाधिकं पल्योपममुत्कृष्टमायुः। एवं रवीणाम्—आदित्यानामशेषाणां ससहस्रं—वर्षाणां सहस्रेणाधिकं पल्योपममुत्कृष्टमायुः। तथा ग्रह-नक्षत्र-ताराणां पल्योपमं पल्योपमार्धं पल्योपमचतुर्भागश्च यथाक्रममुत्कृष्टमायुः। इयमत्र भावना—ग्रहाणां—भौम-बुधादीनां परिपूर्णं पल्योपमम्; नक्षत्राणाम्—अश्विन्यादीनां पल्योपमार्धम्; तारकदेवानां च पल्योपमस्य चतुर्थो भाग उत्कृष्टमायुरिति।

तथा तेषां—चन्द्रा-ऽऽदित्य-ग्रह-नक्षत्र तारकदेवानां सम्बन्धिन्याः स्थितेरर्धं—समप्रतिभागरूपं तेषामेव सम्बन्धिनीनां देवीनां क्रमेणोत्कृष्टमायुः। [1]केवलमन्त्यदेवीद्विके—नक्षत्र-तारकदेवीद्वये तदेवार्धमधिकं—विशेषाधिकमवसेयम्, इदमुक्तं भवति—चन्द्रविमानवासिनीनां देवीनां पल्योपमार्धं पञ्चाशद्वर्षसहस्राधिकम्, सूर्यदेवीनां पल्योपमार्धं पञ्चवर्षशताधिकम्, ग्रहदेवीनां च पूर्णं पल्योपमार्धमुत्कृष्टमायुः। तथा नक्षत्रदेवीनां पल्योपमस्य चतुर्थो भागो विशेषाधिकमुत्कृष्टमायुः। तारकदेवीनां पल्योपमस्याष्टमो भागः किञ्चिदधिकमुत्कृष्टमायुरिति। तथा तारकदेवदेव्योः पृथगभिधानात् शेषेष्वष्टसु—चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रदेवतद्देवीरूपेषु भेदेषु पादः—पल्योपमस्य चतुर्थो भागो जघन्यमायुः तथा तारकदेवानां तारकदेवीनां च पल्योपमस्याष्टांशः अष्टमो भाग इति ॥४१॥ ४२॥ ॥३४२॥

१ केवलमन्तदेवी० खं. ॥

अथ वैमानिकदेवानामुत्कृष्टां स्थितिमाह—**'दो साही'** त्यादि 'सौधर्मात्-सौधर्मकल्पाद्यावत् शुक्रो-महाशुक्रकल्पस्तावदनेन क्रमेणोत्कृष्टा स्थितिः प्रतिपत्तव्या । तथाहि-सौधर्मे कल्पे देवानामुत्कृष्टा स्थितिर्द्वे अतरे, [2]तरीतुमशक्यं प्रभूतकालतरणीयत्वादतरं सागरोपमम्, द्वे सागरोपमे इत्यर्थः । ईशाने ते एव द्वे सागरोपमे साधिके-किञ्चित्समधिके । सनत्कुमारे सप्त सागरोपमाणि । माहेन्द्रे तान्येव सप्त सागरोपमाणि साधिकानि । ब्रह्मलोके दश सागरोपमाणि । लान्तके चतुर्दश, महाशुक्रे सप्तदश ।

'तदुवरि एक्केक्कमारोवे' इति तस्य-महाशुक्रस्य कल्पस्योपरि सहस्रारादिषु प्रतिकल्पं प्रतिग्रैवेयकं च पूर्वस्मात् पूर्वस्मादधिकमेकैकं सागरोपमम् उत्कृष्टायुश्चिन्तायामारोपयेत् । तद्यथा—सहस्रारेऽष्टादश सागरोपमाण्युत्युत्कृष्टा स्थितिः । आनते एकोनविंशतिः, प्राणते विंशतिः आरणे एकविंशतिः, अच्युते द्वाविंशतिः, [3]अधस्तनाधस्तने ग्रैवेयके त्रयोविंशतिः, अधस्तनमध्यमे [4]चतुर्विंशतिः, अधस्तनोपरितने पञ्चविंशतिः; मध्यमाधस्तने षड्विंशतिः, मध्यममध्यमे सप्तविंशतिः, मध्यमोपरितनेऽष्टाविंशतिः; उपरितनाधस्तने एकोनत्रिंशत्; उपरितनमध्यमे त्रिंशत्; उपरितनोपरितनग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टा स्थितिः ॥४३॥

एकैकवृद्ध्या च एकत्रिंशतोऽनन्तरमनुत्तरेषु द्वात्रिंशदेव स्यात् अतस्तेषु पृथगाह—**'तेत्तीसे'** त्यादि, विजयादिषु—विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितेषु चतुर्षु अनुत्तरविमानेषु त्रयस्त्रिंशदतराणि—सागरोपमा-

A १ तुला-बृहत्सङ्ग्रहणीवृत्तिः प. १२ ॥ २ द्वे सागरोपमे इत्यर्थः-तरी० जे. । सागरोपमे इत्यर्थः—तरी० सि. वि. ॥
३ अधस्तनाधस्तन० मु ॥ ४ च चतु० सि. वि. ॥

ण्युत्कृष्टा स्थितिः। जघन्या पुनरेतेषु विजयादिषु चतुर्षु एकत्रिंशत्सागरोपमाणि। तथा सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यजघन्योत्कृष्टा स्थितिरिति ॥४४॥

अथ **वैमानिकदेवानामेव जघन्यां स्थितिमाह–'पलिय'** मित्यादि, इह यथाक्रमं पदसम्बन्धात् सौधर्मे कल्पे एकं पल्योपमम्; ईशाने तदेव किञ्चित्समधिकं जघन्या स्थितिः। तत ऊर्ध्वं सनत्कुमारादिषु ग्रैवेयकानुत्तरविमानावसानेषु अधःकल्पस्थितिः–अधोवर्त्तिनः कल्पस्य [1]या उत्कृष्टा स्थितिः उपर्युपरिवर्त्तिनि सैव जघन्या स्थितिः। अनेन च क्रमेण तावत्प्रतिपत्तव्यं यावदेकत्रिंशदतराणि। तथाहि–यैव सौधर्मे सागरोपमद्वयरूपा उत्कृष्टा स्थितिः सैव तदुपरिवर्तिनि सनत्कुमारे जघन्या। यैव चेशाने सातिरेक-सागरोपमद्वयस्वरूपा उत्कृष्टा स्थितिः सैव तदुपरिवर्तिनि माहेन्द्रे जघन्या। सनत्कुमारोत्कृष्टस्थितिस्तु सागरोपमसप्तकलक्षणा तदुपरिवर्तिनि ब्रह्मलोके जघन्या। तथा चोक्तं **प्रज्ञापनायाम्**—

"बंभलोए कप्पे देवाणं केवइयकालं ठिई पन्नत्ता?

गोयमा! जहन्नेणं सत्त सागरोवमाइं" [पद ४ सू. ४१९] ति।

तत्त्वार्थभाष्ये तु–"या माहेन्द्रे परा स्थितिर्विशेषाधिकानि सप्त सागरोपमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या भवती" [ ] त्युक्तम्।

ब्रह्मलोकोत्कृष्टस्थितिस्तु दशसागरोपमात्मिका लान्तके जघन्या। लान्तकोत्कृष्टस्थितिरपि चतुर्दश सागरोपमरूपा महाशुक्रे जघन्या। तदुत्कृष्टस्थितिस्तु सप्तदशसागरोपमस्वरूपा सहस्रारे जघन्या।

१ वा-मु ॥

तदुत्कृष्टस्थितिः पुनरष्टादशसागरोपमलक्षणा आनते जघन्या । तदुत्कृष्टस्थितिस्त्वेकोनविंशतिसागरोपमस्वरूपा प्राणते जघन्या । तदुत्कृष्टस्थितिरपि विंशतिसागरोपमात्मिका आरणे जघन्या । तदुत्कृष्टस्थितिस्त्वेकविंशतिसागरोपमस्वरूपा अच्युते जघन्या । तदुत्कृष्टस्थितिस्तु द्वाविंशतिसागरोपमरूपा [1]अधस्तनाधस्तनग्रैवेयके जघन्या । एवमेकैकं सागरोपमं वर्धयता तावन्नेयं यावदनुत्तरचतुष्के–विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितरूपे एकत्रिंशत्सागरोपमाणि जघन्या स्थितिः । सर्वार्थसिद्धे पुनर्जघन्या स्थितिर्नास्ति । अजघन्योत्कृष्टायास्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमरूपाया एव स्थितेस्तत्राभिधानादिति ॥ ४५ ॥

सम्प्रति **वैमानिकदेवीनां जघन्यामुत्कृष्टां च स्थितिमाह—'सपरी'** त्यादि, [2]इह वैमानिकदेवीनामुत्पत्तिः सौधर्मेशानयोरेव, ताश्च द्विधा परिगृहीताः–कुलाङ्गना इव, अपरिगृहीताश्च–वेश्या इव । तत्र सपरिग्रहाणां–परिगृहीतानामितरासां च–अपरिगृहीतानां जघन्या स्थितिः सौधर्मे ईशाने च यथासङ्ख्यं पल्यं–पल्योपमम्, साधिकं च । किमुक्तं भवति ?–सौधर्मे परिगृहीतानां देवीनामपरिगृहीतानां च देवीनां जघन्यायुः पल्योपमम् । ईशाने परिगृहीतानामपरिगृहीतानां च देवीनां साधिकं पल्योपममिति ।

तथा सौधर्मे परिगृहीतानामपरिगृहीतानां (ग्रन्थाग्रं १४०००) चोत्कृष्टमायुर्यथाक्रमं सप्त, पञ्चाशच्च पल्योपमानि, इशाने नव, पञ्चपञ्चाशच्च । इयमत्र भावना--सौधर्मे परिगृहीतानामुत्कृष्टमायुः सप्त पल्योपमानि, अपरिगृहीतानां पञ्चाशत् ईशाने परिगृहीतानामुत्कृष्टमायुर्नव पल्योपमानि; अपरिगृहीतानां च पञ्चपञ्चाशदिति ॥ ४६ ॥ १६४॥

१ अधस्तनग्रैवे० सि. वि. ॥ २ तुला-बृहत्सङ्ग्रहणीवृत्तिः प. १४ B तः ॥

सम्प्रति 'भवण' त्ति पञ्चनवत्यधिकशततमं द्वारमाह—

१९५ द्वारे भवनपत्यादीनां भवननानि गाथा ११४७-५४

सत्तेव य कोडीओ हवंति बावत्तरी सयसहस्सा ।
एसो भवणसमासो भवणवईणं वियाणिज्जा ॥४७॥
चउसट्ठी असुराणं नागकुमाराण होइ चुलसीई ।
बावत्तरि कणगाणं वाउकुमाराण छन्नउई ॥४८॥
दीवदिसाउदहीणं विज्जुकुमारिंदथणियअग्गीणं ।
छण्हंपि जुयलाणं [1]छावत्तरिमो सयसहस्सा ॥४९॥ [बृहत्सङ्ग्रहणी गा. ३५-७]
[2]इह संति वणयराणं रम्मा [3]भोमनयरा असंखिज्जा ।
तत्तो संखिज्जगुणा जोइसियाणं विमाणाओ ॥५०॥ [तुला-बृहत्सङ्ग्रहणी गा. ५५]
बत्तीसऽट्ठावीसा बारस अट्ठ [4]य चउरो सयसहस्सा ।
आरेण बंभलोया विमाणसंखा भवे एसा ॥५१॥
पंचास चत्त छच्चेव सहस्सा लंत सुक्क सहस्सारे ।
सय चउरो आणयपाणएसु [5]तिन्नारणच्चुयए ॥५२॥

प्र. आ. ३३६

१ बाव० मु. । प्रज्ञापनासूत्रे बृहत्सङ्ग्रहण्यामपि—छाव० इति पाठः ॥ २ इय-सि. ॥ ३ भोमानयरा—ता. ॥ ४ य-ता. नास्ति ॥ ५ वहारणच्चुए-ता. ॥

एक्कारसुत्तरं हेट्ठिमेसु सत्तुत्तरं च मज्झिमए ।
सयमेगं उवरिमए । पंचेव अणुत्तरविमाणा ॥९३॥
चुलसीई सयसहस्सा सत्ताणउई भवे सहस्साइं ।
तेवीसं च विमाणा विमाणसंखा [1]भवे एसा ॥५४॥ [बृहत्सङ्ग्रहणी ११७-२०]

'सत्तेव य' गाहा, भवनवासिनां देवानां दशस्वपि निकायेषु सम्पिण्डय चिन्त्यमानानि सर्वाण्यपि भवनानि सप्त कोटयो द्वासप्ततिश्च शतसहस्राणि-लक्षाः [2]भवन्ति ७७२००००। एष भवनपतीनां भवन-समासो भवनसर्वसङ्ख्या इति विजानीयात्। एतानि च [3]अशीतिसहस्राधिकलक्षयोजनबाहल्याया रत्नप्रभाया अध उपरि च प्रत्येकं योजनसहस्रमेकं [4]मुक्त्वा शेषेऽष्टसप्ततिसहस्राधिकलक्षयोजनमाने मध्यभागेऽवगन्त-व्यानि। अन्ये त्वाहुः- [5]नवतेर्योजनसहस्राणामधस्ताद्भवनानि। अन्यत्र चोपरितनमधस्तनं च योजनसहस्रं मुक्त्वा सर्वत्रापि यथासम्भवमावासा इति ॥४७॥

प्र. आ.
३३६

सम्प्रति भवनवासिनामेव प्रतिनिकायं भवनसङ्ख्यामाह-'चउ' इत्यादि, असुराणां- [6]असुरकुमाराणां दक्षिणोत्तरदिग्भाविनां सर्वसङ्ख्यया [7]भवनानि चतुःषष्टिः शतसहस्राणि-लक्षा भवन्ति [8]६४००००० । एवं नागकुमाराणां चतुरशीतिर्लक्षाः ८४०००००; कनकानां-सुवर्णकुमाराणां द्विसप्ततिर्लक्षाः ७२०००००;

१ मुणेयव्वा-ता.॥ २ भवन्ति-जे. नास्ति ॥ ३ तुला-बृहत्सग्रहणी मलय वृत्तिः प. ९२ ॥ ४ मुक्त्वा सर्वत्रापि यथासम्भवमावासादिति योजनमाने-खं०। मुक्त्वासर्वत्रापि यथासम्भवमावासा इति-सि० वि०॥ ५ नवति योजन० खं. । नवयोजन० सि. वि.॥ ६ असुरकुमारादीनां-खं. वि.॥ ७ भवनानि-खं. नास्ति ॥ ८ अङ्कानि-मु. नास्ति। एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ॥

वायुकुमाराणां षण्णवतिलक्षाः ९६०००००; द्वीपकुमारदिक्कुमारोदधिकुमारविद्युत्कुमारस्तनितकुमाराग्नि-कुमाराणां षण्णामपि दक्षिणोत्तरदिग्वर्तिलक्षणयुग्मरूपाणां प्रत्येकं षट्सप्ततिः षट्सप्ततिर्लक्षा भवन्ति भवनानाम् ७६००००० । एषां च सर्वेषामप्येकत्र मीलने प्रागुक्ताः सङ्ख्या भवन्ति[1] ७७२०००००
॥४८॥४९॥

सम्प्रति **व्यन्तरनगरवक्तव्यतामाह**--'इहे'त्यादि, इह-तिर्यग्लोके रत्नप्रभायाः प्रथमे योजनसहस्रे रत्नकाण्डरूपे अध उपरि च प्रत्येकं योजनशतविरहिते वनचराणां-व्यन्तराणां रम्याणि-रमणीयानि, भूमौ भवानि भौमानि-भूम्यन्तर्वर्तीनि नगराण्यसङ्ख्यातानि सन्ति । रम्यता चैतेषु नित्यमुदितैर्व्यन्तरैर्गतस्यापि कालस्यावेदनात् । यदाह—

△"[2] तहिं देवा वंतरिया वरतरुणीगियवाइयरवेणं ।
निच्चं सुहिया पमुइया गयंपि कालं न याणंति ॥ १ ॥" [बृहत्सं. चन्द्र. गा. ३३]

यास्तु मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्द्वीपेषु समुद्रेषु च व्यन्तराणां नगर्यस्ता **जीवाभिगमादिशास्त्रे**भ्योऽवसेयाः । तेभ्योऽपि व्यन्तरनगरेभ्यः सङ्ख्येयगुणानि ज्योतिष्काणां ज्योतिष्कदेवानां विमानानि ॥ ५० ॥

सम्प्रति **वैमानिकदेव[3]विमानसङ्ख्यामाह**--**'बत्तीसे'** त्यादि गाथाचतुष्कम्, [4]ब्रह्मलोकाद्- [5]ब्रह्मलोकपर्यन्तादारतः-अर्वाक्; किमुक्तं भवति ?-ब्रह्मलोकमभिव्याप्य एषा विमानसङ्ख्या

---

१ ०ति-जे खं. सि. वि. ॥ २ तेहिं-खं. सि. ॥
△ तत्र देवा व्यन्तरा वरतरुणीगीतवादित्ररवेण । नित्य सुखितप्रमुदिता गतमपि कालं न जानन्ति ॥१॥
३ विमानानां सङ्ख्या०-मु. ॥ ४ तुला-बृहत्सङ्ग्रहणीवृत्तिः प. ४७ ॥ ५ ब्रह्मलोकचरमपर्यन्ता० मु. ॥

भवति । तद्यथा—सौधर्मे कल्पे द्वात्रिंशद्विमानानां शतसहस्राणि ३२०००००, ईशानेऽष्टा विंशतिः २८०००००, सनत्कुमारे द्वादश १२०००००, माहेन्द्रेऽष्टौ८०००००; ब्रह्मलोके चत्वारि ४०००००॥५१॥

तथा—'पंचासे'त्यादि, अत्रापि पूर्वार्धे [1]कल्पक्रमेण सङ्ख्यापदयोजना । लान्तके पञ्चाशद्विमानानां सहस्राणि ५००००; महाशुक्रे चत्वारिंशत् ४००००; सहस्रारे षट् सहस्राः ६००० । तथा आनत-प्राणतयोर्द्वयोः समुदितयोश्चत्वारि विमानशतानि ४०० । तथा [2]आरणा-ऽच्युतयोर्द्वयोः समुदितयोस्त्रीणि विमानशतानि ३०० ॥५२॥

तथा—'एगारे' त्यादि, अधस्तनेषु त्रिषु ग्रैवेयकेषु समुदितेषु विमानानामेकादशोत्तरं शतम् ११० । मध्यमे ग्रैवेयकत्रिके समुदिते सप्तोत्तरं शतम् १०७ । उपरितनग्रैवेयकत्रिके समुदिते शतमेकम् १००, सर्वान्तिमप्रतरे तु विजयादीनि पञ्चैवानुत्तरविमानानि ५ ॥५३॥

अथ **विमानानां सर्वसङ्ख्यामाह**—'चुलसीई' त्यादि, [3]अनन्तरेण गाथात्रयेणाभिहितानां विमानानामेषा सर्वसङ्ख्या—चतुरशीतिः शतसहस्राणि सप्तनवतिः सहस्राणि त्रयोविंशतिश्च विमानानीति[4] ८४९७०२३ ॥५४॥१९५॥

सम्प्रति 'देहमाणं' ति पण्णवत्यधिकशततमं द्वारमाह—

भवणवणजोइसोहम्मीसाणे सत्त हुंति रयणीओ ।
एक्केक्कहाणि सेसे दुदुगे य दुगे चउक्के य ॥५५॥

१ कल्पे-ख.त्रि. ॥ २ तथा खं. त्रि. नास्ति ॥ ३ अनन्तर गाथात्रयाभि० मु. ॥ ४ ०ति (८४९७०२३)-मु. ॥

गेविज्जेसुं दोन्नि 'य एगा रयणी अणुत्तरेसु भवे ।
भवधारणिज्ज एसा उक्कोसा होइ नायव्वा ॥५६॥
सव्वेसुक्कोसा जोयणाण वेउव्विया सयसहस्सं[2] ।
गेविज्जणुत्तरेसुं उत्तरवेउव्विया नत्थि ॥५७॥
अंगुलअसंखभागो जहन्न भवधारणिज्ज पारंभे ।
संखेज्जा अवगाहण उत्तरवेउव्विया सावि ॥५८॥ [बृहत्सङ्ग्रहणी १४३-४४, १४८, १५०]

'भवणे' त्यादिगाथाचतुष्टयम्, [3]भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्कसौधर्मेशानेषु देवानामुत्सेधाङ्गुलेन देहमानमुत्कर्षतः सप्त रत्नयो-हस्ता भवन्ति । शेषे द्विके द्विके द्विके चतुष्के च एकैकहानिः-एकैकहस्तविषया हानिर्वक्तव्या । तद्यथा—सनत्कुमार-माहेन्द्रयोरुत्कर्षतः षट् हस्ताः शरीरप्रमाणम्; ब्रह्मलोक-लान्तकयोः पञ्च; शुक्र-सहस्रारयोश्चत्वारः; आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतेषु त्रय इति । तथा ग्रैवेयकेषूत्कर्षतः शरीरप्रमाणं द्वौ रत्नी । एकश्च रत्निरनुत्तरेषु भवेत्, एषा च सप्तहस्तप्रमाणादिका उत्कृष्टावगाहना भवधारणीया वेदितव्या ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

[4]साम्प्रतमुत्तरवैक्रियरूपावगाहनामानमाह—'सव्वेसु' इत्यादि, भवनपत्यादिषु अच्युतदेवलोकपर्यन्तेषु [5]सर्वेष्वपि देवानामुत्तरवैक्रिया तनुरुत्कर्षतो योजनानां [6]शतसहस्रं, योजनलक्षप्रमाणा भवती-

१ वि-ता. ॥ २ ०स्सा-ता. ॥ ३ तुला-बृहत्सङ्ग्रहणीवृत्तिः प. ६५ तः ॥ ४ तुला-बृहत्सङ्ग्रहणीवृत्तिः प.६९ ॥
५ सर्वेषामपि-मु. ॥ ६ द्रष्टव्या अनुयोगद्वारसूत्रवृत्तिः प. १६५ ॥

त्यर्थः । ग्रैवेयकेषु अनुत्तरेषु च देवानामुत्तरवैक्रिया तनुर्नास्ति । सत्यामपि शक्तौ प्रयोजनाभावतस्तद्-करणात् उत्तरवैक्रियं ह्यत्र गमनागमननिमित्तं [1]परिचारणानिमित्तं वा क्रियते, न चैतेषामेतदस्तीति ॥५७॥

सम्प्रति जघन्यतो भवधारणीयामुत्तरवैक्रियां चाह— 'अंगुले' त्यादि, सर्वेषामपि भवनपत्यादीनां भवधारणीया—स्वाभाविक्यवगाहना जघन्याङ्गुलस्यासङ्ख्येयो भागः । सा च प्रारम्भे [2]उत्पत्तिप्रथमसमये समवसेया । उत्तरवैक्रिया पुनरवगाहना जघन्याऽङ्गुलस्य सङ्ख्येयो भागः । पर्याप्तत्वेन [3]तस्य तथा-विधजीवप्रदेशसङ्कोचाभावात् । साऽपि प्रारम्भे उत्तरवैक्रियशरीरनिर्माणप्रथमसमये द्रष्टव्या ॥५८॥ १९६॥

साम्प्रतं 'लेसाउ' त्ति सप्तनवत्यधिकशततमं द्वारमाह—

किण्हा नीला काऊ तेऊलेसा य [4]भवणवंतरिया ।
जोइससोहम्मीसाण तेऊलेसा मुणेयव्वा ॥ ५९ ॥
कप्पे सणंकुमारे माहिंदे चेव बंभलोए य ।
एएसु पम्हलेसा तेण परं सुक्कलेसाओ ॥ ६० ॥

'किण्हा' इत्यादिगाथाद्वयम् , भवनपतयो व्यन्तराश्च कृष्ण-नील-कापोत-तेजोलेश्याकाः । कृष्णा नीला कापोती तैजसी चैषां लेश्या [5]भवन्तीत्यर्थः । तत्रापि परमाधार्मिकाः कृष्णलेश्याः । तथा ज्योति-ष्केषु सौधर्मेशानयोश्च देवास्तेजोलेश्याका ज्ञातव्याः । तथा [6]सनत्कुमार-माहेन्द्रब्रह्मलोकाख्येषु त्रिषु कल्पेषु

१ परिचराणा॰ खं. । परिवाराणा॰ सि. ॥ २ उत्पन्नप्र॰ जे. सि. ॥ ३ तस्य-सि.वि. नास्ति ॥
४ भवणवंतरया-सि. वि. ॥ ५ भवतीत्यर्थः-खं. सि. ॥ ६ द्रष्टव्या जीवसमासवृत्तिः (प. ७३) ॥

देवाः पद्मलेश्याकाः । ततो—ब्रह्मलोकात्परम्—ऊर्ध्वं लान्तकादिषु अनुत्तरविमानान्तेषु देवाः शुक्ललेश्या ज्ञातव्याः । सर्वा अपि [1]च लेश्या यथोत्तरस्थानं विशुद्धविशुद्धतरा बोद्धव्याः ।

एताश्च भावलेश्या [2]हेतवोऽवस्थिता कृष्णादिद्रव्यरूपा द्रव्यलेश्या एवेह प्रतिपत्तव्याः, न भावलेश्याः तासामनवस्थितत्वात् । नापि बाह्यवर्णरूपाः बाह्यवर्णस्य देवानां प्रज्ञापनादौ पार्थक्येनोक्तत्वात् । एतच्च नारकलेश्याद्वारे प्रागेवोक्तम् । भावलेश्यास्तु देवानां प्रतिनिकायं यथासम्भवं षडपि भवन्ति । तथा च तत्त्वार्थमूलटीकायां हरिभद्रसूरिः—"भावलेश्याः षडपीष्यन्ते देवानां प्रतिनिकाय" [ ] मिति ॥५९॥६०॥११७॥

प्र. आ. ३३८

इदानीम् 'ओहिनाणं' त्यष्टनवत्यधिकशततमं द्वारमाह—

सक्कीसाणा पढमं दोच्चं च सणंकुमारमाहिंदा ।
तच्चं च बंभलंतग सुक्कसहस्सारय चउत्थि ॥६१॥
आणयपाणयकप्पे देवा पासंति पंचमीं पुढवीं ।
[3]तं चेव आरणच्चुय ओहिणाणेण पासंति ॥६२॥
छट्ठिं हिट्ठिममज्झिमगेविज्जा सत्तमिं च उवरिल्ला ।
संभिन्नलोगनालिं पासंति अणुत्तरा देवा ॥६३॥

---

१ च-मु. नास्ति ॥ २ ०हेतवो भवस्थिताः-मु. ॥ ३ ते-ता. ॥

एएसिमसंखेज्जा तिरियं दीवा य सागरा चेव ।
बहुययरं उवरिमया उड्ढं च सकप्पथूभाई[1] ॥६४॥
संखेज्जजोयणाइं देवाणं अद्धसागरे ऊणे ।
तेण परमसंखेज्जा जहन्नयं पन्नवीसं तु ॥६५॥ [बृहत्सङ्ग्रहणी २२०-४]
भवणवइवणयराणं उड्ढं बहुओ अहो य सेसाणं ।
[2]जोइसनेरइयाणं तिरियं ओरालिओ चित्तो ॥६६॥

'सक्को' त्यादिगाथाषट्कम्, [3]शक्रेशानौ—सौधर्मेशान[4]कल्पदेवेन्द्रौ, उपलक्षणमेतत् इन्द्रसामानिकादयश्चोत्कृष्टायुषः; एवमन्यत्राप्युपलक्षणव्याख्यानं द्रष्टव्यम्; प्रथमां—रत्नप्रभाख्यां पृथिवीं यावत्; रत्नप्रभायाः पृथिव्याः सर्वाधस्तनं भागं यावदुत्कृष्टतोऽवधिना पश्यतः। सनत्कुमार-माहेन्द्राविन्द्रौ द्वितीयां-शर्कराप्रभां पृथिवीं यावत्; शर्कराप्रभायाः पृथिव्या अधस्तनं सर्वान्तिमं चरमं भागं यावदित्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि भावनीयम्। ब्रह्मलोक-लान्तकौ तृतीयां—वालुकाप्रभां यावत्। शुक्रसहस्रारौ चतुर्थीं पङ्कप्रभां यावत्। तथा आनत-प्राणतकल्पयोर्देवाः—इन्द्र-तत्सामानिकादयः पञ्चमीं पृथिवीं—धूमप्रभां यावदवधिना पश्यन्ति। आरणाच्युतदेवा अपि तामेव पञ्चमीं पृथ्वीं [5]यावत् पश्यन्ति, नवरम् आनत—प्राणतदेवेभ्य आरणाच्युतदेवास्तामेव विशुद्धतरां बहुपर्यायां च। तत्राप्यानतदेवेभ्यः प्राणतदेवाः, आरणदेवेभ्यश्चाच्युतदेवाः

१ ०ई-मु.॥ २ जोइसि० मु.॥ ३ तुला—बृहत्सङ्ग्रहणी वृत्तिः प. ८६ तः॥ ४ ०कल्पेन्द्रौ-मु.॥ ५ यावत् तथा आनत० मु.॥

सविशेषां पश्यन्ति । उत्तरोत्तरदेवानां विमल-विमलतरावधिज्ञानसद्भावात् । एवं प्रागुत्तरत्र च सर्वत्र भावनीयम् । तथा अधस्तनमध्यमग्रैवेयकाः 'आधेये आधारोपचारात्' तन्निवासिनो देवाः षष्ठीं—तमःप्रभां पृथिवीं यावत्पश्यन्ति । [1]उपरितना—उपरितनग्रैवेयकवासिनो देवाः सप्तमीं पृथिवीं यावत् । अनुत्तरविमानवासिनस्तु देवाः सम्भिन्नां परिपूर्णां लोकनाडीं—लोकमध्यवर्तिनीं त्रसनाडीमधस्तादवधिना पश्यन्ति । उक्तं च **तत्त्वार्थभाष्ये**—

"अनुत्तरविमानवासिनस्तु कृत्स्नां लोकनालिं[2] पश्यन्ती" [अ. ४. सू. २१] ति ।

अन्ये तु स्वविमानध्वजादूर्ध्वमदर्शनात् किञ्चिदूनां लोकनाडीं पश्यन्तीत्याहुः, तदेवमधस्तादवधिविषयभूतं क्षेत्रमुक्तम् ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

प्र. आ. ३३८

सम्प्रति तदेव तिर्यगूर्ध्वं चाह—**'एएसि'** मित्यादि, एतेषां शक्रेशानादिदेवानां तिर्यक्—तिरश्चीनमवधिविषयं क्षेत्रमसङ्ख्येया द्वीपाः सागराश्च; असङ्ख्यातान् द्वीपानसङ्ख्यातांश्च समुद्रानवधिना तिर्यक्पश्यन्तीत्यर्थः । केवलमेतदेव द्वीपसमुद्रासङ्ख्येयकम् **'उवरिमया'**[3] इति उपर्युपरिवर्तिकल्पवासिनो देवा बहुकतरम्; उपलक्षणमेतत् बहुकतमं च तिर्यगवधिना पश्यन्ति । उपर्युपरिदेवलोकनिवासिनां विशुद्धविशुद्धतरावधिज्ञानसद्भावात् । [4]ऊर्ध्वं पुनः सर्वेऽपि शक्रादयो देवाः स्वकल्पस्तूपादीन्—स्वस्वविमानचूलाध्वजादिकं यावत्पश्यन्ति न परतः । तथाभवस्वाभाव्यात् ।

१ उपरितना-मु. नास्ति ॥ २ ०र्डीं-इति तत्त्वार्थभाष्ये पाठः ॥ ३ ०गा-खं. वि. ॥
४ तुला-बृहत्सङ्ग्रहणी देवभद्रीय वृत्तिः प. ७२ ॥

जघन्यतः पुनरमी सर्वेऽपि सौधर्मादयोऽनुत्तरविमान[1]वासिपर्यन्ता अङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रं क्षेत्रं पश्यन्ति । तथा **चावश्यकचूर्णिः**—

"वेमाणिया सोहम्माओ आरब्भ जाव सव्वट्ठसिद्धगा देवा ताव जहन्नेण अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ओहिणा जाणंति पासंति ।" [भा. १ । प. ५३]

नन्वङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रक्षेत्रप्रमितोऽवधिः सर्वजघन्यो भवति । सर्वजघन्यश्चावधिस्तिर्यग्मनुष्येष्वेव न शेषेषु । यदुक्तम्—+'उक्कोसो मणुएसु मणुस्सतेरिच्छएसु य जहन्नो ।' [ ] । तत्कथमिह वैमानिकानां सर्वजघन्य उक्तः ?, उच्यते, सौधर्मादिदेवानां पारभविकोऽप्युपपातकालेऽवधिः सम्भवति । स च सर्वजघन्योऽपि कदाचिदवाप्यते । उपपातानन्तरं तु देवभवप्रत्ययजः । ततो न [2]कश्चिद्दोषः । यदाह **जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः**—

Δ"वेमाणियाणमंगुलभागमसंखं जहन्नओ होइ । उववाओ परभविओ तब्भवजो होइ तो पच्छा ॥ १ ॥'

पारभविकत्वाच्चायं सूत्रकृता नोक्त इति ॥६४॥

उक्तं वैमानिकानामधस्तिर्यगूर्ध्वं चावधिक्षेत्रम्, अथ सामान्यतः **शेषदेवानामाह**—'संखेज्जे' त्यादि, देवानां—भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्काणामर्धसागरोपमप्रमाणे किञ्चिदूनायुषि सति संख्येयान्येव

+ उत्कृष्टो मनुष्येषु मनुष्यतिर्यक्षु च जघन्यः ॥

Δ वैमानिकानामङ्गुलासंख्यभागो जघन्यतो भवति । औपपातिकः (उपपाते) पारभविकः तद्भवजो भवति तत् पश्चात् ॥ १ ॥ १ वासिनः पर्यन्ता-सि. । वासिने पर्यन्ता-जे. ॥ २ कदाचिद्दोषः मु. ॥

योजनानि अवधिपरिच्छेद्यक्षेत्रम् । ततः परं संपूर्णार्धसागरोपमादिके आयुषि सति पुनः असङ्ख्येयानि योजनानि । केवलमायुर्वृद्ध्या योजनासङ्ख्यातकस्यापि वृद्धिर्वाच्या । जघन्यं [1]पुनरवधिक्षेत्रं पञ्चविंशतिर्योजनानि । तानि च येषां सर्वजघन्यं–दशवर्षसहस्रप्रमाणम् आयुस्तेषामेव भवनपतिव्यन्तराणां द्रष्टव्यानि न–शेषाणाम् । आह च भाष्यकृत्—

△ "पणवीसजोयणाइं दसवाससहस्सिया ठिई जेसि" [ ] मिति ।

ज्योतिष्काः पुनरसङ्ख्येयस्थितिकत्वाज्जघन्यतोऽपि सङ्ख्येययोजनप्रमितान् सङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रानवधिज्ञानतः पश्यन्ति । उत्कर्षतोऽपि तानेव । केवलमधिकतरान् । उक्तं च प्रज्ञापनायाम्— प्र. आ. ३३९

"जोइसिया णं भंते ! केवइयं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ?, गोयमा ! जहन्नेणवि संखेज्जे दीवसमुद्दे, उक्कोसेणवि संखेज्जे दीवसमुद्दे" [पद ३३, सू. ११९७] इति ॥ ६५ ॥

अथ नारकतिर्यङ्नरामराणां मध्ये कस्य कस्यां दिशि प्रभूतोऽवधिरिति प्रतिपादयन्नाह—

'भवणे' त्यादि, भवनपतीनां व्यन्तराणां चावधिरूर्ध्वं बहुकः–प्रभूतः । शेषासु च दिक्षु स्वल्पविषय एवावधिः । एवमग्रेऽपि भावनीयम् । शेषाणां तु वैमानिकदेवानां पुनरधः प्रभूतोऽवधिः, ज्योतिष्कनारकाणां तिर्यक्प्रभूतः ।

---

१ तु पुन० मु. ॥ △ पञ्चविंशतिर्योजनानि दशवर्षसाहस्रिका स्थितिर्येषाम् ॥

तथा तिर्यग्मनुष्याणां सम्बंध्यवधिरौदारिकावधिरुच्यते। अयं तु चित्रो–नानाप्रकारः, केषाञ्चिदूर्ध्वं बहुः, अन्येषां त्वधः, परेषां तु तिर्यक्, केषाञ्चित् तुल्य इति भावः ॥६६॥११६८॥

सम्प्रति 'उप्पत्तीए विरहो' त्ति नवनवत्यधिकशततमं द्वारमाह––

भवणवणजोइसोहंमीसाण चउवीसई[1] मुहुत्ता उ ।
उक्कोस विरहकालो सव्वेसु जहन्नओ समओ ॥६७॥
नव दिण वीस मुहुत्ता बारस दस चेव दिण मुहुत्ता उ ।
बावीसा अद्धं चिय पणयाल असीइ दिवससयं ॥६८॥
[2]संखिज्जा मासा [3]आणयपाणय तह आरणच्चुए वासा ।
संखेज्जा विन्नेया गेविज्जेसुं अओ वोच्छं ॥६९।
[4]हिट्ठिमे वाससयाइं [5]मज्झिमे सहसाइं उवरिमे लक्खा ।
सखिज्जा विन्नेया [6]जहसंखेणं तु तीसुं पि ॥७०॥
पलिया असंखभागो[7] उक्कोसो[8] होइ विरहकालो उ ।
विजयाइसु निद्दिट्ठो सव्वेसु जहन्नओ समओ ॥७१॥ [बृहत्सङ्ग्रहणी गा. १५०-४]

प्र. आ.
३३१

१ ०य-सि.। ०यं-इति बृहत्सङ्ग्रहीण्यां पाठः ॥ २ संखिज्ज मास-मु.। तुला-बृहत्संग्रहणी ॥ ३ आणयपाणएसुता. सि. ॥ ४ हिट्ठिम-ता. ॥ ५ मज्झिम-मु. । मज्झिमि-ता. । बृहत्सङ्ग्रहण्यामपि मज्झिमे–इति ॥ ६ जहा-सि. ॥ ७ ०गा-मु. ॥ ८ ०सा-सि. वि. ॥

'भवणे' त्यादिगाथाचतुष्कम्, इह भवनपत्यादिषु देवाः प्रायः सततमुत्पद्यन्ते कदाचिदेव त्वन्तरम्, तच्च सामान्येन चतुर्विधेष्वपि समुदितेषु देवेषु द्वादश मुहूर्ताः। तदनन्तरमवश्यमन्यतमस्मिन् कश्चिदेव उत्पद्यते [1]इति। उक्तं च—

● "गब्भयतिरिनरसुरनारयाण विरहो मुहुत्तबारसगं" [ ] इति।

विशेषतस्तु भवनवासिषु व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु सौधर्मे ईशाने च प्रत्येकमुत्कर्षत उपपातविरहकालश्चतुर्विंशतिमुहूर्ताः।

[2]इयमत्र भावना—भवनवास्यादिषु मध्ये प्रत्येकमेकस्मिन् बहुषु वा देवेषूत्पन्नेषु सत्सु अन्य उत्कृष्टमन्तरं चतुर्विंशतिं मुहूर्त्तान् कृत्वा नियमतः समुत्पद्यते इति। जघन्यत उपपातविरहकालः सर्वेष्वपि भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानरूपेषु एकः समयः। किमुक्तं भवति?—एतेषु पञ्चस्वपि स्थानेषु प्रत्येकमेकस्मिन् बहुषु वा समुत्पन्नेष्वन्यः समयमेकमन्तरं कृत्वा समुत्पद्यत इति। [3]शेषः [4]सर्वोऽप्युपपातविरहकालो मध्यमो वेदितव्य इति॥ ६७॥

[5]सनत्कुमारे देवानामुत्कर्षत उपपातविरहकालो नव दिनानि—रात्रिन्दिवानि विंशतिश्च मुहूर्ताः, माहेन्द्रे द्वादश दिनानि दश च मुहूर्ताः; ब्रह्मलोके सार्धानि द्वाविंशतिर्दिनानि; लान्तके पञ्चचत्वारिंशद्दिनानि, महाशुक्रेऽशीतिदिनानि, सहस्रारे दिवसशतम्- अहोरात्रशतम्॥ ६८॥

१ एव-मु.॥ २ आद्वारं-तुला—बृहत्सङ्ग्रहणीवृत्तिः प. ७० त.॥ ३ सनत्कुमारे शेषः—जे. सि. दि.॥
४ सर्वोप्युपपातो वेदितव्य-जे. सि.॥ ५ सनत्कुमारे कल्पेदे० मु.॥
● गर्भजतिर्यङ्नरसुरनारकाणां विरहो मुहूर्त्तानां द्वादशकम्।

आनते प्राणते च प्रत्येकमुत्कर्षत उपपातविरहकालः सङ्ख्येया मासाः । केवलमानतापेक्षया प्राणते प्रभूता वेदितव्याः ते च वर्षादर्वागेव । तथा आरणे अच्युते च प्रत्येकं सङ्ख्येयानि वर्षाणि, नवरमत्राप्यारणापेक्षयाऽच्युते प्रभूतानि, तानि च वर्षशतादर्वागेव, अतः परं ग्रैवेयकेषूत्कर्षत उपपातविरहकालं वक्ष्ये ॥६९॥

प्रतिज्ञातमेवाह 'हिट्ठिमे'त्यादि, त्रिष्वपि [1]अधस्तनादिषु ग्रैवेयकत्रिकेषु [2]यथासङ्ख्येन सङ्ख्येयानि वर्षशतानि वर्षसहस्राणि वर्षलक्षणाणि च विज्ञेयानि, तथाहि अधस्तनग्रैवेयकत्रिके उत्कृष्ट उपपातविरहकालः सङ्ख्येयानि वर्षशतानि, तानि च वर्षसहस्रादारतः । मध्यमग्रैवेयकत्रिके सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि । तानि च वर्षलक्षादर्वाक् । उपरितनग्रैवेयकत्रिके सङ्ख्येयानि वर्षलक्षाणि । तानि च वर्षकोटया आरतो द्रष्टव्यानि । अन्यथा कोटीग्रहणमेव कुर्यादित्येवं सर्वत्र भावनीयम् । इयं च व्याख्या हरिभद्र—सूरिकृतसङ्ग्रहणीटीकानुसारतः, अन्ये तु सामान्येनैव व्याचक्षत इति ॥७०॥

साम्प्रतमनुत्तरविमानेषु उपपातविरहकालमानमाह—'पलिये'त्यादि, विजयादिषु—विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितरूपेषु चतुर्षु विमानेषूत्कृष्ट उपपातविरहकालोऽद्धापल्योपमासङ्ख्येयभागः । तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्सर्वार्थसिद्धे पल्योपमस्य सङ्ख्येयो भागः । तथा च प्रज्ञापना—

[3]'सव्वट्ठसिद्धदेवा णं भंते ! केवइकालं विरहिया उववाएणं पन्नत्ता ?, गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं पलिओवमस्स संखेज्जइभाग'' [पद ६/सू. ६०५] मिति ।

१ अधस्तनमध्यमोपरितनग्रैवेयकत्रिकेषु–मु. । अधस्तनासु यथा० खं० वि. ॥ २ यथासङ्ख्य स० खं. । यथासङ्ख्येयानि–सि. ॥ ३ सव्वट्ठसिद्धे-खं. ॥

जघन्यतः पुनः सर्वेष्वपि- सनत्कुमारादिष्वनुत्तरान्तेषु उपपातविरहकाल एकः समय इति ॥७१॥१९९॥

सम्प्रति 'उव्वट्टणाए विरहो' त्ति द्विशततमं द्वारमाह—

उववायविरहकालो एसो जह वण्णिओ य देवेसु ।
उव्वट्टणावि एवं सव्वेसिं होइ विन्नेया ॥७२॥ [बृहत्सङ्ग्रहणी गा. १५५]

'उववाय' गाहा, उपपतनमुपपातः—तदन्यगतिकानां सत्त्वानां देवत्वेनोत्पादः, तस्य विरहकालः—अन्तरकालः, एषः—चतुर्विंशतिमुहूर्तादिक उत्कृष्टो जघन्यतश्च यथा देवेषु [1]प्रागेववर्णितः, एवम्—अनेनैव प्रकारेण सर्वेषां देवानामुद्वर्तनाऽपि विज्ञेया । [2]तद्यथा—भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवानामुत्कृष्ट उद्वर्तनाविरहकालश्चतुर्विंशतिर्मुहूर्ताः । सनत्कुमारे नव दिनानि विंशतिश्च मुहूर्ताः; माहेन्द्रे द्वादश दिनानि दश च मुहूर्ताः; ब्रह्मलोके सार्धा द्वाविंशतिर्दिनाः; लान्तके पञ्चचत्वारिंशद्दिनाः; शुक्रे अशीतिर्दिनाः, सहस्रारे दिनशतम् , आनत-प्राणतयोः सङ्ख्येया मासाः, आरणा-ऽच्युतयोः सङ्ख्येयानि वर्षाणि, अधस्तनेषु त्रिषु ग्रैवेयकेषु सङ्ख्येयानि वर्षशतानि, मध्यमेषु त्रिषु सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि, उपरितनेषु [3]त्रिषु सङ्ख्येयानि वर्षलक्षाणि, विजयादिषु चतुर्षु पल्योपमासङ्ख्येयभागः, सर्वार्थसिद्धे [4]पुनः पल्योपमसङ्ख्येयभागः । [5]जघन्यः पुनः सर्वेषामप्युद्वर्तनाविरहकाल एकः समय इति ॥७२॥ २००॥

१ प्रागुपव० मु. ॥ २ तुला—बृहत्सङ्ग्रहणीवृत्तिः प. ७१ ॥ ३ त्रिषु- सि. वि. नास्ति ॥ ४ च पुनः पल्यो० मु. ॥
५ जघन्यतः-मु. ॥

इदानीम् 'इमाण संख' त्ति एकोत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

एक्को व दो व तिन्नि व संखमसंखा [1]य एगसमएणं ।
उववज्जंतेवइया उव्वट्टंतावि एमेव ॥७३॥ [बृहत्सङ्ग्रहणी गा. १५६]

'एक्को व' गाहा, [2]भवनवास्यादिषु प्रत्येकमेकस्मिन् समये जघन्यतः एको द्वौ वा त्रयो वा उत्पद्यन्ते; उत्कर्षतः सङ्ख्याता असङ्ख्याता वा । केवलं सहस्रारादूर्ध्वं सर्वत्रोत्कर्षतः सङ्ख्याता एव वक्तव्याः नासङ्ख्याताः, यतो [3]मनुष्या एव सहस्रारादूर्ध्वं गच्छन्ति, न तिर्यञ्चो । मनुष्याश्च सङ्ख्याता एव । 'उव्वट्टंतावि एमेव' त्ति उद्वर्तमाना अपि सन्तो भवनपति-व्यन्तरादिभ्य [4]एवमेवोद्वर्तन्ते । [5]तद्यथा—जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः सङ्ख्याता असङ्ख्याता वा यावत्सहस्रारकल्पः । सहस्रारकल्पादूर्ध्वमुत्कर्षतः सङ्ख्याता एव च्यवन्ते; आनतादिच्युता हि मनुष्येष्वेवागच्छन्ति न तिर्यक्षु, मनुष्याश्च सङ्ख्याता एवेति ॥७३॥२०१॥

इदानीं 'जम्मि एयाण गइ' त्ति द्व्युत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

पुढवीआउवणस्सइ [6]गब्भे पज्जत्तसंख[7]जीवीसु ।
सग्गच्चुयाण वासो सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥७४॥ [बृहत्सङ्ग्रहणी गा. १८०]

१ उ-ता. । व-इति बृहत्सङ्ग्रहण्याम्॥ २ तुला-बृहत्सङ्ग्रहणीवृत्तिः प. ७१॥ ३ मनुष्याणां- जे. ॥ ४ इत्थमेवो० मु. ॥ ५ ते च ज० मु. । तथा ज० सि. वि. ॥ ६ कप्पे—जे. ॥ ७ जीवेसु—ता. ॥

बायरपज्जत्तेसु सुराण भूदगवणेसु उप्पत्ती ।
ईसाणंताणं चिय तत्थवि न उव्वट्टगाणंपि ॥७५॥
आणयपभिईहिंतो जाणुत्तरवासिणो [1]चविऊणं ।
मणुएसु चिय जायइ नियमा [2]संखेज्जजीविसु ॥७६॥

'पुढवीआउ॰' गाहा, स्वर्गात्–[3]देवोत्पादस्थानाच्च्युतानां सामान्येन भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकानां देवानां वासो–वसनमुत्पत्तिरित्यर्थः, पृथिवीकाये अप्काये वनस्पतिकाये तथा गर्भजेषु पर्याप्तेषु सङ्ख्यातवर्षजीविषु तिर्यग्मनुष्येषु भवति । शेषाणि पुनः स्थानानि–तेजस्कायवायुकायद्वित्रिचतुरिन्द्रियासङ्ख्यातायुष्कसम्मूर्छिमापर्याप्ततिर्यग्नरदेवनारकरूपाणि प्रतिषिद्धानि तीर्थकरगणधरैः ॥७४॥

अत्रैव विशेषमाह—'बायरे' त्यादिगाथाद्वयम्, पृथिव्युदकप्रत्येकवनस्पतिष्वपि बादरपर्याप्तेष्वेव सुराणां–देवानामुत्पत्तिः; न पुनः सूक्ष्मपृथिव्यप्कायिकेषु साधारणवनस्पतिषु अपर्याप्तेषु बादरपृथिव्यप्प्रत्येकवनस्पतिष्वेवेति । तत्रापीशानान्तानामेव [4]देवानामेकेन्द्रियेषूत्पत्तिः; न तूर्द्ध्वगानां सनत्कुमारादीनाम्, ते हि पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्येष्वेवोत्पद्यन्ते ॥७५॥

तथा आनतप्रभृतिभ्यः–आनतकल्पदेवानारभ्य यावदनुत्तरवासिनो देवाः स्वस्थानाच्च्युत्वा नियमतः सङ्ख्यातवर्षायुष्केषु मनुष्येष्वेव जायन्ते । नैकेन्द्रियेषु नापि तिर्यक्ष्विति भावः ॥७६॥२०२॥

---

१ चवेऊणं–मु॰ ॥ २ संखिज्ज॰ मु॰ ॥ ३ तुला–बृहत्सङ्ग्रहणीवृत्तिः प॰ ७७A ॥
४ देवानामेकेन्द्रियगणे उत्पत्तिः–सि॰ वि॰ ॥

इदानीं 'जत्तो आगई एसिं' ति त्र्युत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

परिणामविसुद्धीए देवियकम्मबंधजोगाए ।
पचिंदिया उ गच्छे नरतिरिया सेसपडिसेहो ॥७७॥
आईसाणा कप्पा उववाओ होइ देवदेवीणं ।
तत्तो परं तु नियमा देवीणं नत्थि उववाओ ॥७८॥ [बृहत्सङ्ग्रहणी गा. १५७, १८४]

'परिणाम०' गाहा, [1]परिणमनं परिणामो—मानसिको व्यापारविशेषः । स च द्विधा— विशुद्धोऽविशुद्धश्च । तत्र यो विशुद्धः स देवगतिकारणमिति तत्प्रतिपादनार्थं विशुद्धिग्रहणम् , परिणामस्य विशुद्धिः परिणामविशुद्धिः, तया , प्रशस्तेन मानसव्यापारेणेत्यर्थः । एतेन शुभाशुभगत्यवाप्तौ मनोव्यापारस्यैव प्राधान्यमाह । सापि च परिणामविशुद्धिः काऽप्युत्कर्षं प्राप्ता मुक्तिपदस्यैव प्रापिका । अतस्तन्निवृत्त्यर्थमाह—देवायुःकर्मबन्धनयोग्यया हेतुभूतया, पञ्चेन्द्रियाः, तुशब्द एवकारार्थः, पञ्चेन्द्रिया एव नैकेन्द्रियद्वीन्द्रियादय इत्यर्थः, नरा—मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च देवेषु मध्ये गच्छन्ति । शेषाणां तु सुरनारकाणां देवगतिगमने प्रतिषेधो ज्ञातव्यः । न खलु देवा नारका वा स्वायुःक्षयेऽनन्तरं देवत्वेनोत्पद्यन्त इति ॥ ७७ ॥

सम्प्रति प्रसंगतो देवदेवीनामुत्पत्तिस्थानमाह—'आईसाणे' त्यादि, आ [2]ईशानात्—ईशानकल्पमभिव्याप्य । किमुक्तं भवति ?—भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवेषु देवानां देवीनां चोपपातो—जन्म भवति । ततः—ईशानात्परमूर्द्ध्वं सनत्कुमारादिषु देवीनामुपपातो नास्ति किन्तु देवानामेव केवलानाम् ।

१ तुला—बृहत्सं. वृत्तिः प. ७१ तः ॥ २ तुला बृहत्संग्रहणीवृत्तिः प. ७८ ॥

केवलं सनत्कुमारादिदेवानां रताभिलाषे सति देव्यः खल्वपरिगृहीताः सौधर्मादीशानाच्च सहस्रारं यावद्गच्छन्ति न परत इति ।

तथा अच्युतात्परतः सुराणामपि गमागमौ न स्तः । तत्राधस्तनानामूर्ध्वं शक्त्यभावात् । उपरितनानां त्विहागमने प्रयोजनाभावात् । ग्रैवेयका-ऽनुत्तरसुरा हि जिनजन्ममहिमादिष्वपि नात्रागच्छन्ति । किन्तु [1]स्थानस्था एव भक्तिमातन्वते । संशयप्रश्ने चावधिज्ञानतो भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि साक्षादवेत्य तदाकारान्यथानुपपत्त्या जिज्ञासितमर्थं निश्चिन्वन्ति । न चान्यत्प्रयोजनम्, तन्न तेषामिहागम इति ॥७८॥२०३॥

सम्प्रति '**विरहो सिद्धिगईए**' त्ति चतुरुत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

एक्कसमओ जहन्नो उक्कोसेणं तु जाव छम्मासा ।
विरहो सिद्धिगईए उव्वट्टणवज्जिया नियमा ॥७९॥

'एक्कसमओ' गाहा, [2]एकः समयो जघन्यतः सिद्धिगतौ विरहः—अन्तरं भवति; उत्कर्षतस्तु यावत् षण्मासाः । सा च सिद्धिगतिर्नियमात्—निश्चयेनोद्वर्तनवर्जिता । न खलु सिद्धास्ततः कदाचनाप्युद्वर्तन्ते । तद्धेतूनां कर्मणां निर्मूलमुन्मूलितत्वात् । उक्तं च—

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥१॥" [तत्त्वार्थभाष्ये १०/७ गा.८]॥७९॥२०४॥

---

१ स्वस्थानस्था-मु. ॥ २ तुला—बृहत्संग्रहणीवृत्तिः प० १३२ A ॥

सम्प्रति 'जीवाणाहारगहणऊसास' त्ति पञ्चोत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

सरिरेणोयाहारो तयाय फासेण [1]रोमआहारो ।
पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो ॥८०॥ [बृहत्सं. चन्द्र. गा. १४०]
ओयाहारा जीवा सव्वे अपजत्तगा मुणेयव्वा ।
पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे हुंति भइयव्वा ॥८१॥
रोमाहारा एगिंदिया य नेरइयसुरगणा चेव ।
सेसाणं आहारो रोमे पक्खेवओ चेव ॥८२॥
ओयाहारा मणभक्खिणो य सव्वेऽवि सुरगणा होंति ।
सेसा हवंति जीवा लोमाहारा मुणेयव्वा ॥८३॥
अपज्जत्ताण सुराणऽणाभोगनिवत्तिओ य आहारो ।
पज्जत्ताणं मणभक्खणेण आभोगनिम्माओ ॥८४॥
जस्स जइ सागराइं ठिइ [2]तस्स तेत्तिएहिं पक्खेहिं ।
ऊसासो देवाणं वाससहस्सेहिं आहारो ॥८५॥ [बृहत्सं. गा. १९८–९, २००-२, २१४]
दसवाससहस्साइं जहन्नमाऊ धरंति जे देवा ।
तेसिं चउत्थाहारो सत्तहिं थोवेहिं ऊसासो ॥८६॥

१ लोमा० इति बृहत्सङ्ग्रहण्यां पाठः, एवमग्रेऽपि ॥ २ तस्स य ते० मु. ॥

दसवाससहस्साइं समयाई जाव सागरं ऊणं ।
दिवसमुहुत्तपुहुत्ता आहारूसास सेसाणं ॥८७॥ [बृहत्सं. जिन. २१५, चन्द्र. १३५,१३९]

'सरीरे' त्यादिगाथाष्टकम्, [1]शरीरेणैव केवलेन य आहारः स ओजाहारः। एतदुक्तं भवति—यद्यप्यौदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणभेदतः शरीरं पञ्चधा; तथाऽपीह तैजसेन तत्सहचारिणा कार्मणेन च शरीरेण [2]पूर्वशरीरत्यागे विग्रहेणाविग्रहेण [3]वोत्पत्तिदेशं [4]प्राप्तः जन्तुर्यत्प्रथममौदारिकादिशरीरयोग्यान् पुद्गलानाहारयति, [5]यच्च द्वितीयादि[6]समयेष्वौदारिकादिमिश्रेणाहारयति यावच्छरीरनिष्पत्तिः एष सर्वोऽप्योज आहारः। ओजसा-तैजसशरीरेणाहार-ओजआहारः। सकारवर्णलोपादोजाहारो वा। यद्वा ओजः—स्वजन्मस्थानोचितः शुक्रानुविद्धशोणितादिपुद्गलसङ्घातस्तस्याहार ओजाहारः।

प्र. आ.
३४२

तथा त्वचा—त्वगिन्द्रियेण यः स्पर्शस्तेन य आहारः शरीरोपष्टम्भकानां शिशिरप्रावृट्कालादिभाविनां शीतजलादिपुद्गलानां ग्रहणं स लोमभिः—लोमरन्ध्रैराहारः प्रचुरतरमूत्राद्यभिव्यङ्ग्यो लोमाहारः।

यः पुनराहारः कावलिकः—कवलैर्निष्पन्नो भवति स प्रक्षेपाहारः ॥८०॥

अथ यस्यामवस्थायां जीवानां य आहारस्तदाह—'ओयाहारे' त्यादि, [7]ओजः—उत्पत्तिदेशे स्वशरीरयोग्यः पुद्गलसमूहस्तदाहारयन्तीत्योजआहाराः, यद्वा ओजः—तैजसशरीरं तेनाहारो येषां ते ओज-

---

१ तुला-बृहत्सङ्ग्रहणीदेवभद्रीयावृत्तिः गा. १४० ॥ २ तुला-बृहत्सं० देवभद्रीयावृत्तिः प. ८२ तः ॥ ३ चो० मु. ॥ ४ प्राप्तः सन् ज० मु. ॥ ५ तच्च-खं. वि. सि. ॥ ६ समयेष्वप्यौ० मु. । खं. वि. सि., बृ. सं. देवभद्रीयावृत्तावपि (प. ६७) समयेष्वौदारिक० इति ॥ ७ तुला-बृहत्सं. देवभद्रीयावृत्तिः प. ८२ तः ॥

आहारा जीवाः सर्वेऽप्येकेन्द्रियादयः पञ्चेन्द्रियान्ता अपर्याप्ता [1]ज्ञातव्याः । अपर्याप्तत्वं च शरीरपर्याप्तिमपेक्ष्य नाहारपर्याप्तिम् । तदपर्याप्तानामनाहारकत्वात् । सर्वाभिः स्वयोग्यपर्याप्तिभिरपर्याप्ता [2]ओजआहारा इत्यन्ये ।

तथा पर्याप्ताः—शरीरपर्याप्त्या [3]पर्याप्ताः, **मतान्तरेण** सर्वाभिः स्वयोग्यपर्याप्तिभिः पर्याप्ताः सर्वे जीवा लोम्नि—लोमाहारे नियमतो भवन्ति । पर्याप्तानां सर्वेषामपि जीवानां सर्वदापि लोमाहारो भवत्येवेति भावः । तथा च घर्माद्यभितप्ताश्छायया शीतलानिलमलिलस्पर्शनेन वा प्रीयन्ते प्राणिनः । प्रक्षेपे—प्रक्षेपाहारे भवन्ति भजनीयाः—यदैव कवलप्रक्षेपं कुर्वन्ति तदैव प्रक्षेपाहारो नान्यदा । लोमाहारता तु पवनादि[4]स्पर्शनात् सदैवेति ॥८१॥

अथैकेन्द्रियादीनां पृथगाहारनैयत्यमाह- [5]'**रोमे**' त्यादि, शरीरपर्याप्त्या पर्याप्ताः, **मतान्तरेण** सर्वस्वयोग्यपर्याप्तिपर्याप्ता एकेन्द्रिया नैरयिकाः सुरगणाश्च सर्वे लोमाहारा एव ज्ञातव्याः । न पुनः प्रक्षेपाहाराः । तत्र एकेन्द्रियाणां प्रक्षेपाहाराभावो मुखाभावात्, नैरयिकदेवानां तु वैक्रियशरीरतया [6]तथास्वभावात् । उक्तं च—

★"एगिंदियदेवाणं नेरइयाणं च नत्थि पक्खेवो ।
सेसाणं जीवाणं संसारत्थाण पक्खेवो ॥ १ ॥" [बृहत्सं० गा० १९९]

---

१ मन्तव्या-मु.सि. ॥ २ ओज य पुनः आहरः आहारा-जे. । ओज य पुनः आहारा-सि.वि. ॥
३ पर्याप्त-सि. वि. नास्ति ॥ ४ स्पर्शात्-खं. ॥ ५ लोमाहारा गाहा-खं. ॥ ६ तथा स्वभावत्वात्-खं. ॥
★ एकेन्द्रियदेवानां नैरयिकाणां च नास्ति प्रक्षेपः । शेषाणां जीवानां संसारस्थानां प्रक्षेपः ॥ १ ॥

शेषाणां–द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्याणां चाहारो लोम्नि–लोमविषयः प्रक्षेपतश्च भवति । उभयरूपस्याप्याहारस्य तेषां सम्भवात् ॥ ८२ ॥

अथ देवानामाहारविषयं विशेषमाह—'ओये' त्यादि, सर्वेऽपि भवनपत्यादयः सुरगणा अपर्याप्तावस्थायामोजआहाराः । पर्याप्तावस्थायां मनोभक्षिणो–मनसा चिन्तितोपनतान् सकलेन्द्रियाह्लादकमनोज्ञपुद्गलान् भक्षयन्तीव भक्षयन्ति–वैक्रियशरीरेणात्मसात्कुर्वतीत्येवंशीला मनोभक्षिणः । इयमत्र भावना–यथा शीतपुद्गलाः शीतयोनिकस्य [1]प्राणिनः सुखित्वायोपकल्पन्ते, उष्णाः पुद्गला वा उष्णयोनिकस्य, तथा देवैरपि मनसाऽभ्यवह्रियमाणाः पुद्गलास्तेषां तृप्तये परमसन्तोषाय चोपकल्पन्ते । तत आहारविषयाभिलाषनिवृत्तिर्भवतीति ।

शेषाः–सुरव्यतिरिक्ता जीवा नैरयिकादयोऽपर्याप्तावस्थायामोजआहाराः । पर्याप्तास्तु लोमाहारा ज्ञातव्याः; न [2]पुनर्मनोभक्षिणः । मनोभक्षणलक्षणो ह्याहारः स उच्यते ये तथाविधशक्तिवशान्मनसा स्वशरीरपुष्टिजनकाः पुद्गला अभ्यवह्रियन्ते, [3]यदभ्यवहरणानन्तरं च तृप्तिपूर्वः परमसन्तोष उपजायते । न चैतन्नैरयिकादीनामस्ति प्रतिकूलकर्मोदयवशतस्तेषां तथारूपशक्त्यभावात् ॥८३॥

पुनरत्रैव विशेषमाह—'अपज्जे' त्यादि, आभोगनमाभोगः–आलोचनमभिसन्धिरित्यर्थः । आभोगेन निर्वर्तितः–उत्पादित आभोगनिर्वर्तितः; आहारयामीतीच्छापूर्वं निर्मापित इतियावत् । तद्विपरीतो-

१ प्राणिनः सुखिनः सुखि०वि. ॥ २ पुनर्मनोभिलाषिणः-खं. वि. सि. ॥ ॥ ३ यदभ्यवहरणादनन्तरं-खं. ॥

ऽनाभोगनिर्वर्तितः; आहारयामीति विशिष्टेच्छामन्तरेण निष्पाद्यते यः प्रावृट्काले प्रचुरतरमूत्राद्यभिव्यङ्ग्य-शीतपुद्गलाद्याहारवत् सोऽनाभोगनिर्वर्तित इति भावः । [1]तत्रापर्याप्तकानां सुराणामोजआहारोऽ[2]नाभोगनिर्वर्त्तितः अनाभोगसम्पादितो भवति । मनःपर्याप्तेरभावात् आभोगासम्भवात् । पर्याप्तानां पुनर्यो मनोभक्षणेन—मनसा सञ्चिन्त्य विशिष्टपुद्गलाभ्यवहरणेनाहारः स आभोगनिर्मितः-आभोगसम्पादितो भवति ॥८४॥

सम्प्रति **सागरोपमसङ्ख्यया आहारोच्छ्वासयोः कालमानमाह**--'जस्से' त्यादि, [3]देवानां मध्ये यस्य देवस्य यावन्ति सागरोपमाणि स्थितिस्तस्य तावद्भिः पक्षैरुच्छ्वासः—शरीरान्तर्गतप्राणपवनोत्सर्पणं प्रवर्तते । तावद्भिश्च वर्षसहस्रै राहारः—आहाराभिलाषः । यथा—यस्य देवस्यैकं सागरोपमं स्थितिस्तस्यैकस्मिन् पक्षेऽतिक्रान्ते उच्छ्वासः, एकस्मिन् वर्षसहस्रे आहारः । यस्य द्वे सागरोपमे तस्य पक्षद्वये उच्छ्वासो वर्षसहस्रद्वये आहारः; यावत् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यस्य स्थितिस्तस्य [4]त्रयस्त्रिंशत्पक्षातिक्रमे उच्छ्वासः, त्रयस्त्रिंशद्वर्षसहस्रातिक्रमे आहारः । देवेषु हि यो यथा महायुः स तथा सुखी । सुखितानां च यथोत्तरं महानुच्छ्वासनिःश्वासक्रियाविरहकालः । दुःखरूपत्वादुच्छ्वासनिःश्वासक्रियायाः । ततो [5]यथा यथाऽऽयुषः सागरोपमवृद्धिस्तथा तथोच्छ्वासक्रियाविरहप्रमाणस्यापि पक्षवृद्धिः । आहारक्रियायास्तु ततोऽप्यतिदुःखरूपत्वाद्वर्षसहस्रवृद्धिः ॥ ८५ ॥

१ भत्रा० मु. ॥ २ ०ऽनाभोगनिर्वर्त्तितः—सि. वि. नास्ति ॥ ३ तुला—बृहत्सङ्ग्रहणीदेवभद्रीया वृत्तिः प. ८४ ॥
४ त्रयस्त्रिंशत्पक्षान्ते—खं. ॥ ५ यथा—सि. वि. नास्ति ॥

अथ जघन्यायुषामाहारोच्छ्वासयोः कालमानमाह–'दसे' त्यादि, ये देवा–भवनपतयो व्यन्तराश्च जघन्यं दशवर्षसहस्राण्यायुर्धरन्ति तेषामाहारः–आहाराभिलाषश्चतुर्थाद्[1] अहोरात्रादुत्पद्यते । सति चाहाराभिलाषे मनसा परिकल्पिताः शुभाः पुद्गलाः सर्वेणैव कायेनाहारतया परिणमन्ति । तथा तेषामेव- दशवर्षसहस्रधारिणां देवानां सप्तभिः स्तोकैः–आधिव्याधिरहितमनुष्यसत्कोच्छ्वासनिःश्वाससप्तक-प्रमाणैः कालविशेषैरुच्छ्वासः । सप्तसप्तस्तोकातिक्रमे एवोच्छ्वसन्ति । शेषकालं च तदाबाधया रहिताः स्तिमिता एव तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ ८६ ॥

अथ वर्षसहस्रदशकस्थितेरूर्ध्वं यावत्सागरोपमं [2]सम्पूर्णमेतावत्यन्तराले आहारोच्छ्वासकालमानमाह— 'दसवे' त्यादि, [3]येषामुक्तेभ्यः शेषाणां देवानां दशवर्षसहस्राणि समयादीनि–समया-ऽऽवलिका-मुहूर्त-[4]दिवस-मास-संवत्सर-युगाद्यधिकानि यावत्किञ्चिदूनं सागरोपममायुःस्थितिः, तेषां दिवसपृथक्त्वादाहारो मुहूर्तपृथक्त्वादुच्छ्वासश्च सूत्रे च—'पुहुत्ते' ति एकवचननिर्देशो जात्यपेक्षः । ततोऽयं भावार्थः— दशवर्षसहस्रेभ्य ऊर्ध्वं समयादिवृद्धौ यथाक्रममाहारोच्छ्वासयोर्दिवसमुहूर्तपृथक्त्वानि तावद्वर्धनीयानि यावत्परिपूर्णसागरोपमायुषां पक्षादुच्छ्वासो वर्षसहस्रादाहार इति ।

प्र. आ. ३४३

तथा एकेन्द्रियाणामाहाराभिलाषः [5]सततम् , विकलेन्द्रिय-नारकाणामुत्कर्षतोऽन्तमुहूर्तात् ; पञ्चे-

१ ०द् इति भद्दो० खं. सि. ।। २ पूर्णमेतावत्यन्तराले–मु. । यावत्सागरोपममित्येतावत्यन्तराले–सि. ॥
३ तुला–बृहत्सग्रहणीदेवभद्रीया वृत्तिः प. ८५ B ॥ ४ ०दिवसपक्षमास० सि. वि. ॥ ५ सततः–जे. । संतः-सि. ॥

न्द्रियतिरश्चामहोरात्रद्वयातिक्रमात्; मनुष्याणां चाहोरात्रत्रयातिक्रमादिति । उच्छ्वासोऽपि नारकाणां निरन्तरम्; एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नराणां पुनरनियतमात्रः ॥८७॥२०५॥

सम्प्रति 'तिन्नि सया तेवट्ठा पासंडीणं' ति षडुत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

[1]असीइसयं किरियाणं १८० अकिरियवाईण होइ चुलसीई ८४ ।
अन्नाणिय सत्तट्ठी ६७ वेणइयाणं च बत्तीसं ३२ ॥८८॥
जीवाइनवपयाणं अहो ठविज्जंति सयपरयसद्दा ।
तेसिंपि अहो निच्चानिच्चा सद्दा ठविज्जन्ति ॥८९॥
[2]काल १ स्सहाव २ नियई ३ ईसर ४ अप्पत्ति ५ पंचवि पयाइं ।
निच्चानिच्चाणमहो अणुक्कमेणं ठविज्जंति ॥९०॥
जीवो इह अत्थि सओ निच्चो कालाउ इय पढमभंगो ।
बीओ य अत्थि जीवो सओ अनिच्चो य कालाओ ॥९१॥
एवं परओऽवि हु दोन्नि भंगया पुव्वदुगजुया चउरो ।
लद्धा कालेणेवं सहावपमुहावि [3]पाविंति ॥९२॥

१ तुला-भगवतीसूत्र ३०।१, स्थानाङ्गसू. ४।४।३४५, तत्त्वार्थसूत्र-सर्वार्थसिद्धिवृत्तिः ८/१, आचाराङ्गसूत्रशीलाङ्काचार्यवृत्तित: १।१।१।३ प. १६ B, गोम्मटसारकर्मकाण्डः गा. ८७६ ॥ २ कालो सहाव-ता. ॥ ३ पावंति-मु. ॥

पंचहिंवि चउक्केहिं पत्ता जीवेण वीसई भंगा ।
[1]एवमजीवाईहिंवि य [2]किरियावाई असिइसयं ॥ ९३ ॥
इह जीवाइ[3]पयाइं पुन्नं पावं विणा ठविज्जन्ति ।
तेसिमहोभायम्मि ठविज्जए सपरसद्दुगं ॥ ९४ ॥
तस्सवि अहो लिहिज्जइ काल १ जहिच्छा [4]य २ पयदुगसमेयं ।
नियइ १ स्सहाव २ ईसर ३ अप्पत्ति ४ इमं पयचउक्कं ॥ ९५ ॥
पढमे भंगे जीवो नत्थि सओ कालओ तयणु बीए ।
परओऽवि नत्थि जीवो काला इय भंगगा दोन्नि ॥ ९६ ॥
एवं जइच्छाईहिंवि पएहिं भंगदुगं [5]दुगं पत्तं ।
मिलियावि ते दुवालस संपत्ता जीवतत्तेणं ॥ ९७ ॥
एवमजीवाईहिंवि पत्ता जाया तओ [6]य चुलसीई ।
भेया अकिरियवाईण हुंति इमे सव्वसंखाए ॥ ९८ ॥
संत १ मसंतं २ संतासंत ३ मवत्तव्व[7] ४ सयअवत्तव्वे[8] ५ ।
असयअवत्तव्वं ६ [9]सयवत्तव्वं ७ सयसयवत्तव्वं च सत्त पया ॥९९॥

१ एवमजीवाईहिं वि इय-वि.॥ २ किरियावाईण-ता. ॥ ३ ०पयाणं-ता. ॥ ४ य-ता. सि. नास्ति॥
५ दुगे-ता.। दुयं-वि.॥ ६ उ मु.॥ ७ ०व्वे-जे.॥ ८ व्वं-मु.॥
९ सयवत्तव्वं (सयसयवत्तव्वं) च-मु.। सयअवत्तव्वं सयसयवत्तव्वं वत्त सयत्तपया-सि.॥

जीवाइनवपयाणं अहोकमेणं इमाइं ठविऊणं ।
जह कीरइ अहिलावो तह साहिज्जइ निसामेह ॥१२००॥
संतो जीवो को जाणइ ? अहवा किं व तेण नाएणं[1] ? ।
सेसपएहिं वि भंगा इय जाया सत्त जीवस्स ॥१॥
एवमजीवाईणऽवि पत्तेयं सत्त मिलिय तेसट्ठी ।
तह अन्नेऽवि हु भंगा चत्तारि इमे उ इह हुंति ॥२॥
संती भावुप्पत्ती को जाणइ किंच तीए नायाए ? ।
एवमसंती भावुप्पत्ती [2]सदसंतिया चेव ॥३॥
तह अव्वत्तव्वावि हु भावुप्पत्ती इमेहिं मिलिएहिं ।
भंगाण सत्तसट्ठी जाया अन्नाणियाण इमा ॥४॥
सुर १ निवइ २ जइ[3] ३ न्नाई ४ थविरा ५ वम ६ माइ ७ पिइसु ८ एएसिं ।
मण १ वयण २ काय ३ दाणेहिं ४ चउव्विहो कीरए विणओ ॥५॥
अट्ठवि चउक्कगुणिया बत्तीस हवंति वेणइय भेया ।
सव्वेहिं पिंडिएहिं तिन्नि सया हुंति तेसट्ठा ॥६॥

१ ०णा-चि. ॥ २ सदसत्तिया-मु. ॥ ३ जई-ता. ॥

'असीई' त्यादिगाथैकोनविंशतिः, [1]न कर्तारमन्तरेण क्रिया—पुण्यबन्धादिलक्षणा सम्भवति। तत एवं परिज्ञाय तां [2]क्रियामात्मसमवायिनीं वदन्ति, तच्छीलाश्च ये ते क्रियावादिनः—आत्माद्यस्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणाः, तेषामशीत्यधिकं शतं भवति। वक्ष्यमाणप्रकारेण अशीत्यधिकशतसङ्ख्यास्ते इति भावः।

[3]तथा न कस्यचित्प्रतिक्षणमवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया सम्भवति, उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादित्येवं ये वदन्ति तेऽक्रियावादिनः—आत्मादिनास्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणाः। तथा चाहुः—

[4]"क्षणिकाः सर्वसंस्काराः, अस्थिराणां कुतः क्रिया ?। [5]भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते ॥१॥"

तेषां चतुरशीतिर्भवति।

[6]तथा कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तदेषामस्ति तेन वा चरन्तीत्यज्ञानिकाः—असंचिन्त्यकृतबन्धवैफल्यादिप्रतिपादनपराः। तथाहि ते एवमाहुः— न ज्ञानं श्रेयः, तस्मिन् सति परस्परं विवादयोगेन चित्तकालुष्यादिभावतो दीर्घतरसंसारप्रवृत्तेः। तथाहि—केनचित्पुरुषेणान्यथा देशिते वस्तुनि विवक्षितो ज्ञानी [7]ज्ञानमात्रगर्वाध्मातमानसस्तस्योपरि कलुषचित्तः तेन सह विवादमारभते। विवादे च क्रियमाणे तीव्र-तीव्रतरचित्तकालुष्य-[8]भावतोऽहङ्कारतश्च प्रभूत-प्रभूततराशुभकर्मबन्धसम्भवः। तस्माच्च दीर्घ-दीर्घतरसंसारः। तथा चोक्तम्—

---

१ तुला—नन्दिसूत्रमलयगिरिवृत्तिः प. २१३ B ॥ २ तुला—भगवतीसूत्रवृत्तिः ३०११ ॥ ३ तुला—नन्दिसूत्रमलय. वृत्तिः प. २१५ A ॥ ४ श्लोकोऽयं बोधिचर्यावतार (पृ. ३७६)—तत्त्वसंग्रह (पृ.११)—भगवतीसूत्र-अभयदेववृत्ति (३०११)-नन्दीसूत्रमलय. वृत्त्यादिषु (प. २१५A) उद्धृतोऽस्ति ॥ ५ भूतिर्यै०मु.। भूतिर्ये (र्यै) इति षड्दर्शनसमुच्चयगुणरत्नसूरिवृत्तौ (प. २१) पाठः ॥ ६ तुला—नन्दीसूत्रमलयवृत्तिः प. २१५ B तः ॥ ७ ज्ञानगर्वा० मु. ॥ ८ ०माव (स्त)तोहङ्कारः ततश्च प्रभूत० इति नन्दीसूत्रमलय.वृत्तौ (प.२१५ B) पाठः ॥

△ 'अन्नेण अन्नहा देसियंमि भावंमि नाणगव्वेणं। कुणइ विवायं कलुसियचित्तो तत्तो य से बंधो ॥१॥"

यदा [1]पुनर्नज्ञानमाश्रीयते तदा नाहङ्कारसम्भवो नापि परस्योपरि चित्तकालुष्यभावः, ततो न कर्मबन्धसम्भवः। अपिच—यः सञ्चिन्त्य क्रियते कर्मबन्धः स दारुणविपाकः। अत एवावश्यंवेद्यः। तस्य तीव्राध्यवसायतो निष्पन्नत्वात्। यस्तु मनोव्यापारमन्तरेण काय-वचनकर्म [2]वृत्तिमात्रतो विधीयते, न तत्र मनसोऽभिनिवेशः, ततो नासाववश्यंवेद्यो नापि तस्य दारुणो विपाकः। केवलं अतिशुष्कसुधापङ्कधवलितभित्तिगतरजोराजिरिव स कर्मसङ्घः [3]स्वत एव [4]शुभाध्यवसायपवनविक्षोभितोऽपयाति। [5]मनसोऽभिनिवेशाभावश्चाज्ञानाभ्युपगमे समुपजायते। ज्ञाने [6]सत्यभिनिवेशसम्भवात्। तस्मादज्ञानमेव मुमुक्षुणा—मुक्तिमार्गप्रवृत्तेनाभ्युपगन्तव्यम्, [ग्रन्थाग्रं ३००] न ज्ञानमिति। किञ्च—भवेद्युक्तो ज्ञानस्याभ्युपगमो यदि ज्ञानस्य निश्चयः कर्तुं पार्यते। परं यावता स एव न पार्यते। तथाहि—सर्वेऽपि दर्शनिनः परस्परं भिन्नमेव ज्ञानं प्रतिपन्नाः। ततो न निश्चयः कर्तुं शक्यते—किमिदं ज्ञानं सम्यगुत [7]इदमिति। यदुक्तम्—

● 'सव्वे य मिहो भिन्नं नाणं इह नाणिणो जओ बिंति। [8]तीरइ न तओ काउं विणिच्छओ एवमेयन्ति ॥१॥"

△ अन्येनान्यथा देशिते भावे ज्ञानगर्वेण। करोति विवादं कलुषितचित्तस्ततश्च तस्य बन्धः ॥१॥

● सर्वे च मिथो भिन्नं ज्ञान इह ज्ञानिनो यतो ब्रुवते, शक्यते ततो न कर्त्तुं विनिश्चय एवमेतदिति ॥१॥

१ पुनरज्ञान० मु. ॥ २ निवृत्तिमात्रतो० खं.वि. ॥ ३ शुभ एव-सि. ॥ ४ शुभाध्यवसाय एव विक्षो० सि. वि. ॥ ५ मनसोभिनिवेशयभाव० खं.सि.वि. ॥ ६ सत्यभिनिवेश्य सम्भवात्--सि.वि. ॥ ७ नेदमिति-मु. ॥ ८ तीरइ तओ न काउं--मु. । तुला- नंदिमलयवृत्तिः प. २१६ ॥

तेषामज्ञानिकानां [1]सप्तषष्टिः ।

[2]तथा विनयेन चरन्तीति वैनयिकाः,-एते चानवधृतलिङ्गाचारशास्त्राः, केवलं विनयप्रतिपत्तिप्रधानाः । एषां च द्वात्रिंशद्भेदा इति ॥८८॥

अथ 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायात् क्रियावादिनामशीत्युत्तरशतसङ्ख्याभङ्गानयनोपायमाह-'जीवे' त्यादिगाथाद्वयम् , जीवादीनि नव पदानि- [3]जीव-अजीव-आश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-पुण्य-पाप मोक्षलक्षणान्नव पदार्थान् परिपाट्या पट्टिकादौ विरचय्य तेषामधः प्रत्येकं स्वतः परत इति शब्दौ स्थाप्येते । तयोरपि-स्वतः परत इति शब्दयोरधः प्रत्येकं नित्या-ऽनित्यशब्दौ स्थाप्येते । ततोऽपि-नित्या-ऽनित्यशब्दयोरधस्तादनुक्रमेण-परिपाट्या काल-स्वभाव-नियतीश्वरा-ऽऽत्मस्वरूपाणि पञ्च पदानि स्थाप्यन्ते ॥८९॥९०॥

अथैतेषामेव भेदानामभिलापमाह-'जीवो' इत्यादिगाथात्रयम् , इह अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः [4]प्रथमो भङ्गो-विकल्पः । अस्य च विकल्पस्यायमर्थः-इह-अस्मिन् जगति अस्ति-विद्यते खल्वयं जीवः-आत्मा स्वतः-स्वेन रूपेणः, न तु परोपाध्यपेक्षया, ह्रस्वत्वदीर्घत्वे इव, नित्यः-शाश्वतः, न क्षणिकः, पूर्वोत्तरकालयोरवस्थितत्वात् , ● विद्यते खलु अय जीवः आत्मा स्वतः स्वेन रूपेण● [5]कालवादिनो मतेन ।

---

१ सप्तषष्टिर्भेदाः-मु. ॥ २ तुला-नन्दीसूत्रमलय. वृत्तिः प. २१७ B ॥
३ तुला-नन्दीसूत्रमलय. वृत्तिः प. २१३B तः ॥ ४ इयं प्रथमो-खं. ॥ ●● चिह्नद्वयमध्यवर्तिपाठः मु. नास्ति ॥
५ कालवादिनो मतेन-जे. नास्ति । कालवादिनो ....कालकृतमेव-खं. नास्ति ॥

कालवादिनश्च ते मन्तव्या ये कालकृतमेव सर्वं जगन्मन्यन्ते । तथा च ते एवमाहुः—न कालमन्तरेण सहकार-चम्पका-ऽशोकादिकुसुमोद्गमफलानुबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपात-नक्षत्रगर्भाधान-वर्षादयो वा ऋतुविभागसम्पादिता बाल-कुमार-यौवन-वलिपलितागमादयो वा अवस्थाविशेषा घटन्ते । प्रतिनियतकालविभाग एव तेषामुपलभ्यमानत्वात् । अन्यथा सर्वमव्यवस्थया भवेत् । न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । अपिच[1] —मुद्गादिपक्तिरपि न कालमन्तरेण लोके [2]भवन्ती दृश्यते । किन्तु कालक्रमेण । अन्यथा स्थालीन्धनादिसामग्रीसम्पर्कसम्भवे प्रथमसमयेऽपि मुद्गादिपक्तेर्भावप्रसङ्गः । न च [3]भवति । तस्माद्यत्कृतकं तत्सर्वं कालकृतमिति । यदाहुः—

"न कालव्यतिरेकेण, [4]गर्भबालशुभादिकम् । यत्किंचिज्जायते लोके, तदसौ कारणं किल ॥१॥
किंच कालादृते नैव, मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते । स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि, ततः कालादसौ मता ॥२॥"
[शास्त्रवार्तासमु. का. १६५-६]

द्वितीयश्च भङ्गोऽयं—अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालतः । एवमुक्तप्रकारेण परतोऽपि द्वौ भङ्गौ कर्तव्यौ । यथा—अस्ति जीवः परतो नित्यः कालतः । अस्ति जीवः परतोऽनित्यः कालतः ।

सर्वेषामपि हि पदार्थानां परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वस्वरूपपरिच्छेदः । यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वस्य, ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्य । इत्येवमेवात्मनः स्तम्भ-कुम्भादीन् समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्ते वस्तुन्यात्मबुद्धिः प्रवर्तत इति । अतो यदात्मनः स्वरूपं तत्परत एवावधार्यते न स्वतः । पूर्वेण च स्वत एव इति पद-

१ ०च-सि.वि. नास्ति ॥ २ भवन्तीति-जे. ॥ ३ तद्भवति--मु. ॥ ४ गर्भबालयुवादिकम्-इति षड्दर्शनवृत्तौ प. १६ ॥

प्र. आ.
३४६

लब्धेन भङ्गद्विकेन युक्तावेतौ भङ्गौ चत्वारो भवन्ति । ते च कालपदेन लब्धाः । एवमनेन प्रकारेण स्वभावप्रमुखा अपि–स्वभाव-नियतीश्वरा-ऽऽत्मपदान्यपि प्रत्येकं चतुरश्चतुरो विकल्पान् प्राप्नुवन्ति ।

तथाहि–अस्ति जीवः स्वतो नित्य स्वभावतः १ । अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः स्वभावतः २ । अस्ति जीवः परतो नित्यः स्वभावतः ३ । अस्ति जीवः परतोऽनित्यः स्वभावतः ४ ।

[1]ते हि **स्वभाववादिन** एवमाहुः–इह सर्वे भावाः स्वभाववशादुपजायन्ते । तथाहि–मृदः कुम्भो भवति, न पटादिः । तन्तुभ्योऽपि पट उत्पद्यते, न कुम्भादिः । एतच्च प्रतिनियतं भवनं तथास्वभावतामन्तरेण न घटते । तस्मात्सकलमिदं स्वभावकृतमवसेयम् , अन्यच्च–आस्तामन्यत्कार्यजातम् ; इह मुद्गादिपक्तिरपि न स्वभावमन्तरेण भवितुमर्हति । तथाहि–स्थालीन्धनकालादिसमग्रसामग्रीसम्भवेऽपि न भवति तत्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्कृतमिति स्वभावकृता मुद्गपक्तिरप्येष्टव्या । ततः सकलमेवेदं [2]काङ्कुडुकमुद्गानां पक्तिरुपलभ्यते । तस्माद्यद्भावे भवति यदभावे च न भवति तत्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्कृतमिति स्वभावकृता मुद्गपक्तिरप्येष्टव्या, ततः सकलमेवेदं वस्तुजातं [3]स्वभावकृतमवसेयमिति । तथा अस्ति जीवः स्वतो नित्यो नियतितः १ । तथाऽस्ति जीवः स्वतोऽनित्यो नियतितः २ । अस्ति जीवः परतो नित्यो नियतितः ३ । अस्ति जीवः परतोऽनित्यो नियतितः ४ ।

नियतिवादिनो ह्येवमाहुः– [4]नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेनैव

---

१ तुला-नन्दीसूत्रमलय. वृत्तिः प. २१४ B ॥ २ काङ्कुडुक-मु. नन्दीसूत्रमलय. वृत्तौ (प. २१४B) च ॥
३ स्वभावहेतुकम॰ मु. ॥ ४ तुला-नन्दीसूत्रमलय. वृत्तिः प. २१४ ॥

रूपेण प्रादुर्भवन्ति ; नान्यथा । तथाहि–यद्यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते । अन्यथा कार्य-कारणभावव्यवस्था प्रतिनियतरूपव्यवस्था च न भवेत् ; नियामकाभावात् । तत एवं कार्यनैयत्यतः प्रतीयमानामेनां नियतिं को नाम निराकर्तुमलम् ?, तथा चोक्तम्—

"नियतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवन्ति यत् । ततो नियतिजा ह्येते, [1]तत्स्वरूपानुभेदतः ॥१॥

यद्यदेव यतो यावत्, तत्तदेव ततस्तथा । नियतं जायते न्यायात्, क एनां बाधितुं क्षमः ? ॥२॥"

[शास्त्रवार्ता समु. का. १७३-४]

तथा अस्ति जीवः स्वतो नित्य ईश्वरतः । १ । अस्ति जीवः स्वतोऽनित्य ईश्वरतः २ । अस्ति जीवः परतो नित्य ईश्वरतः ३ । अस्ति जीवः परतोऽनित्य ईश्वरतः ४ ।

[2]ईश्वरवादिनो हि सर्वं जगदीश्वरकृतं मन्यन्ते । ईश्वरं च सहजसिद्धज्ञानवैराग्यधर्मैश्वर्यरूपचतुष्टयं प्राणिनां च स्वर्गा-ऽपवर्गयोः प्रेरकमिति । तदुक्तम्—

★ "ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥१॥

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥२॥"

[महाभारत वनपर्व ३०।२१] इत्यादि ।

---

१ तत्स्वरूपानुवेधतः- इति षड्दर्शन वृत्ति-नन्दीसूत्रमलयवृत्त्योश्च ॥

★ उद्धृतोऽयं श्लोकः शास्त्रवार्तासमुच्चये (गा. १९५), सूत्रकृताङ्गवृत्तौ (प.२५६), सन्मतिवृत्तौ प. ६६, प्रमाणमीमांसायां (प. १२), नन्दीसूत्रमलयवृत्तौ (प. २१४) च ॥ २ तुला- नन्दीसूत्रमलय. वृत्तिः प. २१४ A ॥

तथा अस्ति जीवः स्वतो नित्य आत्मतः[1] १ । अस्ति जीवः स्वतोऽनित्य आत्मतः[2] २ । अस्ति जीवः परतो नित्य आत्मतः[3] ३ । अस्ति जीवः परतोऽनित्य आत्मतः[4] ४ ।

[5]आत्मवादिनो हि विश्वपरिणतिरूपमात्मानमेवैकं प्रतिपन्नाः । यत उक्तम्—

'एक एव हि भूतात्मा, देहे देहे व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥१॥

तथा "पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्य" [ऋग्वेद १०।९०।२] मित्यादि ।

तदेवं पञ्चभिरपि चतुष्कैर्मिलितैर्विंशतिर्भङ्गा जाताः । एते च जीवभेदेन प्राप्ताः । एवमजीवादिभिरप्यष्टभिः पदैः प्रत्येकं [6]विंशतिर्विंशतिर्विकल्पाः प्राप्यन्ते । यथा अस्त्यजीवः स्वतो नित्यः कालत इत्यादि सर्वं भावनीयम् । [7]इत्यतो विंशतिर्नवभिर्गुणिता शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनां भवति ॥९१॥ ॥९२॥९३॥

इदानीमक्रियावादिनां चतुरशीतिसङ्ख्यभङ्गानयनोपायमाह—'इहे'त्यादिगाथाद्वयम्, इह अक्रियावादिभेदानयनप्रक्रमे जीवादीनि पूर्वोक्तानि पुण्य-पापवर्जितानि[8] सप्त पदानि परिपाट्या पट्टिकादौ स्थाप्यन्ते । तेषां च जीवादिपदानामधोभागे प्रत्येकं स्व-परशब्दद्विकं स्थाप्यते । स्वतः परत इति द्वे पदे न्यस्येते इत्यर्थः । असत्त्वादात्मनो नित्या-ऽनित्यविकल्पौ न स्तः; तद्धर्मिसिद्ध्यापत्तेः । तस्यापि च—स्वपरशब्दद्विकस्याधस्तात्काल यदृच्छारूपपदद्वयसमेतमेतन्नियतिस्वभावेश्वरा-ऽऽत्मलक्षणं पदचतुष्कं लिख्यते । काल-यदृच्छा-नियति-स्वभावेश्वरा-ऽऽत्मस्वरूपाणि षट् पदानि स्थाप्यन्त इत्यर्थः ।

१-२-३-४ ०नः-मु. ॥ ५ आत्मवेदिनो- मु. ॥ ६ विंशतिः-मु. नास्ति ॥ ७ इत्यादि-सि.वि. ॥ ८ ०दि-खं. ॥

इह यदृच्छावादिनः सर्वेऽप्यक्रियावादिन एव । न केचिदपि क्रियावादिनः । ततः प्राग्यदृच्छा नोपन्यस्ता ॥१४॥१५॥

अथ **विकल्पाभिलापमाह**—**'पढमे'** त्यादिगाथात्रयम् , नास्ति जीवः स्वतः कालत इति प्रथमो भङ्गः । तदनु नास्ति जीवः परतः कालत इति द्वितीयो भङ्गः । एतौ द्वौ च भङ्गौ कालेन लब्धौ । एवं यदृच्छादिभिरपि पञ्चभिः पदैः प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पौ प्राप्येते । सर्वेऽपि मिलिता द्वादश । अमीषां च विकल्पानामर्थः प्राग्वद्भावनीयः । [1]नवरं यदृच्छात इति—यदृच्छावादिनां मते ।

अथ के ते यदृच्छावादिनः ?, उच्यते, इह ये भावानां सन्तानापेक्षया न प्रतिनियतं कार्यकारणभावमिच्छन्ति किंतु यदृच्छया ते **यदृच्छावादिनः** । तथा च त[2] एवमाहुः—न खलु प्रतिनियतो वस्तूनां कार्यकारणभावः, तथाप्रमाणेनाग्रहणात् । तथाहि—शालूकादपि शालूको जायते गोमयादपि, अग्नेरप्यग्निर्जायते अरणिकाष्ठादपि । [3]धूमादपि धूमोऽग्नीन्धनसंपर्कादपि । कन्दादपि जायते कदली बीजादपि, वटादयोऽपि बीजादुपजायन्ते शाखैकदेशादपि । ततो न प्रतिनियतः क्वचिदपि कार्यकारणभाव इति यदृच्छातः क्वचिदपि किंचिद्भवतीति प्रतिपत्तव्यम् । न खल्वन्यथा वस्तुसद्भावं पश्यन्तोऽन्यथाऽऽत्मानं प्रेक्षावन्तः [4]परिक्लेशयन्तीति । एते च द्वादश विकल्पा जीवतत्त्वेन—जीवपदेन संप्राप्ता—लब्धाः । एवमजीवादिभिरपि षड्भिः पदैः प्रत्येकं द्वादश द्वादश विकल्पाः प्राप्ताः । ततो द्वादशभिः सप्त गुणिता जाताश्चतुरशीतिः । सर्वसङ्ख्यया चाक्रियावादिनामेते भेदा भवन्तीति ॥१६॥१७॥१८॥

१ तुला–नन्दीसूत्रमलय. वृत्तिः २१५A ॥ २ एत–मु. ॥ ३ जायते धूमादपि–मु. ॥ ४ परिक्लेशयन्ति–मु. ॥

इदानीमज्ञानिकानां सप्तषष्टिसङ्ख्यभेदानयनोपायमाह–'संते'त्यादिगाथाद्वयम्, सत्त्वम् १, असत्त्वम् २, सदसत्त्वम् ३, अवक्तव्यत्वम् ४, सदवक्तव्यत्वम् ५, असदवक्तव्यत्वम् ६, सदसदवक्तव्यत्वं ७ चेति सप्त पदानि–सप्त भङ्गाः ।

[1]तत्र सत्त्वं–स्वरूपेण विद्यमानत्वम् असत्त्वं–पररूपेणाविद्यमानत्वम् । सदसत्त्वं–स्वपररूपाभ्यां विद्यमानत्वाविद्यमानत्वम् । तत्र यद्यपि सर्वं वस्तु स्वपररूपाभ्यां सर्वदैव स्वभावत एव सदसत् तथापि क्वचित् किञ्चित्कदाचिदुद्भूतं प्रमात्रा विवक्ष्यते । तत एवं त्रयो विकल्पा भवन्ति । तथा तदेव सत्त्वमसत्त्वं च यदा युगपदेकेन शब्देन वक्तुमिष्यते तदा तद्वाचकः शब्दः कोऽपि न विद्यते इति अवक्तव्यत्वम्[2] । यदा त्वेको भागः सन्नपरश्चावक्तव्यो युगपद्विवक्ष्यते तदा सदवक्तव्यत्वम् । यदा त्वेको भागोऽसन्नपरश्चावक्तव्यो युगपद्विवक्ष्यते तदाऽसदवक्तव्यत्वम्[3] । यदा त्वेको भागः सन्नपरश्चासन् अपरश्चावक्तव्यस्तदा सदसदवक्तव्यत्वमिति । न चैतेभ्यः सप्तविकल्पेभ्योऽन्यो विकल्पः संभवति । सर्वस्यैतेष्वेव मध्येऽन्तर्भावात् ।

इह च घटमाश्रित्य किञ्चिद्भावना प्रदर्श्यते । तथाहि–ओष्ठ-ग्रीवा-कपाल कुक्षिबुध्नादिभिः स्वपर्यायैः सद्भावेन विशेषितः कुम्भः कुम्भो भण्यते । सन् घट इति प्रथमो भङ्गो भवतीत्यर्थः १ । तथा पटादिगतैस्त्वक्त्राणादिभिः परपर्यायैरसद्भावेन विशेषितोऽकुम्भो भवति । सर्वस्यापि घटस्य परपर्यायैरसत्त्वविवक्षायामसन् घट इति द्वितीयो भङ्गो भवतीत्यर्थः २ । तथा एकस्मिन् देशे स्वपर्यायसत्त्वेन अन्यत्र तु देशे परपर्यायासत्त्वेन विवक्षितो घटः संश्चासंश्च भवति । घटोऽघटश्च भवतीत्यर्थः ३ । तथा सर्वोऽपि घटः

१ तुला–नन्दीसूत्रमलय॰ वृत्तिः प॰ २१७ A ॥ २-३ ०क्तव्यम्-खं. वि. सि. ॥

स्वपरोभयपर्यायैः सद्भावासद्भावाभ्यां विशेषितो युगपद्वक्तुमिष्टोऽवक्तव्यो भवति । स्वपरपर्यायसत्त्वासत्त्वाभ्यामेकेन केनाप्यसांकेतिकेन शब्देन सर्वस्यापि तस्य युगपद्वक्तुमशक्यत्वात् ४ । तथा एकस्मिन् देशे स्वपर्यायैः सत्त्वेन विशेषितोऽन्यत्र तु देशे स्वपरोभयपर्यायैः सत्त्वासत्त्वाभ्यां युगपदसांकेतिकेनैकेन शब्देन वक्तु' विवक्षितः कुम्भः संश्चावक्तव्यश्च भवतीत्यर्थः । देशे तस्य घटत्वाद्देशे चावक्तव्यत्वादिति ५ । तथा एकदेशे परपर्यायैरसत्त्वेन विशेषितोऽन्यस्मिंस्तु देशे [1]स्वपरपर्यायैः सत्त्वासत्त्वाभ्यां युगपदसांकेतिकेनैकेन शब्देन वक्तु' विवक्षितः कुम्भोऽसन्नवक्तव्यश्च भवति । अकुम्भोऽवक्तव्यश्च भवतीत्यर्थः । देशे तस्याकुम्भत्वात् देशे चावक्तव्यत्वादिति ६ । तथा एकदेशे स्वपर्यायैः सत्त्वेन विशेषितः, एकस्मिंस्तु देशे परपर्यायैरसत्त्वेन विशेषितोऽन्यस्मिंस्तु देशे स्वपरोभयपर्यायैः सत्त्वासत्त्वाभ्यां युगपदेकेन शब्देन वक्तु' विवक्षितः कुम्भः संश्चासंश्चावक्तव्यश्च भवति । घटोऽघटोऽवक्तव्यश्च भवतीत्यर्थः । देशे तस्य घटत्वाद्देशेऽघटत्वाद्देशेऽवक्तव्यत्वादिति ७ । एवं सप्तभेदो घटः । एवं पटादिरपि द्रष्टव्य [2]इति ।

एतानि च सप्त पदानि जीवादीनां नवानां पदानां परिपाट्या पट्टिकादौ विन्यस्तानामधस्तात्क्रमेण प्रत्येकं स्थापयित्वा यथा—येन प्रकारेण क्रियतेऽभिलापस्तथा साहिष्यत इति—कथ्यते निशमयत--शृणुत । एतच्च शिष्याणामवहितत्वोत्पादनार्थमुक्तमिति ॥९९॥ १२००॥

तमेवाभिलापमाह—'**संतो**' इत्यादिगाथाद्वयम् , सन् जीव इति को वेत्ति १, किं वा तेन ज्ञातेनेति प्रथमो भङ्गः । अस्य चायमर्थः—न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति योऽतीन्द्रियमात्मानमवभोत्स्यते ।

१ स्व० सि. वि. नास्ति ॥ २ एवेति- मु. ॥

न च तेन ज्ञातेनापि किञ्चित्फलमस्ति । तथाहि--यदि नित्यः सर्वगतोऽमूर्तो ज्ञानादिगुणोपेत एतद्गुणव्यतिरिक्तो वाऽऽत्मा ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति । तस्माद्ज्ञानमेव श्रेयः ।

एवं शेषैरप्यसदादिभिः षड्भिः [1]पदैर्भङ्गा भवन्ति । असन् जीवः को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेनेत्यादि । इति जाता जीवपदस्य सप्त भङ्गाः । एवमजीवादीनामप्यष्टानां पदानां प्रत्येकं सप्त सप्त भङ्गा भवन्ति, सर्वेऽपि मिलितास्त्रिषष्टिः, तथा अन्येऽपि—अमी वक्ष्यमाणाः हुशब्दस्यावधारणार्थत्वाच्चत्वार एव भङ्गा इह—अज्ञानिकप्ररूपणप्रक्रमे भवन्ति ॥ १ ॥ २ ॥

तानेवाह—'संती' त्यादिगाथाद्वयम् , सती भावोत्पत्तिः को जानाति ?, किं वाऽनया ज्ञातया ? १ । एवमसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ?, किं वाऽनया ज्ञातया ? २ । सदसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ?, किं वाऽनया ज्ञातया ? ३ । अवक्तव्या भावोत्पत्तिः को वेत्ति ?, किं वाऽनया ज्ञातया ? ४ ।

एतेषां च भङ्गानामयं तात्पर्यार्थः—इह पदार्थस्योत्पत्तिः किं सतोऽसतः सदसतोऽवाच्यस्य वेति को जानाति ?, ज्ञातेन वा न किञ्चिदपि प्रयोजनमिति । शेषविकल्पत्रयं तु उत्पत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न संभवतीति नोक्तम् । एतैश्चतुर्भिर्भङ्गैर्मिलितैः त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्तैर्जाता [2]एषा सप्तषष्टिरज्ञानिकानामिति ॥ ३ ॥ ४ ॥

इदानीं वैनयिकानां द्वात्रिंशद्भेदानाह—'सुरे' त्यादिगाथाद्वयम् , सुरा—देवाः, नृपतयो—राजानः, यतयो—मुनयः, ज्ञातयः—स्वजनाः, स्थविरा—वृद्धाः, अवमा— [3]अनुकम्पनीयाः कार्पटिकादयः,

१ पदैर्जीवभङ्गा-मु. ॥ २ एषा भङ्गकानां सप्त० मु. ॥ ३ अवक० खं ॥

मातापितरौ प्रतीतौ, एतेषामष्टानां प्रत्येकं मनो वचन-काय-दानैश्चतुर्विधो विनयः क्रियते । तद्यथा–सुराणां विनयं करोति मनसा तथा वाचा तथा कायेन तथा देशकालोपपन्नदानेन इत्यादि । एते च विनयादेव केवलात्स्वर्गापवर्गमभ्युपगच्छन्ति । विनयश्च नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकलक्षणः । सर्वत्र चैवंविधेन विनयेन देवादिषूपतिष्ठन् स्वर्गापवर्गभाग्भवतीति । तदेवमेतेऽष्टावपि [1]भङ्गा चतुष्केण गुणिता द्वात्रिंशद्वैनयिकभेदा भवन्तीति ।

सर्वैरप्येतैः पूर्वोक्तैः क्रियाऽक्रियाऽज्ञानवैनयिकवादिभेदैः पिण्डितैः-एकीकृतैस्त्रीणि त्रिषष्टयधिकानि पाखण्डिनां शतानि भवन्तीति । एतेषां च प्रतिक्षेपः [2]सूत्रकृताङ्गादिभ्यः समवसेयः ॥ ५-६ ॥ २०६॥

सम्प्रति [3]'अट्ठहा पमाय' त्ति सप्तोत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

पमाओ य मुणिंदेहिं, भणिओ अट्ठभेयओ ।
अन्नाणं १ संसओ २ चेव, मिच्छानाणं ३ तहेव य ॥७॥
रागो ४ दोसो ५ मइब्भंसो ६, धम्मंमि य अणायरो ७ ।
जोगाणं दुप्पणिहाणं ८, अट्ठहा वज्जियव्वओ ॥८॥

प्रमाद्यति–मोक्षमार्गं प्रति शिथिलोद्यमो भवत्यनेन प्राणीति प्रमादः । स च मुनीन्द्रैः--तीर्थकृद्भिर्भणितः--प्रतिपादितो भवति, अष्टभेदः- अष्टप्रकारः । तद्यथा–अज्ञानं–मूढता, संशयः–किमेतदेवं स्यादुतान्यथेति संदेहः, मिथ्याज्ञानं-विपर्यस्ता प्रतिपत्तिः, रागः--अभिष्वङ्गः, द्वेषः--अप्रीतिः, स्मृतिभ्रंशो–

१ भङ्गा-जे.नास्ति ॥ २सूत्रकृताङ्गसूत्रवृत्तिः अध्य. १२,प. २११तः,नन्दीसूत्रमलय.वृत्तिः२१८Aतःद्रष्टव्या॥ ३अट्ठय–वि.पो.॥

विस्मरणशीलता, धर्मे चार्हत्प्रणीतेऽनादरः—अनुद्यमः, योगानां-मनोवाक्कायानां दुष्प्रणिधानं-दुष्टताकरणम् । अयं चाष्टविधोऽपि प्रमादः कर्मबन्धहेतुत्वाद्वर्जयितव्यः—परिहर्तव्य इति ॥७-८ । २०७॥

सम्प्रति 'भरहाहिव' त्ति अष्टोत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

भरहो १ सगरो २ मघवं ३ सणंकुमारो य रायसद्दूलो ४ ।
संती ५ कुंथू ६ य अरो ७ हवइ सुभूमो ८ य कोरव्वो ॥९॥
नवमो य महापउमो ९ हरिसेणो १० चेव रायसद्दूलो ।
जयनामो ११ य नरवई बारसमो बंभदत्तो य १२ ॥१०॥

[समवायाङ्गसू. १५८ । गा. ४७८]

भरतः प्रथमश्चक्रवर्ती, द्वितीयः सगरः—सगरनामा, तृतीयो मघवान्, चतुर्थः सनत्कुमारो राजशार्दूलः, शार्दूलशब्दः सिंहपर्यायः, [1]राजा शार्दूल इव राजशार्दूलश्चक्रवर्तीत्यर्थः । पञ्चमः शान्तिनाथः, षष्ठः कुन्थुनाथः, सप्तमोऽरस्वामी, अष्टमः सुभूमो भवति, कौरव्यः—कौरव्यगोत्रः, नवमो महापद्मः, दशमो हरिषेणो राजशार्दूलः—चक्रवर्ती, [2]एकादशमो जयनामा नरपतिः, [3]द्वादशमो ब्रह्मदत्तः ॥९॥ १०॥२०८॥

इदानीं 'हलधर' त्ति नवोत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

[4]अयले १ विजये २ भद्दे ३, सुप्पभे य ४ सुदंसणे ५ ।
आणंदे ६ नंदणे ७ पउमे ८, रामे यावि ९ अपच्छिमे ॥११॥ [आवश्यकभाष्य गा. ४१]

१ राज्ञां शार्दूल इव राजसु वा शार्दूलश्चक्रवर्तीत्यर्थः—मु. ॥ २ एकादशो-मु. ॥ ३ द्वादशो—मु. ॥
४ तुला- समवायाङ्गवृत्तिः सू. १५८ गा. ५२ ॥

प्रथमो बलदेवोऽचलः, द्वितीयो विजयः, तृतीयो भद्रः, चतुर्थः सुप्रभः, पञ्चमः सुदर्शनः, षष्ठ आनन्दः, सप्तमो नन्दनः, अष्टमः पद्मः, सीताभर्ता राम इत्यर्थः, नवमो रामः-कृष्णसहचरः अपश्चिमः-सर्वान्तिमः, न विद्यते पश्चिमो यस्मादिति व्युत्पत्तेः ॥११॥ २०९॥

सम्प्रति 'हरिणो' त्ति दशोत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

[1]तिविट्ठू य दुविट्ठू य २ सयंभु ३ पुरिसुत्तमे ४ पुरिससीहे ५ ।
तह पुरिसपुंडरीए ६ दत्ते ७ नारायणे ८ कण्हे ९ ॥१२॥ [आवश्यकभाष्य गा. ४०]

त्रिपृष्ठः प्रथमो वासुदेवः, प्राकृतत्वादार्षत्वाच्च सूत्रे **'तिविट्ठू'** त्ति निर्देशः । द्वितीयो द्विपृष्ठः, तृतीयः स्वयम्भूः, चतुर्थः पुरुषोत्तमः, पञ्चमः पुरुषसिंहः, षष्ठः पुरुषपुण्डरीकः सप्तमो दत्तः, अष्टमो नारायणो रामभ्राता लक्ष्मण इत्यर्थः, नवमः कृष्णः ॥१२॥ २१०॥

इदानीं **'पडिवासुदेव'** त्येकादशोत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

[2]आसग्गीवे १ तारय २ मेरए ३ मधुकेढवे ४ निसुंभे ५ य ।
बलि ६ पहराए ७ तह रावणे य ८ नवमे [3]जरासंधे ९ ॥१३॥
[आवश्यकभाष्य गा. ४२]

प्र. आ. ३४९

अश्वग्रीवः प्रथमः प्रतिवासुदेवः, तारको द्वितीयः, मेरकस्तृतीयः, मधुकैटभश्चतुर्थः, अस्य च मधुरित्येव नाम केवलम्, कैटभाभिधभ्रातृसंबन्धान्मधुकैटभ इत्युच्यते । निशुम्भः पञ्चमः, बलिः षष्ठ,

१-२ तुला-समवायाङ्गवृत्तिः सू. १५८ गा. ५२, ६१ ॥ ३ जरासिंधू-मु. । जरासंधे- ता. पो. ॥

प्रभाराजः प्रह्लादो वा सप्तमः, रावणोऽष्टमः, जरासन्धो नवमः । एते सर्वेऽपि त्रिपृष्ठादीनां नवानामपि वासुदेवानां यथाक्रमं प्रतिशत्रवः । तथा सर्वेऽपि चक्रयोधिनः, सर्वेऽपि च हताः स्वचक्रैः । यतस्तान्येव प्रतिवासुदेवचक्राणि प्रतिवासुदेवैर्वासुदेवव्यापत्तये क्षिप्तानि पुण्योदयवशाद्वासुदेवान् प्रणम्य वासुदेवहस्ते चटितानि । तैः क्षिप्तानि तान्येव प्रतिवासुदेवान् व्यापादयन्ति ॥१३॥ २११॥

सम्प्रति 'रयणाइं चउदस' त्ति द्वादशोत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

सेणावइ १ गाहावइ २ पुरोहिय ३ [1]गय ४ तुरय ५ [2]वड्ढई ६ इत्थी ७ ।
चक्कं ८ छत्त ९ चम्मं १० मणि ११कागिणि १२ खग्ग १३ दंडो १४ य ॥१४॥
चक्कं १ खग्गं २ च धणू ३ मणी ४ य माला ५ तहा गया ६ संखो ७ ।
एए सत्त उ रयणा सव्वेसिं वासुदेवाणं ॥१५॥
चक्कं छत्तं दंडं तिन्निवि एयाइं वाममित्ताइं ।
चम्मं दुहत्थदीहं बत्तीसं अंगुलाइं[3] असी ॥१६॥
चउरंगुलो मणी पुण तस्सद्धं चेव होइ विच्छिन्नो ।
चउरंगुलप्पमाणा सुवन्नवरकागिणी नेया ॥१७॥ [बृहत् सं. गा. ३०३-४-१२]

सेनापतिः १, गृहपतिः २, पुरोहितः ३, गजः[4] ४, तुरगः ५, वर्धकिः ६, स्त्री ७, चक्रम् ८, छत्रम् ९, चर्म १०, मणिः ११, काकिनी १२, खड्गः १३, दण्ड १४ श्चेत्येतानि चतुर्दशापि रत्नानि

१ तुरय-गय- मु. ॥ २ वड्ढइ- पो. वि. सि. ॥ ३ ०इं-सि. ॥ ४ तुरगः गजः वर्धकिः--मु. ॥

निगद्यन्ते । 'रत्नं निगद्यते तज्जातौ जातौ यदुत्कृष्ट' [ ]मिति वचनात् सेनापत्यादिजातिषु वीर्यत उत्कृष्टत्वेन रत्नानीत्युच्यन्ते ।

तत्र [1]सेनापतिः—दलनायको गङ्गासिन्धुपरपारविजये बलिष्ठः १ । गृहपतिः—चक्रवर्तिगृहसमुचितेतिकर्तव्यतापरः शाल्यादिसर्वधान्यानां समस्तस्वादुसहकारादिफलानां सकलशाकविशेषाणां निष्पादकश्च २ । पुरोहितः—शान्तिकर्मादिकृत् ३ । तुरङ्गमगजौ प्रकृष्टवेगमहापराक्रमादिगुणसमन्वितौ ४–५ । वर्धकिः—गृहनिवेशादिसूत्रणाकारी, [2]यस्तमिस्रगुहायां खण्डप्रपातगुहायां चोन्मग्नजला-निमग्नजलयोर्नद्योश्चक्रवर्त्तिसैन्योत्तरणाय काष्ठमयं सेतुबन्धं करोति ६ । स्त्रीरत्नमत्यद्भुतकामसुखनिधानम् , ७ । चक्रं समस्तायुधातिशायि दुर्दमरिपुजयकरम् ८ ।

छत्रं चक्रवर्तिहस्तसंस्पर्शप्रभावसंजातद्वादशयोजनायामविस्तारं सत् वैताढ्यनगोत्तरविभागवर्तिम्लेच्छानुरोधिमेघकुमारवृष्टाम्बुभरनिरसनसमर्थं नवनवतिसहस्रकाञ्चनशलाकापरिमण्डितं निर्व्रणसुप्रशस्तकाञ्चनमयोद्दण्डदण्ड वस्तिप्रदेशे पञ्जरविराजितं राजलक्ष्मीचिह्नमर्जुनाभिधानपाण्डुरस्वर्णप्रत्यवस्तृतपृष्ठदेशं शारदसंपूर्णपूर्णिमामृगाङ्कमण्डलमनोहरं तपना-ऽऽतप-वात-वृष्टिप्रभृतिदोषक्षयकारकम् ९ । चर्मरत्नं-छत्रस्याधस्ताच्चक्रवर्तिहस्तस्पर्शप्रभावसंजातद्वादशयोजनायामविस्तारं प्रातरुप्तापराह्णसंपन्नोपभोग्यशाल्यादिसम्पत्तिकरम् १० ।

प्र.आ.
३५०

१-तुला-जिनभद्र० बृ.सं. मलय. वृत्तिः गा. १०४ प. ११८ ब तः ।
२ एतद् विवरणं जिन. बृ. सं. मलय० वृत्तौ गृहपतिरत्नाधिकारविषयम् दृश्यते । प. ११८ B ॥

मणिरत्नं-वैडूर्यमयं त्र्यस्रं षडंशं यथाक्रममूर्ध्वाधः[1]स्थितयोश्छत्रचर्मरत्नयोरपान्तराले छत्रतुम्बे न्यस्तं सद् द्वादशयोजनविस्तारिणः [2]समस्तस्यापि चक्रवर्तिकटकस्य निरुपमप्रकाशकारि तमिस्रगुहायां खण्डप्रपातगुहायां च प्रविशतश्चक्रवर्तिनो हस्तिरत्नदक्षिणशिरसि निबद्धं च द्वादश योजनानि यावत्पूर्वापरपुरतोरूपासु तिसृषु दिक्षु निबिडतममपि तमःस्तोममपहरति। यस्य च हस्ते शिरसि वा बद्ध्यते तस्य दिव्यतिर्यग्मनुष्यकृतसमस्तोपद्रवसमस्तरोगापहारं करोति। एतच्च मूर्ध्न्यन्यत्र वाऽङ्गे व्यवस्थाप्य संग्रामे प्रविष्टः सन् शस्त्रैरवध्यो भवति सर्वभयनिर्मुक्तश्चोपजायते। अन्यच्च—तस्मिन् मणिरत्ने सदा मणिबन्धादौ व्यवस्थितेऽवस्थितयौवनोऽवस्थितकेशनखश्चोपजायते [3]पुमान् ११। काकिणीरत्नमष्टसौवर्णिकं समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितं विषापहारसमर्थम्, यत्र चन्द्रप्रभा सूर्यप्रभा वह्निदीप्तिर्वा न तमःस्तोममपहतुमलं[4]—समर्थस्तत्र तमिस्रगुहायामतिनिबिडतिमिरतिरस्करणदक्षम्, यस्य दिव्यप्रभावकलिततया द्वादश योजनानि यावत्तमिस्रविसरविनाशिका गभस्तयो विवर्धन्ते। यच्च सर्वकालं चक्रवर्ती निजस्कन्धावारे रात्रौ [5]स्थापयति [6]-तद्धि प्रकाशं दिवसालोकभूतं रजन्यामादधाति। यस्य च प्रभावेण चक्रवर्ती द्वितीयमर्धभरतमभिजेतुं सकलसैन्यसमेतस्तमिस्रगुहां[7] प्रविशति। [8]तथाहि तत्र प्रविष्टः सन् स पूर्वभित्तितटे पश्चिमभित्तितटे च प्रत्येकं योजनान्तरितानि पञ्चधनुःशतायामविष्कम्भान्युभयपार्श्वयोर्योजनोद्योतकराणि

१ ०स्थितयोश्० सि. वि. नास्ति ॥ २ समस्तचक्र० सि. वि. ॥ ३ पुमान्- जे. नास्ति ॥ ४ ०लं भवति तत्र- मु. ॥ ५ करोति-जे. सि. वि. ॥ ६ तद्धि दिवसालोकभूतं प्रकाशं रजन्या० मु. ॥ ७ ०गुहायां -मु. ॥ ० गुफां-वि. ॥ ८ तथा च तत्र-मु. ॥

चक्रनेमिसंस्थानानि चन्द्रमण्डलप्रतिनिभानि वृत्तहिरण्यरेखारूपाणि [1]गोमूत्रिकान्यान्यनेनैकस्यां भित्तौ पञ्चविंशतिरपरस्यां तु चतुर्विंशतिरित्येकोनपञ्चाशतं मण्डलान्यालिखन् व्रजति । तानि च मण्डलानि [2]यावच्चक्रवर्ती चक्रवर्तिपदं परिपालयति तावदवतिष्ठन्ते । गुहाऽपि तथैवोद्घाटिता तिष्ठति, उपरते तु चक्रिणि तत्सर्वमुपरमते १२ ।

खड्गरत्नं—संग्रामभूमावप्रतिहतशक्तिः १३ । दण्डरत्नं-रत्नमयपञ्चलताकं वज्रसारमयं सर्वशत्रुसैन्यविनाशकारकम्, चक्रवर्तिनः स्कन्धावारे विषमोन्नतविभागेषु समत्वकारि शान्तिकरं चक्रवर्तिनो हितेप्सितमनोरथपूरकं दिव्यमप्रतिहतं प्रयत्नविशेषतश्च व्यापार्यमाणं योजनसहस्रमप्यधः प्रविशति १४ ।

एतानि चतुर्दश रत्नानि प्रत्येकं यक्षसहस्राधिष्ठितानि भवन्ति । तथैतानि सेनापत्यादीनि सप्त पञ्चेन्द्रियाणि, चक्रादीनि सप्त एकेन्द्रियाणि पृथिवीपरिणामरूपाणि, प्रत्येकं जम्बूद्वीपे जघन्यपदेऽष्टाविंशतिरेककालं प्राप्यन्ते, जघन्यतोऽपि चक्रवर्तिचतुष्टयसद्भावात् । उत्कृष्टतस्तु दशोत्तरद्विशतसङ्ख्यानि, चक्रवर्तिनो ह्येककालं त्रिंशद्भवन्ति । यथा अष्टाविंशतिर्विदेहे एकैको भरतैरवतयोः, सप्तानां च त्रिंशता गुणने द्वे शते दशोत्तरे भवत इति ॥१४॥

अथ **रत्नप्रस्तावाद्वासुदेवस्यापि रत्नान्याह—'चक्क'**मित्यादि, [3]चक्र-खड्ग-धनुर्मणयः प्रतीताः, माला सदैव ध्याम्लाना देवार्पिता, गदा—कौमोदकी नाम प्रहरणविशेषः, शङ्खः—पाञ्चजन्यो द्वादशयोजनविस्तारिध्वानः, एतानि सप्त रत्नानि सर्वेषामपि वासुदेवानां भवन्ति ॥१५॥

१ गोमूत्रकानि न्यायेनैकस्यां-सि॰ ॥ २ द्रष्टव्यं-त्रिशष्टिशलाका पु॰ चरित्रे (सर्ग-२ श्लो॰ १८६) ॥
३ तुला—जिनभद्र. बृ. सं. मलय॰ वृत्तिः प. ११६A तः ॥

अथ सप्तानामप्येकेन्द्रियरत्नानां प्रमाणमाह—'चक्क'मित्यादि गाथाद्वयम्; चक्रं छत्रं दण्डमित्येतानि त्रीण्यपि रत्नानि [1]व्यामप्रमाणानि; [2]व्यामो नाम प्रसारितोभयबाहोः पुंसस्तिर्यग्हस्तद्वयाङ्गुलयोरन्तरालम्। चर्मरत्नं द्विहस्तदैर्घ्यम् द्वात्रिंशदङ्गुलदीर्घोऽसिः—खड्गरत्नम्, तथा दैर्घ्यमधिकृत्य मणिः पुनश्चतुरङ्गुलप्रमाणः, तस्य—दैर्घ्यस्यार्धं द्वे अङ्गुले इत्यर्थः, विस्तीर्णो—विस्तृतः। तथा चतुरङ्गुलप्रमाणा सुवर्णवरकाकिनी—जात्यसुवर्णमयी काकिनाम रत्नं ज्ञेया। एतानि सप्ताप्येकेन्द्रियरत्नानि सर्वचक्रवर्तिनामात्मा[3]ङ्गुलेन ज्ञेयानि। शेषाणि तु सप्त पञ्चेन्द्रियरत्नानि तत्तत्कालीनपुरुषोचितमानानीति ॥१६ ॥१७॥२१२॥

२१३ द्वारे नवनिधिस्वरुपम् गाथा १३१८-१३३१

सम्प्रति 'नव निहिओ' त्ति त्रयोदशोत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

प्र. आ. ३५१

नेसप्पे १ पंडुयए २ पिंगलए ३ सव्वरयण[4] ४ महपउमे ५।
काले य ६ महाकाले ७ माणवग ८ महानिही संखे ९ ॥१८॥
नेसप्पंमि निवेसा गामागरनगरपट्टणाणं च।
दोणमुहमडंबाणं खंधाराणं गिहाणं च ॥१९॥
गणियस्स य [5]गीयाणं माणुम्माणस्स जं पमाणं च।
धन्नस्स य बीयाणं उप्पत्ती पंडुए भणिया ॥२०॥

१ वाम० सं. ॥ २ वामो-सं. ॥ ३ अत्र "इहाङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलमवगन्तव्यम्। सर्वचक्रवर्त्तिनामपि काकिन्यादिरत्नानां तुल्यप्रमाणत्वात्। इति जिनभद्र. बृ. सं. मलयवृत्तौ प. ११८ पाठः ॥ ४ तुलना—प्रश्नव्याकरणवृत्तिः अभयदेवसूरीया प. ७१ ॥ ५ णे-सं. ॥ ६ बीयाणं-इति स्थानाङ्गसूत्रे पाठः ॥

सव्वा आहरणविही पुरिसाणं जा य जा य महिलाणं ।
[1]आसाण य हत्थीण य पिंगलगनिहिम्मि सा भणिया ॥२१॥
रयणाइं सव्वरयणे चउदस पवराइं [2]चक्कवट्टीस्स ।
उप्पज्जंति एगिंदियाइं पंचिंदियाइं च ॥२२॥
वत्थाण य उप्पत्ती निप्फत्ती चेव सव्वभत्तीणं ।
रंगाण य [3]धाऊण य सव्वा एसा महापउमे ॥२३॥
काले कालन्नाणं भव्व पुराणं च [4]तिसुवि वंसेसु ।
सिप्पसयं कम्माणि य तिन्नि [5]पयाए हियकराइं ॥२४॥
लोहस्स य उप्पत्ती होइ महाकाल[6] आगराणं[7] च ।
रूप्पस्स सुवण्णस्स य मणिमोत्तियसिल [8]प्पवालाणं ॥२५॥
जोहाण य [9]उप्पत्ती आवरणाणं च पहरणाणं च ।
सव्वा य जुद्धनीई माणवगे दंडनीई य ॥२६॥

१ आसायण-ता० सि० ॥ २ चक्कवट्टीण-मु. ॥ ३ धोयाण-इति स्थानाङ्गसूत्र-पाठः ॥ ४ तीसु वासेसु-इति स्थानाङ्गसूत्रेपाठः ॥ ५ पयाइं हिय० ता. । पया हिय० सि. ॥ ६ ०लि-इति स्थानाङ्गसूत्रे पाठः ॥ ७ ०णां-वि. ॥ ८ ०पवालाणं-मु. । सि. प्रतौ स्थानाङ्गेऽपि च ०प्पवालाणं-इति पाठः ॥ ९ ०निप्फत्ति-इति स्थानाङ्गसूत्रे पाठः ॥

नट्टविही नाडयविही कव्वस्स चउव्विहस्स निप्फत्ती ।
संखे महानिहिम्मि उ तुडियंगाणं च सव्वेसिं ॥२७॥
[1]चक्कट्ठपइट्ठाणा अट्ठुस्सेहा य नव य विक्खंभे ।
बारस दीहा मंजूससंठिया जण्हवीए मुहे ॥२८॥
वेरुलियमणिकवाडा कणयमया विविहरयणपडिपुन्ना ।
ससिसूरचक्कलक्खण [2]अणुसमवयणोववत्तीया ॥२९॥
पलिओवमट्ठिईया निहिसरिनामा य तत्थ खलु देवा ।
जेसिं ते आवासा अक्केज्जा आहिवच्चाय[3] ॥३०॥
एए ते नव निहिणो पभूयधणरयणसंचयसमिद्धा ।
जे वसमुवगच्छंति सव्वेसिं चक्कवट्टीणं ॥३१॥

[स्थानाङ्गसूत्रे-ठाण-९, सू. ६७३, गा०१-१४]

नैसर्पः, पाण्डुकः, पिङ्गलकः, सर्वरत्नः, महापद्मः, कालः, महाकालः, माणवकः, महानिधिः शङ्खश्च, एते नव निधयः। एतेषु च निधिषु कल्पपुस्तकानि शाश्वतानि वर्तन्ते। [4]तेषु च विश्वस्थितिराख्यायते ॥१८॥

---

१ चक्कट्ठपयट्ठाणा–ता.सं. ॥ २ अणुसमजुगबाहुवतणा -इति स्थानाङ्ग सूत्रे पाठः ॥ ३ वा–इति स्थानाङ्गे पाठः ॥
४ ते च–सि. वि. ॥

तत्र यस्मिन्निधौ यदाख्यायते तदाह–'नेसप्पंमी' त्यादिगाथा एकादश, नैसर्पे–नैसर्पाभिधे निधौ ग्रामा-ऽऽकर-नगर-पत्तनानां [1]द्रोणमुख-मडम्बानां स्कन्धावाराणां गृहाणां चशब्दादापणानां च निवेशाः–[2]स्थापना व्याख्यायन्ते। तत्र ग्रामो–वृत्त्यावृतः, आकरो–यत्र सन्निवेशे लवणाद्युत्पद्यते, नगरं–राजधानी, पत्तनं–जलस्थलनिर्गमप्रवेशम्, द्रोणमुखं–जलनिर्गमप्रवेशम्, अर्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामान्तररहितं [3]मडम्बम्, स्कन्धावारः–कटकनिवेशः, गृहं–भवनम्, आपणो–हट्ट इति ॥१९॥

[4]गणितस्य–दीनारादिपूगफलादिलक्षणस्य, [5]तथा गीतानां–स्वरकरणपाटकरण[6]धूपकागारुकटिकिकाप्रभृतीनां प्रबन्धानाम्, तथा मानं–सेतिकादि, तद्विषयं यत्तदपि मानमेव धान्यादि मेयमिति भावः, तथा उन्मानं–तुलाकर्षादि, तद्विषयं यत्तदप्युन्मानम्, खण्ड–गुडादि धरिममित्यर्थः, ततः समाहारद्वन्द्वः, ततस्तस्य यत्प्रमाणम्, तथा धान्यबीजानां च–शाल्यादीनां देशकालौचित्येनोत्पत्तिः–निष्पत्तिः पाण्डुकनिधौ भणिता–व्यावर्णिता ॥२०॥

सर्वोऽप्याभरणविधिर्यः पुरुषाणां यश्च महिलानां तथा अश्वानां हस्तिनां च स यथौचित्येन पिङ्गलनामके महानिधौ भणितः ॥२१॥

इह चक्रवर्तिनश्चतुर्दश रत्नादि सर्वोत्तमानि भवन्ति। तद्यथा–चक्रप्रमुखाणि सप्त एकेन्द्रियाणि, सेनापतिप्रमुखाणि सप्त पञ्चेन्द्रियाणि, तानि चतुर्दशापि सर्वरत्नाख्ये महानिधौ उत्पद्यन्ते। तदुत्पत्तिस्तत्र व्यावर्णितेत्यर्थः। अन्ये त्वेवमाहुः–उत्पद्यन्ते एतत्प्रभावात् स्फीतिमन्ति च भवन्तीत्यर्थः ॥२२॥

---

१ द्रोणमुखमडवा० सि.वि.सं. ॥ २ स्थापनान्याख्यायन्ते–मु. ॥ ३ मंडव–सि.वि. ॥ ४ तुलना–स्थानाङ्गवृत्तिः प. ४४६ ॥ ५ तथा बीजानां तन्निबन्धनभूतानाम्–इति स्थानाङ्गवृत्तौ ॥ ६ •धूपक० वि.वि. सं. ॥

सर्वेषामपि वस्त्राणां या उत्पत्तिः, तथा सर्वेषामपि वस्त्रादिगतानां भक्तिविशेषाणां सर्वेषामपि च रङ्गाणां–[1]मञ्जिष्ठा-कृमिराग-कुसुम्भादीनाम्, धातूनां च–लोह-ताम्रादीनाम्, 'धोव्वाण य' त्ति पाठे तु सर्वेषां वस्त्रादिप्रक्षालनविधीनां या निष्पत्तिः, सर्वा चैषा महापद्मे निधावभिधीयते ॥२३॥

काले–कालनामनि निधौ कालज्ञानं–समस्तज्योतिः[2]शास्त्रानुगतं ज्ञानमितिभावः ।

तथा जगति त्रयो वंशाः, वंशः प्रवाह आवलिकेत्यनर्थान्तरम्. तद्यथा–तीर्थकरवंशश्चक्रवर्तिवंशो बलदेववासुदेववंशश्च, तेषु त्रिष्वपि वंशेषु [3]यद्भाव्यं–भावि यच्च पुराणम्–अतीतम्, उपलक्षणमेतत् वर्तमानं च । 'तिसुवि वासेसु'त्तिपाठे तु अनागतवस्तुविषयमतीतवस्तुविषयं च कालज्ञानं क्रमेणानागतातीतवर्षत्रयगोचरमिति । क्वचिद् 'भव्वपुराणं च तिसुवि कालेसु'त्ति पाठः, तत्र च त्रिष्वपि कालेषु–वर्तमाना-ऽतीता-ऽनागतेषु भव्यं–शुभम्, पुराणं च–अशुभं कालज्ञानमिति ।

तथा [4]यत् शिल्पशतं–घट-लोह-चित्र-वस्त्र-नापितशिल्पानां पञ्चानामपि प्रत्येकं विंशतिभेदत्वात् यानि च कृषिवाणिज्यादीनि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानि त्रीणि कर्माणि प्रजाया हितकराणि तदेतत्सर्वमभिधीयते ॥२४॥

महाकाले निधौ लोहस्य नानाभेदभिन्नस्योत्पत्तिराख्यायते, रूप्यसुवर्णमणिमुक्ताशिलाप्रवालानां संबन्धिनामाकराणां च । तत्र रूप्य-सुवर्णे प्रतीते, मणयः–चन्द्रकान्तादयः, मुक्ता–मौक्तिकानि, शिलाः-स्फाटिकादिका, प्रवालानि–विद्रुमाणीति ॥२५॥

१ मजिष्ठा० मु. ॥ २ शास्त्रानुबन्धिगतं- जे. सि. वि. ॥ ३ यद्भव्यं - मु. ॥ ४ तत्–सि. । यतः–खं. ॥

माणवके निधौ योधानां–शूरपुरुषाणाम्, आवरणानां-[1]खेटकादीनाम्, प्रहरणानां–खड्गादीनां च यत्र यथा वा उत्पत्तिर्भवति[2] तथाऽभिधीयते । तथा सर्वाऽपि युद्धनीतिः व्यूहरचनादिलक्षणा, सर्वाऽपि च दण्डनीतिः-सामादिचतुर्विधाऽऽख्यायते ॥२६॥

शङ्खाभिधाने पुनर्महानिधौ सर्वोऽपि नर्तनविधिः–नृत्यकरणप्रकारः सर्वोऽपि च नाटकविधिः–अभिनेयप्रबन्धप्रपञ्चनप्रकारः, तथा धर्माऽर्थ-काम-मोक्षलक्षणपुरुषार्थप्रतिबद्धस्य, यद्वा संस्कृतप्राकृताऽपभ्रंशसंकीर्णभाषानिबद्धस्य [3]गद्य-पद्य-गेय चौर्णपदबद्धस्य वा चतुर्विधस्यापि काव्यस्य, तथा सर्वेषां त्रुटिताङ्गानाम्-आतोद्यापरपर्यायाणामुत्पत्तिराख्यायते ।

अन्ये त्वेते पूर्वोक्ताः पदार्थाः सर्वेऽपि नवसु निधिषु साक्षादेव समुत्पद्यन्ते इति व्याख्यानयन्ति ॥२७॥

अथ **नवानामपि निधीनां साधारणं स्वरूपमाह–'चक्कट्ठपई'**त्यादि, प्रत्येकमष्टसु चक्रेषु प्रतिष्ठानम्–अवस्थानं येषां ते अष्टचक्रप्रतिष्ठानाः; प्राकृतत्वादष्टशब्दस्य परनिपातः । अष्टौ योजनानि उत्सेधः-उच्चैस्त्वं येषां ते तथा । नव च योजनानि विष्कम्भेण नवयोजनविस्तारा इत्यर्थः । द्वादशयोजनदीर्घाः, मञ्जूषासंस्थानसंस्थिताः, सदैव जाह्नव्या–गंगाया मुखेऽवस्थिताः, चक्रवर्त्तिन उत्पत्तिकाले च भरत-विजयानन्तरं चक्रवर्तिना सह पातालेन चक्रवर्तिपुरमनुगताः ॥२८॥ वैडूर्यमणिमयानि कपाटानि येषां ते तथा मयट्प्रत्ययस्य वृत्त्या उक्तार्थता; कनकमयाः-सौवर्णाः, विविधरत्नपरिपूर्णाः, शशि-सूर-चक्राकाराणि

1 खेटकानां-सि. वि. । सन्नाहानां- इति. स्थानाङ्गवृत्तौ. प. ४५० ॥
2 भवति-जे. सि. नास्ति 3 गद्यपदगेयवीर्ण० सि. । गद्यपद्यगेयवर्णपदभेदबद्धस्य-इति स्थानाङ्गवृत्तौ पाठः ।

लक्षणानि-चिह्नानि येषां ते तथा, प्राकृतत्वात्प्रथमाबहुवचनस्य लोपः, "अणुसमवयणोववत्तीय" त्ति अनुरूपा समा-अविषमा, वदनोपपत्तिः-द्वारघटना, येषां ते तथा।

'अणुवम' त्तिपाठे तु न विद्यते उपमावचनस्योपपत्तिः—घटना येषां स्वरूपव्यावर्णने ते अनुपमवचनोपपत्तिकाः— [1]उपमया प्रतिपादयितुमशक्याः, [2]उपमाया एवाभावादिति भावः। क्वचित् '[3]अणुसमयचयणोववत्तीय' त्तिपाठः, तत्र अनुसमयं—प्रतिसमयं पुद्गलानां च्यवनमुपपत्तिश्च येषां ते तथा; यावन्तस्तेभ्यः पुद्गला गलन्ति तावन्त एवानुसमयं लगन्तीत्यर्थः। [4]स्थानाङ्गे तु 'अणुसमजुगबाहुवयणा य' ति पठ्यते। तत्र चायमर्थः—[5]अनुसमा—अनुरूपा अविषमा जुगत्ति—यूपस्तदाकारा वृत्तत्वाद्दीर्घत्वाच्च बाहवो-द्वारशाखा वदनेषु—मुखेषु येषां ते तथा ॥२९॥

तेषु च निधिषु पल्योपमस्थितिका निधिसदृशनामानस्ते देवा भवन्ति येषां देवानां त एव निधय आवासा—आश्रयाः आधिपत्याय—आधिपत्यनिमित्तमक्रेयाः, [6]नाधिपत्यं क्रयेण लभ्यमिति भावः ॥३०॥

एते ते नव निधयः प्रभूतधनरत्नसंचयसमृद्धाः ये सर्वेषामपि भरतक्षेत्राधिपचक्रवर्तिनां वशमुपयान्तीति ॥३१॥२१३॥

इदानीं 'जीवसंखा उ' त्ति चतुर्दशोत्तरद्विशततमं द्वारं बिभणिषुः स्वकृतमेव जीवसङ्ख्याप्रतिपादकं कुलकमत्र ग्रन्थे निक्षिप्तवान् ग्रन्थकारः, तत्र चेयमादिगाथा—

१ उपमाया—सि. वि. सं. ॥ २ उपमा उपमाया—सि. वि ॥ ३ अणुसमच० सि. ॥
४ स्थानाङ्गे ६७३ तमे सूत्रे ॥ ५ तुला - स्थानाङ्गवृत्तिः प. ४५० ॥ ६ न तेषामाधिपत्यं-मु. ॥

नमिउं नेमिं एगाइजीवसंखं भणामि समयाओ ।
चेयणजुत्ता एगे १ भवत्थसिद्धा दुहा जीवा २ ॥३२॥
तस थावरा य दुविहा २ तिविहा थीपुंनपुंसगविभेया ३ ।
नारयतिरियनरामरगइभेयाओ चउब्भेया ४ ॥३३॥
अहव तिवेयअवेयगसरूवओ वा हवंति चत्तारि ४ ।
एगबितिचउपणिंदियरूवा पंचप्पयारा ते ॥३४॥
एए च्चिय छ अणिंदियजुत्ता ६ अहवा छ भूजलग्गिनिला ।
वणतससहिया ६ छप्पिय ते सत्त अकायसंवलिया ॥३५॥
अंडय १ रसय २ जराउय ३ संसेयय ४ पोयया ५ समुच्छिमया ६ ।
उब्भिय ७ तहोववाइय ८ भेएणं अट्ठहा जीवा ॥३६॥
पुढवाइ पंच [1]बितिचउपणिंदि ४ जुत्ता य नवविहा ९ हुंति ।
नारयनपुंस तिरिनरतिवेय सुरथीपुमेवं वा[2] ॥६॥ ३७॥
पुढवाइ अट्ठ असन्नि सन्नि दस ते ससिद्ध इगदसउ ११ ।
पुढवाइया तसंता अपज्जपज्जत्त बारसहा ॥३८॥

१ बितिचउप्पणिंदि जुया-सि. ॥ २ च-जे. सि. पो. ॥

बारसवि अतणुजुत्ता तेरस सुहुमियरे[1] गिंदिबेइंदी ।
तिय चउ असन्नि सन्नी अपज्जपज्जत्त चउदसहा ॥३९॥
चउदसवि अमलकलिया पनरस तह अंडगाइ जे अट्ठ ।
ते [2]अपज्जत्तगपजत्तभेयओ सोलस हवंति ॥४०॥
सोलसवि अकायजुया सत्तरस नपुमाइ नव अपज्जत्ता ।
पज्जत्ता अट्ठारस अकम्मजुअ ते इगुणवीसं ॥४१॥
पुढवाइ दस अपज्जा पज्जत्ता हुंति वीस संखाए ।
असरीरजुएहिं तेहिं वीसई होइ एगहिया ॥४२॥
सुहुमियरभूजलानलवाउवणाणंत दस सपत्तेआ ।
थितिचउअसन्निसन्नी अपज्जपज्जत्त बत्तीसं ॥४३॥
तह नरयभवणवणजोइकप्पगेवेज्जऽ[3]णुत्तरुप्पन्ना ।
सत्तदसऽट्ठपणबारस नवपणछुप्पन्नवेउव्वा ॥४४॥
हुंति अडवन्नसंखा ते नरतेरिच्छसंगया सव्वे ।
अपजत्तपजत्तेहिं सोलसुत्तरसयं तेहिं ॥४५॥

१ ०रि० पो, वि. ॥ २ अपज्जत्तगाइप० ता. । अपज्जत्तगायप० सि. ॥ ३ ०णुत्तरावन्ना-ता. । ०णुत्तरपन्ना-सि. ॥

सन्निट्ठगहीण बत्तीससंगयं तं सयं छयत्तालं ।
तं भव्वाभव्वगदूरभव्व आसन्नभव्वं च ॥४६॥
संसारनिवासीणं जीवाण सयं इमं छयत्तालं ।
अप्पं व पालियव्वं सिवसुहकंखीहिं जीवेहिं ॥४७॥
सिरिअम्मएवमुणिवइविणेयसिरिनेमिचंदसूरीहिं ।
सपरहियत्थं रइयं कुलयमिणं जीवसंखाए ॥४८॥

नत्वा–प्रणम्य, नेमिं–[1]द्वाविंशतितीर्थंकरम् ; एकादिकाम्–एकद्वित्र्यादिकाम् , जीवसङ्ख्यां भणामि–कथयामि, समयात्–सिद्धान्तात् ; न पुनः स्वमनीषिकयेति । तत्र चेतनायुक्ताः–चैतन्योपेता जीवा एके–एकविधाः, उपयोगलक्षणत्वाज्जीवानाम् , सिद्धसंसार्यवस्थाद्वयेऽप्युपयोगभावेन [2]सततावबोधभावात् , सततावबोधाभावे चाजीवत्वप्रसङ्गात् ; तथा भवस्थ-सिद्धभेदेन द्विधा जीवाः । तत्र भवस्थाः–संसारवर्तिनः; सिद्धा-मुक्तिपदप्राप्ताः ॥३२॥

अथवा त्रस-स्थावरभेदेन द्विधा जीवाः । तत्र त्रसा–द्वीन्द्रियादयः, स्थावराः–पृथिव्यादय एकेन्द्रियाः । तथा त्रिविधाः स्त्री-पुं-नपुंसकभेदतः । इह स्त्र्यादयः स्त्र्यादिवेदोदयात् योन्यादिसंगता गृह्यन्ते । तथा चोक्तम्–

"योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं, मुग्धताऽबलता स्तनौ । पुंस्कामितेति लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥१॥

१ द्वाविंशतीर्थंकरम्-मु. ॥ २ सततावबोधभावात्-सि. वि पो. नास्ति ॥

मेहनं खरता दाढर्य, शौण्डीर्यं श्मश्रु धृष्टता । स्त्रीकामितेति लिङ्गानि, सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥२॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादिभावाभावसमन्वितम् । नपुंसकं बुधाः प्राहुर्मोहानलसुदीपितम् ॥३॥"
तथा नारक-तिर्यग्नरा-ऽमरगतिभेदतश्चतुर्भेदा जीवाः ॥३३॥

अथवा [1]त्रिवेदावेदस्वरूपतो भवन्ति चतुर्विधा जीवाः, वाशब्दः समुच्चये; तत्र [2]त्रिवेदा-स्त्रियः—पुरुषाः नपुंसकाश्च, न विद्यते वेद उपशमितत्वात् क्षपितत्वाद्वा येषां ते अवेदाः—अनिवृत्तिबादरादयो भवस्था सिद्धाश्च । तथा एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदतः पञ्चप्रकारास्ते जीवाः ॥३४॥

एत एव एकेन्द्रियादयः पञ्चप्रकारा जीवा अनिन्द्रिययुक्ताः षड्विधा भवन्ति । न विद्यन्ते इन्द्रियाणि-स्पर्शनादीनि येषां तेऽनिन्द्रियाः- सिद्धाः । अथवा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदतः षड्विधा जीवाः । तथा पूर्वोक्ता एव पृथिव्यादयः षड्विधा जीवा अकायसहिताः सप्तविधा भवन्ति । न विद्यते कायः-पञ्चप्रकारमपि शरीरं येषां तेऽकायाः- सिद्धाः ॥३५॥

प्र. आ. ३५४

अण्डजादिभेदतोऽष्टविधा जीवा भवन्ति । तत्र अण्डाज्जाता अण्डजाः-[3]पक्षि-गृहकोकिला-मत्स्य-सर्पादयः । रसाज्जाता रसजाः—तक्रा-ऽऽरनाल-दधि-तीमनादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा जीवविशेषाः । जरायोः--गर्भवेष्टनाज्जातास्तद्वेष्टिता [4]इत्यर्थः, जरायुजा—मनुष्यगोमहिष्यादयः । संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा

१ त्रिभेदा० सि. वि. ॥ २ त्रिवेदास्त्रयः पुरुषाः स्त्रियो नपुं० मु. ॥ ३ पक्षिगृहकोलिकाम० सि. वि. पो. ॥
४ इत्यष्टौ-जे. सि. वि. पो. ॥

मत्कुण-यूका-शतपदिकादयः । पोतं—वस्त्रम्, तद्वज्जाताः पोतादिव बोहित्थाज्जाता अजरायुवेष्टिता इत्यर्थः, पोतजा—हस्ति-वल्गुली-चर्म-जलूकाप्रभृतयः । संमूर्च्छनं निर्वृत्ताः संमूर्छिमाः—कृमि-पिपीलिका-मक्षिका-शालिकादयः । उद्भेदाद्—भूमिभेदाज्जाता उद्भेदजाः—पतङ्ग-खञ्जनकादयः । उपपाते—देवशयनीयादौ भवा औपपातिकाः—देवा नारकाश्चेति ॥३६॥

पृथिव्यादयः—पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः पञ्च द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिययुक्ता [1]नवविधा भवन्ति । अथवा नारका नपुंसकत्वेनैकविधाः तिर्यञ्चो नराश्च त्रिवेदत्वेन—स्त्री पुं-नपुंसकवेदत्वेन प्रत्येकं त्रिभेदाः, सुराश्च स्त्री-पुरुषभेदत्वेन द्विविधाः, इत्येवं नवविधा जीवाः ॥३७॥

पृथिव्यादयः—पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियलक्षणा अष्टौ जीवाः [2]असंज्ञि-संज्ञि-पञ्चेन्द्रियेण सहिता दशविधा भवन्ति । तथा त एव दशविधा जीवाः ससिद्धाः—सिद्धसहिता एकादशविधा भवन्ति । तथा पृथिव्यादयस्त्रसान्ताः, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसा इत्यर्थः । प्रत्येकमपर्याप्त-पर्याप्तभेदतो द्वादशविधा भवन्ति ॥३८॥

ते द्वादशापि अतनुयुक्तास्त्रयोदश भवन्ति । न विद्यते तनुः—शरीरं येषां तेऽतनवः—सिद्धाः । तथा एकेन्द्रिया द्विधा—सूक्ष्मा बादराश्च । तथा द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः, पञ्चेन्द्रियास्तु द्विविधाः—असंज्ञिनः संज्ञिनश्च । एते सप्तापि प्रत्येकमपर्याप्ताः पर्याप्ताश्चेति चतुर्दशविधा जीवाः ॥३९॥

१ नवविधा जीवा म० मु. । जीवा—सि. वि. पो. नास्ति । २ असंज्ञिनां संज्ञिनां च पञ्चेन्द्रियेण— पो. ॥

एत एव चतुर्दश अमलसहिताः पञ्चदशविधाः। न विद्यते मल इव मलो-निसर्गनिर्मलजीवमालिन्यापादनहेतुत्वादष्टप्रकारं कर्म येषां तेऽमलाः–सिद्धाः। तथा येऽण्डज-रसजादयः पूर्वमष्टौ जीवभेदा भणितास्तेऽपर्याप्तपर्याप्तभेदतः षोडश भवन्ति ॥४०॥

एत एव षोडश अकायेन--सिद्धेन युक्ताः सप्तदशविधाः। तथा पूर्वोक्ता [1]नपुंसकादिभेदा–नारकनपुंसक-स्त्रीपुंनपुंसकतिर्यक्स्त्रीपुंनपुंसकमानव-स्त्रीपुंवेददेवलक्षणा नवविधा अपि जीवाः प्रत्येकमपर्याप्ताः पर्याप्ताश्च सन्तोऽष्टादश भेदाः। तथा ते एव चाष्टादश अकर्मभिः–सिद्धैर्युक्ता एकोनविंशतिः ॥४१॥

पूर्वं ये पृथिव्यादयो दशविधा जीवा भणिताः, त एवाऽपर्याप्त-पर्याप्तभेदाभ्यां विंशतिसङ्ख्या भवन्ति। तथा तैरेव पृथिव्यादिभिर्विंशतिसङ्ख्यैर्भेदैरशरीरयुतैः-सिद्धसहितैःसद्भिरेकविंशतिर्जीवभेदा भवन्ति ॥४२॥

पृथिव्यप्तेजोवाय्वनन्तवनस्पतयः पञ्च प्रत्येकं सूक्ष्म-बादरभेदतो दश भवन्ति। ते च सप्रत्येकाः–प्रत्येकवनस्पतिसहिता एकादश, द्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्च पञ्च मिलिताः षोडश, एते च प्रत्येकमपर्याप्त-पर्याप्तभेदभिन्ना द्वात्रिंशद्भवन्ति। इयमत्र भावना–पृथिवीकायो द्विधा–सूक्ष्मो बादरश्च, पुनरेकैको द्विधा–अपर्याप्तः पर्याप्तश्चेति चतुर्विधः पृथ्वीकायः। एवं जला-ऽनल-वायवोऽपि। वनस्पतिर्द्विधा-साधारणः प्रत्येकश्च, तत्र साधारणो द्विधा–सूक्ष्मो बादरश्च; पुनरेकैको द्विधा–अपर्याप्तः पर्याप्तश्च, प्रत्येकस्तु बादर एव, स चापर्याप्त-पर्याप्तभेदेन द्विविध इति षोढा वनस्पतिकायः। [2]द्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः

१ नपुंसका नारक तिर्यक् स्त्रीपुन्नपुंसक तिर्यक् स्त्री नपुंसक मानवस्त्रीपुंवेददेवलक्षणा–सि. ॥
२ द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः–सि.। द्वित्रिचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाः–वि. ॥

पुनः प्रत्येकमपर्याप्तपर्याप्तभेदतो द्विधा । मिलिताश्च द्वात्रिंशदिति ॥४३॥

नारक-भवनपति-वनचर-ज्योतिष्क-कल्प-ग्रैवेयका-ऽनुत्तरविमानोत्पन्ना जीवा यथाक्रमं सप्त-दश-अष्ट-पञ्च द्वादश-नव-पञ्चभेदा भवन्ति । एवं च वैक्रियशरीरिणः षट्पञ्चाशद्भेदाः । एतदुक्तं भवति–रत्नप्रभादिपृथिवीसप्तकनिवासित्वेन नारकाः सप्तविधाः, भवनपतयोऽसुरकुमारादिभेदतो दशविधाः, व्यन्तराः पिशाचादिभेदादष्टविधाः, ज्योतिष्काश्चन्द्रादिभेदेन पञ्चविधाः, कल्पोपपन्नाः सौधर्मादिद्वादशदेवलोकोत्पन्नत्वेन द्वादशविधाः, ग्रैवेयकोत्पन्ना अधस्तनाधस्तनादिग्रैवेयकनवकनिवासित्वेन नवविधाः, अनुत्तरविमानोत्पन्नास्तु विजयादिविमानपञ्चकोत्पन्नत्वेन पञ्चविधाः । सर्वमीलने च षट्पञ्चाशदिति ॥४४॥

ते सर्वेऽपि वैक्रियशरीरिणो नरतिर्यक्संगताः सन्तोऽष्टपञ्चाशतसङ्ख्या भवन्ति । तथा तैरेवाष्टपञ्चाशतसङ्ख्यैः प्रत्येकमपर्याप्तपर्याप्तभेदभिन्नैः षोडशोत्तरशतं [1]भवति ॥४५॥

[2]संज्ञिद्विकं–पर्याप्ता ऽपर्याप्तसंज्ञिरूपम्, तेन हीना–रहिता पूर्वोक्ता या द्वात्रिंशत् तया संगतं–मिलितमेतदेव षोडशोत्तरं शतं षट्चत्वारिंशं शतं भवति । संज्ञिद्विकस्य तु षोडशोत्तरशतग्रहणेनैव ग्रहणाद्वर्जनमिति ।

तच्च षट्चत्वारिंशं शतं भव्या ऽभव्य-दूरभव्या-ऽऽसन्नभव्यलक्षणैश्चतुर्भिर्भेदैः संगृह्यते ।

इदमत्र तात्पर्यं–पूर्वोक्तस्य षट्चत्वारिंशदुत्तरशतस्य मध्ये केचिज्जीवा भव्याः, केचिदभव्याः, केचिद् दूरभव्याः, केचिदासन्नभव्या इति । तत्र मुक्तिपर्यायेण भविष्यन्तीति भव्याः–सिद्धिगमनयोग्याः,

१ भवन्ति-मु. ॥ २ सञ्ज्ञिद्विके पर्याप्तसञ्ज्ञिरूपत्वेन हीना–सि. ॥

न पुनरवश्यं सिद्धिगामिन एव, भव्यानामपि केषाञ्चित्सिद्धिगमनासंभवात् । उक्तं च—"भव्वावि न सिज्झिस्संति केइ" [ ] इत्यादि ।

भव्यविपरीता अभव्याः, तथा च ते न कदाचिदपि [1]संसाराकूपारस्य पारं प्राप्नुवन्तः प्राप्नुवन्ति प्राप्स्यन्ति चेति । इदं च भव्यानां भव्यत्वमनादिकालसिद्धं शाश्वतमेव; न पुनः सामग्र्यन्तरेण पश्चाद्भवत्यपगच्छति [2]वा; अभव्यत्वमप्यभव्यानामित्थमेव द्रष्टव्यम् ।

यद्यपि च भव्यत्वाऽभव्यत्वाभ्यामेव सर्वेऽप्यमी जीवभेदाः संगृहीतास्तथापि भव्यविशेषत्वादेतौ दूरभव्या-ऽऽसन्नभव्यलक्षणौ भेदौ पृथगुपात्तौ । तत्र दूरेण—दीर्घतरेण कालेन भव्या—मुक्तिगामिनो दूरभव्याः—ये गोशालकवच्चिरान्मोक्षं यास्यन्ति । ये पुनस्तेनैव भवेन द्वित्र्यादिभिर्वा भवैर्मोक्षं यास्यन्ति ते आसन्नभव्याः । प्र. आ. ३५५

इह च भव्यत्वाभव्यत्वलक्षणमेवमाचक्षते वृद्धाः—यः संसारविपक्षभूतं मोक्षं मन्यते तदवाप्त्यभिलाषं च सस्पृहं वहति किमहं भव्योऽभव्यो वा ? यदि भव्यस्तदा शोभनम्, अथाभव्यस्तदा धिङ्मामित्यादिचिन्तां च कदाचिदपि करोति स इत्यादिप्रकारेण चिह्नेन ज्ञायते भव्य इति । यस्य तु जातुचिदपि नेयं चिन्ता समुत्पन्ना समुत्पद्यते समुत्पत्स्यते वा स ज्ञायतेऽभव्य इति । उक्तं च आचाराङ्गटीकायाम्—"अभव्यस्य हि भव्याभव्यशंकाया अभावाद्" [ ] इत्यादि ॥४६॥

१ संसाररूपपारस्य—सि० ॥ २ वा— सि. वि. नास्ति ॥

संसारनिवासिनां–भववर्तिनां जीवानां–प्राणिनामेतत् षट्चत्वारिंशदुत्तरं शतमात्मवत् पालनीयं–रक्षणीयं शिवसुखकाङ्क्षिभिःमोक्षसुखाभिलाषुकैर्जीवैरिति ॥४७॥

श्री आम्रदेवसूरिशिष्यैः श्रीनेमिचंद्रसूरिभिः स्वपरहिताय, आत्मनोऽविस्मृतये परेषां चावबोधाय इत्यर्थः । जीवसङ्ख्यायाः प्रतिपादकमिदं कुलकं–गाथासमुदायात्मकं रचितं–कृतमिति ॥४८॥२१४॥

इदानीं 'कम्माइं अट्ठ त्ति' पञ्चदशोत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

पढमं नाणावरणं १ बीयं पुण दंसणस्स आवरणं २ ।
तइयं च वेयणीयं ३ तहा चउत्थं च मोहणीयं ४ ॥४९॥

[कर्मविपाकाख्य प्रथम-कर्मग्रन्थः(प्राचीन) गा. ५]

पंचममाउं ५ गोयं छट्ठं ६ सत्तमगमंतरायमिह ७ ।
बहुतमपयडित्तेणं भणामि अट्ठमपए नामं ८ ॥५०॥

प्र. आ. ३४९

प्रथमम्–आद्यं ज्ञानावरणम्, द्वितीयं पुनर्दर्शनावरणम्, तृतीयं च वेदनीयम्, तथा चतुर्थं च मोहनीयम्, पञ्चममायुः, गोत्रं षष्ठम्, सप्तमं चान्तरायम्, इह च बहुतमोत्तरप्रकृतित्वेन बहुवक्तव्यत्वात् भणामि अष्टमपदे अष्टमपदस्थाने वा नामकर्मेति । ग्रन्थान्तरे हि आयुर्नाम गोत्रमन्तरायं चेत्यनेन क्रमेण पठ्यते । इह तु बहूत्तरप्रकृतितया पर्यन्ते नामकर्मेति ।

[1]तत्र ज्ञायते–परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानं–सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको

१ तुला–सप्ततिकाटीका गा० २ ॥

बोधः, आव्रियते–आच्छाद्यतेऽनेनेत्यावरणं–मिथ्यात्वादिसचिवजीवव्यापारहृतकर्मवर्गणान्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूहः; ज्ञानस्य–मत्यादेरावरणम्- ज्ञानावरणम् ।

तथा दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं–सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोधः, तस्यावरणं दर्शनावरणम् २ । ❀

तथा वेद्यते–आह्लादादिरूपेणानुभूयते यत्तद्वेदनीयम्, यद्यपि सर्वं कर्म वेद्यते तथापि 'पङ्कजादिशब्दवद्वेदनीयशब्दस्य रूढिविषयत्वात् साता-ऽसातमेव कर्म वेदनीयमित्युच्यते, न शेषम् ३ ।

तथा मोहयति–सदसद्विवेकविकलं करोत्यात्मानमिति मोहनीयम् ४ ।

तथा एति–आगच्छति प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिकुगतेर्निष्क्रमितुमनसो जन्तोरित्यायुः, अथवा आ-समन्तादेति–गच्छति भवाद्भवान्तरसंक्रान्तौ जन्तूनां विपाकोदयमित्यायुः ५ ।

तथा गूयते–शब्द्यते उच्चा-ऽवचैः शब्दैर्यत्तद् गोत्रम्–उच्च-नीचकुलोत्पत्तिलक्षणः पर्यायविशेषः तद्विपाकवेद्यं कर्मापि गोत्रम्, कारणे कार्योपचारात् ६ ।

तथा अन्तरा–दातृ-प्रतिग्राहकयोरन्तर्विघ्नहेतुतया अयते- गच्छतीत्यन्तरायम्, यज्जीवस्य दानादिकं कर्तुं न ददातीत्यर्थः ७ ।

---

१ पङ्कजादिशब्दवद्वेदनीयस्य शब्दस्य-वि. ॥ ❀इतोऽग्रे 'यतः पडिणीयत्तणनिन्हव उवघाय पओस अंतराएण । अच्चासायणयाए आवरणदुगं जिओ जणइ'-इति सि. प्रतावधिका गाथा ॥

तथा नामयति–गत्यादिविविधभावानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम ८। एता अष्टौ मूलप्रकृतयः ॥४६-५०॥२१५॥

साम्प्रतं 'तेसिं उत्तरपयडीण अट्ठवन्नसयं' ति षोडशोत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

पचविहनाणवरणं नव भेया दंसणस्स दो वेए ।
अट्ठावीसं मोहे चत्तारि य आउए हुंति ॥५१॥ [प्राचीन कर्मग्रन्थ १, गा. ७]
गोयम्मि दोन्नि पंचंतराइए तिगहियं सयं नामे ।
उत्तरपयडीणेवं अट्ठावन्नं सयं होइ ॥५२॥
मइ १ सुय २ ओही ३ मण ४ केवलाणि जीवस्स आवरिज्जंति ।
जस्स प्पभावओ तं नाणावरणं भवे कम्मं ॥५३॥
नयणे १ यरो २ हि ३ केवल ४ दंसणआवरणयं भवे चउहा ।
निद्दा ५ पयलाहि छुहा ६ निद्दाइदुरुत्त ७-८ थीणद्धी ९ ॥५४॥
'एवमिह दंसणावरणमेयमावरइ दरिसणं जीवे ।
सायमसायं च दुहा वेयणियं सुहदुहनिमित्तं' ॥५५॥●

१ एय० ता.॥ ●इतोऽग्रे–'जीवः करमात् सुक्खं वा दुक्खं बंधति-गुरुभत्तिखंतिकरणा वयजोग-कसायविजयदाणजुओ। दढधम्माई अज्जइ सायमसायं विवज्जओ॥ अधुना मोहनीयो कथ्यते, इत्यधिकः पाठः सि. प्रतौ ॥

कोहो माणो माया लोभोऽणंताणुबंधिणो [1]चउरो ।
एवमपच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥५६॥
सोलस इमे कसाया एसो नवनोकसाय[2]संदोहो ।
इत्थीपुरिसनपुंसकरूवं वेयत्तयं तंमि ॥५७॥
हासरईअरईभयसोगदुगुंछत्ति हासछक्कमिमं ।
दरिसणतिगं तु मिच्छत्तमीससम्मत्तजोएणं ॥५८॥
इय मोह अट्ठवीसा नारयतिरि[3]नरसुराउय चउक्कं ।
गोयं नीयं उच्चं च अंतरायं तु पंचविहं ॥५६ ।
दाउं न लहइ लाहो न होइ पावइ न भोगपरिभोगे[4] ।
निरुओऽवि असत्तो होइ अंतरायप्पभावेणं[5] ॥६०॥
नामे बायालीसा भेयाणं अहव होइ सत्तट्ठी ।
अहवावि हु तेणउई तिग अहियसयं हवइ अहवा ॥६१॥
पढमा बायालीसा ४२ गइ १ जाइ २ सरीर ३ अंगुवंगे ४ य ।
बंधण ५ संघायण ६ संघयण ७ संठाण ८ नामं च ॥६२॥

प्र. आ. ३५६

१ भणिया- ता. ॥ २ ०संदेहो-सि. पो. ॥ ३ ०नरयसुराउय–ता. ॥ ४ ०गं–मु. ॥ ५ ०ण- सि. पो. ॥

तह वन्न ९ गंध १० रस ११ फास १२ नाम अगुरुलहुयं च १३ बोद्धव्वं ।
उवघाय १४ पराघाया १५ णुपुव्वि १६ ऊसासनामं च १७ ॥६३॥
आयावु १८ ज्जोय १९ विहायगई २० तस २१ थावराभिहाणं च २२ ।
बायर २३ सुहुमं २४ पज्जत्ता २५ पज्जत्तं च २६ नायव्वं ॥६४॥
पत्तेय २७ साहारण २८ थिर २९ मथिर ३० सुभा ३१ सुभं ३२ च नायव्वं ।
सूभग ३३ दूभग ३४ नामं सूसर ३५ तह दूसरं ३६ चेव ॥६५॥
[धर्मसङ्ग्रहणी गा. ६१८-६२०]

[1]आएज्ज ३७ मणाएज्जं ३८ जसकित्ती नाम ३९ अजसकित्ती ४० य ।
निम्माणं ४१ तित्थयरं ४२ भेयाणवि हुंतिमे भेया ॥६६॥
गइ होइ चउप्पयारा जाईवि य पंचहा मुणेयव्वा ।
पच य हुंति सरीरा अंगोवंगाइं तिन्नेव ॥६७॥
छस्संघयणा ६ जाणसु संठाणावि य हवंति छच्चेव ६ ।
वन्नाईण चउक्कं ४ अगुरुलहु १ वघाय १ परघायं १ ॥६८॥
अणुपुव्वी चउभेया ४ उस्सासं १ आयवं १ च उज्जोयं १ ।
सुहअसुहा विहयगई २ तसाइवीसं च २० निम्माणं ॥६९॥

प्र. आ. ३५७

१ आइज्जमणाइज्जं-ता[illegible]

तित्थयरेणं सहिया १ सत्तट्ठी एव हुंति पयडीओ ६७ ।
संमामीसेहिं विणा तेवन्ना सेसकम्माणं ॥७०॥
एवं वीसुत्तरसयं १२० [1]बंधे पयडीण होइ नायव्वं ।
बंधणसंघायावि य सरीरगहणेण इह गहिया ॥७१॥
बंधणभेया पंच उ संघायावि य हवंति पंचेव ।
पण वन्ना दो गंधा पंच रसा अट्ठ फासा य ॥७२॥
दस सोलस छव्वीसा एया [2]मेलेवि सत्तसट्ठीए ।
तेणउई होइ तओ बंधणभेया उ पन्नरस ॥७३॥ (तुला-प्राचीनकर्मग्रन्थ १, गा. ७१-८२)
वेउव्वाहारोरालियाण सगतेयकम्मजुत्ताणं ।
नव बंधणाणि इयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिंपि ॥७४॥ [पञ्चसङ्ग्रहे द्वा. ३, गा. ११]
सव्वेहिवि छूढेहिं तिगअहिय सयं तु होइ नामस्स ।
इय उत्तरपयडीणं कम्मट्ठग अट्ठवन्नसयं ॥७५॥

पञ्चविधं ज्ञानावरणम्, नव भेदा दर्शनस्य-दर्शनावरणस्य, द्वौ वेदनीये, अष्टाविंशतिर्मोहनीये, चत्वारश्च आयुषि भवन्ति । गोत्रे द्वौ, पञ्च अन्तरायके, त्रिभिरधिकं शतं नामकर्मणि, उत्तरप्रकृतीनामेवं सर्वमीलनेऽष्टपञ्चाशदधिकं शतं भवतीति ॥५१॥५२॥

१ बधणपयडीण-ता. सि. ॥ २ मेलिवि-मु. ॥

तत्र यथास्वं तानेव भेदान् क्रमेण नामग्राहमाह—'मई'त्यादिगाथास्त्रयोविंशतिः. तत्र मतिश्रुताऽवधि-मनःपर्यव-केवलानि जीवस्याव्रियन्ते—आच्छाद्यन्ते यत्प्रभावतस्तद् ज्ञानावरणं भवेत्कर्म । किमुक्तं भवति ?—ज्ञानावरणं पञ्चप्रकारम्, तद्यथा—मतिज्ञानावरणम्, श्रुतज्ञानावरणम्, अवधिज्ञानावरणम्, मनःपर्यवज्ञानावरणम्, केवलज्ञानावरणं चेति ॥५३॥

तथा [1]दर्शनावरणं बन्धे उदये सत्तायां च त्रिधा प्राप्यते । तद्यथा—कदाचिच्चतुर्धा, कदाचित् षोढा, कदाचिच्च नवधा । तत्र कथं चतुर्धा ?, कथं षोढा, कथं वा नवधेति त्रीनपि प्रकारान् दर्शयन् प्रथमतश्चतुर्धा दर्शयति—दर्शनावरणं चतुर्धा—चतुष्प्रकारं भवति । कथमित्याह—नयनेतराऽवधिकेवलेषु-नयनेतरा-ऽवधिकेवलविषयं तत्, सूत्रे तु सप्तम्या अदर्शनं लोपात्, लोपश्च प्राकृतत्वात् । एष चात्र भावार्थः-दर्शनावरणं यदा चतुर्धा बन्धे उदये सत्तायां वा विवक्ष्यते तदैवंरूपं तदवगन्तव्यम्, यथा नयनदर्शनावरणमितरदर्शनावरणमचक्षुर्दर्शनावरणमित्यर्थः, अवधिदर्शनावरणम्, केवलदर्शनावरणं चेति । तदेव दर्शनावरण[2]चतुष्कं निद्रा-प्रचलाभ्यां [3]सह षोढा भवति । दर्शनावरणषट्कग्रहणे च सर्वत्रापीदमेव दर्शनावरणषट्कं ग्राह्यम्, एतदेव दर्शनावरणषट्कं निद्रादिद्विरुक्तप्रकृतिस्त्यानर्धिभिः सहितं नवधा द्रष्टव्यमिति शेषः । सूत्रे च विभक्तिलोप आर्षत्वात् । निद्रादीनि निद्रा-प्रचलाशब्दौ द्विरुक्तौ वाचकत्वेन ययोस्ते निद्रादिद्विरुक्ते निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला चेत्यर्थः । एतदिह शास्त्रे नवविधं दर्शनावरणमुक्तम् । (प्र. आ. ३५७) एतच्च जीवे—जीवस्य दर्शनं—सामान्योपयोगरूपमावृणोति-आच्छादयति, केवलं निद्रापञ्चकं प्राप्ताया दर्शनलब्धेरुपघातकृत्, दर्शनावरणचतुष्टयं तु मूलत एव दर्शनलब्धिमुपहन्ति । आह च गन्धहस्ती—

१ तुलना—पञ्चसङ्ग्रहवृत्तिः—द्वा.३ गा. ४, प. ११० A तः ॥ २ चतुष्टयं-मु. ॥ ३ सह- मु. नास्ति ॥

"[1]निद्रादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते, दर्शनावरणचतुष्टयं तूद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिम्" [ ] इति। वेदनीयं द्विधा -सातवेदनीयमसातवेदनीयं च, एतच्च क्रमेण सुख-दुःखनिमित्तं--सुखनिमित्तं सातवेदनीयम्, दुःखनिमित्तमसातवेदनीयमित्यर्थः ॥५४-५५॥

तथा मोहनीयं द्विधा दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं [2]च; दर्शनं--सम्यक्त्वम्, तन्मोहयतीति दर्शनमोहनीयम्; चारित्रं--सावद्येतरयोगनिवृत्तिप्रवृत्तिलिङ्गमात्मपरिणामरूपम्, तन्मोहयतीति चारित्रमोहनीयम्।

तत्र बहुतरवक्तव्यत्वात् प्रथमतश्चारित्रमोहनीयं निर्दिशति। तच्च द्विधा—कषाय-नोकषायभेदात्, तत्र क्रोधो मानो माया लोभश्चेत्यनन्तानुबन्धिनश्चत्वारः कषायाः। एवमेत एव क्रोधादयश्चत्वारः प्रत्येकमप्रत्याख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाः संज्वलनाश्च मिलिताः षोडश। [3]तथा एष वक्ष्यमाणो नवानां नोकषायाणां संदोह-समूहः [4]तत्र स्त्री-पुरुष-नपुंसकस्वरूपं वेदत्रयम्, हास्य-रत्यरति-भय-शोक-जुगुप्सालक्षणम् इदं हास्यषट्कं च। दर्शनमोहनीयं तु मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्वानां योगेन—मीलनेन त्रिधा, इति मोहस्य—मोहनीयकर्मणोऽष्टाविंशतिर्भेदाः।

तथा आयुषश्चतस्रः प्रकृतयः, तद्यथा—नारकायुस्तिर्यगायुर्नरायुः सुरायुश्च।

गोत्रं तु द्विधा—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं च।

१ तुलना—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति.—अ. ८ सू. ८ भा. २ प. १३५॥
२ चेति—मु.॥ ३ यथा—सि. वि.॥ ४ तथा—सि. वि.॥

अन्तरायं तु पुनः पञ्चविधम्, तद्यथा—दानान्तरायम्, लाभान्तरायम्, भोगान्तरायम्, परिभोगान्तरायम्, वीर्यान्तरायं च। एतांश्च भेदान् सुखावबोधार्थमर्थकथनद्वारेणैव सूत्रकृन्निर्दिशति—यस्यान्तरायस्य प्रभावतो दातुं न लभते जीवस्तद्दानान्तरायम्। एवं यत्प्रभावतो जीवस्य लाभो न भवति तल्लाभान्तरायम्,। यत्प्रभावतो भोगान् परिभोगांश्च न प्राप्नोति तत्क्रमेण भोगान्तरायं परिभोगान्तरायं च। यत्प्रभावतश्च नीरुजोऽपि—नीरोगोऽपि जीवोऽशक्तः—असमर्थो भवति तद्वीर्यान्तरायम्।

इयमत्र भावना—[1]यदुदयवशात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्रे दत्तमस्मै महाफलमिति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तद्दानान्तरायम्। तथा यदुदयवशाद्दानगुणेन प्रसिद्धादपि दातुर्गृहे विद्यमानमपि देयमर्थजातं याञ्चाकुशलोऽपि गुणवानपि याचको न लभते तल्लाभान्तरायम्। तथा यदुदयवशात् सत्यामपि विशिष्टाहारादिप्राप्तावसति च प्रत्याख्यानपरिणामे वैराग्ये वा केवलं कार्पण्यान्नोत्सहते भोक्तुं तद्भोगान्तरायम्। एवं परिभोगान्तरायमपि भावनीयम्। नवरं भोगपरिभोगयोरयं विशेषः—सकृद्भुज्यते इति भोगः—आहारमाल्यादिः; पुनः पुनः परिभुज्यते इति परिभोगो—भवनवनितादिः। तथा यदुदयवशात्सत्यपि नीरुजि शरीरे यौवनिकायामपि वर्तमानोऽल्पप्राणो भवति, यद्वा बलवत्यपि शरीरे साध्येऽपि प्रयोजने हीनसत्त्वतया न प्रवर्तते तद्वीर्यान्तरायमिति। तथा विवक्षान्तरतः कारणान्तरतश्च नामकर्म नानाप्रकारम्, तद्यथा—द्विचत्वारिंशद्भेदम्, सप्तषष्टिभेदम्, त्रिनवतिभेदम्, त्र्युत्तरशतभेदं च ॥५६-६१॥

1 तुलना—पञ्चसङ्ग्रहवृत्तिः—द्वा० ३, गा. ३, प. १०९ A तः॥

तत्र तावद् द्विचत्वारिंशद्भेदानाह- "पढमे"त्यादिगाथानवकम् , प्रथमा द्विचत्वारिंशदियं द्रष्टव्या । तद्यथा-गतिनाम, जातिनाम, शरीरनाम, अङ्गोपाङ्गनाम, बन्धननाम, संघातनाम, संहनननाम, संस्थाननाम, वर्णनाम, गन्धनाम, रसनाम, स्पर्शनाम, अगुरुलघुनाम, उपघातनाम, पराघातनाम, आनुपूर्वीनाम, उच्छ्वासनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, विहायोगतिनाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, बादरनाम, सूक्ष्मनाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्तनाम, प्रत्येकनाम, साधारणनाम, स्थिरनाम, अस्थिरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सुभगनाम, दुर्भगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम, आदेयनाम, अनादेयनाम, यशःकीर्तिनाम, अयशःकीर्तिनाम, निर्माणनाम, तीर्थंकरनाम चेति । तथा एतेषामेव गत्यादीनां भेदानां यदा नारकगत्यादयः प्रतिभेदा विवक्षिता भवन्ति तदा सप्तषष्टिः ॥६२॥ ६३॥ ६४॥ ६५॥ ६६ ॥

तामेव सप्तषष्टिमाह—'गई'त्यादिगाथापञ्चकम् , गतिनाम चतुर्धा–नरकगतितिर्यग्गतिमनुष्यगति-देवगतिभेदात् । जातिनाम पञ्चधा एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजाति-भेदात् । शरीरनाम पञ्चधा औदारिक-वैक्रिया ऽऽहारक-तैजस-कार्मणशरीरभेदात । अङ्गोपाङ्गनाम त्रिधा औदारिक-वैक्रियाऽऽहारकाङ्गोपाङ्गभेदात् । संहनननाम षोढा- वज्रऋषभनाराच-ऋषभनाराच-नाराच-अर्धनाराच-कीलिका-सेवार्त्तसंहननभेदात् । संस्थाननाम षोढा समचतुरस्र-न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-वामन-कुब्ज-हुंड-संस्थानभेदात् । वर्णादिचतुष्कं—वर्ण-गंध-रस-स्पर्शलक्षणम् । तथा अगुरुलघूपघात-पराघातं च । आनुपूर्वीनाम चर्धातु नारक-तिर्यग्मनुष्य-देवानुपूर्वीभेदात् । तथा उच्छ्वासम् , आतपम् , [1]उद्योतम् । विहायो-

---

१ उद्योतनं-खि. वि. ॥

गतिर्द्विधा—शुभा ऽशुभविहायोगतिभेदात् । त्रसादिविंशतिः—त्रस-स्थावरादिका यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति-पर्यन्ता, निर्माणं च ।

एताः प्रकृतयस्तीर्थकरनाम्ना सहिताः सप्तषष्टिर्भवन्ति । एता एव च बन्धमुदयं चाश्रित्य नामकर्मण उत्तरप्रकृतयः परिगृह्यन्ते । शेषाणां च कर्मणां सम्यक्त्वमिश्रैर्विना त्रिपञ्चाशत् । बन्धचिन्तायां हि दर्शनमोहनीयोत्तरप्रकृती सम्यक्त्व-मिश्रे न गृह्येते; तयोर्बन्धासंभवात् । मिथ्यात्वपुद्गला एव हि तथाविधविशोधिवशात् सम्यक्त्वरूपतया मिश्ररूपतया च परिणमन्तीति । एवं च सप्तषष्टेर्नामकर्मभेदानां त्रिपञ्चाशतश्च शेषकर्मभेदानां मीलने बन्धे विंशत्युत्तरं प्रकृतीनां शतं भवति ज्ञातव्यम् ।

ननु पूर्वोक्तद्विचत्वारिंशदुत्तरप्रकृतिमध्ये ये बन्धन-संघातनाम्नी प्रतिपादिते ते सप्तषष्टिमध्ये कथं न गण्येते ? इत्याह—'बंधणे'त्यादि, बन्धन-संघातौ शरीरग्रहणेन शरीरनामकर्मान्तर्भूतत्वेनेह—सप्तषष्टिभेदचिन्तायां गृहीताविति पृथग्न विवक्षितौ । तथा सत्तायां चिन्त्यमानायां नामकर्मप्रकृतयस्त्रिनवतिसङ्ख्या [1]मतान्तरेण त्र्युत्तरशतसङ्ख्याश्चाधिक्रियन्ते ॥६७-७१॥

ततः क्रमेण त्रिनवतिं त्र्युत्तरशतं चाह—'बंधणे'त्यादिगाथाचतुष्कम् ;- औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणबन्धनभेदाद् बन्धननाम पञ्चधा । संघातनामापि औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मण-संघातभेदात् पञ्चधा । एवमेता दश । तथा वर्णनाम कृष्ण-नील-लोहित-हारिद्र-सितभेदात् पञ्चधा । गन्धनाम सुरभि-दुरभिगन्धभेदाद् द्विधा । रसनाम [2]तिक्त कटु-कषाया-ऽम्ल-मधुरभेदात् पञ्चधा । स्पर्शनाम-कर्कश-

[1] मन्तरेण- वि. पो. ॥ [2] तिक्तकटुककषाया० वि. ॥

मृदु-लघु-गुरु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षभेदादष्टधा । एवमेता विंशतिः प्रकृतयः । एतासां मध्याद्वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शानां सामान्यतश्चतुर्णां सप्तषष्टिपक्षेऽपि गृहीतत्वात्तदपगमे शेषाः षोडश बन्धनसंघातदशकेन [1]च सह षड्विंशतिः प्रकृतयो भवन्ति । एताश्च अनन्तरोक्तसप्तषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते । ततो नामप्रकृतीनां त्रिनवतिर्भवतीति ।

तथा प्रकारान्तरेण बन्धनस्य पञ्चदश भेदाः, के ते इत्याह—'वेउव्वे'त्यादि, [2]वैक्रिया-ऽऽहारकौदारिकाणां प्रत्येकं स्वकतैजस-कार्मणयुक्तानाम्, स्वकम्—आत्मीयम्, किमात्मीय[3]मिति चेदुच्यते, वैक्रियस्य वैक्रियम्, आहारकस्याहारकम्, औदारिकस्यौदारिकम्, तेन स्वकेन तैजसेन कार्मणेन च प्रत्येकं सहितानां बन्धनानि चिन्त्यमानानि नवनवसङ्ख्यानि भवन्ति ।

तद्यथा—वैक्रियवैक्रियबन्धनम्, वैक्रियतैजसबन्धनम्, वैक्रियकार्मणबन्धनम्, आहारकाहारकबन्धनम्, आहारकतैजसबन्धनम्, आहारककार्मणबन्धनम्, औदारिकौदारिकबन्धनम्, औदारिकतैजसबन्धनम्, औदारिककार्मणबन्धनमिति । तत्र पूर्वगृहीतवैक्रियपुद्गलानां स्वैरेव वैक्रियपुद्गलैर्गृह्यमाणैः सह संबन्धो वैक्रिय-वैक्रियबन्धनम् । तेषामेव वैक्रियपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च तैजसपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह संबन्धो वैक्रिय-तैजस-बन्धनम्, तथा तेषामेव वैक्रियपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह संबन्धो वैक्रियकार्मणबन्धनम्, तथा पूर्वगृहीतानामाहारकपुद्गलानां स्वैरेवाहारकपुद्गलैर्गृह्यमाणैः सह यः संबन्धः स आहारकाहारकबन्धनम् । तथा

१ च—मु. नास्ति ॥ २ तुलना—पञ्चसङ्ग्रहवृत्तिः—द्वा-३, गा. ११ प. १२१ A तः ॥ ३ ०मित्युच्यते वि. सि. ॥

तेषामेवाहारकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च तैजसपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह संबन्ध आहारकतैजसबन्धनम् । तथा तेषामेवाहारकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणां च कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह संबन्ध आहारककार्मणबन्धनम् ; तथा पूर्वगृहीतानामौदारिकपुद्गलानां स्वैरेवौदारिकपुद्गलैर्गृह्यमाणैः सह यः संन्बधः स औदारिकौदारिकबन्धनम् । तेषामेवौदारिकपुद्गलानां [1]पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च [2]तैजसपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह संबन्ध औदारिकतैजसबन्धनम् । तथाते षामेवौदारिकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह संबन्ध औदारिककार्मणबन्धनम् ।

तथा 'इयरदुसहियाणं तिन्नि'त्ति इतराभ्यां—तैजस-कार्मणाभ्यां द्वाभ्यां समुदिताभ्यां सहितानां वैक्रियाऽऽ-हारकौदारिकाणां त्रीणि बन्धनानि भवन्ति । तद्यथा-वैक्रियतैजसकार्मणबन्धनम्, आहारकतैजसकार्मणबन्धनम्, औदारिकतैजसकार्मणबन्धनं च । तत्र वैक्रियपुद्गलानां तैजसपुद्गलानां कार्मणपुद्गलानां च पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां वा यः परस्परं संबन्धस्तद्वैक्रियतैजसकार्मणबन्धनम्, एवमाहारकतैजसकार्मणबन्धनौदारिकतैजसकार्मणबन्धनयोरपि भावनाऽनुसर्तव्या । अनेन च [3]बन्धनत्रिकेण सह पूर्वोक्तानि नव बन्धनानि द्वादश भवन्ति ।

तथा 'तेसिं च' त्ति तयोश्च-तैजस-कार्मणयोः [4]स्वस्थाने परस्परं च[5] बन्धनचिन्तायां त्रीणि बन्धनानि भवन्ति । तद्यथा--तैजसतैजसबन्धनम्, तैजसकार्मणबन्धनम्, कार्मणकार्मणबन्धनं चेति । तत्र तैजस-

१ पूर्व० मु. नास्ति ॥ २ कार्मणपुद्ग० खि. वि ॥ ३ कार्मणबन्धनं-पो. । कम्मणबन्धन० सि. ॥
४ स्वस्थाने च प० वि. पो. ॥ ५ च–मु. नास्ति ॥

पुद्गलानां पूर्वगृहीतानां स्वैरेव तैजसपुद्गलैर्गृह्यमाणैः सह यः परस्परं संबन्धः स तैजसतैजसबन्धनम् । तेषामेव तैजसपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह संबन्धस्तैजसकार्मणबन्धनम्, कार्मणपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां स्वैरेव कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः सह संबन्धः कार्मणकार्मणबन्धनम् । एतैश्च त्रिभिर्बन्धनैः सहितानि पूर्वोक्तानि द्वादश बन्धनानि पञ्चदश भवन्ति । एतन्निमित्तभूतानि च यानि बन्धननामकर्माणि तान्यपि पञ्चदश । एतैश्च सर्वैरपि बन्धनभेदैर्बन्धनपञ्चकरहितपूर्वोक्तत्रिनवतिमध्ये प्रक्षिप्तैर्नामकर्मण उत्तरप्रकृतीनां त्र्युत्तरं शतं भवति । इत्येवं सर्वसङ्ख्यया अष्टानामपि कर्मणामुत्तरप्रकृतीनामष्टपञ्चाशदधिकं शतं भवतीति ।

तदेवमुक्ताः सर्वा अपि नामत उत्तरप्रकृतयः । साम्प्रतमेतासामेवार्थः कथ्यते, तत्र 'मन् ज्ञाने' मननं मतिः, यद्वा मन्यते—इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः—योग्यदेशावस्थितवस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेषः, मतिश्चासौ ज्ञानं च मतिज्ञानम्, । तच्च द्विविधं—श्रुतनिश्रितमश्रुतनिश्रितं च । तत्र प्रायः श्रुताभ्यासमन्तरेणापि यत्सहजविशिष्टक्षयोपशमवशादुत्पद्यते तदश्रुतनिश्रितम् औत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयम् । यत्तु पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमतेर्व्यवहारकाले तु अश्रुतानुसारितया समुत्पद्यते तत् श्रुतनिश्रितम् । तच्चतुर्धा, तद्यथा—अवग्रहः, ईहा, अवायः, धारणा चेति ।

पुनरवग्रहो द्विधा—व्यञ्जनावग्रहोऽर्थावग्रहश्च, तत्र व्यज्यते—प्रकटीक्रियते शब्दादिरर्थोऽनेनेति व्यञ्जनम्—उपकरणेन्द्रियस्य कदम्बपुष्पाद्याकृतेः श्रोत्र-घ्राण-रसन-स्पर्शनलक्षणस्य शब्द-गन्ध-रस-स्पर्शपरिणतद्रव्याणां

१ ० स्तत्तैजसबन्धनं-वि. सि. पो. ॥ २ कार्मण० वि. नास्ति ॥

च यः परस्परं संबन्धः प्रथममुपश्लेपमात्रम् । अपरं च–इन्द्रियेणाप्यर्थस्य व्यञ्ज्यमानत्वादिन्द्रियमपि व्यञ्जनमुच्यते । ततश्च व्यञ्जनेन–इन्द्रियलक्षणेन व्यञ्जनस्य–विषयसंबन्धलक्षणस्यावग्रहणं परिच्छेदनमेकस्य व्यञ्जनशब्दस्य लोपात् व्यञ्जनावग्रहः। किमपीदमिति अव्यक्तज्ञानरूपार्थावग्रहादधोऽव्यक्ततरं ज्ञानमात्रमित्यर्थः । अयं च नयन-मनोवर्जेन्द्रियचतुष्टयभेदाच्चतुर्धा । नयन-मनसोरप्राप्यकारित्वेन विपयसंबन्धाभावाद् , अस्य चेन्द्रिय-विपययोः संबन्धग्राहकत्वादिति भावः ।

[1]अर्थ्यंत इत्यर्थः, तस्य शब्द-रूपादिभेदानामन्यतरेणापि भेदेनानिर्धारितस्य सामान्यरूपस्यावग्रहणमर्थावग्रहः, किमपीदमित्यव्यक्तज्ञानमित्यर्थः । स च मनःसहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात् षोढा । अवगृहीतस्यैव वस्तुनोऽपि किमयं भवेत् स्थाणुरेव न तु पुरुष इत्यादि वस्तुधर्मान्वेपणात्मकं ज्ञानचेष्टनमीहा। ईहनं ईहेतिकृत्वा ।

'अरण्यमेतत् सविताऽस्तमागतो, न चाधुना संभवतीह मानवः ।
प्रायस्तदेतेन खगादिभाजा, भाव्यं [2]स्मरारातिसमाननाम्ना ॥१॥

इत्याद्यन्वयधर्मघटन-व्यतिरेकधर्मनिराकरणाभिमुखताऽऽलिङ्गितो ज्ञानविशेष ईहा इति हृदयम्, साऽपि मनःसहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात् पोढैव ।

ईहितस्यैव वस्तुनः स्थाणुरेवायमित्यादिनिश्चयात्मको बोधविशेषोऽवायः। अयमपि पूर्ववत् [3]पोढैव । तथा निश्चितस्यैवाविच्युतिस्मृतिवासनारूपं धरणं धारणा । साऽपि पूर्ववत् षोढैव ।

१ अर्थ्यते अर्थः सि. ॥ २ रतिप्रियतमारि सि. पो. वि. ॥ ३ षोढा–मु. ॥

तदेवमर्थावग्रहादीनां चतुर्णां प्रत्येकं षड्विधत्वाद्व्यञ्जनावग्रहभेदचतुष्टयेन सह श्रुतनिश्रितं मतिज्ञानमष्टाविंशतिविधम्, अश्रुतनिश्रितेन चौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयेन सह द्वात्रिंशद्विधं भवति।

जातिस्मरणमपि समतिक्रान्तसङ्ख्यातभवावगमस्वरूपं मतिज्ञानभेद एव। तथा चाचाराङ्गटीका—"जातिस्मरणं त्वाभिनिबोधकविशेष" [प. २० A] इति। एतावद्भेदभिन्नस्यास्य एतावद्भेदमेव यदावरणस्वभावं कर्म तन्मतिज्ञानावरणमेकग्रहणेन गृह्यते।

तथा श्रवणं श्रुतं—वाच्य-वाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंसृष्टार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः। एवमाकारं वस्तु घटशब्दवाच्यं जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतसमानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारीन्द्रियमनोनिमित्तो ज्ञानविशेष इत्यर्थः। श्रुतं च तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम्, तद्भेदाश्च नन्द्यादिभ्योऽवसेयाः। तस्य सभेदस्याप्यावरणस्वभावं कर्म श्रुतज्ञानावरणम्।

तथा अवशब्दोऽधःशब्दार्थः; अव--अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते—परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः यद्वाऽवधिः—मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः, अवधिश्चासौ ज्ञानं च अवधिज्ञानम्, तच्चानन्तद्रव्यभावविषयत्वात्तत्तारतम्यविवक्षयाऽनन्तभेदम्, असङ्ख्येयक्षेत्रकालविषयत्वात्तु तत्तारतम्यविवक्षयाऽसङ्ख्येयभेदम्, प्रकारान्तरविवक्षया त्वनुगामिकादिभेदत आवश्यकादिभ्योऽनुसरणीयम्, तस्यैतावद्भेदभिन्नस्यावरणस्वरूपं कर्म अवधिज्ञानावरणम्।

तथा संज्ञिभिर्जीवैः काययोगेन मनोवर्गणाभ्यो गृहीतानि मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमय्यालम्ब्य-

मानानि द्रव्याणि मनांसीत्युच्यन्ते, तेषां पर्यायाः--[1]चिन्तनानुगुणाः परिणामास्तेषु ज्ञानं [2]मनःपर्यायज्ञानम्, इदं [3]चार्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनम्, तच्च द्वेधा–ऋजुमति विपुलमति च । एतत्स्वरूपं च लब्धिद्वारे वक्ष्यते । तस्यैवंभेदभिन्नस्यावरणस्वभावं कर्म मनःपर्यायज्ञानावरणम् ।

तथा केवलम्, एकं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात् शुद्धं वा केवलं तदावरणमलकलङ्कविगमात् सकलं वा केवलं प्रथमत एवाशेषतदावरणविगमतः संपूर्णोत्पत्तेः असाधारणं वा केवलमनन्यसदृशत्वात्, अनन्तं वा केवलं ज्ञेयानन्तत्वात्; केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानम् तस्यावरणं केवलज्ञानावरणम् ।

अत्र चाद्यानि चत्वार्यावरणानि देशघातीनि केवलज्ञानावरणोद्धरितज्ञानदेशघातित्वात् । केवलज्ञानावरणं तु सर्वघाति । एतानि मतिज्ञानावरणादीनि पञ्चोत्तरप्रकृतयः । तन्निष्पन्नं तु सामान्येन ज्ञानावरणं मूलप्रकृतिः । यथाऽङ्गुलीपञ्चकनिष्पन्नो मुष्टिः, घृत-गुड-कणिका[4]दिनिष्पन्नो वा मोदक इत्यादि । एवमग्रेतनेष्वपि भावना कार्या ।

तथा [5]नयनाभ्यां दर्शनं–सामान्यावबोधरूपं नयनदर्शनम्, तस्यावरणं नयनदर्शनावरणं चक्षुर्दर्शनावरणमित्यर्थः । इतरैः–चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनमितरदर्शनम्, तस्यावरणमितरदर्शनावरणम्, [6]अचक्षुर्दर्शनावरणमित्यर्थः । अवधिरेव दर्शन[7]मवधिदर्शनम्, तस्यावरणमवधिदर्शनावरणम्, केवलमेव दर्शनं केवलदर्शनम्, तस्यावरणं केवलदर्शनावरणम् ।

---

१ चिन्तानुगुणाः मु० ॥ २ ० पर्ययज्ञानं सि. वि. पो. ॥ ३ चार्धतृतीयसमुद्रा० मु. ॥ ४ ०दिभिर्निष्पन्नो–मु. ॥
५ तुलना–पञ्चसङ्ग्रहवृत्तिः–द्वा. ३ गा. ४ प. ११० B तः ॥ ६ अचक्षुर्दर्शनावरणमित्यर्थः सि. वि. पो. नास्ति ॥
७ ०मवधिधिदर्शनं तस्यावरण० सि. वि. प्रत्योः नास्ति ॥

तथा 'द्रा कुत्सायां गतौ' नियतं द्राति—कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यमनयेति निद्रा—नखच्छोटिकादिमात्रेणैव सुखावबोधा स्वापावस्थेत्यर्थः । कारणे कार्योपचारात् तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि[1] निद्रेत्युच्यते । तथोपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति—विघूर्णयत्यस्यां स्वापावस्थायामिति प्रचला । तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचला । तथा निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रेति मध्यपदलोपी समासः । दुःखप्रबोधा स्वापावस्थेत्यर्थः । तस्यां हि चैतन्यस्यात्यन्तमस्फुटतरीभूतत्वाद्बहुभिर्घोलनाप्रकारैः प्रबोधो भवति । अतः सुखप्रबोधनिद्रातोऽस्या अतिशायिनीत्वम्; तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा । तथा प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला । सा हि चङ्क्रमणादिकमपि कुर्वतः स्वप्तुर्भवतीति स्थानस्थितस्वप्तृभवां प्रचलामपेक्ष्यास्या अतिशायिनीत्वम् ।

तथा स्त्याना—बहुत्वेन संघातमापन्ना गृद्धिः—अभिकाङ्क्षा, जाग्रदवस्थाऽध्यवसितार्थसाधनविषया यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानगृद्धिः । तस्यां हि जाग्रदवस्थाऽध्यवसितमर्थमुत्थाय साधयति । स्त्याना वा—पिण्डीभूता ऋद्धिः—आत्मशक्तिरूपाऽस्यामिति स्त्यानर्द्धिरि[2]त्यप्युच्यते । तद्भावे हि उत्कर्षतः प्रथमसंहननस्य केशवार्धबलसदृशी शक्तिरुपजायते । तथा च प्रवचने श्रूयते—क्वचित्प्रदेशे कोऽपि क्षुल्लको विपाकप्राप्तस्त्यानर्द्धिनिद्रासहितो द्विरदेन दिवा खलीकृतः । ततस्तस्मिन् द्विरदे बद्धाभिनिवेशो निशि स्त्यानर्द्ध्युदये वर्तमानः समुत्थाय तद्दन्तयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारि च प्रक्षिप्य पुनः प्रसुप्तवान् इत्यादि । तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानगृद्धिः स्त्यानर्द्धिर्वोच्यते ।

१ ०ति-मु. ॥ २ ०त्युच्यते-सि. वि. ॥

❀ तथा वेदनीयं कर्म, वेद्यते-सुखं दुःखं वा आत्मना ज्ञायते तद्वेदनीयम्, तच्च द्विधा-सातमसातं च ❀। यदुदयवशादारोग्यविषयोपभोगादिजनितमाह्लादरूपं [1]सातं-सुखं वेद्यते तत्सातवेदनीयम्। यदुदयवशाद्रोगादिजनितं परितापरूपमसातं-दुःखमनुभूयते तदसातवेदनीयम्।

तथा कष्यन्ते-हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः-संसारः, कषमयन्ते-गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति [2]कषायाः-क्रोध-मान-माया लोभाः।, तत्र क्रोधः-अक्षान्तिपरिणतिरूपः, मानो-गर्वो जात्याद्युद्भवममार्दवम्, माया-वञ्चनाद्यात्मिका जीवपरिणतिः, लोभः-असंतोषात्मको जीवपरिणामः। ते च प्रत्येकमनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनभेदाच्चतुर्धा। ततः षोडश।

तत्र पारम्पर्येणानन्तं भवमनुबध्नन्ति--अनुसंदधतीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः। यद्यप्येतेषामन्य-[3]कषायरहितानामुदयो नास्ति तथाऽप्यवश्यमनन्तभवभ्रमणमूलकारणमिथ्यात्वो[4]दयाक्षेपकत्वादेतेषामेवैतन्नाम। न पुनः सहजोदयानामन्यकषायाणामपि; तेषामवश्यं मिथ्यात्वो[5]दयाक्षेपकत्वाभावात्। नञोऽल्पार्थत्वादल्पं प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानं-देशविरतिरूपं तदप्यावृण्वन्तीत्यप्रत्याख्यानावरणाः। प्रत्याख्यानं सर्वविरतिरूपमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः। [6]परीषहोपसर्गादिसंपाते सति चारित्रिणमपि सम्-ईषत् ज्वलयन्तीति संज्वलनाः।

❀ चिह्नद्वयमध्यवर्त्तिपाठः सि. वि. प्रत्योः नास्ति॥ १ सातं वि. नास्ति॥ २ तुलना-प्रा. क. २, गा. १०, प. १०८॥
३ कषायोदयरहि० मु.॥ ४ ०दयोपेक्षक० मु.॥ ५ ० दयापेक्षक० मु.॥
६ तुलना-पञ्चसङ्ग्रहवृत्तिः-द्वा. ३, गा. ५ प-११२ B तः॥

तथा नोशब्दः साहचर्ये; ततः कषायैः सहचारिणः—सहवर्तिनो ये ते नोकषायाः, कैः कषायैः सहचारिण इति चेद्, उच्यते आद्यैर्द्वादशभिः । तथाहि—नाद्येषु द्वादशसु कषायेषु क्षीणेषु नोकषायाणामवस्थानसंभवः, तदनन्तरमेव तेषामपि क्षपणाय क्षपकस्य प्रवृत्तिः । अथवा एते प्रादुर्भवन्तोऽवश्यं कषायानुद्दीपयन्ति, ततः कषायसहचारिणः ।

ते च नोकषाया नव । तत्र यदुदये स्त्रियाः पित्तोदये मधुरद्रव्याभिलाषवत् पुंस्यभिलाषः समुत्पद्यते स कुकूलाग्निसमानः स्त्रीवेदः । यदुदये पुंसः स्त्रियामभिलाषो भवति श्लेष्मोदयेऽम्लाभिलाषवत् स तृणाग्निज्वालासमानः पुंवेदः । यदुदये पण्डकस्य पित्तश्लेष्मोदये [1]मज्जिकाऽभिलाषवदुभयोरपि स्त्रीपुरुषयोरभिलाषः समुदेति स नगरमहादाहसमानो नपुंसकवेदः । तथा यदुदये सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तत् हास्यमोहनीयम्, यदुदयाद्बाह्या-ऽभ्यन्तरेषु वस्तुषु प्रीतिरुपजायते तद्रतिमोहनीयम्, एतेष्वेव यदुदयादप्रीतिरुपजायते तदरतिमोहनीयम्, यदुदयात्स[2]निमित्तमनिमित्तं वा तथारूपस्वसंकल्पतो बिभेति तद्भयमोहनीयम्, यदुदयात्प्रियविप्रयोगादौ स्वोरस्ताडमाक्रन्दति परिदेवते भूपीठे च लुठति दीर्घं निःश्वसिति तच्छोकमोहनीयम्, यदुदयवशात्पुनः पुरीषादिबीभत्सपदार्थेषु जुगुप्सावान् भवति तज्जुगुप्सामोहनीयम्, तथा [3]यदुदयाज्जिनप्रणीततत्त्वार्थानामश्रद्धानं विपरीतश्रद्धानं वा तन्मिथ्यात्वम् । यदुदयान्पुनर्जिनप्रणीतं तत्त्वं न सम्यक् श्रद्धत्ते नापि निन्दति तन्मिश्रम्, सम्यग्मिथ्यात्वमित्यर्थः । यदुदयवशात्पुनर्जिनप्रणीतं तत्त्वं सम्यक् श्रद्धत्ते तत्सम्यक्त्वमिति ।

---

१ मार्जिका० मु. ॥ २ निमित्तम० वि. नास्ति ॥ ३ यदुदयात्सनिमित्तमनिमित्तं वा तथानामश्रद्धानं-वि. ॥

तथा नारकस्य सतो वेद्यमानमायुष्कं नारकायुष्कम् , तिरश्चां तिर्यगायुष्कम् , मनुष्याणां नरायुष्कम् , देवानां सुरायुष्कमिति ।

तथा यदुदयवशादुत्तमजाति-कुल-तपो-रूपैश्वर्य-श्रुत-सत्कारा-ऽभ्युत्थाना-ऽऽसनप्रदाना-ऽञ्जलिप्रग्रहादिसंभवस्तदुच्चैर्गोत्रम् , यदुदयवशात्पुनर्ज्ञानादिसंपन्नोऽपि निन्दां लभते हीनजात्यादिसंभवं च तन्नीचैर्गोत्रम् । अन्तरायभेदाश्च नामोत्कीर्तनावसरे सूत्रकृतैव व्याख्याता इति ।

तथा [1]'गम्यते—तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यत इति गतिः—नारकत्वादिपर्यायपरिणतिः; तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरप्युपचाराद्गतिः, सैव नाम गतिनाम । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् , ततश्च नरकविषये गतिनाम नरकगतिनाम । नारकशब्दव्यपदेश्यपर्यायनिबन्धनं नरकगतिनामेति तात्पर्यम् , एवं तिर्यग्मनुष्यदेवगतिनामापि वाच्यमिति ।

तथा एकेन्द्रियादीनाम् एकेन्द्रियत्वादिरूपसमानपरिणामलक्षणमेकेन्द्रि[2]यादिव्यपदेशभाग् यत्सामान्यं सा जातिः ।

इदमत्र तात्पर्य—द्रव्यरूपमिन्द्रियम् अङ्गोपाङ्गनामेन्द्रियपर्याप्तिनामसामर्थ्यात् सिद्धम् , भावरूपं [3]तु स्पर्शनादीन्द्रियावरणक्षयोपशमसामर्थ्यात् । 'क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणी' ति वचनात् । यत्पुनरेकेन्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनं तथारूपसमानपरिणतिलक्षणं सामान्यं तदनन्यसाध्यत्वाज्जातिनामनिबन्धनमिति ।

१ तुलना—पञ्चसङ्ग्रहवृत्तिः—द्वा०३, गा. ६ प. ११३ B तः ॥ २ ०यव्यपदेश० वि. सि. ॥ ३ च-सि. वि. ॥

उक्तं च–"अव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतोऽर्थोऽसौ जाति" [ ] इति । तन्निमित्तं [1]नाम जातिनाम ।

तत्र एकस्य स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्यावरणक्षयोपशमात्तदेकविज्ञानभाज एकेन्द्रियाः । एवं यस्य यावन्तीन्द्रियाणि तस्य तान्याश्रित्यानेनाभिलापेन तावन्नेयं यावत्पञ्चानां स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्रज्ञानानामावरणक्षयोपशमात् पञ्चविज्ञानभाजः पञ्चेन्द्रियाः । तेषामेकेन्द्रियाणां जातिनाम एकेन्द्रियजातिनाम, एवं यावत् पञ्चेन्द्रियजातिनाम ।

[2]शीर्यत इति शरीरं–प्रतिक्षणं प्रागवस्थातश्चया-ऽपचयाभ्यां विनश्यतीत्यर्थः । तत्र यस्य कर्मण उदयादौदारिकवर्गणापुद्गलान् गृहीत्वा औदारिकशरीरत्वेन परिणमयति तदौदारिकशरीरनाम; एवं वैक्रियाऽऽहारक-तैजस-कार्मणशरीरनामस्वपि वाच्यम्, यावद् यस्य कर्मण उदयात्कार्मणवर्गणापुद्गलान् गृहीत्वा कार्मणशरीरत्वेन परिणमयति तत्कार्मणशरीरनाम । इदं च सत्यपि समानवर्गणापुद्गलमयत्वे स्वकार्यभूतात्कार्मणशरीरादन्यदेव । इयं हि कार्मणशरीरस्य कारणभूता नामकर्मण उत्तरप्रकृतिः । कार्मणशरीरं तु पुनरेतदुदयसंभवित्वादेतत्कार्यं निःशेषकर्मणां प्ररोहभूमिराधारो वा संसार्यात्मनां च गत्यन्तरसंक्र[3]मणे साधकतमं [4]करणमित्यन्यदेव [5]स्वकार्यात्कार्मणशरीरात्कारणभूतं प्रस्तुतं कार्मणशरीरनामकर्मेति ।

तथा अङ्गानि–शिर–उर–उदर-पृष्ठ–बाहूरुसंज्ञितान्यष्टौ, तदवयवभूतानि त्वङ्गुल्यादीन्युपाङ्गानि, शेषाणि तु तत्प्रत्यवयवभूतान्यङ्गुलिपर्वरेखादीन्यङ्गोपाङ्गानि । अङ्गानि च उपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि

१ नाम–मु. नास्ति ॥ २ तुलना-प्रा. क. २ गा. १०, प. १०६ ॥ ३ ०मेण-सि. वि. ॥ ४ कारण० मु. ॥ ५ स्वकार्यकार्म० सि. वि. ॥

चेति द्वन्द्वे एकपदशेषे अङ्गोपाङ्गानि, तानि च यस्य कर्मण उदयाद् येषु त्रिषु शरीरेषु भवन्ति तत् त्रिविधम् अङ्गोपाङ्गनाम । तत्र यदुदयादौदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागेन परिणतिर्भवति तदौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम । एवं वैक्रिया-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नोरपि वाच्यम् । तैजस-कार्मणयोस्तु जीवप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वान्नास्त्यङ्गोपाङ्गसंभव इति ।

तथा बध्यतेऽनेनेति बन्धनम्—औदारिकादिपुद्गलानां गृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परसंश्लेषकारि; तच्च शरीरपञ्चकभेदात् पञ्चधा । तत्र पूर्वगृहीतैरौदारिकपुद्गलैः सह [1]गृह्यमाणानौदारिकपुद्गलानुदितेन येन कर्मणा बध्नात्यात्मा परस्परसंसक्तान् करोति तदौदारिकबन्धननाम । दारु-पाषाणादीनां [2]जतु-रालाप्रभृतिश्लेषद्रव्यवत् । एवं वैक्रियादिबन्धनचतुष्केऽपि वाच्यम्, अथवा औदारिकौदारिक[3]बन्धनभेदादि पञ्चदशधा । तच्च प्रागेव व्याख्यातम् । यदि त्विदं शरीरपुद्गलानामन्योऽन्यसंश्लेषकारि बन्धननाम न स्यात् तत्तेषां शरीरपरिणत्या संहितानामप्यसंबद्धत्वात्पवनापहृत[4]कुण्डसंस्थितसंहतास्तिमितसक्तूनामिव एकत्र स्थैर्यं न स्यादिति ।

तथा संघात्यन्ते—पिण्डीक्रियन्ते औदारिकादिपुद्गला येन तत्संघातनम्, तदपि [5]शरीरपञ्चभेदत्वात्पञ्चधा । तत्र यस्य कर्मण उदयादौदारिकशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा संघातयति—पिण्डयत्यन्योऽन्यसंनिधानेन व्यवस्थापयति तदौदारिकसंघातनाम । इत्येवं वैक्रियादिशरीरचतुष्टयेऽपि वाच्यम् ।

१ गृह्यमाणेनौ० सि. वि. ॥ २ जतुरालप्रभृतयः श्लेष० सि. वि. ॥ ३ बन्धननामभेदादि–मु. ॥
४ ०कुण्डस्थित-संहता० मु. । ०कुण्डस्थिता संहता० वि. प्राचीनकर्मग्रन्थ वृत्तौ च ॥ ५ च शरीर० मु. ॥

यदि च पुद्‌गलसंहतिमात्रनिमित्तं संघातनाम न स्यात्तदा बन्धोऽपि न भवेत् । 'नासंहतस्य बंधनम्' [ ] इति न्यायात् ।

[1]तथा संहन्यमानशरीरपुद्‌गलानां लोहपट्टादिवत् उपकारि संहननम्–अस्थिरचनाविशेषः; तत्पुनरौदारिकशरीर एव नान्येषु । अस्थ्यादिरहितत्वात्तेषाम्, तच्च षोढा–वज्रऋषभनाराचादि । तत्र वज्रं–कीलिका, ऋषभः–परिवेष्टनपट्टः, नाराचः–उभयतो मर्कटबन्धः, ततश्च द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदि कीलिकाकारं वज्रनामकमस्थि भवति यत्र तद्वज्रऋषभनाराचं प्रथमम् । वज्रवर्जं ऋषभनाराचं द्वितीयम् । ऋषभवर्जं वज्रनाराचमित्यन्ये । वज्रऋषभवर्जं नाराचं तृतीयम्, एकतो मर्कटबन्धं द्वितीयपार्श्वे कीलिकाविद्धमर्धनाराचं चतुर्थम्, ऋषभनाराचवर्जं कीलिकाविद्धास्थिद्वयसंचितं कीलिकाख्यं पञ्चमम्; यत्र पुनः परस्परं पर्यन्तमात्रसंस्पर्शलक्षणां सेवाम् ऋतानि–आगतान्यस्थीनि भवन्ति नित्यमेव च स्नेहाभ्यङ्गादिरूपां परिशीलनामाकाङ्क्षति तत्सेवार्तं षष्ठं संहननमिति ।

तथा संस्थानम्–अवयवरचनात्मिका शरीराकृतिः, तदपि षोढा–समचतुरस्रादि; तत्र समाः–शरीरलक्षणशास्त्रोक्तप्रमाणलक्षणाविसंवा(ग्रन्थाग्रं[2] १५०००)दिन्यश्चतस्रोऽस्रयः-चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवा यस्य तत्समचतुरस्रम्; समासान्तोऽत्प्रत्ययः । न्यग्रोधवत्परिमण्डलं न्यग्रोधपरिमण्डलम्; यथा न्यग्रोध उपरि संपूर्णावयवोऽधस्तु हीनस्तथेदमपि नाभेरुपरि विस्तारबहुलं संपूर्णलक्षणादिभाग्, अधस्तु न तथेति । ॥४३०॥

१ तुलना- पञ्चसङ्ग्रहटीका ३ । ६, प. ११४ A ॥ २ पो. प्रतौ १४००० । सि. वि. प्रत्योः १३००० ॥

तथा आदिः—इहोत्सेधाख्यो नाभेरधस्तनो देहभागो गृह्यते, ततः सह आदिना—नाभेरधस्तनभागेन यथोक्तप्रमाणलक्षणेन वर्तत इति सादि । यद्यपि च सर्वमपि शरीरमादिना सह वर्तते तथापि सादित्वविशेषणान्यथानुपपत्त्या विशिष्ट एव प्रमाणलक्षणोपपन्न आदिरिह लक्ष्यते, तत उक्तं यथोक्तप्रमाणलक्षणेनेति । इदमुक्तं भवति—यत्संस्थानं नाभेरधः प्रमाणोपपन्नमुपरि च हीनं तत्सादि इति । अपरे तु साचीति पठन्ति । तत्र साचीति प्रवचनवेदिनः शाल्मलीतरुमाचक्षते । ततः साचीव यत्संस्थानं तत्साचि, यथा शाल्मलीतरोः स्कन्धकाण्डमतिपुष्टमुपरि च न तदनुरूपा महाविशालता तद्वदस्यापि संस्थानस्याधो भागः परिपूर्णो भवति, उपरितनभागस्तु नेति भावः ।

तथा वामनं मडहकोष्ठं पाणिपादशिरोग्रीवं यथोक्तप्रमाणलक्षणोपेतं शेषं तूर-उदरादिरूपं कोष्ठं शरीरमध्यं मडहं—लक्षणरहितं तद् यत्रत द्वामनमित्यर्थः ।

अधस्तनकायमडहं कुब्जं पाणि-पाद-शिरो-ग्रीवालक्षणोऽधस्तनकायो मडहो—लक्षणविसंवादी यत्र शेषं तु मध्यकोष्ठं यथोक्तलक्षणयुक्तं तत्कुब्जम्, वामनविपरीतमित्यर्थः । अन्ये तु दर्शितलक्षणव्यत्ययेन प्रथमं कुब्जं ततो वामनं पठन्तीति ।

हुण्डं तु सर्वावयवेषु प्रायो लक्षणविनिर्मुक्तम्, यस्यैकोऽप्यवयवः प्रायो न लक्षणयुक्तो भवति तत्सर्वत्रासंस्थितं हुण्डमित्यर्थः ।

तथा वर्ण्यते—अलङ्क्रियते गुणवत्क्रियते शरीराद्यनेनेति वर्णः—कृष्णादिः पञ्चधा । तत्र कृष्णः

कज्जलादाविव, नीलः प्रियङ्गुपर्णादाविव, लोहितो हिङ्गुलकादाविव, हारिद्रो हरिद्रादाविव, [1]शुक्लः खटिकादाविव ।

तथा गन्ध्यते आघ्रायत इति गन्धः, स द्विधा–सुरभिः श्रीखण्डादाविव, दुरभिर्लसुनादाविव ।

तथा रस्यते–आस्वाद्यत इति रसः तिक्तादिः पञ्चधा । तत्र तिक्तः कोशातक्यादाविव, कटुः शुण्ठ्यादाविव; शास्त्रे हि यत्परिणाममङ्गीकृत्यातिदारुणं तत्कटुकमुच्यते । यच्च परिणामेऽतिशीतलं तन्निम्बादिकं लोके कटुकमपि शास्त्रे तिक्तमिति व्यपदिश्यते । कषायोऽपक्वकपित्थादाविव, अम्ल आम्लवेतसादाविव, मधुरः शर्करादाविव ।

॥४३२॥

तथा स्पृश्यत इति स्पर्शः–कर्कशादिरष्टधा । तत्र कर्कशः पाषाणादाविव, मृदुर्हंसरूतादाविव, लघुरर्कतूलादाविव, गुरुर्वज्रादाविव, शीतो मृणालादाविव, उष्णो वह्न्यादाविव, स्निग्धो घृतादाविव, रूक्षो भस्मादाविव । एवमेते वर्णादयो यदुदयवशाज्जन्तुशरीरेषु भवन्ति तान्यपि कर्माण्येतन्नामकानि वाच्यानीति ।

तथा सर्वप्राणिनां शरीराणि [2]यदुदयवशादात्मीयात्मीयापेक्षया नैकान्तेन लघूनि, नापि गुरूणि, किन्तु अगुरुलघुपरिणामपरिणतानि भवन्ति तदगुरुलघुनाम । एकान्तगुरुत्वे हि वोढुमशक्यानि स्युः, एकान्तलघुत्वे तु वायुना विक्षिप्यमाणानि धारयितुं न पारयेरन्निति । तथा स्वशरीरावयवैरेव प्रतिजिह्वागलवृन्द-लम्बक-चौरदन्तादिभिः शरीरान्तर्वर्धमानैर्यदुदयादुपहन्यते–पीड्यते जन्तुस्तदुपघातनाम । तथा यदुदयादोजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा नृपसभामपि गतः सभ्यानामपि क्षोभमापादयति प्रतिपक्ष-

॥४३२॥

१ शीतः शङ्खादाविव–सं. ॥ २ यदुदयादात्मीयापेक्षया–सि. वि. ॥

प्रतिघातं च विधत्ते तत्पराघातनाम । [1]तथा कूर्पर-लाङ्गल-गोमूत्रिकाकाररूपेण यथाक्रमं द्वि-त्रि-चतुः-समयप्रमाणेन विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिनियता गमनपरिपाटी इहाऽऽनुपूर्वी । तत्र नरकगत्या सहचरिताऽऽनुपूर्वी नरकगत्यानुपूर्वी; तत्समयं च वेद्यमानत्वात्सहचारित्वम्, एवं तिर्यग्मनुष्यदेवानुपूर्व्योऽपि वाच्याः ।

तथा यदुदयादुच्छ्वास-निःश्वासलब्धिरात्मनो भवति तदुच्छ्वासनाम । सर्वलब्धीनां क्षायोपशमिकत्वादौदयिकी लब्धिर्न संभवतीति चेत्, नैतदस्ति । वैक्रिया-ऽऽहारकादिलब्धीनाम् औदयिकीनामपि संभवाद्; वीर्यान्तरायक्षयोपशमोऽपि च तत्र निमित्तीभवतीति सत्यप्यौदयिकत्वे क्षायोपशमिकव्यपदेशोऽपि न विरुध्यते । ननु यदि उच्छ्वासनामकर्मोदयादुच्छ्वास-निःश्वासौ तदा उच्छ्वासपर्याप्तिनाम्नः क्वोपयोगः ?, उच्यते, उच्छ्वासनाम्न उच्छ्वास-निःश्वासग्रहणमोक्षविषया लब्धिरुपजायते । सा च लब्धिर्नोच्छ्वासपर्याप्तिमन्तरेण स्वफलं साधयति । न खल्विषुक्षेपणशक्तिमानपि धनुर्ग्रहणशक्तिमन्तरेणेषुं क्षेप्तुमलम् । तत उच्छ्वासलब्धिनिर्वर्तनार्थमुच्छ्वासपर्याप्तिनाम्न उपयोगः । एवमन्यत्रापि भिन्नविषयता यथायोगं सूक्ष्मधिया भावनीया ।

तथा यदुदयाज्जन्तुशरीराणि स्वरूपेणानुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातपं कुर्वन्ति तदातपनाम । तद्विपाकश्च भानुमण्डलादिगतेषु पृथिवीकायेष्वेव; न वह्नौ, प्रवचने प्रतिषेधात् । तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शनामोदयात्, उत्कटलोहितवर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्वमिति ।

१ तुला—पञ्चसङ्ग्रहटीका ३।६, प. ११५ B ॥

तथा यदुदयाज्जन्तुशरीराणि [1]स्वरूपेणानुष्णान्यप्युनुष्णप्रकाशात्मकमुद्योतमातन्वन्ति यथा [2]यति-देवोत्तरवैक्रिय-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-तारा-विमान-रत्नौषधयस्तदुद्योतनाम ।

तथा [3]विहायसा—नभसा गतिः—प्रवृत्तिर्विहायोगतिः । ननु सर्वगतत्वाद्विहायसस्ततोऽन्यत्र गतिर्न संभवतीति किमर्थं विहायसा विशेषणम्? व्यवच्छेद्याभावात् । सत्यमेतत्, किन्तु यदि गतिरित्येवोच्यते ततो नाम्नः प्रथमप्रकृतिरपि गतिरस्तीति पौनरुक्त्याशङ्का स्यात् । अतस्तद्व्यवच्छित्तये विहायसा[4] विशेषणम्, विहायसा गतिर्न तु नारकत्वादिपर्यायपरिणतिरूपेति विहायोगतिः । सा च द्वेधा-प्रशस्ता अप्रशस्ता च । तत्र प्रशस्ता हंस-हस्ति-वृषभादीनाम्, अप्रशस्ता तु खरोष्ट्र-महिषादीनामिति ।

तथा त्रस्यन्ति—उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसा—द्वीन्द्रियादयः; तत्पर्यायविपाकवेद्यं कर्मापि त्रसनाम । तथा तिष्ठन्तीत्येवंशीला उष्णाद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहारासमर्थाः स्थावराः—पृथिव्यादय एकेन्द्रियादयः; तत्पर्यायविपाकवेद्यं कर्मापि स्थावरनाम । तेजो-वायूनां तु स्थावरनामोदयेऽपि चलनं स्वाभाविकमेव । न तूष्णाद्यभितापेन द्वीन्द्रियादीनामिव विशिष्टमिति ।

तथा [5]यदुदयाज्जीवा बादरा भवन्ति तद्बादरनाम । बादरत्वं चात्र परिणामविशेषः; यद्वशात्पृथि-

---

१ स्वरुपेणानुष्णान्यनु० मु. ॥ २ यति० सि. वि. नास्ति ॥ ३ तुला प्राचीनकर्मग्रन्थ २ गा. १०५, प. १११, पञ्चसङ्ग्रहटीका ३ । ६ प. ११५ B ॥ ४ ०सी–सि. वि. ॥ ५ तुला–पञ्चसङ्ग्रहटीका ३ । ८, प. ११६ B ॥

ण्यादेरेकैकस्य जन्तुशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेऽपि बहूनां समुदाये चक्षुषा ग्रहणं भवति; तद्विपरीतं सूक्ष्मनाम । यदुदयाद्बहूनामपि समुदितानां जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यता[1] न भवति ।

तथा यदुदयात्स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्तनसमर्थो भवति तत्पर्याप्तकनाम । यदुदयाच्च स्वयोग्यपर्याप्ति[2]परिसमाप्तिसमर्थो न भवति तदपर्याप्तकनाम । पर्याप्तिस्वरूपं तु द्वाविंशत्यधिकद्विशततमद्वारे विशेषेण वक्ष्यते ।

तथा यदुदयात् जीवं जीवं प्रति भिन्नं शरीरमुपजायते तत्प्रत्येकनाम । तस्योदयः प्रत्येकशरीरिणाम् , प्रत्येकशरीरिणश्च नारका-ऽमर-मनुष्य-द्वीन्द्रियादयः पृथिव्यादयः कपित्थादितरवश्च । ननु यदि प्रत्येकनाम्न उदयः कपित्थादिपादपादीनामिष्यते तर्हि तेषां जीवं जीवं प्रति भिन्नं शरीरं भवेत् । [3]न च भवति यतः कपित्था-श्वत्थ-पीलु-शेल्वादीनां मूल-स्कन्ध-त्वक्शाखादयः प्रत्येकमसङ्ख्येयजीवा उच्यन्ते । यत उक्तं **प्रज्ञापनायाम्** एकास्थिक[4]बहुबीजवृक्षप्ररूपणावसरे—

"एएसिं मूला असंखेज्जजीविया कंदावि खंधावि तयावि सालावि पवालावि, पत्ता पत्तेयजीवीया" [पद १ सू. ४०] इत्यादि ।

मूलादयश्च फलपर्यन्ताः सर्वेऽप्येकशरीराकारा उपलभ्यन्ते, देवदत्तशरीरवत् । यथा हि देवदत्तशरीरमखण्डमेकरूपमुपलभ्यते तद्वन्मूलादयोऽपि, तत एकशरीरात्मकाः कपित्थादयस्ते चासङ्ख्येयजीवाः, ततः कथं ते प्रत्येकशरीरिणः ?, उच्यते, प्रत्येकशरीरिण एव, तेषां [5]मूलादिष्वसङ्ख्येयानामपि जीवानां

१ ०त्वं-मु. ॥ २ ०परिसमाप्ति० मु ॥ ३ तच्च न भवति-मु. ॥ ४ ०बहुजीववृक्ष० सि. वि. ॥ ५ मूलादिष्वपिस० वि. ॥

[1]भिन्नभिन्नशरीरसंभवात् । केवलं श्लेषद्रव्यविमिश्रितसकलसर्षपवर्तिरिव प्रबलरागद्वेषोपचिततथारूपप्रत्येकनामकर्मपुद्गलोदयतस्ते तथा परस्परविमिश्रशरीरा जायन्ते । तथा चोक्तं **प्रज्ञापनायामेव**–

"जह सगलसरिसवालं सिलेसमिस्साण वट्टिया वट्टी । पत्तेयसरीराणं तह होंति सरीरसंघाया ॥१॥

जह वा तिल[2]पप्पडिया बहुएहिं तिलेहिं मीसिया संती । पत्तेयसरीराणं तह होंति सरीरसंघाया ॥२॥

[पद १ । सू. ५३ गा. ४५–६]

गाथाद्वयस्याप्ययमक्षरार्थः–यथा सकलसर्षपाणां श्लेषद्रव्येण मिश्रीकृतानां वर्तिता–वलिता वर्तिः, यथा च बहुभिस्तिलैर्विमिश्रिता सती तिलपर्पटिका भवति, तथा प्रत्येकशरीरिणां शरीरसङ्घाताः । इयमत्र भावना–यथा तस्यां वर्तौ सकलसर्षपाः परस्परं भिन्ना नान्योऽन्यानुवेधभाजस्तथा अदर्शनात्, अत एव सकलग्रहणं येन स्पष्टमेव [3]अन्योऽन्यानुवेधाभावः प्रतीयते, एवं वृक्षादावपि मूलादिषु प्रत्येकमसङ्ख्येया अपि जीवाः परस्परं विभिन्नशरीराः । यथा च ते सर्षपाः श्लेषद्रव्यसंपर्क[4]माहात्म्यात् परस्परं विमिश्रा जातास्तथा प्रत्येकशरीरिणोऽपि ते तथारूपप्रत्येकनामकर्म[5]पुद्गलोदयात्परस्परं संहता जाता इति ।

तथा यदुदयवशादनन्तानां जीवानामेकं शरीरं भवति तत्साधारणनाम । ननु कथमनन्तानां जीवानामेकं शरीरमुपजायते ?, तथाहि–य एव प्रथममुत्पत्तिदेशमागतस्तेन तच्छरीरं निष्पादितम्, अन्योऽन्यानुगमनेन च सर्वात्मना क्रोडीकृतम्, ततः कथं तत्रान्येषां जीवानामवकाशः ?, न खलु देवदत्तशरीरे

१ भिन्नशरीर० सं. वि. ॥ २ तिलपप्पलिया–सि. वि. ॥ ३ अन्योन्योनुवेधभावतः-वि. ॥ ४ ०माहाम्यात्-मु. ॥ ५ पुद्गलोदयः-सं. । पुद्गलोदयतः सि-वि. ॥

देवदत्तेनान्योऽन्यानुवेधेन क्रोडीकृते देवदत्त इव सकलशरीरेण सहान्योऽन्यानुगमपुरस्सरमन्येऽपि जीवाः प्रादुष्पन्ति, तथाऽदर्शनात् । अपि च–सत्यप्यवकाशे येनैव तच्छरीरं निष्पाद्यान्योऽन्यानुगमेन क्रोडीकृतं स एव तत्र प्रधान इति । तस्यैव पर्याप्ता-ऽपर्याप्तव्यवस्था प्राणा-ऽपानादियोग्यपुद्गलोपादानं [1]च भवेत् । न शेषाणामिति । तदेतदसम्यक्, सम्यग्जिनवचनपरिज्ञानाभावात् । ते ह्यनन्ता अपि जीवास्तथाविध-कर्मोदयसामर्थ्यतः समकमेवोत्पत्तिदेशमधितिष्ठन्ति, समकमेव च तच्छरीराश्रिताः पर्याप्तीर्निर्वर्तयितुमार-भन्ते [2]समकमेव च पर्याप्ता भवन्ति । समकालमेव च प्राणा-ऽपानादियोग्यान् पुद्गलानाददते । यच्चैकस्य पुद्गलाभ्यवहरणं तदन्येषामनन्तानामपि साधारणम्, यच्चानन्तानां तद्विवक्षितस्यापि जीवस्य । ततो न कदाचिदनुपपत्तिरिति । उक्तं च **प्रज्ञापनायाम्**–

△ "समयं वक्कंताणं समयं तेसिं सरीरनिप्फत्ती । समयं आणुग्गहणं समयं उस्सासनिस्सासा ॥१॥

एगस्स उ जं गहणं बहूण साहारणाण तं चेव । जं बहुयाणं गहणं समासओ तंपि एगस्स ॥२॥

साहारणमाहारो साहारणमाणुपाणगहणं च । साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एयं ॥३॥"

[पद १ । सू. ५४(१०) गा. ९९-१०१] इति ।

---

१ वा–सि. वि. ॥ २ समकमेव च पर्याप्ता भवन्ति–सि.वि. नास्ति ॥

△ समकं व्युत्क्रान्तानां समकं तेषां शरीरनिष्पत्तिः । समकमानापानग्रहणं समकमुच्छ्वासनिःश्वासौ ॥१॥

एकस्य तु यद्ग्रहणं बहूनां साधारणानां तदेव । यद् बहूनां ग्रहणं समासतस्तदपि एकस्य ॥२॥

साधारण आहारः साधारणमानापानग्रहणं च । साधारणजीवानां साधारणलक्षणमेतत् ॥३॥

तथा [1]यदुदयात् शरीरावयवानां शिरो-ऽस्थि-दन्तानां स्थिरता भवति तत् स्थिरनाम । तथा यदुदयवशाज्जिह्वादीनां शरीरावयवानामस्थिरता भवति तदस्थिरनाम । तथा यदुदयान्नाभेरुपरितनाः शिरःप्रभृतयोऽवयवाः शुभा भवन्ति तच्छुभनाम । शिरः प्रभृतिभिर्हि स्पृष्टः परो हृष्यतीति तेषां शुभत्वम् । तथा यस्योदयान्नाभेरधस्तनाः पादादयोऽवयवा अशुभा भवन्ति तदशुभनाम । तैः स्पृष्टः परो रुष्यतीति तेषामशुभत्वम् , कामिन्याः पादेनापिः स्पृष्टस्तुष्यति ततो व्यभिचार इति चेत् , न, तत्तोषस्य मोहनीयनिबन्धनत्वात् , वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यते, ततो न दोषः । तथा यदुदयादनुपकार्यपि सर्वस्य मनःप्रह्लादकारी भवति तत्सुभगनाम । तथा यदुदयादुपकारकृदपि जनद्वेष्यो भवति तद् दुर्भगनाम । तथा यदुदयान्मधुरगम्भीरोदारस्वरो भवति तत्सुस्वरनाम । तथा यदुदयात्खरभिन्नदीनहीनस्वरो भवति तद् दुःस्वरनाम । तथा यदुदयेन यत्किञ्चिदपि ब्रुवाणः सर्वस्योपादेयवचनो भवति तदादेयनाम । तथा यदुदयाद् युक्तमपि ब्रुवाणः [2]परिहार्यवचनः भवति तदनादेयनाम ।

तथा तपः–शौर्य-त्यागादिना समुपार्जितेन यशसा कीर्तनं–संशब्दनं श्लाघनं यशःकीर्तिः, अथवा यशः–सामान्येन ख्यातिः, कीर्तिः–गुणोत्कीर्तनरूपा प्रशंसा; यद्वा सर्वदिग्गामिनी पराक्रमकृता वा सर्वजनोत्कीर्तनीयगुणता यशः, एकदिग्गामिनी दानपुण्यकृता वा कीर्तिः, यशश्च कीर्तिश्च यशःकीर्ती, ते यदुदयाद्भवतस्ततो यशःकीर्तिनाम । ननु च कथमेते यशःकीर्ती तन्नामोदयनिबन्धने ?, तद्भावेऽपि कत्रचित्तयोरभावात् । तदुक्तम्–

❀ "तस्सेव केइ जसकित्तिकित्तया अजसकित्तआ अन्ने । पायाराई जं बेंति अइसए इंदयालत्तं ॥१॥" [ ]

---

१ तुला–प्राचीनकर्मग्रन्थः २ । गा. १०, प. ११२ ॥ २ परिहार्येवचनस्तदनादेयनाम–मु. ॥

❀ तस्यैव केचित् यशःकीर्तिकीर्त्तकाः अयशःकीर्त्तिकीर्त्तका अन्ये । यस्मात् प्राकारादीनतिशयानाम् इन्द्रजालत्वं ब्रुवते ॥१॥

नैष दोषः, सद्गुणमध्यस्थपुरुषापेक्षयैव यशःकीर्तिनामोदयस्याभ्युप[1]गमत्वात् । उक्तं च—

❀ "जइ [2]कहविधाउवेसम्मयाए दुद्धंपि जायए कडुयं । निंबो महुरो कस्सई न पमाणं तहवि तं होइ ॥१॥"[ ]

अपि तु—

△ विवरीयदव्वगुणभासयाए अपमाणता उ तस्सेव । सग्गुण विसयं तम्हा जाणह जसकित्तिनामं तु ॥१॥

तद्विपरीतमयशःकीर्तिनाम, यदुदयवशान्मध्यस्थस्यापि जनस्याप्रशस्यो भवति । तथा यदुदयवशाज्जन्तु-शरीरेषु स्वस्वजात्यनुसारेणाङ्गप्रत्यङ्गानां प्रतिनियतस्थानवर्तिता भवति तन्निर्माणनाम । तच्च सूत्रधारकल्पम्; तदभावे हि तद्भृतककल्पैरङ्गोपाङ्गनामादिभिर्निर्वर्तितानामपि शिर-उदरादीनां स्थानवृत्तेरनियमो भवेत् । तथा यदुदयवशादष्टमहाप्रातिहार्यप्रमुखाश्चतुस्त्रिंशदतिशयाः प्रादुष्षन्ति तत्तीर्थकरनामेति ॥ ७५ ॥ २१६॥

इदानीं 'बंधोदयोदीरणसत्ताणं कचि सख्वं' ति सप्तदशोत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

सत्तट्ठछेगबंधा संतुदया अट्ठ सत्तचत्तारि ।
सत्तट्ठछपंचदुगं उदीरणाठाणसंखेयं ॥७६॥ [प्राचीन कर्मग्रन्थ ४ । गा. ७९]
बंधेऽट्ठ सत्तऽणाउग छविहममोहाउ इगविहं सायं ।
संतोदएसु अट्ठ उ सत्त अमोहा चउ अघाई ॥ ७७ ॥

१ ०गतत्वात्–मु. ॥ २ कहवि सम्मसवेयाए–वि. ॥

❀ यदि कथमपि धातुवैपम्येण दुग्धमपि भवति कटुकम् । निम्बश्च कस्यचिन्मधुरो न तथापि तत्प्रमाणं भवति ॥१॥"

△ द्रव्यगुणविपरीतभासकतया तस्यैवाप्रमाणता । तस्मात् सद्गुणविषय यशःकीर्तिनाम जानीहि ॥१॥

अट्ठ उदीरइ सत्त उ अणाउ छव्विहमवेयणीआऊ ।
पण अवियणमोहाउग अकसाई नाम गोत्तदुगं ॥ ७८ ॥
बंधे विसुत्तरसय १२० सयबावीसं तु होइ उदयंमि १२२ ।
उदीरणाएँ एवं १२२ अडयालसयं तु सन्तंमि १४८ ॥ ७९ ॥

'सत्ते'त्यादिगाथापञ्चकम्, मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनो वह्न्ययस्पिण्डवदन्योऽन्यानुगमलक्षणः संबन्धो बन्धः । तस्य चत्वारि स्थानानि; तद्यथा—सप्त, अष्टौ, षट्, एकमिति । तथा तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्ध-संक्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां निर्जरणसंक्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावेऽपि सति सद्भावः सत्ता । तस्या अपि त्रीणि स्थानानि; तद्यथा—अष्टौ, सप्त, चत्वारि । तथा तेषामेव कर्मपुद्गलानां यथास्वस्थितिबद्धानामपवर्तनादिकरणविशेषतः स्वभावतो वा उदयसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः तस्यापि त्रीणि स्थानानि, तद्यथा—अष्टौ, सप्त, चत्वारि । तथा उदयावलिकातो बहिर्वर्तिनीनां स्थितीनां दलिकं कषायैः सहितेन असहितेन वा योगसंज्ञकेन वीर्यविशेषेण समाकृष्योदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा । तस्याः पुनः पञ्च स्थानानि; तद्यथा—सप्त, अष्टौ, षट्, पञ्च, द्वे, इत्येषां बन्धादीनां स्थानसङ्ख्या ॥ ७६ ॥

साम्प्रतमेतेषाम् [1]एव बन्धादिस्थानानामेव स्वरूपमाह-'बंधे'त्यादिगाथाद्वयम्, आयुर्बन्धकाले ज्ञानावरणादिका अष्टौ प्रकृतयो बन्धे प्राप्यन्ते; शेषकालं त्वनायुष्काः—आयुर्बन्धविवर्जिताः सप्त । 'अमोहाउ' त्ति मोहायुर्वर्जाः षट् प्रकृतीर्बध्नतः षड्विधो बन्धः । ज्ञान दर्शनावरणा-ऽन्तराय-नाम-गोत्रबन्धव्यवच्छेदे

१ एव-मु. नास्ति ॥

एकमेव सातं बध्नत एकविधो बन्धः। तथा सत्तायामुदये च सर्वप्रकृति समुदाये अष्टौ प्राप्यन्ते; मोहनीयस्य उदयसत्ताव्यवच्छेदे सप्त। घातिकर्मणां—ज्ञान दर्शनावरणा-ऽन्तरायाणामुदयसत्ताव्यवच्छेदे चतस्रः। तथा सर्वप्रकृतिसमुदायेऽष्टौ प्रकृतीरुदीरयति। आयुष उदीरणायामपगतायामायुर्वर्जाः सप्तः वेदनीया-ऽऽयुषोरुदीरणायामपगतायां षड्विधं कर्मोदीरयति। वेदनीयमोहा-ऽऽयुषामुदीरणाऽपगमे पञ्च प्रकृतीरुदीरयति। अकषायी केवली नाम-गोत्र-लक्षणे द्वे कर्मणी उदीरयति।

अथैतान्येव बन्धादिस्थानानि विनेयव्युत्पत्तये गुणस्थानकयोजनया विभाव्यन्ते—मिथ्यादृष्ट्यादयो मिश्रवर्जिता अप्रमत्तान्ता अष्ट सप्त वा कर्माणि बध्नन्ति। आयुः कदाचिदेव बद्ध्यते, इत्यायुर्बन्धकाले अष्ट, आयुर्बन्धाभावे तु सप्तैव। मिश्रा-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरास्तु सप्तैव बध्नन्ति; तेषामायुर्बन्धाभावात्, तत्र मिश्रस्य तथास्वाभाव्यात् इतरयोः पुनरतिविशुद्धत्वात् आयुर्बन्धस्य च घोलनापरिणामहेतुत्वात्। तथा सूक्ष्मसंपरायो मोहनीया-ऽऽयुर्वर्जानि षट् कर्माणि बध्नाति; [1]मोहनीयबन्धस्य बादरकषायोदयहेतुत्वात् तस्य च तदभावात् आयुर्बन्धाभावस्त्वतिविशुद्धतरत्वादवसेयः। तथा उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिन एकविधं सातवेदनीयं कर्म बध्नन्तिः न शेषाणि, [2]तद्बन्धहेतुत्वाभावात्। अयोगिकेवली तु योगस्यापि बन्धहेतोरभावादबन्धकः।

तथा मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य यावत्सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानं तावदष्टावपि कर्मप्रकृतय उदये सत्तायां च प्राप्यन्ते। सर्वत्रापि मोहनीयोदय-सत्तयोः प्राप्यमाणत्वात्। उपशान्तमोहे उदये सप्त प्राप्यन्ते;

१ मोहनीयबन्धनस्य–सि. वि.॥ २ तद्बन्धहेत्वभावात्–मु.॥

मोहनीयस्योपशान्तत्वेनोदयाभावात् ; सत्तायां त्वष्टौ; मोहनीयस्य विद्यमानत्वात् । क्षीणमोहे सत्तायामुदये च सप्त; मोहनीयस्य क्षीणत्वेनोदय सत्तयोरभावात् । सयोग्ययोगिकेवलिनोस्तु चत्वार्यघातिमकर्माणि उदये सत्तायां च प्राप्यन्ते; न शेषाणि; तेषां क्षीणत्वात् ।

तथा मिथ्यादृष्टेरारभ्य यावत्प्रमत्तसंयतगुणस्थानं तावज्जीवो निरन्तरमष्टानामपि कर्मणामुदीरकः । केवलमनुभूयमानभवायुष्कावलिकावशेषे सत्यायुष आवलिकाप्रविष्टत्वेनोदीरणाया अभावान् सप्तानामुदीरकः । सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके तु वर्तमानः सर्वदैवाष्टानामुदीरकः; आयुष [1]आवलिकावशेषत्वे मिश्रगुणस्थानकस्याऽभवात् । तथाहि—अन्तमुहूर्तावशेष एवायुषि मिश्रगुणस्थानकात्प्रतिपत्य सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वा जीवो गच्छतीति । अप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरा वेदनीया-ऽऽयुर्वर्जानां शेषाणां षण्णां कर्मणामुदीरकाः, न तु वेदनीया-ऽऽयुषोः; अतिविशुद्धतया तदुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात् । सूक्ष्मसंपरायस्तु षण्णां पञ्चानां वा उदीरकः; तत्र यावन्मोहनीयमावलिकावशेषं न भवति तावत्पूर्वोक्तानामेव षण्णामुदीरकः; [2]आवलिकावशेषे च मोहनीये तस्याप्युदीरणाया अभावात्पञ्चानामुदीरकः । उपशान्तमोहोऽपि वेदनीया-ऽऽयुर्मोहनीयवर्जानां पञ्चानामुदीरकः । तत्र वेदनीया-ऽऽयुषोः कारणं प्रागेवोक्तम् ; मोहनीयं तूदयाभावान्नोदीर्यते 'वेद्यमानमेवोदीर्यत' [ ] इति वचनात् । क्षीणमोहोऽप्यनन्तरोक्तानां पञ्चानां कर्मणामुदीरकः; तानि च तावदुदीरयति यावद् ज्ञान-दर्शनावरणा-ऽन्तरायाणि आवलिकाप्रविष्टानि न

१ आवलिकाविशेषे-सि. वि. ॥ २ आवलिकाविशेषे-सि. वि. ॥

भवन्ति; आवलिकामात्रप्रविष्टेषु तेषु तेषामप्युदीरणाया अभावात् द्वे एव नाम गोत्रलक्षणे कर्मणी [1]'उदीरयतीति। सयोगिकेवली पुनर्नाम-गोत्रे उदीरयति, न शेषाणि; घातिकर्मचतुष्टयस्य निर्मूलत एव क्षीणत्वात्; वेदनीया-ऽऽयुषोस्तु पूर्वोक्तकारणान्नोदीरणेति अयोगिकेवली त्वनुदीरकः, योगसव्यपेक्षत्वात् उदीरणायास्तस्य च योगाभावादिति ॥७७॥७८॥

अथ बन्धादिषु सर्वसङ्ख्यमङ्ख्यया यावत्य उत्तरप्रकृतयो भवन्ति तावतीर्दर्शयितुमाह—'बन्धे' इत्यादि, बन्धे बन्धचिन्तायां विंशत्युत्तरं प्रकृतीनां शतं भवतीति। उदये च द्वाविंशत्युत्तरं शतं भवतीति; उदीरणायामप्येवम्, द्वाविंशत्युत्तरमेव शतमित्यर्थः। सत्तायां पुनरष्टचत्वारिंशदधिकं शतं भवति। इयमत्र भावना—बन्धे उदये च चिन्त्यमाने बन्धननामानि संघातननामानि च स्वस्वशरीरान्तर्गतान्येव विवक्ष्यन्ते। तथा ये वर्ण गन्ध-रस-स्पर्शानामुत्तरभेदा यथाक्रमं पञ्च-द्वि-पञ्चा-ऽष्टसङ्ख्याः, तेऽपि बन्धे उदये च न विवक्ष्यन्ते। किंतु वर्णादय एव चत्वारः, तथा बन्धे चिन्त्यमाने सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे न गृह्येते, मिथ्यात्वपुद्गलानामेव तथापरिणतेः। तथा च सति बन्धचिन्तायां बन्धनपञ्चकं संघातनपञ्चकं वर्णादिषोडशकं च नाम्नस्त्रिनवतेरपनीयते[2] शेषाः सप्तषष्टिः परिगृह्यन्ते। मोहनीयप्रकृतयश्च सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वहीनाः शेषाः षड्विंशतिः। ततः सर्वप्रकृतिसङ्ख्यामीलने बन्धे विंशत्युत्तरं प्रकृतिशतं भवति।

उदये च चिन्त्यमाने सम्यक्त्व-मिश्रे अप्युदयमायात इति ते अपि [3]परिगृह्येते। तत उदये द्वाविंशं

प्र. आ.
३६८

१ उदीरयतीति सयोगिकेवली पुनर्नामगोत्रे—जे. सि. नास्ति॥ २ ०ते-सि. वि. नास्ति॥ ३ परि० सि. वि. नास्ति॥

प्रकृतिशतम् । उदये सत्येवोदीरणा भवतीत्यत उदीरणायामपि द्वाविंशं शतम् । सत्तायां तु चिन्त्यमानायां बन्धनपञ्चकं संघातनपञ्चकं वर्णादिषोडशकं च पूर्वापनीतं परिगृह्यते । [1]ततः सर्वसङ्ख्यया प्रकृतीनामष्टचत्वारिंशं शतं भवति । उक्तं च **कर्मस्तवे**—

❀ "अडयालं पयडिसयं खवियजिणं निव्वुयं वंदे" [ ]

यदा पुनर्गर्गर्षिशिवशर्मप्रभृत्याचा[2]र्याणां मतेनाष्टपञ्चाशदधिकं प्रकृतिशतं सत्तायामधिक्रियते तदा बन्धनानि पञ्चदश विवक्ष्यन्ते । ततोऽष्टचत्वारिंशदधिकस्य प्रकृतिशतस्य पूर्वोक्तस्योपरि बन्धनगता दश प्रकृतयोऽधिकाः प्राप्यन्ते । इति भवत्यष्टपञ्चाशदधिकं प्रकृतिशतमिति ॥७९॥२१७॥

इदानीं **'कम्मट्ठिई साबाह'** त्ति अष्टादशोत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

[3]मोहे कोडाकोडीउ सत्तरी वीस नामगोयाणं ।
तीसियराण चउण्हं तेत्तीसऽयराइं आउस्स ॥ ८० ॥
एसा उक्कोसठिई इयरा वेयणिय बारस मुहुत्ता ।
अट्ठ नामगोत्तेसु सेसएसु मुहुत्तंतो ॥ ८१ ॥
जस्स जइ [4]कोडिकोडीउ तस्स तेत्तियसयाइं वरिसाणं ।
होइ अबाहाकालो आउम्मि पुणो भवतिभागो ॥ ८२ ॥

---

१ अतः—सि. वि. ॥ ❀ अष्टचत्वारिंशं प्रकृतीनां शतं क्षपयित्वा निर्वृत जिनं वन्दे ॥
२ र्यान्तरमतेना० सि. वि. ॥ ३ तुला—पञ्चसङ्ग्रहः द्वार ५ गा. ३१ ॥ ४ कोड० मु. ॥

[1]मोहे–मोहनीये षष्ठी-सप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् मोहनीयस्य कर्मण उत्कृष्टा स्थितिः सप्ततिसागरोपमकोटीकोट्यः । इह द्विधा स्थितिः; तद्यथा–कर्मरूपतावस्थानलक्षणा अनुभवयोग्या च । तत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणामेव स्थितिमधिकृत्योत्कृष्टं जघन्यं वा प्रमाणमभिधातुमिष्टमवगन्तव्यम् अनुभवयोग्या पुनरबाधाकालहीना; येषां च कर्मणां यावत्यः सागरोपमकोटीकोटयः तेषां तावन्ति वर्षशतान्यबाधाकालः । तेन मोहनीयस्योत्कृष्टा स्थितिः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटय इति तस्य सप्ततिर्वर्षशतान्यबाधाकालः ।

तथाहि–तन्मोहनीयमुत्कृष्टस्थितिकं बद्धं सत् सप्ततिवर्षशतानि यावन्न काञ्चिदपि स्वोदयतो जीवस्याबाधामुत्पादयति, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । किमुक्तं भवति ?–सप्ततिवर्षशतप्रमाणेषु समयेषु मध्ये न वेद्यदलिकनिक्षेपं करोति; किन्तु तत उर्ध्वमिति । तथा नाम-गोत्रयोरुत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटयः; द्वे वर्षसहस्रे अबाधा; अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । तथा इतरेषां चतुर्णां–ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, त्रीणि वर्षसहस्राण्यबाधा; अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । आयुष उत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशदतराणि–सागरोपमाणि; [2]पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । सूत्रकृता त्वसौ पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधारूपतयैवापयाति, न पुनरुदयमायाति, अतो यावती स्थितिरायुषो वेद्यते तावत्येवाबाधारहितोपात्तेति ॥८०॥

अथ उत्कृष्टस्थितिनिगमनपूर्वं जघन्यां स्थितिमाह—'एसे'त्यादि, एषा पूर्वोक्ता उत्कृष्टा स्थितिः; इतरा–जघन्या पुनर्वेदनीये–वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्ताः; इह द्विधा वेदनीयस्य जघन्या स्थितिः प्राप्यते–

१ तुला–पञ्चसङ्ग्रहटीका ५ । ३१ प. २१८ ॥
२ पूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि पूर्वकोटिस्त्रिभागो अबाधाकालहीनश्च–सि. वि. ॥

सकषायानकषायांश्च प्रतीत्य तत्राकषायाणां वेदनीयस्थितिर्द्विसमयस्थितिका; यतस्तत्कर्म प्रथमसमये बद्धं द्वितीयसमये वेदितं तृतीयसमयेऽकर्मतामनुभवति, अकषायाणां कषायरहितत्वेन बहुतरस्थितिबन्धासंभवात्, सकषायाणां तु सूत्रोपात्ता द्वादशमुहूर्ता जघन्या स्थितिः। अन्तमुहूर्त्तमबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। तथा नाम-गोत्रयोः प्रत्येकमष्टौ अष्टौ मुहूर्ता जघन्या स्थितिः अन्तमुहूर्तमबाधा अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। तथा शेषाणां—ज्ञानावरण-दर्शनावरणाऽन्तराय-मोहनीया-ऽऽयुषां जघन्या स्थितिर्मुहूर्तान्तः—अन्तमुहूर्तम्। [1]अत्राप्यन्तमुहूर्तमबाधा; नवरं तल्लघुतरमवसेयम्; अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः। तदेवमुक्ता मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टा जघन्या च स्थितिः; उत्तरप्रकृतीनां तु **कर्मप्रकृत्या**दिग्रन्थेभ्योऽवसेया ॥ ८१ ॥

साम्प्रतमेतेषामेव कर्मणामुत्कृष्टस्थित्यबाधाकालपरिमाणमाह—'**जस्से**'त्यादि, यस्य कर्मणो यावत्यः सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः प्रतिपादिता तस्य कर्मणस्तावन्मात्राणि वर्षशतानि भवत्युत्कृष्टोऽबाधाकालः। यथा मोहनीयस्य सप्ततिसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, ततस्तस्य सप्ततिवर्षशतान्यबाधा, एवं सर्वत्रापि भावनीयम्। आयुषि पुनरुत्कृष्टोऽबाधाकालो भवत्रिभागः—पूर्वकोटित्रिभागलक्षणः, पूर्वकोटित्रिभागमध्ये बध्यमानायुर्दलिकनिषेकं न विदधातीत्यर्थः। वेद्यमानस्य ह्यायुषो द्वयोस्त्रिभागयोरतिक्रान्तयोस्तृतीये भागेऽवशिष्टे परभवायुषो बन्धः ततः पूर्वकोटित्रिभागो[2] लभ्यते; जघन्या त्वबाधा सर्वेषामपि कर्मणामन्तमुहूर्तप्रमाणेति ॥ ८२ ॥ २१८ ॥

१ अन्तमुहूर्तमबाधा-सि वि.॥ २ ०गात्-सि० वि०'॥

इदानीं 'बायालीसा य पुन्नपयडीओ' त्ति एकोनविंशत्युत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

सायं १ उच्चागोयं २ नरतिरिदेवाउ ५ नाम एयाओ
मणुयदुगं ७ देवदुगं ९ पंचिंदियजाइ १० तणुपणगं १५॥ ८३ ॥
अंगोवंगतिगंपि य १८ संघयणं वज्जरिसहनारायं १९ ।
पढमं चिय संठाणं २० वन्नाइचउक्क सुपसत्थं २४ ॥ ८४ ॥
अगुरुलहु २५ पराघायं २६ उस्सासं २७ आयवं च २८ उज्जोयं २९ ।
सुपसत्था विहगगई ३० तसाइदसगं च ४० निम्माणं ४१ ॥ ८५ ॥
तित्थयरेणं सहिया पुन्नप्पयडीओ हुंति बायाला ४२ ।
सिवसिरिकडक्खियाणं सयावि सत्ताणमेयाउ ॥ ८६ ॥

सातं—सातवेदनीयम् , तथा उच्चैर्गोत्रम् , तथा नरायुस्तिर्यगायुर्देवायुश्च; तथा एताश्च नामकर्मप्रकृतयस्तद्यथा—मनुष्यद्विकं—मनुष्यगति—मनुष्यानुपूर्वीलक्षणम् , देवद्विकं—देवगति-देवानुपूर्वीलक्षणम् , पञ्चेन्द्रियजातिः, तनुपञ्चकम्—औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणलक्षणम् , अङ्गोपाङ्गत्रिकम्—औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणम् , संहननं वज्रर्षभनाराचाख्यम् , प्रथमं चैव संस्थानं—समचतुरस्राख्यम् , तथा वर्णादिचतुष्कं—वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शस्वरूपं सुप्रशस्तं-[1]शुभम् , तत्र वर्णाः-शुक्ल-पीत-रक्ताः, गन्धः सुरभिः, रसा मधुरा-ऽम्ल-कषायाः, स्पर्शा मृदु-लघु-स्निग्धोष्णा इति। अगुरुलघु पराघातम् उच्छ्वासम् आतपम्

१ शुभम्-सि॰ वि॰ नास्ति ॥

उद्योतम् सुप्रशस्ता विहायोगतिः, त्रसादिदशकं च—त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्तिलक्षणं निर्माणं च । एता एव तीर्थकरनाम्ना सहिता द्विचत्वारिंशत्पुण्यप्रकृतयः शुभसंज्ञिकाः प्रकृतयो भवन्ति । एताश्च शिवश्रीकटाक्षितानां सत्त्वानां सदैव प्राप्यन्त इति ॥ ८३८६ ॥ २१९ ॥

इदानीं 'बासीई पावपयडीओ' त्ति विंशत्युत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

नाणंतरायदसगं १० [1]दंसण नव ९ मोहपयइ छव्वीसा २६ ।
अस्सायं निरयाउं नीयागोएण अडयाला ॥८७॥
नरयदुगं २ तिरियदुगं ४ जाइचउक्कं ८ च पंच संघयणा १३ ।
संठाणावि य पंच उ १८ वन्नाइचउक्कमपसत्थं २२ ॥८८॥
उवघाय २३ [2]कुविहयगई २४ थावरदसगेण होंति चोत्तीसा ३४ ।
सव्वाओ मीलियाओ बासीई पावपयडीओ ८२ ॥८९॥

ज्ञानावरणपञ्चकम्, अन्तरायपञ्चकम्, दर्शनावरणनवकम्, सम्यक्त्व-मिश्रे उदयमेव केवलमाश्रित्या-शुभे, न बन्धमपि, तयोर्बन्धासंभवात्, अतस्तद्वर्जा मोहनीयस्य षड्विंशतिः प्रकृतयः, असातं नरकायुष्कं नीचैर्गोत्रं चेत्येता अष्टचत्वारिंशत्प्रकृतयः, नरकद्विकं—नरकगति-नरकानुपूर्वीस्वरूपम्, तिर्यग्द्विकं—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीलक्षणम्, जातिचतुष्कम्—एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणम्, पञ्च संहननानि प्रथमवर्जानि, संस्थानान्यपि आद्यवर्जानि पञ्च, वर्णादिचतुष्कमप्रशस्तम्, तत्र वर्णौ नील-कृष्णौ, गन्धो

१ दसण ११ मोह० मु ॥ २ कुविहायगई-मु. ॥

दुरभिः, रसौ तिक्त-कटुकौ, स्पर्शाश्च गुरु-खर-रुक्ष-शीतरूपा इति । उपघातं कुत्सिता च—अप्रशस्ता विहायोगतिः, स्थावरदशकं च स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त—साधारणा—ऽस्थिरा-ऽशुभ—दुर्भग—दुःस्वराऽना-देया-यशःकीर्तिलक्षणम् , एताश्चतुस्त्रिंशन्नामकर्मप्रकृतयः मिलिताश्च सर्वा द्व्यशीतिः पापप्रकृतयः—अशुभ-संज्ञाः प्रकृतय इत्यर्थः । वर्णादिचतुष्कं हि शुभप्रकृतिसङ्ख्यायामशुभप्रकृतिसङ्ख्यायां च परिगृह्यते; तस्य द्विधा संभवात् ; अतो बन्धोक्ताया विंशत्युत्तरशतलक्षणसङ्ख्याया न व्याघात इति ॥८७॥८८॥८९॥२२०॥

इदानीं 'भावच्छक्कं सपडिभेयं' त्येकविंशत्युत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

भावा छुवोवसमिय १ खइय २ खओवसम ३ उदय ४ परिणामा ५ ।
दु २ नव ९ द्वारि १८ गवीसा २१ तिग ३ भेया सन्निवाओ य ॥ ९० ॥
सम्मचरणाणि पढमे दंसणनाणाइं दाणलाभाइं[1] ।
उवभोगभोगवीरिय सम्मचरित्ताणि य बिइए ॥ ९१ ॥
चउनाणमणाणतिगं दंसणतिग पंच दाणलद्धीओ ।
सम्मत्तं चारित्तं च संजमासंजमो तइए ॥ ९२ ॥
चउगइ चउक्कसाया लिंगतिगं लेसछक्कमन्नाणं ।
मिच्छत्तमसिद्धत्तं असंजमो तह चउत्थम्मि ॥ ९३ ॥

१ य-मु. ॥

पंचमगंमि य भावे जीवाभव्वत्तभव्वया चेव ।
पचण्हवि भावाणं भेया एमेव तेवन्ना ॥ ९४ ॥
ओदयियखओवसमियपरिणामेहिं चउरो गइचउक्के ।
खइयजुएहिं चउरो तदभावे उवसमजुएहिं ॥ ९५ ॥
एक्केक्को उवसमसेढीसिद्धकेवलिसु एवमविरुद्धा ।
पन्नरस सन्निवाइयभेया वीसं असंभविणो ॥ ९६ ॥
दुगजोगो सिद्धाणं केवलिसंसारियाण [1]तिगजोगो ।
चउजोगजुअं चउसुवि गईसु मणुयाण पणजोगो ॥ ९७ ॥
मोहस्सेवोवसमो खाओवसमो चउण्ह घाईणं ।
उदयक्खयपरिणामा अट्ठण्हवि हुंति कम्माणं ॥ ९८ ॥ [पञ्चसंग्रहे गा. १४३]

विशिष्टहेतुभिः स्वभावतो वा जीवानां तेन तेन रूपेण भवनानि भावाः–वस्तुपरिणामविशेषाः; अथवा भवन्त्येभिरुपशमादिभिः पर्यायैरिति भावाः । 'छुच्चे' ति चशब्दस्यावधारणार्थत्वात् षडेव–षट्सङ्ख्या एव । तद्यथा–औपशमिकः, क्षायिकः, क्षायोपशमिकः, औदयिकः, पारिणामिकः, [2]सान्निपातिकश्च ।

[3]तत्रोपशमो–भस्मच्छन्नाग्नेरिवानुद्रेकावस्था प्रदेशतोऽप्युदयाभाव इति यावत् ; इत्थं भूतश्चोपशमः सर्वोपशम उच्यते । स च मोहनीयस्यैव कर्मणो न शेषस्य । '**सव्वुवसमो मोहस्सेव उ**' इति वचनात् ।

१ तिय० मु. ॥ २ सान्निपातिकश्च सि. नास्ति ॥ ३ तत्रौपशमिको–सि. वि. ॥

तत्र चैवं शब्दव्युत्पत्तिः-उपशम एवौपशमिकः, [1]स्वार्थिक इकण्प्रत्ययः, यद्वा उपशमेन निर्वृत्त औपशमिकः-क्रोधाद्युदयाभावफलरूपो जीवस्य परमशान्तावस्थालक्षणः [2]परिणामविशेषः। क्षयः-कर्मणामत्यन्तोच्छेदः, क्षय एव क्षायिकः क्षयेण वा निर्वृत्तः क्षायिकः-तत्कर्माभावफलरूपो विचित्रो जीवस्य परिणतिविशेषः। उदीर्णस्यांशस्य क्षयः, अनुदीर्णस्य चांशस्य विपाकमधिकृत्योपशमः क्षयोपशमः, स एव क्षायोपशमिकः तेन वा निर्वृत्तो घातिकर्मक्षयोपशमसंपाद्यो मतिज्ञानादिलब्धिरूप आत्मनः परिणामविशेषः क्षायोपशमिकः। अष्टानां कर्मणां यथास्वमुदयसमयप्राप्तानामात्मीयात्मीयस्वरूपेणानुभवनमुदयः, उदय एवौदयिकः, यद्वा उदयेन निर्वृत्त औदयिको भावो-नारकत्वादिपर्यायपरिणतिरूपः। परिणमनं परिणामः-कथञ्चिदवस्थितस्य वस्तुनः पूर्वावस्थापरित्यागेनोत्तरावस्थागमनं स एव तेन वा निर्वृत्तः पारिणामिकः।

एषामेव यथाक्रमं भेदानाह—'**दुनवे**' त्यादि, द्वौ, नव, अष्टादश, एकविंशतिस्त्रयश्च यथाक्रमेण भेदा येषां ते तथा, सान्निपातिकश्च षष्ठो भावः, सन्निपतनं सन्निपातो-मिलनं स एव तेन वा निर्वृत्तः सान्निपातिकः; औदयिकादिभावद्व्यादिसंयोगनिष्पाद्योऽवस्थाविशेष इत्यर्थः ॥ ९० ॥

साम्प्रतमौपशमिक[3]क्षायिकभेदान् द्विनवसङ्ख्यान् व्याख्यातुमाह—'**सम्मे**'त्यादि; सम्यक्त्वं[4]चारित्रं चौपशमिकम्, प्रथमे औपशमिके भावे वर्तते। औपशमिकं हि सम्यक्त्वं [5]दर्शनसप्तके चारित्रं तु चारित्रमोहनीये उपशान्ते संभवति। अत औपशमिकभाववर्तित्वमनयोरिति। तथा '**दंसणनाणाइं**' ति 'सूचक-

१ स्वार्थिक इकण्प्रत्ययः-सि. नास्ति ॥ २ परिणाम० सि. वि. नास्ति ॥
३ ०क्षायिक० सि. वि. नास्ति ॥ ४ ०क्त्व-सि. वि ॥ ५ दर्शनमोहनीये-वि. ॥

त्वात् सूत्रस्य' केवलदर्शनम्, केवलज्ञानम्, दानलाभोपभोगपरिभोगवीर्यलब्धयः, क्षायिकसम्यक्त्वम्, क्षायिकचारित्रं [1]च द्वितीये क्षायिके भावे भवन्ति। तथाहि—केवलदर्शनं केवलज्ञानं च निजनिजावरणक्षय एवोपजायते, क्षायिकदानादिलब्धयस्तु पञ्चापि पञ्चविधान्तरायक्षय एव; क्षायिकसम्यक्त्वमपि दर्शनमोहसप्तकक्षये, क्षायिकचारित्रं [2]तु पुनश्चारित्रमोहनीयक्षये इति ॥ ११ ॥

अधुना क्षायोपशमिकभावभेदानष्टादशसङ्ख्यानाह—'चउ' इत्यादि, चत्वारि ज्ञानानि—मति-श्रुताऽवधि मनःपर्यायरूपाणि, अज्ञानत्रिकं—मतिश्रुताज्ञानविभङ्गरूपम्, दर्शनत्रिकं—चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनस्वभावम्, 'पंचे'ति सङ्ख्या दानेनोपलक्षिता लब्धयो दानलब्धयः, दानलाभोपभोगपरिभोगवीर्यलब्धयः, सम्यक्त्वं—सम्यग्दर्शनम्, चारित्रं च—सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसंपरायलक्षणम्, संयमासंयमो—देशविरतिरूप इत्येतेऽष्टादश भेदास्तृतीये क्षायोपशमिके भावे भवन्ति। तथाहि—ज्ञानचतुष्कमज्ञानत्रिकं च यथास्वमावारकस्य मतिज्ञानावरणादिकर्मणः [3]क्षयोपशम एव भवति; दर्शनत्रिकं तु चक्षुर्दर्शनावरणादि[4]क्षयोपशमे, दानादिकाः पुनः पञ्च लब्धयोऽन्तरायकर्मक्षयोपशमे भवन्ति।

ननु दानादिलब्धयः पूर्वं क्षायिकभाववर्तिन्य उक्ताः इह तु क्षायोपशमिक इति कथं न विरोधः?, नैतदेवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, दानादिलब्धयो हि द्विधा भवन्ति—अन्तरायकर्मणः क्षयसंभविन्यः क्षयोपशमसंभविन्यश्च, तत्र याः क्षायिक्यः[5] पूर्वमुक्तास्ताः क्षयसंभूतत्वेन केवलिन एव भवन्ति, यास्त्विह

१ च—सि. वि. नास्ति ॥ २ तु—मु. नास्ति ॥ ३ क्षायोपशमिक—वि.। क्षायोपशमिका—सि. ॥
४ क्षायोपशमिके—सि. वि. ॥ ५ ०काः—सि. ॥

क्षायोपशमिकय उच्यन्ते ताः क्षयोपशमसंभूताः छद्मस्थानामेवेति। सम्यक्त्वमपि क्षायोपशमिकं दर्शनसप्तक-क्षयोपशमे, चारित्रचतुष्कं तु चारित्रमोहनीयक्षयोपशमे, संयमासंयमश्चाप्रत्याख्यानावरणकषायमोहनीय-क्षयोपशमे इति॥ १२ ॥

सांप्रतमेकविंशतिमौदयिकभावभेदानाह–'चउगई'त्यादि, एते सर्वेऽपि गत्यादयो भावाश्चतुर्थे औदयिके भावे भवन्ति। तथाहि–चतस्रो नरकादिगतयो नरकगत्यादिनामकर्मोदयादेव जीवे प्रादुष्पन्ति। कषाया अपि क्रोधादयश्चत्वारः कषायमोहनीयकर्मोदयात्। लिङ्गत्रिकमपि–स्त्रीवेदादिरूपं स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेद-मोहनीयकर्मोदयात्। लेश्याषट्कं तु **'योगपरिणामो लेश्या'** इत्याश्रयणेन योगत्रिकजनककर्मोदयात्।

येषां तु मते कषायनिस्स्यंदो लेश्यास्तदभिप्रायेण कषायमोहनीयकर्मोदयात्। येषां तु कर्मनिस्स्यंदो लेश्यास्तन्मतेन तु संसारित्वासिद्धत्ववदष्टप्रकारकर्मोदयादिति। अज्ञानमपि–विपर्यस्तबोधरूपं मत्यज्ञानादिकं ज्ञानावरणमिथ्यात्वमोहनीयोदयात्; यत्तु पूर्वमस्यैव मत्याद्यज्ञानस्य क्षायोपशमिकत्वमुक्तं तद्वस्त्ववबोधमात्रापेक्षया; सर्वमपि हि वस्त्ववबोधमात्रं विपर्यस्तमविपर्यस्तं वा ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशम एव भवति। यत्पुनस्तस्यैव विपर्यासलक्षणमज्ञानत्वं तद् ज्ञानावरणमिथ्यात्वमोहनीयकर्मोदय एव संपद्यते। इत्येकस्यैवाज्ञानस्य क्षायोपशमिकत्वमौदयिकत्वं च न विरुध्यते। इत्येवमन्यत्रापि विरोधपरिहारः कर्तव्य इति। मिथ्यात्वं मिथ्यात्वमोहनीयोदयात्; असिद्धत्वं–कर्माष्टकोदयात्; असंयमः–अविरतत्वम्, तदप्य-प्रत्याख्यानावरणकषायोदयादुपजायत इति।

---

१ च-मु.।

ननु निद्रापञ्चकासातादिवेदनाहास्यरत्यरतिप्रभृतयः प्रभूततरभावा अन्येऽपि कर्मोदयजन्याः सन्ति तत् किमित्येतावन्त एवैते निर्दिष्टाः ?, सत्यम् , उपलक्षणमात्रत्वादमीषां संभविनोऽन्येऽपि द्रष्टव्या इति ॥९३॥

अथ पारिणामिकभेदांस्त्रीनाह—'पंचे'त्यादि, पञ्चमके च-पारिणामिकत्वलक्षणे भावे जीवत्वाऽभव्यत्व-भव्यत्वानि वर्तन्ते । जीवत्वमभव्यत्वं भव्यत्वं चानादिपारिणामिको भाव इत्यर्थः उपलक्षणं चैतत् , तेन ये गुडघृततण्डुलासवघटादीनां नवपुराणत्वादयोऽवस्थाविशेषाः ये च वर्षधरपर्वत-भवन-विमान-कूट-रत्नप्रभादीनां [1]पुद्गलविचटनसंपाद्या अवस्थाविशेषाः, यानि च गंधर्वनगराणि, यच्च कपिहसित-मुल्कापातो गर्जितं महिका दिग्दाहो विद्युत् चन्द्रपरिवेषः सूर्यपरिवेष[2]श्चन्द्रसूर्यग्रहणमिन्द्रधनुरित्यादिः सर्वः सादिपारिणामिको भावः । लोकस्थितिरलोकस्थितिधर्मास्तिकायत्वमित्यादिरूपस्त्वनादिपारिणामिक इति ।

उक्ताः प्रत्येकं भावभेदाः, सम्प्रत्येतेषामेव भेदानां सर्वसङ्ख्यामाह- 'पंचण्हवी'त्यादि, पञ्चानामप्यौपशमिकादीनां भावानां भेदाः समुदिताः सन्त एवमेव-पूर्वोक्तप्रकारेण त्रिपञ्चाशत्सङ्ख्या भवन्ति । द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयाणां मीलनेनैतत्सङ्ख्यायाः सद्भावादिति । षष्ठस्तु सान्निपातिको भाव एतेषामेव द्व्यादिसंयोगनिष्पाद्यः । तत्र चागमोक्तक्रमेण औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकरूपाणां पञ्चानां पदानां सामान्यतः [3]षड्विंशतिर्भङ्गा उत्पद्यन्ते । तद्यथा—दश द्विकसंयोगे, दश त्रिकसंयोगे, पञ्च चतुष्कसंयोगे, एकः पञ्चकसंयोगे इति ।

तत्र द्विकसंयोगे दश—औदयिक औपशमिक इत्येको भङ्गः, औदयिकः क्षायिक इति द्वितीयः, औद-

प्र. आ. ३७२ ॥४५४॥

१ पुद्गलविचटनचटनसंपाद्या—मु- ॥ २ ०श्चान्द्र० सि. वि. ॥ ३ षड्विंशतिर्भेदाः समुत्पद्यन्ते—सि. वि ।

यिकः क्षायोपशमिक इति तृतीयः, औदयिकः पारिणामिक इति चतुर्थः, औपशमिकः क्षायिक इति पञ्चमः, औपशमिकः क्षायोपशमिक इति षष्ठः, औपशमिक पारिणामिक इति सप्तमः, क्षायिकः क्षायोपशमिक इत्यष्टमः, चायिकः पारिणामिक इति नवमः, क्षायोपशमिकः पारिणामिक इति दशमः ।

तथा दश त्रिकसंयोगे—औदयिक औपशमिकः क्षायिक इत्येको भङ्गः, औदयिक औपशमिकः क्षायोपशमिक इति द्वितीयः, औदयिक औपशमिकः पारिणामिक इति तृतीयः, औदयिकः क्षायिकः क्षायोपशमिक इति चतुर्थः, औदयिकः क्षायिकः पारिणामिक इति पञ्चमः, औदयिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिकः इति षष्ठः, औपशमिकः क्षायिकः क्षायोपशमिक इति सप्तमः, औपशमिकः क्षायिकः पारिणामिक इत्यष्टमः, औपशमिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इति नवमः, क्षायिकः चायोपशमिकः परिणामिक इति दशमः ।

तथा चतुष्कसंयोगे—औदयिक औपशमिक चायिकः क्षायोपशमिक इत्येको भङ्गः, औदयिक औपशमिकः क्षायिकः पारिणामिक इति द्वितीयः, औदयिक औपशमिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इति तृतीयः, औदयिकः क्षायिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इति चतुर्थः, औपशमिकः क्षायिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इति पञ्चमः; षड्विंशतितमस्तु भङ्गः पञ्चकसंयोगे जायमानः सुप्रतीत एव । एते च षड्विंशतिर्भङ्गा भङ्गरचनामात्रमधिकृत्य दर्शिता वेदितव्याः, संभविनः पुनरेतेषु मध्ये परमार्थतः षडेव । तद्यथा—एको द्विकसंयोगे ९, द्वौ त्रिकसंयोगे ५–६, द्वौ चतुष्कसंयोगे ३–४, एकः पञ्चकसंयोगे ॥९४॥

एते चावान्तरभेदतः पंचदश भवन्त्यतस्तान् सूत्रकृदाह—'ओदई'त्यादिगाथाद्वयम्, औदयिक-चायोपशमिकपारिणामिकैर्भावैर्निष्पन्नस्य सान्निपातिकस्य नारकतिर्यग्नरसुरस्वरूपगतिचतुष्कविषयतया

चिन्त्यमानस्य चत्वारो भेदा भवन्ति । इदमुक्तं भवति–औदयिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इत्ययं त्रिकसंयोगनिष्पन्नो भङ्गो गतिभेदाच्चतुर्धा भिद्यते, तद्यथा–निरयगतावौदयिकं नैरयिकत्वम्, क्षायोपशमिकमिन्द्रियादि, पारिणामिकं जीवत्वादि । [1]तिर्यग्गतावौदयिकं तिर्यग्योनित्वम्, क्षायोपशमिकमिन्द्रियादि, पारिणामिकं जीवत्वादि । एवं नरसुरगत्योरपि भावना कार्या ।

तथा एतैरेवौदयिकादिभिस्त्रिभिः क्षायिकसहितैर्निष्पन्नस्य सान्निपातिकस्य भावस्य चत्वारो भेदा भवन्ति । अयमर्थः–अमीषामेव त्रयाणां भावानां मध्ये यदा क्षायिको भावश्चतुर्थः प्रक्षिप्यते तदा चतुष्कसंयोगो भवति । एवं चाभिलपनीयः–औदयिकः, क्षायिकः, क्षायोपशमिकः, पारिणामिकः । एषोऽपि गतिभेदाच्चतुर्धा, तद्यथा–औदयिकी नरकगतिः, क्षायिकं सम्यक्त्वम्, क्षायोपशमिकमिन्द्रियादि, पारिणामिक जीवत्वादि । एवं तिर्यग्नरसुरगतिष्वपि भावनीयम् । प्रकारान्तरेण चतुःसंयोगे एव चतुर्भेदानाह–तदभावे–अनन्तरप्रक्षिप्तक्षायिकभावाभावे औपशमिकभावयुक्तैरौदयिकादिभिरेव चत्वारो भेदा भवन्ति । एतदुक्तं भवति–यदा क्षायिकभावस्थाने औपशमिको भावः प्रक्षिप्यते तदापि चतुष्कसंयोगो भवति । एवं चाभिलापः–औदयिकः, औपशमिकः, क्षायोपशमिकः, पारिणामिकः । एषोऽपि गतिभेदात्प्रागिव चतुर्धा भावनीयः । नवरमौपशमिकं सम्यक्त्वमवगन्तव्यम् ।

तथा [2]एककः–एकसङ्ख्यः सान्निपातिको भेद उपशमश्रेणिसिद्धकेवलिषु भवति । तत्र औदयिकः, औपशमिकः, क्षायिकः, क्षायोपशमिकः, पारिणामिक इत्येवंरूप एकः पञ्चकसंयोगो यः क्षायिकः सम्यग्दृष्टिः ॥४५६॥

१ तिर्यग्जाता० सि. ॥ २ एकैकः-सि. वि. ॥

सन्नुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य संभवति। तथाहि-औदयिकं मनुष्यत्वादि, औपशमिकं चारित्रम् , क्षायिकं सम्यक्त्वम् , क्षायोपशमिकमिन्द्रियादि, पारिणामिकं जीवत्वादि। सिद्धेषु पुनरेको द्विकसंयोगलक्षणः सान्निपातिकभेदः। तद्यथा—क्षायिकः पारिणामिक इति। तत्र क्षायिकं सम्यक्त्वकेवलज्ञानादि, पारिणामिकं जीवत्वम्। केवलिनां त्वेकस्त्रिकसंयोगलक्षणः सान्निपातिकभेदः; तद्यथा—औदयिकः, क्षायिकः, पारिणामिकः, तत्रौदयिकं मनुष्यत्वादि, क्षायिकं केवलज्ञानादि, पारिणामिके जीवत्वभव्यत्वे। एवमनेन गत्यादिषु संयोगषट्कचिन्तनप्रकारेणाविरुद्धाः परस्परविरोधाभावेन संभविनः पञ्चदश सान्निपातिकभेदाः षट्कभावविकल्पा भवन्ति। विंशतिसङ्ख्याः पुनर्भङ्गा असंभविनः संयोगोत्थानमात्रतयैव [1]संभवन्ति, न पुनर्जीवेषु कदाचिदपि प्राप्यन्ते इति॥१५॥१६॥

अथैत एव संभविनः षड् भङ्गा येषु जीवेषु संभवन्ति तानाह—'दुगे' त्यादि, दशसु द्विकसंयोगेषु मध्ये क्षायिक-पारिणामिकभावद्वयनिष्पन्नो नवमो द्विकसंयोगः सिद्धानां संभवति। शेषास्तु नव प्ररूपणामात्रम्। अन्येषां तु जीवानामौदयिकी गतिः, क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं तु जीवत्वमित्येतद्भावत्रयं जघन्यतोऽपि लभ्यत इति। तथा केवलिनां संसारिणां च [2]त्रिकसंयोगः। तत्र दशसु त्रिकसंयोगेषु मध्ये केवलिनाम् औदयिक-क्षायिक-पारिणामिकभावत्रयनिष्पन्नः पञ्चमो भङ्गः संभवति। औपशमिकस्य मोहनीयाश्रितत्वेन तत्क्षयवतां केवलिनामसंभवात्। क्षायोपशमिकस्यापि इन्द्रियाद्यभावतोऽसंभवाद् , 'अतीन्द्रियाः केवलिन' इति वचनात्। संसारिणां तु चतुर्गतिकजीवानामौदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकभावत्रयनिष्पन्नः षष्ठस्त्रिकसंयोगः [3]संभवति। शेषास्त्वष्टौ प्ररूपणामात्रम् , क्वाप्यसंभवादिति।

१ संति-सि.वि.॥ २ त्रिकयो० सि वि.॥ ३ भवति सि. वि.॥

तथा पञ्चसु चतुष्कसंयोगेषु मध्ये चतुर्योगयुगं-चतुःसंयोगभङ्गद्वयं चतसृष्वपि गतिषु संभवति । तथाहि— औपशमिक[1]सम्यग्दृष्टेरौदयिकौपशमिक--क्षायोपशमिकपारिणामिकभावचतुष्टयनिष्पन्नस्तृतीयो भङ्गः । क्षायिकसम्यग्दृष्टेस्तु औदयिकः क्षायिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक इत्येवंरूपश्चतुर्थो भङ्गश्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यत इति । तथा मनुष्याणां पञ्चकयोगः—पूर्वोक्तभावपञ्चकसंयोगः संभवति । केवलं क्षायिकसम्यग्दृष्टयः सन्तो ये उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते तेषामेव न पुनरन्येषाम् । समुदितभावपञ्चकस्य तेषामेव भावादिति ॥९७॥

उक्ता जीवानधिकृत्य सर्वेऽपि भावाः । इदानीं को भावः कस्मिन् कर्मणि भवतीत्येतन्निरूपयितुमाह—'मोहस्सेवे' त्यादि, अष्टानां कर्मणां मध्ये मोहनीयस्यैवोपशमो—विपाकप्रदेशरूपतया द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भणं नान्येषाम्, उपशमस्त्विह सर्वोपशमो विवक्षितो न देशोपशमः; तस्य सर्वेषामपि कर्मणां संभवात् । तथा उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षयेणानुदयावलिकाप्रविष्टस्योपशमेन—विपाकोदयनिरोधलक्षणेन निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः । स चतुर्णामेव घातिकर्मणां—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीयाऽन्तरायरूपाणां भवति न शेषकर्मणाम् । चतुर्णामपि च केवलज्ञानावरण-केवलदर्शनावरणरहितानाम्; तयोर्विपाकोदयविष्कम्भावतः क्षयोपशमासंभवात् । उदयक्षयपरिणामा अष्टानामपि कर्मणां भवन्ति । तत्र उदयो—विपाकानुभवनम्, तस्य सर्वेषामपि संसारिजीवानामष्टानामपि कर्मणां दर्शनात्; क्षयः—आत्यन्तिकोच्छेदः, स च मोहनीयस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्य चरमसमये । शेषाणां तु त्रयाणां घातिकर्मणां क्षीणकषायगुणस्थानकस्य, अघातिकर्मणामयोगिकेवलिनः । तथा परिणमनं परिणामः—जीवप्रदेशैः सह

१ सम्यग्दृष्टेस्त्वौदयिक० सि. वि. ॥

संलुलिततया मिश्रीभवनं यद्वा तत्तद्द्रव्यक्षेत्रकालाध्यवसायापेक्षया तथातथासंक्रमादिरूपतया यत्परिणमनं स परिणामः । एष चात्र तात्पर्यार्थः—मोहनीयस्य औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकौदयिक-पारिणामिक-लक्षणाः पञ्चापि भावाः सम्भवन्ति । ज्ञानावरण दर्शनावरणा-ऽन्तरायाणामौपशमिकवर्जाः शेषाश्चत्वारः, नाम-गोत्र-वेदनीया-ऽऽयुषां क्षायिकौदयिकपारिणामिकलक्षणास्त्रय इति ॥ ९८ ॥

अथ गुणस्थानकेषु भावपञ्चकं चिन्तयन्नाह—

सम्माइचउसु तिग चउ भावा चउ पणुवसामगुवसंते ।
चउ [1]खीणेऽपुव्वे तिन्नि सेसगुणठाणगेगजिए ॥ ९९ ॥ ★

'सम्माई'त्यादि, सम्यग्दृष्ट्यादिषु चतुर्षु—अविरत सम्यग्दृष्टि देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतलक्षणेषु गुणस्थानकेषु त्रयश्चत्वारो वा भावाः प्राप्यन्त इति शेषः । तत्र क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टेश्चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेषु त्रयो भावा लभ्यन्ते । तद्यथा—यथासंभवमौदयिकी गतिः, क्षायोपशमिकमिन्द्रिय-सम्यक्त्वादि, पारिणामिकं जीवत्वमिति । क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेश्च[2] चत्वारो भावा लभ्यन्ते, त्रयस्तावत्पूर्वोक्ता एव, चतुर्थस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणः औपशमिकसम्यग्दृष्टेस्त्वौपशमिकसम्यक्त्वलक्षण इति ।

तथा चत्वारः पञ्च वा भावा द्वयोरप्युपशमकोपशान्तयोर्भवन्ति । किमुक्तं भवति ?—अनिवृत्तिबादर-

१ खीणऽपुव्वे-मु. । खीणे अपुव्वे-ता. ॥ खीणापुव्वे-इति चतुर्थे कर्मग्रन्थे [गा. ७०] पाठः ॥
२ श्चत्वारो- सि. वि. ॥ ★ गाथेयं (१२९१) 'चतुर्थकर्मग्रन्थे (नव्य गा. ६८) अपि विद्यते ॥

सूक्ष्मसम्परायलक्षणगुणस्थानकद्वयवर्ती जन्तुरुपशमकः, उपशान्तमोहगुणस्थानकवर्ती चोपशान्तः, तत्रानिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसंपराययोश्चत्वारः [1]पूर्ववदेव । उपशान्तमोहे तु चतुर्थ औपशमिकसम्यक्त्वचारित्ररूपः । पञ्चमः पुनस्त्रयाणामपि दर्शनसप्तकक्षये उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानानाम् । तथाहि—क्षायिकसम्यक्त्वस्य औपशमिकचारित्रस्य च सद्भावादिति ।

तथा चत्वारो भावाः क्षीणापूर्वयोः—क्षीणमोहगुणस्थानके अपूर्वकरणगुणस्थानके च, तत्र त्रयः पूर्ववदेव, चतुर्थस्तु क्षीणमोहे क्षायिकसम्यक्त्वचारित्ररूपः । अपूर्वकरणे तु क्षायिकसम्यक्त्वरूप औपशमिकसम्यक्त्वरूपो वेति । 'तिन्नि सेसगुणठाणगे' ति, त्रयः—त्रिसङ्ख्या भावा भवन्ति । केष्वित्याह— [2]विभक्तिलोपात् शेषगुणस्थानकेषु—मिथ्यादृष्टि-सासादन--सम्यग्मिथ्यादृष्टि—सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणेषु । तत्र मिथ्यादृष्ट्यादीनां त्रयाणामौदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकलक्षणास्त्रयः, सयोग्ययोगिकेवलिनोस्त्वौदयिकक्षायिकपारिणामिकरूपा इति । नन्वमी त्रिप्रभृतयो भावा गुणस्थानकेषु चिन्त्यमानाः किं सर्वजीवाधारतया चिन्त्यन्ते ? आहोश्विदेकजीवाधारतयेत्याह—'एगजिए'त्ति एकजीवे—एकजीवाधारतयेत्थं भावचिन्ता मन्तव्या । नानाजीवापेक्षया तु संभविनः सर्वेऽपि भावा भवन्तीति ॥ ९९ ॥ २२१ ॥

इदानीं 'जीवचउदसगो' त्ति द्वाविंशत्युत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

इह सुहुमबायरेगिंदियबितिचउ असन्नि सन्नि पंचिंदि ।
पज्जत्तापज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥१३००॥ [प्राचीन कर्मग्रन्थ ४, गा. ३] ॥४६०॥

---

१ पूर्वशमिकवदेव—सि. वि. ॥ २ विभक्तेर्लोपात्—मु. ॥

इह–जगति प्रवचने वा अनेन क्रमेण चतुर्दश जीवस्थानानि भवन्ति । तिष्ठन्ति जीवास्तत्तत्कर्मपारतन्त्र्यादेष्विति स्थानानि–[1]सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियत्वादयोऽवान्तरविशेषाः, जीवानां स्थानानि जीवस्थानानि । केन क्रमेणेत्याह–सूक्ष्म-बादरभेदाद् द्विविधा एकेन्द्रियाः । तथा द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चासंज्ञिसंज्ञिभेदतो द्विधा मिलिताश्च सप्त । एते च सूक्ष्मैकेन्द्रियादयः प्रत्येकं द्विविधाः–पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति । तथा विशेषश्चात्र–अपर्याप्तका द्विधा- लब्ध्या करणेन च, तत्र ये अपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते, न पुनः स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ते ते लब्ध्यपर्याप्तकाः, ये पुनः स्वयोग्यकरणानि–शरीरेन्द्रियादीनि न तावत् निर्वर्तयन्ति, अथ चावश्यं पुरस्तान्निर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्तकाः । इह चैवमागमः–

'लब्ध्यपर्याप्तका अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते नार्वाक्, यस्मादागामिकभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते [2]सर्व एव देहिनः, तच्चाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तानामेव बध्यते' [ ] इति ॥ १३०० २२२ ॥

इदानीम् 'अजीव चउदसगो' त्ति त्रयोविंशत्युत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

धम्मा १ ऽधम्मा २ ऽऽगासा ३ तियतियभेया तहेव अद्धा य १० ।
खंधा ११ देस १२ पएसा १३ परमाणु १४ अजीव चउदसहा ॥ १३०१ ॥ ⊙

इह अजीवा द्विविधाः–रूपिणोऽरूपिणश्च । रूपमेषामस्तीति रूपिणः । रूपग्रहणं गन्धादीनामुपलक्षणम् । तद्व्यतिरेकेण तस्यासंभवात् । अथवा रूपं नाम स्पर्शरूपादिसंमूर्च्छनात्मिका मूर्त्तिः, तदेषामस्तीति रूपिणः–

१ सूक्ष्मा० सि वि. ॥ २ सर्वेपि-वि. ॥ ⊙ गाथेयं (१३०१) नवतत्त्वप्रकरणे (गा. ८) अपि विद्यते ॥

पुद्गलाः, तेषामेव रूपादिमत्त्वात् । रूपव्यतिरेकिणोऽरूपिणो–धर्मास्तिकायादयः। तत्र रूपिणश्चतुर्धा, अरूपिणश्च दशधा । बहुवक्तव्यत्वाच्च प्रथममरूपिण आह–धर्मास्तिकाया-ऽधर्मास्तिकाया-ऽऽकाशास्तिकायाः–पूर्वोक्तस्वरूपास्त्रयोऽपि प्रत्येकं त्रिभेदाः। तद्यथा–धर्मास्तिकायद्रव्यम् , धर्मास्तिकायदेशाः, धर्मास्तिकायप्रदेशाः । तत्र [1]धर्मास्तिकायरूपं [2]सकलदेशप्रदेशात्मकाविभागधर्मानुगतसमानपरिणामवत् अवयविद्रव्यं धर्मास्तिकायद्रव्यम् । तथा तस्यैव धर्मास्तिकायद्रव्यस्य देशाः–बुद्धिपरिकल्पिता द्व्यादिप्रदेशात्मका विभागा धर्मास्तिकायदेशाः ।तथा धर्मास्तिकायस्य प्रकृष्टा देशा–निर्विभागा [3]भागा धर्मास्तिकायप्रदेशाः ते चासङ्ख्येया लोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्तेषाम् । एवमधर्मास्तिकाया-ऽऽकाशास्तिकाययोरपि प्रत्येकं त्रिभेदता वाच्या । नवरमाकाशास्तिकायप्रदेशा अनन्ता द्रष्टव्याः, अलोकस्यानन्तत्वात् । दशमश्च अद्धाकालः, अस्य च वर्तमानसमयरूपस्यैव परमार्थसत्त्वाद्देशकल्पनाविरहः ।

तथा स्कन्धा देशाः प्रदेशाः परमाणवश्चेति चतुर्विधा रूप्यजीवाः । तत्र स्कन्दन्ति–शुष्यन्ति धीयन्ते च–पुष्यन्ति विचटनेन संघातेन चेति स्कन्धाः–अनन्तानन्तपरमाणुप्रचयरूपा मांसचक्षुर्ग्राह्याः कुम्भस्तम्भादयः, तदग्राह्या अचित्तमहास्कन्धादयोऽपि पृषोदरादित्वाच्च रूपनिष्पत्तिः । अत्र बहुवचनं पुद्गलस्कन्धानामानन्त्यख्यापनार्थम् , [4]देशाः–स्कन्धानामेव स्कन्धत्वपरिणाममजहतां बुद्धिपरिकल्पिता द्व्यादिप्रदेशात्मका विभागाः अत्रापि बहुवचनमनन्तप्रादेशिकेषु तथाविधेषु स्कन्धेषु [5]देशानन्तत्वसंभावनार्थम् । प्रदेशास्तु

१ धर्मास्तिकायद्रव्यरूपम्-मु ॥ २ सकलप्रदेशानुगतसमान० सि. वि. ॥
३ भागा-सि. वि. नास्ति ॥ ४ देशानां-सि. ॥ ५ देशानामन्त० वि. ॥

स्कन्धानां—स्कन्धत्वपरिणामपरिणतानां बुद्धिपरिकल्पिताः प्रकृष्टा देशा निर्विभागा [1]भागा इत्यर्थः । अत्रापि बहुवचनं प्रदेशानन्तत्वसंभावनार्थम्, परमाश्च ते अणवश्च परमाणवो—निर्विभागद्रव्यरूपाः । ननु प्रदेशपरमाण्वोः कः प्रतिविशेषः ?, उभयोरपि निर्विभागरूपत्वात् । उच्यते, स्कन्धप्रतिबद्धा निर्विभागाः प्रदेशाः ये तु स्कन्धत्वपरिणामरहिता विशकलिता एकाकिन एवास्मिन् लोके वर्तन्ते ते परमाणवः । तदेवमजीवाः—जीवव्यतिरिक्ताश्चतुर्दशविधा भवन्ति ॥ १ ॥ २२३ ॥

इदानीं 'गुण चउदसगु' त्ति चतुर्विंशत्युत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

मिच्छे १ सासण २ मिस्से ३ अविरय ४ देसे ५ पमत्त ६ अपमत्ते ७ ।
नियट्टि ८ अनियट्टि ९ सुहुमु १० वसम ११ खीण १२ सजोगि १३ अजोगि १४ गुणा ॥२॥

[प्राचीन कर्मग्रन्थ ४, गा० २६]

'सूचनात् सूत्र' मिति न्यायात् 'पदैकदेशेऽपि पदसमुदायोपचाराद्वा' इहैवं गुणस्थानकनिर्देशो द्रष्टव्यः । तद्यथा—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, देशविरतिगुणस्थानम्, प्रमत्तसंयतगुणस्थानम्, अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम्, अपूर्वकरणगुणस्थानम्, अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानम्, सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानम्, उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानम्, क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानम्, सयोगिकेवलिगुणस्थानम्, अयोगिकेवलिगुणस्थानम् इत्येतानि चतुर्दश गुणस्थानानि भवन्ति ।

१ भागा-सि. नास्ति ॥

तत्र मिथ्या-विपर्यस्ता दृष्टिः—अर्हत्प्रणीततत्त्वप्रतिपत्तिर्यस्य [1]भक्षितधत्तूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टिः । गुणा—ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः; तिष्ठन्ति गुणा अस्मिन्निति स्थानं—ज्ञानादिगुणानामेव शुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदः, गुणानां स्थानं गुणस्थानम्, मिथ्यादृष्टेर्गुणस्थानं—सासादनाद्यपेक्षया ज्ञानादिगुणानां शुद्ध्यपकर्षकृतः स्वरूपभेदो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ।

ननु यदि मिथ्यादृष्टिरसौ कथं तस्य गुणस्थानसंभवः ?, गुणा हि ज्ञानदर्शनचारित्ररूपाः, तत्कथं ते दृष्टौ ज्ञानादिविपर्यस्तायां भवेयुः ?, उच्यते, इह यद्यपि तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणात्मगुणसर्वघातिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयविपाकोदयवशाद्वस्तुप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिरसुमतो विपर्यस्ता भवति, तथापि काचिन्मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिरन्ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्ताऽपि भवति । यथाऽतिबहलघनपटलसमाच्छादितायामपि चन्द्रार्कप्रभायां काचित्प्रभा । तथाहि-समुन्नत[2]नूतनघनाघनघनपटलेन रविरजनिकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि नैकान्तेन तत्प्रभाविनाशः संपद्यते; प्रतिप्राणिप्रसिद्धदिनरजनिविभागाभावप्रसङ्गात् । उक्तं च—^ "सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पहा चंदसूराणं" [ ] इति ।

[3]एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदयेऽपि काचिदविपर्यस्तापि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसंभवः । यद्येवं ततः कथमसौ मिथ्यादृष्टिरेव मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्त्यपेक्षया अन्ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्त्यपेक्षया वा सम्यग्दृष्टित्वादपि ?, नैष दोषः, यतो भगवदर्हत्प्रणीतं सकल-

१ भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य-सि. वि. जीवसमासवृत्तौ (प. ७) च ॥ २ ०नूतनघनाघनपटलेन-सि वि. ॥
^ सुष्ठ्वपि मेघसमुदये भवति प्रभा चन्द्रसूर्ययोः ॥
३ इत आरभ्य तुल्यप्रायं पञ्चसंग्रहमलय० वृत्तिः द्वा. १ । गा. १५, प. १६ A तः ॥

मपि प्रवचनार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तद्गतमेकमप्यक्षरं न रोचयति तदानीमप्येष मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते; तस्य भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययनाशात् । उक्तं च–

"सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः । मिथ्यादृष्टिः सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥१॥"

किं पुनः शेषो भगवदर्हदभिहितयथावज्जीवाजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिविकलः ? । ननु सकलप्रवचनार्थाभिरोचनात्तद्गतकतिपयार्थानां चारोचनादेप न्यायतः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरेव भवितुमर्हति, कस्मान्मिथ्यादृष्टिः ?, तदसत्, वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह यदा सकलं वस्तु जिनप्रणीततया सम्यक् श्रद्धत्ते तदानीमसौ सम्यग्दृष्टिः । यदा त्वेकस्मिन्नपि वस्तुनि पर्याये वा मतिदौर्बल्यादिना एकान्तेन सम्यक्परिज्ञान-मिथ्यापरिज्ञानाभावतो न सम्यक् श्रद्धानं नाप्येकान्ततो विप्रतिपत्तिः, तदा सम्यग्मिथ्यादृष्टिः । उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ––

"जहा नालिकेरदीववासिस्स खुहाइयस्सवि इत्थ समागयस्स पुरिसस्स ओयणाइए अणेगविहे ढोइए तस्स आहारस्सोवरिं न रुई न य निंदा, जेण तेण सो ओयणाइओ आहारो न कयावि दिट्ठो नावि सुओ, एवं सम्मामिच्छादिट्ठिस्सवि जीवाइपयत्थाणं उवरि न य रुई नावि निंद" [ ] त्ति । यदा पुनरेकस्मिन्नपि वस्तुनि पर्याये वा एकान्ततो विप्रतिपत्ति प्रतिपद्यते तदा मिथ्यादृष्टिरेवेत्यदोषः ? ।

तथा [1]आयम्–औपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षणं सादयति–अपनयतीति नैरुक्ते यशब्दलोपे आसादनम्–अनन्तानुबंधिकपायवेदनम् । सति ह्यस्मिन् परमानन्दसुखफलदो[2] निःश्रेयसतरुबीजभूत औपशमिक-

१ तुला-प्राचीनकर्मग्रन्थटीका ४।२६, प. १८६ ॥ २ ०द- सि. वि. ॥

सम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेण उत्कृष्टतः षड्भिरावलिकाभिरपगच्छतीति । सह आसादनेन वर्तत इति सासादनः । सम्यग्–अविपर्यस्ता दृष्टिः–जिनप्रणीतवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिः, सासादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च सासादनसम्यग्दृष्टिः, तस्य गुणस्थानं सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् । अथवा सह आसातनया–अनन्तानुबन्ध्युदयलक्षणया वर्तत इति सासातनः, स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च २, तस्य गुणस्थानं सासातन-सम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमिति वा पाठः । तत्र सह सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनः । यथा हि भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तः पुरुषस्तद्वमनकाले [1]क्षीरान्नरसमास्वादयति तथैषोऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तः सम्यक्त्वमुद्वमन् तद्रसमास्वादयति, ततः स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च २, तस्य गुणस्थानम् ।

एतच्चैवं भवति–इहापारसंसारपारावारान्तर्वर्ती जन्तुर्मिथ्यादर्शनमोहनीयादिप्रत्ययमनन्तपुद्गलपरावर्तान् यावदनेकशारीरिकमानसिकदुःखलक्षाण्यनुभूय कथमपि तथाभव्यत्वपरिपाकवशतो गुरुतरगिरिसरित्प्रवाहवाह्यमानोपलघोलनाकल्पेनाध्यवसायविशेषरूपेणानाभोगनिर्वर्तितेन यथाप्रवृत्तिकरणेनाऽऽयुर्वर्जानि ज्ञानावरणादिकर्माणि सर्वाण्यपि [2]पृथक्पल्योपमसङ्ख्येयभागन्यूनैकसागरोपमकोटीकोटीस्थितिकानि करोति । अत्र चान्तरे कर्कशकर्पटलापहस्तितवीर्यविशेषाणामसुमतामतिकठोरतरनिबिडचिरप्ररूढगहनतरुग्रन्थिवद् दुर्भेदः कर्मपरिणामजनितो जीवस्य घनरागद्वेषपरिणामरूपो[3]ऽभिन्नपूर्वो ग्रन्थिर्भवति । इमं च ग्रन्थिं यावद-

१ क्षीरान्नरसानास्वादयति–सि.वि. ॥
२ पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनै० इति प्राचीनकर्मग्रन्थटीकायाम् ४।२६, प.१८८॥ ३ ०भिन्नरूपो–मु. ॥

भव्या अपि यथाप्रवृत्तिकरणेन कर्म क्षपयित्वाऽनन्तशः समागच्छन्ति। ततो ग्रन्थिभेदं कर्तुमसमर्थाः पुनरपि व्यावृत्त्य संक्लेशवशादुत्कृष्टस्थितीनि कर्माणि कुर्वन्ति। कश्चित्पुनर्महात्मा समासन्नपरमनिर्वृतिसुखः समुल्लसितप्रभूतदुर्निवार्यवीर्यप्रसरो निसि(शि)ताकुण्ठकुठारधारयेवापूर्वकरणरूपया परमविशुद्ध्या यथोक्तस्वरूपस्य ग्रन्थेर्भेदं विधाय मिथ्यात्वमोहनीयकर्मस्थितेरन्तर्मुहूर्तमुदयक्षणादुपरि गत्वा अनिवृत्तिकरणसंज्ञितेनान्तर्मुहूर्तकालमानं तत्प्रदेशवेद्यदलिकाभावरूपमन्तरकरणं करोति। अत्र च यथाप्रवृत्ता-ऽपूर्वा-ऽनिवृत्तिकरणानामयं क्रमो यथा—

卐 "जा गंठी ता पढमं गंठिं समइच्छओ भवे बीयं। अनियट्टीकरणं पुण सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥१॥

'गंठिं समइच्छओ' त्ति ग्रन्थिं समतिक्रामतो भिन्दानस्येतियावत्। 'सम्मत्तपुरक्खडे' त्ति सम्यक्त्वं पुरस्कृतं येन स तथा तस्मिन्। आसन्नसम्यक्त्वे जीवे अनिवृत्तिकरणं भवतीत्यर्थः।

एतस्मिंश्चान्तरकरणे कृते तस्य कर्मणः स्थितिद्वयं भवति। अन्तरकरणादधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्तमाना, तस्मादेव चान्तरकरणादुपरितनी द्वितीया, स्थापना चेयम्°, तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिरेव, अन्तर्मुहूर्तेन पुनस्तस्यामपगतायामन्तरकरणप्रथमसमय एवौपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति, मिथ्यात्वदलिकवेदनाऽभावात्। यथा हि वनदवानलः पूर्वदग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्या-

卐 यावन् ग्रन्थिस्तावद् प्रथमं ग्रन्थिं समतिक्रामतो भवेद् द्वितीयम्। अनिवृत्तिकरणं पुनः पुरस्कृतसम्यक्त्वे जीवे ॥१॥

यति तथा मिथ्यात्ववेदनवनदवोऽप्यन्तरकरणमवाप्य विध्यायति । तथा च सति तस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभः, [1]उक्तं च—

'उसरदेसं दड्ढल्लयं व विज्झाइ वणदवो पप्प । इय मिच्छस्स अणुदए उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥१॥'

तस्यां चान्तर्मौहूर्तिक्यामुपशान्ताद्धायां परमनिधिलाभकल्पायां जघन्येन समयशेषायां उत्कृष्टतः षडावलिकाशेषायां कस्यचिन्महाविभीषिकोत्थानकल्पस्तथाविधं किंचिन्निमित्तमाश्रित्यानन्तानुबन्ध्युदयो भवति । तदुदये चासौ सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने वर्तते । उपशमश्रेणिप्रतिपतितो वा कश्चित्सासादनत्वं यातीति कार्मग्रन्थिकमतम् ।

॥४६८॥ सिद्धान्तमते तु श्रेण्याः समाप्तौ प्रतिपतितः प्रमत्तगुणस्थानेऽप्रमत्तगुणस्थाने वा तिष्ठते । कालगतस्तु देवेष्वविरतो भवतीति । सासादनोत्तरकालं चावश्यं मिथ्यात्वोदयादयं मिथ्यादृष्टिर्भवतीति २ । प्र. आ. ३७७

तथा सम्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, तस्य गुणस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, इहानन्तरोक्तविधिना लब्धेनौपशमिकसम्यक्त्वेनौषधविशेषकल्पेन मदनकोद्रवस्थानीयं मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म शोधयित्वा त्रिधा करोति । तद्यथा—शुद्धमर्धविशुद्धमविशुद्धं चेति । स्थापना ○ ⊙ ● तत्र त्रयाणां पुञ्जानां मध्ये यदा अर्धविशुद्धपुञ्ज उदेति तदा तदुदयवशाज्जीवस्यार्धविशुद्धमर्हदभिहिततत्त्वश्रद्धानं भवति । तेन तदासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमन्तर्मुहूर्तकालं स्पृशति । तत ऊर्ध्वमवश्यं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वा गच्छतीति ३ । ॥४६८॥

---

१ उक्तं च—"ऊसरदेसं दड्ढल्लयं व विज्झाइ वणदवो पप्प । इय मिच्छस्स अणुदये उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥" मु. नास्ति, सि. वि. प्रत्योः पञ्चसङ्ग्रहेऽपि च दृश्यते ॥

तथा विरमति स्म—सावद्ययोगेभ्यो निवर्तते स्मेति विरतः, न विरतोऽविरतः । अथवा विरमणं विरतं-सावद्ययोगप्रत्याख्यानम्, नास्य विरतमस्तीत्यविरतः; स चासौ सम्यग्दृष्टिश्चेत्यविरतसम्यग्दृष्टिः । इदमुक्तं भवति-यः पूर्ववर्णितौपशमिकसम्यग्दृष्टिः शुद्धदर्शनमोहपुञ्जोदयवर्ती वा क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिः क्षीणदर्शनसप्तको वा क्षायिकसम्यग्दृष्टिरविरतप्रत्ययं दुरन्तनरकादिदुःखफलकर्मबन्धं सावद्ययोगविरतिं च परममुनिप्रणीतसिद्धिसौधाध्यारोहणनिःश्रेणिकल्पां जानन्नपि न विरतिमभ्युपगच्छति, न च तत्पालनाय यतते, अप्रत्याख्यानावरणोदयविघ्नितत्वात्, ते हि अल्पमपि प्रत्याख्यानमावृण्वन्ति, स इहाविरतसम्यग्दृष्टिरुच्यते ४ ।

तथा सर्वसावद्ययोगस्य देशे—एकव्रतविषयस्थूलसावद्ययोगादौ सर्वव्रतविषयानुमतिवर्जसावद्ययोगान्ते विरतं[1]—विरतिर्यस्यासौ देशविरतिः । सर्वसावद्ययोगविरतिस्त्वस्य नास्ति, प्रत्याख्यानावरणकषायोदयात् । सर्वविरतिरूपं हि प्रत्याख्यानमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणा उच्यन्ते इति । देशविरतस्य गुणस्थानं देशविरतगुणस्थानम् ५ ।

तथा संयच्छति स्म—सर्वसावद्ययोगेभ्यः सम्यगुपरमति स्मेति संयतः, प्रमाद्यति स्म—मोहनीयादिकर्मोदयप्रभावतः संज्वलनकषायनिद्राद्यन्यतमप्रमादयोगतः संयमयोगेषु सीदति स्मेति प्रमत्तः, स चासौ संयतश्च प्रमत्तसंयतः, तस्य गुणस्थानं प्रमत्तसंयतगुणस्थानं—विशुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदः । तथाहि—देशविरतगुणापेक्षया एतद्गुणानां विशुद्धिप्रकर्षोऽशुद्ध्यपकर्षश्च । अप्रमत्तसंयतगुणा

१ ०र्ति-सि. ॥

पेक्षया तु विपर्ययः। एवमन्येष्वपि गुणस्थानकेषु पूर्वोत्तरगुणापेक्षया विशुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षयोजना द्रष्टव्या ६।

तथा न प्रमत्तोऽप्रमतो–निद्रादिप्रमादरहितः, स चासौ संयतश्चाप्रमत्तसंयतस्तस्य गुणस्थानमप्रमत्त-संयतगुणस्थानम् ७।

तथा अपूर्वमभिनवमनन्यसदृशमितियावत्, करणं स्थितिघात-रसघात-गुणश्रेणि-गुणसंक्रम-स्थिति-बन्धानां पञ्चानां पदार्थानां निर्वर्तनं यस्यासावपूर्वकरणः। तथाहि–बृहत्प्रमाणाया ज्ञानावरणादिकर्म-स्थितेरपवर्तनाकरणेन खण्डनम्–अल्पीकरणं स्थितिघातः। रसस्यापि--कर्मपरमाणुगतस्निग्धलक्षणस्य प्रचुरीभूतस्य सतोऽपवर्तनाकरणेन खण्डनं रसघातः। एतौ च द्वावपि पूर्वगुणस्थानकेषु विशुद्धेरल्पत्वा-दल्पावेव कृतवान्, अत्र पुनर्विशुद्धेः प्रकृष्टतरत्वाद् बृहत्प्रमाणतयाऽपूर्वाविमौ करोति। तथा उपरितन-स्थितेर्विशुद्धिवशादपवर्तनाकरणेनावतारितस्य दलिकस्यान्तमुहूर्तं यावदुदयक्षणादुपरि क्षिप्रतरक्षपणाय प्रतिक्षणमसङ्ख्येयगुणवृद्ध्या यद्विरचनं सा गुणश्रेणिः। स्थापना–

```
0000000000
 00000000
  000000
   0000
    000
```

एतां च पूर्वगुणस्थानेष्व-विशुद्धतरत्वात् कालतो द्राघीयसीं दलिकविरचनामाश्रित्याप्रथीयसीं च दलिकस्याल्पस्यापवर्तनाद्विरचित-वान्। इह तु तामेव विशुद्धत्वादपूर्वां कालतो ह्रस्वतरां दलिकविरचनामाश्रित्य पुनः पृथुतरां बहुतर-दलिकस्यापवर्तनाद्विरचयतीति। तथा [1]बध्यमानशुभाशुभप्रकृतिषु अबध्यमानशुभाशुभप्रकृतिदलिकस्य

प्र. आ. ३७८

१ अत्र पञ्चसङ्ग्रहे (द्वार १। गा. १५) मलयवृत्तौ (प.२२A) तु–"बध्यमानशुभप्रकृतिष्वबध्यमानाशुभप्रकृति-दलिकस्य प्रतिसमयसंख्येय गुणवृद्ध्या विशुद्धिवशान्नयनं गुणसङ्क्रमः" इति पाठः॥

प्रतिक्षणमसङ्ख्येयगुणवृद्ध्या विशुद्धिवशान्नयनं गुणसंक्रमः । तमप्यसाविह अपूर्वं करोति । तथा स्थितिं च कर्मणामशुद्धत्वात् प्राग्द्राघीयसीं बद्धवान्, इह तु तामपूर्वां पल्योपमासङ्ख्येयभागेन हीनां हीनतरां हीनतमां च विशुद्धिवशाद्बध्नाति ।

अयं चापूर्वकरणो द्विधा—क्षपक उपशमकश्च । क्षपणोपशमनार्हत्वाच्चैवमुच्यते, राज्यार्हकुमार-राजवत् । न पुनरसौ क्षपयत्युपशमयति वा किमपि सर्वात्मना कर्म, तस्य गुणस्थानमपूर्वकरणगुणस्थानम् । अस्मिंश्च गुणस्थानके कालत्रयवर्तिनो नानाजीवानाश्रित्य प्रतिसमयं यथोत्तरमधिकवृद्ध्या असङ्ख्येय-लोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति । तथाहि—येऽस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणस्य गुणस्थानस्य [1]प्रथमसमयं प्रतिपन्नाः प्रतिपद्यन्ते प्रतिपत्स्यन्ते च तान् सर्वानपेक्ष्य जघन्यादीन्युत्कृष्टान्तान्यसङ्ख्ये-यलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते । क्वचित्कदाचित्केपाञ्चित्प्रथमसमयवर्तिनां परस्पर-मध्यवसायस्थाने नानात्वस्यापि भावात् । तस्य च नानात्वस्यैतावत एव केवलज्ञानेनोपलब्धत्वात् ।

अत एव चेदमपि न वाच्यं कालत्रयवर्तिनामेतद्गुणस्थानकप्रथमसमयप्रतिपत्तॄणामानन्त्यात्परस्पर-मध्यवसायस्थानानां नानात्वाच्चानन्तान्यध्यवसायस्थानानि प्राप्नुवन्ति, बहूनां प्राय एकाध्यवसाय-स्थानवर्तित्वात् । ततो द्वितीयसमये तदन्यान्यधिकतराण्यध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते, तृतीयसमये तदन्यान्यधिकतराणि चतुर्थसमये तदन्यान्यधिकतराणीत्येवं यावच्चरमसमयः । एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति । स्थापना

```
000000
 00000
  0000
```

।

1 प्रथमं- सि.वि. ॥

प्र. आ. ३७९

ननु द्वितीयादिसमयेष्वध्यवसायस्थानानां वृद्धौ किं कारणम् ?, उच्यते, स्वभावविशेषः । एतद्गुण-
स्थानकप्रतिपत्तारो हि प्रतिसमयं विशुद्धिप्रकर्षमासादयन्तः[1] खलु स्वभावत एव बहवो विभिन्नेषु विभि-
न्नेष्वध्यवसायस्थानेषु वर्तन्त इति । अत्र च प्रथमसमयजघन्याध्यवसायस्थानात् प्रथमसमयोत्कृष्टमध्यव-
सायस्थानमनन्तगुणविशुद्धम् , प्रथमसमयोत्कृष्टाच्चाध्यवसायस्थानाद् द्वितीयसमयजघन्याध्यवसायस्थान-
मनन्तगुणविशुद्धम् तस्मात्तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धम् , इत्येवं यावद् द्विचरमसमयोत्कृष्टाध्यवसायस्थानाच्च-
रमसमयजघन्याध्यवसायस्थानमनन्तगुणविशुद्धम् , तस्मादपि तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धमिति । एकसमय-
गतानि चामून्यध्यवसायस्थानानि परस्परं षट्स्थाननिपतितानि । युगपदेतद्गुणस्थानकप्रविष्टानां च
परस्परमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिलक्षणा निवृत्तिरप्यस्ति । यथोक्तमनन्तरमितिकृत्वा निवृत्तिगुणस्थान-
कमप्येतदुच्यते ८ ।

तथा युगपद्गुणस्थानकं प्रतिपन्नानां बहूनामपि जीवानामन्योऽन्यमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिः—
निवृत्तिः, सा नास्ति अस्येत्यनिवृत्तिः । समकालमेतद्गुणस्थानकमारूढस्यापरस्य यस्मिन् समये यदध्य-
वसायस्थानमन्योऽपि विवक्षितः पुरुषस्तस्मिन् समये [2]तदेवाध्यवसायस्थानं समनुवर्तते इत्यर्थः । संपरैति—
पर्यटति संसारमनेनेति संपरायः—कषायोदयः, बादरः—सूक्ष्मकिट्टीकृतसंपरायापेक्षया स्थूरः संपरायो यस्य स
बादरसंपरायः, अनिवृत्तिश्चासौ बादरसंपरायश्च २ तस्य गुणस्थानमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानम् । तस्यां
चानिवृत्तिबादरगुणस्थानकाद्धायामान्तर्मौहूर्तिक्यां प्रथमसमयादारभ्य प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धं यथोत्तर-

१ ०न्ति-सि.वि. ।। २ तदध्य० सि.वि. ।।

मध्यवसायस्थानं भवति । यावन्तश्चान्तर्मुहूर्ते समयास्तावन्त्येवाध्यवसायस्थानानि तत्प्रविष्टानां भवन्ति नाधिकानि । एकसमयप्रविष्टानां सर्वेषामप्येकाध्यवसाय[1]स्थानत्वात् । स चानिवृत्तिबादरो द्वेधा—क्षपक उपशमकश्च । क्षपयति उपशमयति वा कषायाष्टकादिकमितिकृत्वा ९ ।

तथा सूक्ष्मः—किट्टीकृतः संपरायो—लोभकषायोदयरूपो यस्य स सूक्ष्मसंपरायः । स द्विधा—क्षपक उपशमकश्च । क्षपयति उपशमयति वा अनिवृत्तिबादरेण किट्टीकृतं लोभमेकमितिकृत्वा, तस्य गुणस्थानं सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानम् १० ।

तथा छादयति ज्ञानादिकं गुणमात्मन इति छद्म—ज्ञानावरणीयादिघातिकर्मोदयः, छद्मनि तिष्ठतीति छद्मस्थः । स च सरागोऽपि भवतीति तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् , वीतो—विगतो रागो—मायालोभकषायोदयरूपः उपलक्षणत्वादस्य द्वेषोऽपि—क्रोधमानोदयरूपो यस्य स वीतरागः, स चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थः । स च क्षीणकषायोऽपि भवति, तस्यापि यथोक्तरागापगमात् ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमुपशान्तकषायग्रहणम् । उपशान्ताः—उपशमिता विद्यमाना एव सन्तः संक्रमणोद्वर्तनापवर्तनादिकरणैर्विपाकोदयप्रदेशोदयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिताः कषाया येन स उपशान्तकषायः, स चासौ वीतरागच्छद्मस्थश्च २ तस्य गुणस्थानमुपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानम् ११ ।

प्र. आ. ३७९

[2]तथा क्षीणा—अभावमापन्नाः कषाया यस्य स क्षीणकषायः । तत्रान्येष्वपि गुणस्थानकेषु क्षपकश्रेणिद्वारोक्तयुक्त्या क्वापि कियतामपि कषायाणां क्षीणत्वसंभवात् क्षीणकषायव्यपदेशः संभवति, ततस्त-

१ ०स्थानित्वात्-सि. । ०स्थानात्-वि. ॥ २ तुला-प्राचीनकर्मग्रन्थवृत्तिः ४।२६, प.१९८ ॥

दुव्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । क्षीणकषायवीतरागत्वं च केवलिनामप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं छद्मस्थग्रहणम्, यद्वा छद्मस्थः सरागोऽपि भवतीति तदपनोदार्थं वीतरागग्रहणम्, वीतरागश्चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थः । स चोपशान्तकषायोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं क्षीणकषायग्रहणम् । क्षीणकषायश्चासौ वीतरागच्छद्मस्थश्च २ तस्य गुणस्थानं क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानम् १२ ।

तथा योजनं योगो–व्यापारः, उक्तं च–"कायवाङ्मनःकर्म योगः" [तत्त्वार्थसू. ६ । १] सह योगेन वर्तन्ते ये ते सयोगा–मनोवाक्कायाः, ते यस्य विद्यन्ते स सयोगी । तत्र भगवतः काययोगश्चङ्क्रमणनिमेषोन्मेषादिः, [1]वाग्योगो देशनादिः, मनोयोगो मनःपर्यायज्ञानिभिरनुत्तरसुरादिभिर्वा मनसा पृष्टस्य मनसैव देशना । ते हि भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि मनःपर्यायज्ञानेनावधिज्ञानेन च पश्यन्ति । दृष्ट्वा च ते हि विवक्षितवस्त्वालोचनाऽऽकारा[2]न्यथानुपपत्त्या अलोकस्वरूपादिकमपि बाह्यमर्थं पृष्टमवगच्छन्ति । केवलं ज्ञानं दर्शनं च विद्यते यस्य स केवली, सयोगी चासौ केवली च सयोगिकेवली, तस्य गुणस्थानं सयोगिकेवलिगुणस्थानम् १३ ।

तथा योगः–पूर्वोक्तो विद्यते यस्यासौ [3]योगी न योगी अयोगी, स चासौ केवली च अयोगिकेवली, तस्य गुणस्थानमयोगिकेवलिगुणस्थानम् । अयोगित्वं पुनरेवम्–इह त्रिविधोऽपि योगः प्रत्येकं द्विधा–सूक्ष्मो बादरश्च तत्र केवलोत्पत्तेरनन्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटीं विहृत्यान्त-

१ वाग्यागो-मु. ॥ २ कारार्थानुपपत्त्या-मु. ॥ ३ सयोगी–सि.दि. ॥

मुहूर्तविशेषायुष्कः सयोगिकेवली शैलेशीं प्रतिपित्सुः पूर्वं बादरकाययोगेन बादरवाग्योगं निरुणद्धि, ततो बादरमनोयोगम्, ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगम्। सति तस्मिन् सूक्ष्मयोगस्य निरोद्धुमशक्यत्वात्। ततस्तेनैव [1]सूक्ष्मवाग्योगम्, ततः सूक्ष्ममनोयोगम्, ततः सूक्ष्मक्रियमनिवृत्ति शुक्लध्यानं ध्यायन् सूक्ष्मकाययोगं स्वात्मनैव निरुणद्धि। अन्यस्यावष्टम्भनीययोगान्तरस्य तदाऽसत्त्वात्। तन्निरोधानन्तरं समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायन् ह्रस्वपञ्चाक्षरोच्चारणमात्रकालं शैलेशीकरणं प्रविष्टो भवति।

शीलस्य—योगलेश्याकलङ्कविप्रमुक्तयथाख्यातचारित्रलक्षणस्य य ईशः स शीलेशस्तस्येयं शैलेशी। त्रिभागोनस्वदेहावगाहनायामुदरादिरन्ध्रपूरणवशात् संकोचितस्वप्रदेशस्य शैलेशस्यात्मनोऽत्यन्तस्थिरावस्थितिरित्यर्थः, तस्यां करणं—पूर्वरचितशैलेशीसमयसमानगुणश्रेणिकस्य वेदनीयनामगोत्राख्यस्याघातिकर्मत्रितयस्यासङ्ख्येयगुणया श्रेण्या आयुःशेषस्य तु यथास्वरूपस्थितया श्रेण्या निर्जरणं शैलेशीकरणम् तत्रासौ प्रविष्टोऽयोगिकेवली भवति। अयं च भवस्थः ततः शैलेशीकरणचरमसमयानन्तरं कोशबन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादेरण्डफलमिव भगवानपि कर्मसम्बन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादूर्ध्वं गच्छति। स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्यां यावत्स्वाकाशप्रदेशेषु इहावगाढस्तावत एव प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्चान्यत्समयान्तरमस्पृशन् लोकान्ते गच्छति न परतोऽपि गत्युपष्टम्भकधर्मास्तिकायाभावात्। तत्र च गतः सन् शाश्वतं कालमवतिष्ठते १४ ॥१३०२॥२२४॥

१ प्राचीनकर्मग्रन्थवृत्तिः (२।२ प.९६) द्रष्टव्या। प्राचीनकर्मग्रन्थवृत्तिः (४।२६, प.२०३) तुलनीया॥

इदानीं 'मग्गणचउदसगो' त्ति पञ्चविंशत्युत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

गइ १ इंदिए य २ काये ३ जोए ४ वेए ५ कसाय ६ [1]नाणे य ७ ।
संजम ८ दंसण ९ लेसा १० भव ११ सम्मे १२ सन्नि १३ आहारे १४ ॥ ३ ॥

[आवश्यकनिर्युक्ति गा. १४, जीवसमास गा. ६]

गतिः, इन्द्रियाणि, कायाः, योगाः, वेदाः, कषायाः, ज्ञानानि, संयमः, दर्शनानि, लेश्याः, भव्याः, सम्यक्त्वम्, संज्ञी, आहारक इति मूलभेदापेक्षया चतुर्दश मार्गणास्थानानि । मार्गणं—जीवादीनां पदार्थानामन्वेषणं मार्गणा, तस्याः स्थानानि—आश्रया मार्गणास्थानानि। उत्तरभेदापेक्षया तु द्वाषष्टिः । तथाहि—सुरनरतिर्यग्नारकगतिभेदाद् गतिश्चतुर्धा । स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्रेन्द्रियभेदात् पञ्च इन्द्रियाणि । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदात् कायः षोढा। मनोवचनकायाख्या योगास्त्रयः । स्त्रीपुंनपुंसकस्वरूपा वेदास्त्रयः । क्रोधमानमायालोभलक्षणाः कषायाश्चत्वारः । मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदात् पञ्च ज्ञानानि । ज्ञानग्रहणेन चाज्ञानमपि तत्प्रतिपक्षभूतमुपलक्ष्यते, तच्च त्रिधा—मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानभेदात्। एवमष्टौ । सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसंपराय-यथाख्यातभेदात् संयमः पञ्चधा। तत्प्रतिपक्षत्वाच्च देशसंयमोऽसंयमश्च गृह्यते, एवं सप्त । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदाच्चत्वारि दर्शनानि । कृष्णा, नीला, कापोती, तैजसी, पद्म, शुक्ला चेति षट् लेश्याः । भव्यस्तत्प्रतिपक्षत्वेन चाभव्यइति द्वयम्, क्षायोपशमिकभेदात् सम्यक्त्वं त्रिधा, सम्यक्त्वग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतानि मिश्रसासादनमिथ्यात्वान्यपि गृह्यन्ते, एवं षट्, संज्ञी तत्प्रतिपक्षश्चासंज्ञीति द्वयम्, आहारकस्तत्प्रतिपक्षोऽनाहारक इति द्वयम् । सर्वमीलने च द्वाषष्टिरिति ।३॥२२५॥

---

१ नाणेसुं-मु. ॥

इदानीम् 'उवओग बारस' त्ति षड्विंशत्युत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

२२६द्वारे उपयोगाः गाथा १३०४

मइ १ सुय २ ओही ३ मण ४ केवलाणि ५ मइ ६ सुयअन्नाण ७ विब्भंगा ८ ।
अचक्खु ९ चक्खु १० अवही ११ केवलचउदंसणु १२ वओगा ॥ १३०४ ॥

उपयुज्यते—वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीव एभिरित्युपयोगाः- बोधरुपा जीवस्य स्वतत्त्वभूता व्यापाराः, ते च द्विधा-साकारा अनाकाराश्च। तत्र आकारः-प्रतिवस्तु प्रतिनियतो ग्रहणपरिणामरूपो विशेषः, **'आगारो उ विसेसो'** इति वचनात् , सह आकारेण वर्तन्ते इति साकाराः । [1]सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषांशग्राहिण इत्यर्थः । तद्विपरीतास्त्वनाकाराः, सामान्यांशग्राहिण इत्यर्थः । तत्र मतिश्रुतावधि-मनःपर्यायकेवलाख्यानि पञ्च ज्ञानानि। मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपाणि त्रीणि चाज्ञानानि, इत्यष्टौ साकाराः अचक्षुश्चक्षुरवधिकेवलाख्यानि चत्वारि दर्शनान्यनाकाराः । तदेवं मिलिता द्वादश उपयोगाः । तत्र ज्ञानानि दर्शनानि च प्रागेवोक्तानि । तथा मतिश्रुतावधिज्ञानान्येवः नञः कुत्सार्थत्वान्मिथ्यात्वकलुपित-तया यदा कुत्सितानि भवन्ति तदा यथाक्रमं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गव्यपदेशभाञ्जि भवन्ति । **'विभंग'** त्ति विपरीतो भङ्गः—परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिन् तद्विभङ्गमिति ॥ ४ ॥ २२६ ॥

इदानीं **'योगा पन्नरस'**त्ति सप्तविंशत्युत्तरं द्विशततमं द्वारमाह—

२२७द्वारे योगाः गाथा १३०५

प्र. आ. ३८१

सच्चं १ मोसं २ मीसं ३ असच्चमोसं ४ [2]मणो तह वई य ४ ।
उरल १ विउव्वा २ हारा ३ मीस ३ कम्मयग १ मिय जोगा ॥१३०५॥

[प्राचीनकर्मग्रन्थ ४ । गा. ३४]

१ इत. पूर्वम्-'उपयोगाः' इति सि. प्रतौ । तदेवं मिलिता द्वादश उपयोगाः जे. प्रतौ अधिकम् ॥ २ मणं- ता. ॥

[1]यद्यपि मनोवाक्कायावष्टम्भसमुत्थो जीवस्य परिस्पन्द एव योग उच्यते तथाऽपीह योगशब्देन-कारणे कार्योपचारात्तत्सहकारिभूतं मनःप्रभृत्येव विवक्षितमिति तैः सह योगस्य सामानाधिकरण्यम्। तत्र मनश्चतुर्धा, तद्यथा–सत्यं मृषा मिश्रमसत्यामृषा च। तत्र सन्तो-मुनयः पदार्था वा जीवादयस्तेषु यथासङ्ख्यं मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थितवस्तुस्वरूपचिन्तनेन च साधु सत्यम्, यथा–अस्ति जीवः सदसद्रूपो देहमात्रव्यापीत्यादिरूपतया [2]यथावस्थितवस्तुविकल्पनचिन्तनपरं सत्यम्, विपरीतमसत्यं, यथा–नास्ति जीव एकान्तसद्रूपो वेत्यादि अयथावस्थितवस्तुप्रतिभासनपरम्। सत्यं च मृषा चेति मिश्रम्, यथा धव-खदिर-पलाशादिमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षेष्वशोकवनमेवेदमिति विकल्पनपरम्। अत्र हि कतिपयाशोकवृक्षाणां सद्भावात् सत्यता, अन्येषामपि धवादीनां सद्भावादसत्यता। व्यवहारनयमतापेक्षया चैवमुच्यते। परमार्थतः पुनरिदमसत्यमेव, यथाविकल्पितार्थायोगात्। तथा यन्न सत्यं नापि मृषा नापि सत्यमृषा तदसत्यामृषा।

इह विप्रतिपत्तौ सत्यां यद्वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमतानुसारेण विकल्प्यते यथा अस्ति जीवः सदसद्रूप इति, तत्किल सत्यं परिभाषितम् आराधकत्वात्। यत्पुनर्विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमतोत्तीर्णं विकल्प्यते यथा नास्ति जीव एकान्तनित्यो वेति तदसत्यं विराधकत्वात्। यत्पुनर्वस्तुप्रतिष्ठाशामन्तरेण-स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरं यथा हे देवदत्त! घटमानय, गां देहि मह्यमित्यादिचिन्तनं तदसत्यामृषा। इदं हि स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरत्वान्न यथोक्तलक्षणं सत्यं नापि मृषेति। इदमपि व्यवहारनयमतेन

१-तुला-पञ्चसङ्ग्रहमलय. वृत्तिः द्वा.१। गा.४- प. ५ Aतः॥ २ यथावस्थितवस्तुचिन्तनपरं–सि. वि.॥

द्रष्टव्यम्, निश्चयनयमतेन तु विप्रतारणादिबुद्धिपूर्वकमसत्येऽन्तर्भवति अन्यथा तु सत्ये इति।

यथा मनः सत्यादिभेदाच्चतुर्धा तथा वागपि सत्यादिभेदाच्चतुर्धा। तथौदारिकवैक्रियाहारकाणि शरीराणि, तत्र उदारं–प्रधानम्, प्राधान्यं च तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया द्रष्टव्यम्। ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनरूपत्वात्। अथवा उदारं–[1]सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वाच्छेषशरीरेभ्यो बृहत्प्रमाणम्, बृहत्ता चास्य वैक्रियमाश्रित्य भवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या। अन्यथोत्तरवैक्रियं योजनलक्षमानमपि लभ्यते इति। उदारमेवौदारिकम्।

तथा विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियम्। तथाहि–तदेकं भूत्वाऽनेकं भवति, अनेकं च भूत्वा एकम्, तथा अणु भूत्वा महद्भवति, महद् भूत्वा अणु इत्यादि।

तथा चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधकार्योत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते–निर्वर्त्यत इत्याहारकम्, तथा मिश्रशब्दः प्रत्येकं संबध्यते। औदारिकमिश्रं वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्रं च। तत्रौदारिकमिश्रं कार्मणेन, तच्चापर्याप्तावस्थायां केवलिसमुद्घातावस्थायां वा। उत्पत्तिदेशे हि पूर्वभवादनन्तरागतो जीव आद्यसमये कार्मणेनैव केवलेनाहारयति। ततः परमौदारिकस्याप्यारब्धत्वादौदारिकेण कार्मणमिश्रेण यावच्छरीरस्यनिष्पत्तिः। केवलिसमुद्घातावस्थायां तु द्वितीय-षष्ठ-सप्तमसमयेषु कार्मणेन मिश्रमौदारिकं प्रतीतमेव।

---

१ सातिरेकयोजनशतसहस्र० मु.। सि.वि. प्रत्योः पञ्चसङ्ग्रहेऽपि–[द्वा. १। गा. ४. प. ६-A तः] सातिरेकयोजनसहस्र० इति पाठः॥

तथा वैक्रियमिश्रं कार्मणेनौदारिकेण वा तत्र कार्मणेन मिश्रं देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायामाद्यसमयानन्तरं द्रष्टव्यम् । बादरपर्याप्तकवायोः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां च वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियारम्भकाले वैक्रियपरित्यागकाले वा औदारिकेण मिश्रम् । तथा सिद्धप्रयोजनस्य चतुर्दशपूर्वविद आहारकं त्यजत औदारिकं गृह्णत आहारकं वा प्रारभमाणस्याहारकमिश्रमौदारिकेण ज्ञेयम् ।

तथा 'कम्मयगं' ति कर्मजकं कर्मणो जातं कर्मजं कर्मात्मकमित्यर्थः, तदेव कर्मजकम् । किमुक्तं भवति [1]—कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगताः सन्तः शरीररूपतया परिणताः [2]कर्मजं शरीरमिति । अत एव तदन्यत्र कार्मणमित्युक्तम्, कर्मणो विकारः कार्मणमिति । तथा चोक्तम्—

⩘ "कम्मविवागो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं । सव्वेसिं सरीराणं कारणभूयं मुणेयव्वं ॥१॥"

अत्र 'सव्वेसिं' इति सर्वेषामौदारिकादीनां शरीराणां कारणभूतं—बीजभूतं कार्मणं शरीरमिति । न खल्वामूलसमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावः । इदं च कर्मजं शरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसंक्रान्तौ साधकतमं [3]करणम् । तथाहि—कर्मजेनैव वपुषा परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहायोत्पत्तिदेशमभिसर्पति । ननु यदि कार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं संक्रामति तर्हि स गच्छन्नागच्छन् वा कस्मान्न दृश्यते ?, उच्यते, कर्मपुद्गलानामतिसूक्ष्मतया चक्षुरादीन्द्रियागोचरत्वात् । तथा च परतीर्थिकैरप्युक्तम्—

"अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते । निष्क्रामन्वा प्रविशन्वा, नाभावोऽनीक्षणादपि ॥१॥"

१ तुला—पञ्चसङ्ग्रह मलय.वृत्तिः-द्वा.१। गा.४ प. ६ Aतः ॥ २ कर्मज-मु. ॥ ३ कारणं—मु. ॥

⩘ कर्मविपाकः कार्मणमष्टविधविचित्रकर्मनिष्पन्नम् । सर्वेषां शरीराणां कारणभूतं ज्ञातव्यम् ॥१॥

तदेवं चतुर्धा मनोयोगश्चतुर्धा वाग्योगः सप्तधा च काययोगः इति पञ्चदश योगाः ।

ननु तैजसमपि शरीरं विद्यते यद् भुक्ताहारपरिणमनहेतुः यद्वशाच्च विशिष्टतपोविशेषसमुत्थ-लब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गमः तत्किमिह नोक्तमिति ?, उच्यते, सदा कार्मणेन सहाव्य-भिचारितया तस्य तद्ग्रहणेनैव गृहीतत्वादिति ॥१३०५॥२२७॥

इदानीं '**परलोयगई गुणठाणएसु**' त्ति अष्टाविंशत्युत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

मिच्छे सासाणे वा अविरयभावंमि अहिगए अहवा ।
जंति जिया परलोयं सेसेक्कारसगुणे मोत्तुं ॥६॥

मिथ्यात्वे सासादनत्वे वा अथवा अविरतभावे—अविरतसम्यग्दृष्टित्वेऽधिगते—प्राप्ते सति, मिथ्या-त्वादिना गृहीतेनेत्यर्थः । परलोकं—भवान्तरं जीवा व्रजन्ति । शेषांस्तु मिश्रदेशविरत्यादीनेकादश गुण-स्थानकान् मुक्त्वा—इह भव एव सर्वथा परित्यज्य जीवाः परलोकं यान्ति । इयमत्र भावना—मिथ्यात्वेन गृहीतेन भवान्तरगमनं प्रतीतमेव । तस्य च सर्वत्रापि संभवात् । एवं सासादनभावेऽपि ।
○ 'अणुबंधोदयमाउगबन्धं कालं च सासणो कुणइ ।' [ ] इति वचनात् ।

तथा गृहीतसम्यक्त्वस्यापि देवादिषूत्पादादविरतसम्यग्दृष्टित्वेऽपि परलोगमनम् । तथा गृहीतमिश्र-भावो न भवान्तरं गच्छति । ⊙ 'न सम्ममिच्छो कुणइ कालं' [ ] इति वचनात् ।

○ सास्वादनोऽनन्तानुबन्धिबन्धोदयमायुर्बन्ध कालं च करोति ।
⊙ न सम्यग्मिथ्यादृष्टिः कालं करोति ।

देशविरत्यादिगुणस्थानकानां तु विरतिसद्भाव एव भावात्। विरतिश्च यावज्जीविताविधिकत्वान्न तेषु परलोकसंभव इति ॥६॥२२८॥

इदानीं 'गुणठाणयकालमाणं' त्येकोनत्रिंशदुत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

मिच्छत्तमभव्वाणं अणाइयमणंतयं च विन्नेयं ।
भव्वाणं तु अणाई सपज्जवसियं [1]च सम्मत्ते ॥७॥
[2]छावलियं सासाणं समहियतेत्तीससायर चउत्थं ।
[3]देसूणपुव्वकोडी पंचमगं तेरसं च पुढो ॥८॥
लहुपंचक्खर [4]चरिमं तइयं छट्ठाइ बारसं जाव ।
इह अट्ठ गुणट्ठाणा अंतमुहुत्ता पमाणेणं ॥९॥

इह च मिथ्यात्वकालचिन्तायां चतुर्भङ्गी, तद्यथा—अनाद्यनन्तः १, अनादिसान्तः २, साद्यनन्तः ३, सादिसान्तश्च ४। तत्र मिथ्यात्वं—विपरीतरुचिरूपमभव्यानामनाद्यनन्तं च विज्ञेयम्। अनादिकालात्तेषु तत्सद्भावात्, आगामिकालेऽपि च तदभावासंभवादिति भावः। भव्यानां पुनर्मिथ्यात्वमनादि सपर्यवसितम्।

---

१ तु-सि.वि ॥ २ इतः पूर्वं मुद्रिते-[मीसा(?)खीणसजोगे न मरंति कारसेसु अ मरंति। तेसुवि तिसु गहिएसु परलोअगमो न अट्ठेसु ॥८॥] इत्यधिका गाथा दृश्यते, ता. प्रतौ नास्ति, अत्र च अनुपयोगित्वात् अस्माभिर्मूले न स्थाप्यते ॥
३ देसूणा-सि.वि. ॥ ४ चरमं-सि. वि. ॥

चशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् सादिसपर्यवसितं च विज्ञेयम्, सपर्यवसितत्वं च सम्यक्त्वे–सम्यक्त्वावाप्तौ सत्याम् ।

इदमुक्तं भवति–योऽनादिमिथ्यादृष्टिः सन् भव्यजीवः सम्यक्त्वं लप्स्यते तस्य मिथ्यात्वमनादि-सान्तम् । [1]अनादिकालात्तेषु तस्य सद्भावात् आगामिकाले तु भव्यत्वान्यथानुपपत्तेरवश्यं सम्यक्त्वावाप्तौ पर्यवसानाच्च । यस्त्वनादिमिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वं लब्ध्वा केनापि कारणेन पुनर्मिथ्यात्वं याति तस्य तत्सादि । सम्यक्त्वलाभादनन्तरं तत्प्राप्तेः सादित्वात् । मिथ्यात्वे च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्ट-तस्त्वर्हदाशातनादिपापबहुलतयाऽपार्धपुद्गलपरावर्तं यावत् स्थित्वा यदा पुनरपि सम्यक्त्वं लभते तदा तत्सान्तम् । साद्यनंतमितितृतीयभङ्गस्तु शून्य एव । प्रतिपतितसम्यग्दृष्टीनामेव हि मिथ्यात्वं सादि । तेषां चावश्यं सम्यक्त्वभावतो मिथ्यात्वस्यानन्तत्वासंभवादिति ।

तथा सासादनगुणस्थानकम् उत्कर्षतः षडावलिकाप्रमाणम् । तत ऊर्ध्वमवश्यं मिथ्यात्वोपगमात् । आवलिका चासङ्ख्यातसमयसमुदायरूपा ।

चतुर्थम्–अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि साधिकानि । तथाहि–कश्चिदितः स्थानादुत्कृष्टस्थितिष्वनुत्तरविमानेषूत्पन्नः, तत्र चाविरतसम्यग्दृष्टित्वेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितः, ततश्च्युत्वाऽत्राप्यायातो यावदद्यापि विरतिं न लभते तावत्तद्भावेनैव स्थित इत्यतो मनुष्यभवसंबद्धकति-पयवर्षाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमसंभवः ।

१ अनादिकालावर्त्तेषु-सि.वि. ॥

पञ्चमं—देशविरतिगुणस्थानकम्, त्रयोदशं-सयोगिगुणस्थानकम्, एते द्वे अपि पृथक् प्रत्येकं किञ्चिदूनपूर्वकोटिप्रमाणे। गर्भस्थो हि किल सातिरेकान्नव मासान् गमयति, जातोऽपि चाष्टौ वर्षाणि यावद्विरत्य-नर्हो भवति। तत ऊर्ध्वं देशविरतिं [1]प्रतिपद्य, सर्वविरतिप्रतिपत्त्या केवलज्ञानं वोत्पाद्य यौ देशविरति-सयोगिकेवलिनौ प्रत्येकं पूर्वकोटिं जीवतस्तयोः किञ्चिदूनवर्षनवकलक्षणेन देशेन न्यूना पूर्वकोटिरिति।

तथा चरमम्—अयोगिकेवलिगुणस्थानं लघुपञ्चाक्षरम्, किमुक्तं भवति ?—नातिद्रुतं नातिविलम्बितं च किंतु मध्यमेन प्रकारेण यावता कालेन ङञणनम इत्येवंरूपाणि पञ्चाक्षराण्युच्चार्यन्ते तावत्कालमानमिति। तत ऊर्ध्वं मुक्त्यवाप्तेः।

तृतीयं—सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, [2]तथा षष्ठादि द्वादशं यावत्प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहरूपाणीत्यर्थः इत्येतान्यष्टौ गुणस्थानानि प्रत्येकमन्तमुर्हूतप्रमाणानि। परतो गुणस्थानकान्तरगमनात् कालकरणाद्वेति।

एतच्चोत्कृष्टतः कालप्रमाणमुक्तम्, जघन्यतस्तु सासादनप्रमत्ताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहानामेकः समयः। तदूर्ध्वं मरणभावेनान्यत्रोपगमात्। मिथ्यादृष्टिमिश्राविरतदेशविरतक्षीणमोहसयोगिकेवलिनां चान्तमुर्हूतम्। अयोगिकेवलिनस्तु [3]जघन्योत्कृष्टतः पूर्वोक्तमेवेति ॥७॥८॥९॥२२९॥

१ प्रतिपत्त्य—मु.। सि. वि. जीवसमासेऽपि-"प्रतिपद्य" इति पाठः [गा. २२३ प. २२१]॥ २ तथा-सि.वि. नास्ति ॥
३ जघन्योत्कृष्टः- सि. ॥

इदानीं 'निरय-तिरि--नर-सुराणं उक्कोस विउव्वणाकालो' त्ति त्रिंशदुत्तरद्विशततमं द्वारमाह–

२३० द्वारे विकुर्वणा-कालः गाथा १३१०

अंतमुहुत्तं नरएसु हुंति चत्तारि तिरियमणुएसु[1] ।
देवेसु अद्धमासो उक्कोस विउव्वणाकालो ॥१०॥

अन्तमुहूर्तं नरकेषूत्कर्षतो विकुर्वणावस्थानकालः । तिर्यक्षु मनुष्येषु च चत्वार्यन्तमुहूर्तानि । देवेषु–भवनपत्यादिषु अर्धमासः' –पञ्चदशदिनान्युत्कृष्टतो विकुर्वणाकाल इति ॥१०॥२३०॥

इदानीं 'सत्त समुग्घाय' त्त्येकत्रिंशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

२३१ द्वारे समुद्-घाताः गाथा १३११-६ प्र. आ. ३८४

वेयण १ कसाय २ मरणे ३ वेउव्विय ४ तेयए य ५ आहारे ६ ।
केवलियसमुग्घाए ७ सत्त इमे हुंति मणुयाणं ॥११॥

[तुला-जीवसमासः गा. १६२]

एगिंदीणं केवलिआहारगवज्जिया इमे पंच ।
पंचावि अवेउव्वा विगलासन्नीण[2] चत्तारि ॥१२॥
केवलियसमुग्घाओ पढमे समयंमि विरयए[3] डं ।
बीए पुणो कवाडं मंथाणं कुणइ तइयंमि ॥१३॥
लोयं भरइ चउत्थे पंचमए अंतराइं संहरइ ।
छट्ठे पुण मंथाणं हरइ कवाडंपि सत्तमए ॥१४॥

१ ०सा-सि.वि. ॥ २ संणीण-जे. । सन्नीण-ता. । मणुयाणं-सि. ॥ ३ ०इ -वि. ॥

अट्ठमए दंडंपि हु उरलंगो [1]पढमचरमसमएसु ।
सत्तमछट्ठबिइज्जेसु होइ ओरालमिस्सेसो ॥१५॥
कम्मणसरीरजोई चउत्थए पंचमे तइज्जे य ।
जं होइ अणाहारो सो तंमि तिगेऽवि [2]समयाणं ॥१६॥

[3]समित्येकीभावे उत् प्राबल्येन हननं—वेदनीयादिकर्मप्रदेशानां निर्जरणं घातः, एकीभावेन प्राबल्येन घातः समुद्घातः । केन सहैकीभावगमनमिति चेद्, उच्यते—अर्थाद्वेदनादिभिः । तथाहि—यदाऽऽत्मा वेदनादिसमुद्घातं गतस्तदा वेदनाद्यनुभवज्ञानपरिणत एव भवति नान्यज्ञानपरिणत इति वेदनाद्यनुभवज्ञानेन सहैकत्वापत्तिर्जीवस्यावगन्तव्या । प्राबल्येन घातः कथमिति चेद्, उच्यते - इह वेदनादिसमुद्घातपरिणतो जन्तुर्बहून् वेदनीयादिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभव[4]योग्यानुदीरणाकरणेनाकृष्योदये प्रक्षिप्यानुभूय च निर्जरयति । आत्मप्रदेशैः सह संश्लिष्टान् शातयतीति भावः । स च सप्तधा । तद्यथा—वेदनासमुद्घातः, कषायसमुद्घातः, मारणान्तिकसमुद्घातः, वैक्रियसमुद्घातः, तैजससमुद्घातः, आहारकसमुद्घातः, केवलिसमुद्[5]घातश्चेति ।

तत्र वेदनया— [6]असद्वेदनीयोदयजनितया पीडया हेतुभूतया समुद्घातो वेदनासमुद्घातः । स चासातवेदनीयकर्माश्रयः । [7]तथाहि—वेदनाकरालितो जीवः स्वप्रदेशान् अनन्तानन्तकर्मस्कन्धानुविद्धान्

१ पढमचरिम० ता. ॥ २ समया उ-ता. ॥ ३ तुला-जीवसमासवृत्तिः प. १८६ ॥
४ ०योग्योदी० सि. ॥ ५ ०घात इति-सि.वि. ॥ ६ असद्वेदनोदय० मु. ॥
७ तुला-पञ्चसङ्ग्रहमलयवृत्तिः-द्वा. २ । गा २७ । प. ६५A तः

शरीराद्बहिरपि विक्षिपति । तैश्च वदनजठरादिरन्ध्राणि [1]कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि चापूर्यायामतो विस्तरतश्च शरीरमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्यान्तर्मुहूर्तं यावत्तिष्ठति । तस्मिंश्चान्तर्मुहूर्ते प्रभूतासातवेदनीयकर्मपुद्गलपरिशाटं करोति । ततः समुद्घातान्निवृत्त्य स्वरूपस्थो भवति १ ।

कषायैः—क्रोधादिभिर्हेतुभूतैः समुद्घातः कषायसमुद्घातः । स च कषायाख्यचारित्रमोहनीय-कर्माश्रयः । तथाहि—तीव्रकषायोदयाकुलो जीवः स्वप्रदेशान् बहिर्विक्षिप्य तैः प्रदेशैर्वदनोदरादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि चापूर्यायामतो विस्तरतश्च देहमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्य वर्तते । तथाभूतश्च प्रभूतान् कषायकर्मपुद्गलान् परिशातयति २ ।

मरणमेव प्राणिनामन्तकारित्वादन्तो मरणान्तस्तत्र भवो मारणान्तिकः, स चासौ समुद्घातश्च मारणान्तिकसमुद्घातः । स चान्तर्मुहूर्तशेषायुः कर्माश्रयः । तथाहि—कश्चिज्जीवोऽन्तर्मुहूर्तशेषे स्वायुषि बहिः [2]स्वप्रदेशान् विक्षिप्य तैर्वदनोदरादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि चापूर्य विष्कम्भ-बाहल्याभ्यां स्वशरीरप्रमाणमायामतः स्वशरीरातिरेकतो जघन्येनाङ्गुलासङ्ख्येयभागमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येयानि योजनान्येकदिशि क्षेत्रमभिव्याप्य वर्तते । तथाभूतश्च प्रभूतानायुःकर्मपुद्गलान् परिशातयति ३ ।

वैक्रिये प्रारभ्यमाणे समुद्घातो वैक्रियसमुद्घातः । स च वैक्रियशरीरनामकर्मविषयः । तथाहि—वैक्रियलब्धिमान् जीवो वैक्रियकरणकाले स्वप्रदेशान् शरीराद्बहिर्निष्कास्य विष्कम्भ-बाहल्याभ्यां शरीर-

१ कर्म० सि. वि. । एवमग्रेपि ॥ २ स्वदेशान्-मु. ॥

प्रमाणम्, आयामतः सङ्ख्येययोजनप्रमाणं दण्डं निसृजति। निसृज्य च यथास्थूलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् प्राग्बद्धान् शातयति। यत उक्तम्—

"वेउव्वियसमुग्घायेणं समोहणइ समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरइ निसिरित्ता अहाबायरे पुग्गले [1]परिसाडेइ"त्ति ४।

तेजसि विषये भवस्तैजसः, स चासौ समुद्घातश्च तैजसमुद्घातः। स च तेजोलेश्याविनिर्गमकालभावी तैजसशरीरनामकर्माश्रयः। तथाहि—तेजोनिसर्गलब्धिमान् क्रुद्धः साध्वादिः सप्ताष्टौ पदानि अवष्वक्य विष्कम्भबाहल्याभ्यां शरीरमानम्, आयामतस्तु सङ्ख्येययोजनप्रमाणं जीवप्रदेशदण्डं शरीराद्बहिः प्रक्षिप्य क्रोधविषयीकृतं मनुष्यादि निर्दहति। तत्र च प्रभूतांस्तैजसशरीरनामकर्मपुद्गलान् शातयति ५।

आहारकशरीरे प्रारभ्यमाणे समुद्घात आहारकसमुद्घातः। स चाहारकशरीरनामकर्मविषयः। तथाहि—आहारकशरीरलब्धिमानाहारकशरीरं चिकीर्षुर्विष्कम्भबाहल्याभ्यां देहमानम्, आयामतः सङ्ख्येययोजनप्रमाणं शरीराद्बहिः स्वप्रदेशदण्डं निसृज्य यथास्थूलान् प्रभूतानाहारकशरीरनामकर्मपुद्गलान् प्राग्बद्धान् [2]शातयतीति ६।

एते च षडपि समुद्घाताः प्रत्येकमान्तर्मुहूर्तिकाः।

तथा केवलिन्यन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदे भवः कैवलिकः, स चासौ समुद्घातश्च केवलिकसमुद्घातः। ॥४८८॥
स च सदसद्वेद्यशुभाशुभनामोच्चनीचैर्गोत्रकर्माश्रयः। अमुं च सूत्रकारः स्वयमेव पुरस्तात्प्रपञ्चयिष्यतीति।

१ परिसाडेति—मु.॥ २ शातयति—सि. वि.॥

अथैतानेव समुद्घातान् जीवेषु चिन्तयति-'**सत्त इमे हुंति मणुयाणं**' ति सप्ताप्येते पूर्वोक्ताः समुद्घाता मनुष्याणां भवन्ति । मनुष्येषु सर्वभावसंभवात् ॥११॥

'**एगेंदी**' त्यादि, एकेन्द्रियाणां-पृथिव्यादीनां कैवलिकाहारकसमुद्घातवर्जिता इमे आद्याः पञ्च समुद्घाता भवन्ति । पञ्चापि चैते वैक्रियवर्जिताश्चत्वारः समुद्घाता विकलेन्द्रियाणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च भवन्ति । इयं च गाथा [1]**प्रज्ञापना-पंचसंग्रह जीवसमासादिभिः** शास्त्रान्तरैः सह विसंवदति, तेष्वेकेन्द्रियादीनां तैजससमुद्घातस्य प्रतिषिद्धत्वात् । तथा च चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण **प्रज्ञापनासूत्रम्**-

"नेरइयाणं भंते ! कइ समुग्घाया पन्नत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि समुग्घाया पन्नत्ता । तंजहा-वेयणासमुग्घाए, कसायसमुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाए, वेउव्वियसमुग्घाए । असुरकुमाराणं भंते ! कइ समुग्घाया पन्नत्ता ?, गोयमा ! पंच समुग्घाया पन्नत्ता, तंजहा-वेयणासमुग्घाए, तेयसमुग्घाए, कसाय-समुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाए, वेउव्वियसमुग्घाए । एवं जाव थणियकुमाराणं । पुढविकाइयाणं भंते ! कइ समुग्घाया पन्नत्ता ?, गोयमा ! तिन्नि समुग्घाया पन्नत्ता । तंजहा-वेयणासमुग्घाए, कसायसमुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाए । एवं जाव चउरिंदियाणं । नवरं वाउकाइयाणं चत्तारि समुग्घाया पन्नत्ता । तंजहा-वेयणासमुग्घाए, कसायसमुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाए, वेउव्वियसमुग्घाए । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव वेमाणियाणं भंते ! कइ समुग्घाया पन्नत्ता ?, गोयमा ! पंच समुग्घाया पन्नत्ता । तंजहा-वेयणा-समुग्घाए, कसायसमुग्घाए, तेयसमुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाए, वेउव्वियसमुग्घाए । नवरं मणुस्साणं

१ प्रज्ञापनायां [पद ३६] जीवसमासे (गा. १६३) पञ्चसङ्ग्रहे च (द्वा. २ । गा. २६) द्रष्टव्यम् ॥

सत्तविहा समुग्घाया पन्नत्ता । तंजहा–वेयणासमुग्घाए जाव केवलिसमुग्घाए" [पद ३६ । सू. २०८६-९२] इति ।

एतच्च सुखार्थं किंचिद्व्याख्यायते–नैरयिकाणामाद्याश्चत्वारः समुद्घाताः । तेषां भवप्रत्ययेन तेजोलेश्यालब्ध्याहारकलब्धिकेवलित्वाभावतः शेषसमुद्घात[1]त्रयासंभवात् । असुरकुमारादीनां दशानामपि भवनपतीनां तेजोलब्धेरपि भावादाद्याः पञ्च । पृथिव्यप्तेजोवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामाद्यास्त्रयः । तेषां वैक्रियलब्धेरप्य[2]संभवात् । वायूनामाद्याश्चत्वारस्तेषां बादरपर्याप्तानां वैक्रियलब्धिसंभवाद्वैक्रियसमुद्घातस्यापि संभवात् । पञ्चेन्द्रियतिरश्चामाद्याः पञ्च । केषांचित्तेषां वैक्रियतेजोलेश्यालब्धेरपि संभवात् । मनुष्याणां सप्तापि । व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां त्वाद्याः पञ्चेति ॥१२॥

प्र. आ. ३८५

अथ [3]केवलिसमुद्घातं सूत्रकृदेव व्याचष्टे–'केवली'त्यादिगाथाचतुष्कम् , [4]केवलिसमुद्घातः प्रतिपाद्यत इति शेषः । तत्रान्तर्मुहूर्तावशेषायुः केवली कश्चित्कर्मणां समीकरणार्थं समुद्घातं करोति यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशादधिकतरं भवति । अन्यस्तु न करोत्येव । तं च कुर्वन् प्रथमसमये बाहल्यतः स्वशरीरप्रमाणं ऊर्ध्वमधश्च लोकान्तपर्यन्तमात्मप्रदेशानां दण्डाकारत्वेन विस्तारणाद्दण्डं विरचयति । द्वितीये पुनः समये तमेव दण्डं पूर्वापरं दक्षिणोत्तरं वाऽऽत्मप्रदेशानां प्रसारणात्पार्श्वतो लोकान्तगामि कपाटमिव कपाटं करोति । तृतीयसमये [5]तमेव कपाटं दक्षिणोत्तरं पूर्वापरं वा दिग्द्वयप्रसारणान्मथिसदृशं मन्थानं

१ ०संबंधात्–सि. वि. ॥ २ ०संभवेन–सि. वि. ॥ ३ केवलिकस० सि. वि. ॥
४ केवलिक० वि. । केवलिक० सि. ॥ ५ तदेव–सि. वि. ॥

लोकान्तप्रापिणमारचयति । एवं च लोकस्य प्रायो बहु पूरितं भवति मथ्यन्तराणि त्वपूरितानि । जीवप्रदेशानामनुश्रेणि गमनात् । चतुर्थसमये तान्यपि मथ्यन्तराणि सह लोकनिष्कुटैः पूरयति । तथा च समस्तोऽपि लोकः पूरितो भवति । तदनन्तरं च पञ्चमे समये यथोक्तप्रक्रमात् प्रतिलोममथ्यन्तराणि संहरति । प्रसृतान् जीवप्रदेशान् सकर्मकान् मथ्यन्तर्गतान् संकोचयतीत्यर्थः । षष्ठे पुनः समये मन्थानमुपसंहरति, घनतरसंकोचात् । सप्तमे समये कपाटमपि संहरति । दण्डात्मनि संकोचात् । अष्टमे तु समये दण्डमपि संहृत्य स्वशरीरस्थ एव भवति । [1]तदेवमष्टसामयिकः कैवलिकः समुद्घातः । एतेषु चाष्टस्वपि समयेषु केवली प्रभूतान् वेदनीयनामगोत्रकर्मपुद्गलान् शातयति ।

सम्प्रति समुद्घातगतस्य योगव्यापारश्चिन्त्यते—योगाश्च—मनोवाक्कायाः, तत्र समुद्घातगतस्य काययोग एव केवलो व्याप्रियते । न मनोवाग्योगौ प्रयोजनाभावात् । तत्र प्रथमचरमसमययोरौदारिकाङ्गो भवति । औदारिककायव्यापारप्राधान्यादौदारिकयोगयुक्त एवेत्यर्थः । सप्तमषष्ठद्वितीयेषु औदारिकमिश्रः । समुद्घातमापन्न औदारिके तस्माच्च बहिः कार्मणवीर्यपरिस्पन्दादौदारिककार्मणमिश्रकाययोगयुक्त इत्यर्थः । चतुर्थपञ्चमतृतीयसमयेषु पुनर्बहिरेवौदारिकाद्बहुतरप्रदेशव्यापारसद्भावात् कार्मणशरीरयोगयुक्त एव, तन्मात्रचेष्टनात् । अत्रैव हेतुमाह—'**जं होइ अणाहारो सो तंमि तिगेवि समयाणं**' ति यद्—यस्मात्कारणात् स तस्मिन् समयत्रिकेऽप्यनाहारको भवति । यश्चानाहारकः स नियमादेव केवलकार्मणशरीरयोगीति ॥१३॥१४॥१५॥१६॥ २३१॥

[1] तदेवमष्टसामायिकः—सि. वि. ॥

इदानीं 'छप्पज्जत्तीओ' त्ति द्वात्रिंशदुत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

आहार १ सरीरिं २ दिय ३ पज्जत्ती ४ आणपाण ४ भास ५ मणे ६ ।
चत्तारि पंच छप्पिय एगिंदियविगलसन्नीणं ॥१७॥

[प्राचीन कर्मग्रन्थ १ । गा. १३६, बृ. सं. गा. ३६३, जीवसमासे गा. २५]

पढमा समयपमाणा सेसा अंतोमुहुत्तिया य कमा ।
समगंपि हुंति नवरं पंचम छट्ठा [1]उ अमराणं ॥१८॥

[2]पर्याप्तिर्नाम आहारादिपुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः । सा च पुद्गलोपचयादुपजायते । किमुक्तं भवति १–उत्पत्तिदेशमागतेन प्रथमं ये गृहीताः पुद्गलास्तेषां तथा अन्येषामपि प्रतिसमयं गृह्यमाणानां तत्संपर्कतस्तद्रूपतया जातानां यः शक्तिविशेषः—आहारादिपुद्गलखलरसादिरूपतापादनहेतुः, यथोदरान्तर्गतानां पुद्गलविशेषाणामाहारपुद्गलखलरसरूपतापरिणमनहेतुः शक्तिविशेषः सा पर्याप्तिः । सा च षोढा, तद्यथा–आहारपर्याप्तिः, शरीरपर्याप्तिरिन्द्रियपर्याप्ति, प्राणापानपर्याप्तिर्भाषापर्याप्तिर्मनःपर्याप्तिश्च ।

तत्र यया शक्त्या करणभूतया जन्तुर्बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः । यया रसीभूतमाहारं रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः । यया तु धातुरूपतया परिणमितादाहारादेकस्य द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां पञ्चानां वा इन्द्रियाणां

---

१ य-मु. ॥ २-तुला-बृ.सं. (जिनभद्रीया) मलयवृत्तिः-गा. ३६३ प. १३८ B तः ॥

प्रायोग्यानि द्रव्याण्युपादाय एकद्वित्र्यादीन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः । यया पुनरुच्छ्वासयोग्यवर्गणादलिकमादाय उच्छ्वासरूपतया परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा प्राणापानपर्याप्तिः । यया तु भाषाप्रायोग्यदलिकमादाय भाषात्वेन परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्ति । यया [1]पुनर्मनोयोग्यवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः ।

आह-किं सर्वेषामपि जीवानां सर्वा अप्येताः पर्याप्तयः प्राप्यन्ते ?, नेत्याह—'चत्तारि' त्यादि, इह यथासङ्ख्येन संबन्धः । तद्यथा—आद्याश्चतस्र एवैकेन्द्रियाणाम् । भाषामनसोस्तेष्वभावात् । विकलशब्देन चात्र मनोविकला गृह्यन्ते । ते च पारिशेष्याद् द्वित्रिचतुरिन्द्रिया असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्च लभ्यन्ते । तेषामाद्याः पञ्चैव पर्याप्तयो न [2]तु मनःपर्याप्तिः, मनसस्तेष्वभावादिति । संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां पुनः षडपि पर्याप्तयः प्राप्यन्ते । मनसोऽपि तेषां [3]सद्भावादिति । एताभिश्च स्वस्वयोग्यपर्याप्तिभिरपर्याप्ता एव ये कालं कुर्वन्ति तेऽप्याद्यपर्याप्तित्रयं समाप्य ततोऽन्तर्मुहूर्तेनायुर्बध्वा तदनन्तरमबाधाकालरूपमन्तर्मुहूर्तं जीवित्वैव च म्रियन्ते इति ॥१७॥

अथासां निष्पत्तिकालमानमाह-'पढमे' त्यादि, प्रथमा-आहारपर्याप्तिः समयप्रमाणा, शेषाः—शरीरपर्याप्त्यादयः पञ्च पर्याप्तयः [4]क्रमेण प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिक्यः । इदमुक्तं भवति—एताः पर्याप्तयः सर्वा अप्युत्पत्तिप्रथमसमये एव यथास्वं युगपज्जन्तुना निष्पादयितुमारभ्यन्ते । क्रमेण च निष्ठामुपयान्ति । तद्यथा—प्रथममाहारपर्याप्तिः, ततः शरीरपर्याप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिरित्यादि । आस्वाहारपर्याप्तिश्च प्रथमसमय एव

१ पुनर्मनोयोग्यपर्याप्ति वर्गणा–सि. वि. ॥ २ च–जे. सि. वि. ॥ ३ सद्भावाद्–सि.वि. ॥ ४ क्रमेण-सि.वि. नास्ति ॥

निष्पाद्यते । शेषास्तु पञ्चापि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तेन कालेन । अथ आहारपर्याप्तिः प्रथमसमय एव निष्पद्यते इति कथमवसीयते ?, उच्यते, इह भगवता आर्यश्यामेन **प्रज्ञापनाया**माहारपदे द्वितीयोद्देशके सूत्रमिदमपाठि -

"आहारपज्जत्तीए अपज्जत्तए णं भंते ! किं आहारए अणाहारए ?, गोयमा ! नो आहारए" [पद २८ । सू. १९०९] इति ।

[1]तत आहारपर्याप्त्या अपर्याप्तो विग्रहगतावेवोपपद्यते, नोपपातक्षेत्रसमागतोऽपि । उपपातक्षेत्रसमागतस्य प्रथमसमय एवाहारकत्वात् । तत एकसामयिकी आहारपर्याप्तिनिर्वृत्तिः । यदि पुनरुपपातक्षेत्रमागतोऽपि आहारपर्याप्त्या अपर्याप्तः स्यात्तत एवं व्याकरणसूत्रं पठेत्–'सिय आहारए सिय अणाहारए' । यथा शरीरादिषु पर्याप्तिषु 'सिय आहारए सिय अणाहारए' इति । सर्वासामपि च पर्याप्तीनां परिसमाप्तिकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः । एतच्च सूत्रे यद्यपि सामान्येनोक्तं तथाप्यौदारिकशरीरिणामेव द्रष्टव्यम् । वैक्रियाहारकशरीरिणां त्वाहारेन्द्रियानप्राणभाषामनःपर्याप्तयः पञ्चाप्येकैकेनैव समयेन समाप्यन्ते । शरीरपर्याप्तिः पुनरन्तर्मुहूर्तेन । उक्तं च—

★"वेउव्वाहाराणं सरीर अन्नाउ पण इगिगसमया । पिहु पण अंतमुहुत्ता उराल आहार इगसमया ॥१॥

अथ देवानां विशेषमाह—'**समगंपि हुंति नवरं पंचम छट्ठा** [2]**उ अमराणंति**' नवरं–केवलं पञ्चमी–भाषापर्याप्तिः, षष्ठी च–मनःपर्याप्तिः, एते द्वे अपि पर्याप्ती अमराणां–देवानां समकमपि–

१ तत आह आहार० सि. वि. ॥ ★ वैक्रियाहारकयोः शरीरमन्याः पञ्चैकैकसामयिकाः । पृथक् पञ्च आन्तर्मुहूर्त्तिका औदारिके आहारपर्याप्तिरेकसामयिकी ॥ २ य अमराणं ति–मु. । उ अमराणन्ति– सि.वि. ॥

युगपदपि भवतः । केनाप्यभिप्रायेण व्याख्याप्रज्ञप्त्यादिषु देवानामनयोः पर्याप्त्योरेकत्वप्रतिपादनात् । तथा च व्याख्याप्रज्ञप्तिटीका—

"'पंचविहाए पज्जत्तीए' त्ति पर्याप्तिः—आहारशरीरादीनामभिनिर्वृत्तिः । सा चान्यत्र षोढा उक्ता, इह तु पञ्चधा, भाषा मनःपर्याप्त्योर्बहुश्रुताभिमतेन केनापि कारणेन एकत्वविवक्षणाद्" [भगवतीवृत्तिः श. ३, उ. १ सू. १२१] इति ॥१७॥१८॥२३२॥

इदानीम् 'अणाहारया चउरो' त्ति त्रयस्त्रिंशदुत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समोहया अजोगी य ।

सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥१९॥ [जीवसमास गा. ८२]

विग्रहगतिः—[1]भवात् भवान्तरे विश्रेण्या गमनम् , तामापन्नाः—प्राप्ताः सर्वेऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुद्धताः—कृतसमुद्घाताः, तथा अयोगिनः—शैलेश्यवस्थाः, तथा सिद्धाः—क्षीणकर्माष्टकाः; सर्वेऽप्येतेऽनाहाराः । एतद्व्यतिरिक्ताः शेषाः सर्वेऽप्याहारकाः । इह परभवं गच्छतां [2]जंतूनां गतिर्द्विधा—ऋजुगतिर्विग्रहगतिश्च । तत्र यदा जीवस्य मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानं समश्रेण्यां प्राञ्जलमेव भवति तदा ऋजुगतिः । सा चैकसमया । समश्रेणिव्यवस्थितत्वेनोत्पत्तिदेशस्याद्यसमय एव प्राप्तेः । नियमादाहारकश्चास्याम् । हेयग्राह्यशरीरमोक्ष[3]ग्रहणान्तरालाभावेनाहाराव्यवच्छेदात् । यदा तु मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानं वक्रं भवति तदा विग्रहगतिः । वक्रश्रेण्या अन्तरालरूपेण विग्रहेणोपलक्षिता गतिर्विग्रहगतिरितिकृत्वा ।

१ भवात्-सि.वि. नास्ति ॥ २ जीवानां-मु. ॥ ३ ०ग्रहणाभावे० सि. वि. ॥

तत्र विग्रहगत्योत्पन्ना उत्कर्षतस्त्रीन् समयान् यावदनाहारकाः। तथाहि—अस्यां वक्रगतौ स्थितौ जन्तुरेकेनद्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा वक्रैरुत्पत्तिदेशमायाति। [1]तत्रैकवक्रायां द्वौ समयौ, तयोश्च नियमादाहारकः; तथाहि—आद्यसमये पूर्वशरीरमोक्षः तस्मिंश्च समये तच्छरीरयोग्याः केचित्पुद्गला जीवयोगाद्योमाहारतः संबन्धमायान्ति। औदारिकवैक्रियाहारक[2]पुद्गलादानं चाहारः। तत आद्यसमये आहारकः। द्वितीये च समये उत्पत्तिदेशे तद्भवयोग्यशरीरपुद्गलादानादाहारकः। द्विवक्रायां गतौ त्रयः समयाः। तत्राद्ये अन्त्ये च प्राग्वदाहारको मध्यमे त्वनाहारकः। त्रिवक्रायां चत्वारः समयाः, ते चैवं—त्रसनाड्या बहिरधस्तनभागादूर्ध्वमुपरितनभागादधो वा जायमानो जन्तुर्विदिशो दिशि दिशो वा विदिशि यदोत्पद्यते तदैकेन समयेन विदिशो दिशि याति, द्वितीयेन त्रसनाडीं प्रविशति, तृतीयेनोपर्यधो वा याति, चतुर्थेन बहिरुत्पद्यते। दिशो विदिशि उत्पादे त्वाद्ये समये त्रसनाडीं प्रविशति, द्वितीये उपर्यधो वा याति, तृतीये बहिर्गच्छति, चतुर्थे विदिश्युत्पद्यते। अत्राद्यन्तयोः प्राग्वदाहारकः मध्यमयोस्त्वनाहारकः। चतुर्वक्रायां पञ्च समयाः। ते च त्रसनाड्या बहिरेव विदिशो विदिश्युत्पादे प्राग्वद्भावनीयाः। अत्राप्याद्यन्तयोराहारकः, त्रिषु त्वनाहारकः।

तथा केवलिनः समुद्घातेऽष्टसामयिके तृतीयचतुर्थपञ्चमरूपान् केवलकार्मणयोगयुतांस्त्रीन् समयान्; अयोगिनः शैलेश्यवस्थायां ह्रस्वपञ्चाक्षरोच्चारणमात्रम्। सिद्धास्तु सादिमपर्यवसितं कालमनाहारका इति। ॥१९॥२३३॥ ॥४१९॥

१ मतान्तरार्थं द्रष्टव्या जीवसमासवृत्तिः, प.८० ॥ २ ०पुद्गलादीनां-सि.वि. ॥

इदानीं 'सत्त भयट्ठाणाइं' ति चतुस्त्रिंशदुत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

इह १ परलोया २ ऽऽ[1]याणा ३ मकम्ह ४ आजीव ५ मरण ६ मसिलोए ७ ।
सत्त भयट्ठाणाइं इमाइं सिद्धंतभणियाइं ॥२०॥

२३४ द्वारे सप्त भयस्थानानि गाथा १३२०

भयं—भयमोहनीयप्रकृतिसमुत्थ आत्मपरिणामः, तस्य स्थानानि—आश्रया भयस्थानानि । तत्र मनुष्यादिकस्य सजातीयादन्यस्मान्मनुष्यादेरेव सकाशाद्यद्भयं तदिहलोकभयम् । इहाधिकृतभीतिमतो जन्तोर्जातौ यो लोकस्ततो भयमिति व्युत्पत्तेः । तथा परस्मात्—विजातीयात्तिर्यग्देवादेः सकाशान्मनुष्यादीनां यद्भयं तत्परलोकभयम् । तथा आदीयते इत्यादानम्, तदर्थं मम सकाशादयमिदमादास्यतीति यच्चौरादिभ्यो भयं तदादानभयम् । तथा अकस्मादेव—बाह्यनिमित्तानपेक्षं गृहादिष्वेव स्थितस्य रात्र्यादौ भयमकस्माद्भयम् । तथा धनधान्यादिहीनोऽहं दुष्काले कथं जीविष्यामीति दुष्कालपतनाद्याकर्णनाद्भयमाजीविकाभयम् । नैमित्तिकादिना मरिष्यसि त्वमधुनेत्यादिकथिते भयं मरणभयम् । अकार्यकरणोन्मुखस्य विवेचनायां जनापवादमुत्प्रेक्ष्य भयमश्लोकभयमिति । इमानि सप्त भयस्थानानि सिद्धान्ते भणितानि ॥२०॥२३४॥

इदानीं 'छब्भासाओ अप्पसत्थाओ' त्ति पंचत्रिंशदुत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

२३५ द्वारे षड् भाषाः अप्रशस्ताः गाथा १३२१

हीलिय १ खिसिय २ फरुसा ३ अलिआ ४ तह गारहत्थिया भासा ५ ।
छट्ठी पुण उवसंताहिगरणउल्लाससंजणणी ६ ॥२१॥

प्र. आ. ३८८

१ ०याण-वा. । ०याणे-सि. ॥

भाष्यन्ते-प्रोच्यन्ते भाषा-वचनानि, ताश्च अप्रशस्ता-गुरुकर्मबन्धहेतुत्वादशोभना हीलितादिभेदतः षड् भवन्ति। तत्र हीलिता सासूयमवगणयन् वाचक! ज्येष्ठार्येत्यादि जल्पनम् १। खिंसिता जन्मकर्माद्युद्‌घाटनम् २। परुषा दुष्टशैक्षेत्यादि कर्कशवचनम् ३। अलीका किं दिवा [1]प्रचलयसीत्यादिप्रश्ने न प्रचलयामीत्यादि भणनम् ४। [ग्रन्थाग्रं १५०००] तथा गृहस्थानामियं भाषा गार्हस्थी, सा च पुत्र मामक भागिनेयेत्यादिरूपा ५। षष्ठी पुनर्भाषा 'उपशान्ताधिकरणोल्लाससंजननी' उपशान्तस्य-उपशमं नीतस्याधिकरणस्य-कलहस्य य उल्लासः-प्रकामं प्रवर्तनं तस्य संजननी-समुत्पादयित्रीत्यर्थः ॥२१॥२३५॥

इदानीं 'भंगा [2]अणुव्वयाणं' ति षट्त्रिंशदुत्तरद्विशततमं द्वारमाह —

दुविहा २ अट्ठविहा वा ८ बत्तीसविहा य ३२ सत्तपणतीसा ७३५ । प्र. आ. ३८८
सोलस य सहस्स भवे अट्ठ सयट्ठोत्तरा १६८०८ वइणो ॥२२॥
दुविहा विरयाविरया दुविहंतिविहाइणट्ठहा हुंति ।
वयमेगेगं छव्विहगुणियं दुगमिलिय बत्तीसं ॥२३॥
तिन्नि तिया तिन्नि दुया तिन्निक्केक्का य हुंति जोएसु ।
ति दु एक्कं ति दु एक्कं ति दु एक्कं चेव करणाइं ॥२४॥
मणवयकाइयजोगे करणे कारावणे अणुमईए ।
एक्कगदुगतिगजोगे सत्ता सत्तेव [3]इगुवन्ना ॥२५॥

१ प्रचलायसी० सि.वि. ॥ २ गिहिव्वयाणं-वि. ॥
३ गुणवन्ना-मु. । इगवन्ना-ता. । श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणेऽपि इगु० इति पाठः ॥

पढमेक्को तिन्नि तिया दोन्नि नवा तिन्नि दो नवा चेव ।
कालतिगेण य [1]गुणिया सीयालं होइ भंगसयं ॥२६॥
पंचाणुव्वयगुणियं सोयालसयं तु नवरि जाणाहि ।
सत्त सया पणतीसा सावयवयगहणकालंमि ॥२७॥
सीयालं भंगसयं जस्स [2]विसुद्धिए होइ उवलद्धं ।
सो खलु पच्चक्खाणे कुसलो सेसा अकुसला उ ॥२८॥
दुविहतिविहाइ [3]छच्चिय तेसिं भेया कमेणिमे हुंति ।
पढमेक्को दुन्नि तिया दुगेग दो छक्क इगवीसं ॥२९॥
एगवए छब्भंगा निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते ।
ते च्चिय पयवुड्ढीए सत्तगुणा छज्जुया कमसो ॥३०॥
इगवीसं खलु भंगा निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते ।
ते च्चिय बावीसगुणा इगवीसं पक्खिवेयव्वा ॥३१॥
एगवए नवभंगा निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते ।
ते च्चिय दसगुण काउं नव पक्खेवंमि कायव्वा ॥३२॥
[4]इगुवन्नं खलु भंगा निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते ।
ते च्चिय पन्नासगुणा [5]इगुवन्नं पक्खिवेयव्वा ॥३३॥

---

१ सहिया-इति श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणे धर्मसङ्ग्रहवृत्तौ [मा. १ प. ५७] च पाठः ॥ २ विसुद्धस्स-ता. ॥ ३ छव्विह-मु. । श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणे धर्मसङ्ग्रहवृत्तावपि [मा. १ प. ५६] छच्चिय इति पाठः ॥ ४ इग० मु ॥ ५ गुणवन्नं-मु. ॥

एगाई एगुत्तरपत्तेयपयंमि [1]उवरि पक्खेवो ।
एक्केक्कहाणिअवसाणसंखया हुंति [2]संजोगा ॥३४॥
अहवा पयाणि ठविउं अक्खे घित्तूण चारणं कुज्जा ।
एक्कगदुगाइजोगा भंगाणं संख कायव्वा ॥३५॥
बारस १ छावट्ठीवि य २ वीसहिया दो य ३ पंच नव चउरो ४ ।
दो नव सत्त य ५ चउ दोन्नि नव य ६ दो नव य सत्तेव ७ ॥३६॥
पण नव चउरो ८ वीसा य दोन्नि ९ छावट्ठि १० बारसे ११ क्को १२ य ।
सावयभंगाणमिमे सव्वाणवि हुंति गुणकारा ॥३७॥
छच्चेव य १ छत्तीसा २ [3]सोलस दुगं चेव ३ छ नव [4]दुगमिक्कं ४ ।
छ सत्त सत्त सत्त य ५ छप्पन्न छसट्ठि चउ छद्दे ६ ॥३८॥
[5]छत्तीसा नवनउई सत्तावीसा य ७ सोल छन्नउई ।
सत्त य सोलस भंगा अट्ठमठाणे वियाणाहि ८ ॥३९॥
[6]छानउई [7]छावत्तरि सत्त दु सुन्नेक्क हुंति नवमम्मि ९ ।
[8]छाहत्तरि इगसट्ठी छायाला सुन्न छच्चेव १० ॥४०॥

---

१ जाव पक्खेवो-सि. वि. ॥ २ संयोगा-मु. ॥ ३ सोल दुगं-मु. ॥ ४ दुगमेक्कं-सि.वि. ॥ दुग एक्कं-ता. ॥
५ बत्तीसा-ता. ॥ ६ छन्नउई-मु. । छाणउई-इति श्रा. व्र.म.प्र. ॥ ७ बाव० इति श्रा.व्र. भङ्गप्रकरणे पाठः ॥
८ छावत्तरी-इति श्रा. व्र. भङ्गप्रकरणे पाठः ॥

छप्पन्न सुन्न सत्त य नव सत्तावीस तह य छत्तीसा ११ ।
छत्तीसा तेवीसा अडहत्तरि छहत्तरीगवीसा १२ ॥४१॥
दुविहतिविहेण पढमो दुविहं दुविहेण बीयओ होइ ।
दुविहं एगविहेण एगविहं चेव तिविहेणं ॥४२॥
एगविह दुविहेण एक्केक्कविहेण छट्ठओ होइ ।
उत्तरगुण सत्तमओ [1]अविरयओ अट्ठमो होइ ॥४३॥
पंचण्हमणुवयाणं एक्कगदुगतिगचउक्कपणगेहिं ।
पंचगदसदसपणएक्कगो य संजोय नायव्वा ॥४४॥
छच्चेव य छत्तीसा [2]सोल दुगं चेव छ नव दुग एक्क ।
छस्सत्त सत्त सत्त य पंचण्ह वयाण गुणणपयं ॥४५॥
वयएक्कगसंजोगाण हुंति पंचण्ह तीसई भंगा ।
[3]दुगसंजोग दसण्हंपि तिन्नि सट्ठा सया हुंति ॥४६॥
तिगसंजोग दसण्ह भंगसया एक्कवीसइ सट्ठा ।
चउसंजोगप्पणगे चउसट्ठि सयाण [4]असियाणि ॥४७॥

प्र. आ.
३८९

१ अट्ठमओ अविरयओ होइ इति श्रा. व. भङ्गप्रकरणे पाठ ॥ २ सोलस-सि. वि. ॥ ३ गुणसंजोग-मु. ॥
४ ऽसियाणि-सि. वि. स. ॥

सत्तत्तरी सयाइं छहुत्तराइं तु 'पंचगे हुंति ।
उत्तरगुण अविरयमेलियाण जाणाहि सव्वग्गं ॥४८॥
सोलस चेव सहस्सा अट्ठ सया चेव हुंति अट्ठहिया ।
एसो वयपिंडत्थो दंसणमाई उ पडिमाओ ॥४९॥

[श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणे २-१४, १६-२८, ३०]

[2]व्रतं—नियमविशेषस्तद्विद्यते येषां ते व्रतिनः श्रावका इत्यर्थः । ते द्विधा—वक्ष्यमाणयुक्त्या द्विप्रकाराः, अथवा अष्टविधाः, अथवा द्वात्रिंशद्भेदाः, अथवा सप्त शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि, अथवा षोडश सहस्रा अष्टौ शतान्यष्टोत्तराणि व्रतिनो भवन्ति । अत्र च व्रतिन इत्युक्ते सामान्येन श्रावका गृह्यन्ते न तु देशविरता एव; अविरतसम्यग्दृष्टीनामपि सम्यक्त्वप्रतिपत्तिलक्षणस्य नियमस्य सद्भावात् ॥२२॥

अथैतानेव भेदान् प्रत्येकं व्याचिख्यासुराद्यं भेदत्रयमाह—'दुविहे' त्यादि, द्विविधाः श्रावकाः—विरता अविरताश्च । तत्र विरताः—प्रतिपन्नदेशविरतयः, अविरताः—अभ्युपेतक्षायिक-[कादि]सम्यक्त्वाः सत्यकि—श्रेणिक-कृष्णादय इव । 'दुविहं तिविहाइणट्ठहा होंति' त्ति द्विविधः—कृतकारितरूपः, [3]त्रिविधो—मनोवाक्कायभेदेन यत्र स द्विविधत्रिविध एको भङ्गः, स आदिर्यस्य द्विविधत्रिविधादेर्भङ्ग-जालस्य तेन द्विविधत्रिविधादिना भङ्गजालेनाष्टविधाः श्रावका भवन्ति । यद्वक्ष्यति—

१ पंचमे-मु. ॥ २तुला—श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणावचूरिः प. २ तः ॥ ३ त्रिधा—सि. वि. ॥

"दुविहतिविहेण पढमो दुविहं दुविहेण बीयओ होइ । दुविहं एगविहेणं एगविहं चेव तिविहेणं ॥१॥
एगविहं दुविहेणं एक्केक्कविहेण छट्ठओ होइ । उत्तरगुण सत्तमओ अविरयओ अट्ठमो होइ ॥२॥"

[आव. नि. गा. १५५८·१]

अनयोश्च [1]सोपयोगत्वादत्रैव व्याख्या क्रियते–इह व्रतं प्रतिपित्सुः कोऽपि किञ्चित्प्रतिपद्यते । श्रावकव्रतप्रतिपत्तेर्बहुभङ्गत्वात् । तत्र [2]द्विविधं–कृतकारितभेदम्, त्रिविधेन–मनसा वचसा कायेनेति प्रथमो भङ्गः । एवं च भावना–स्थूलहिंसादिकं न करोत्यात्मना, न कारयत्यन्येन मनसा वचसा कायेन चेति; अस्य चानुमतिरप्रतिषिद्धा । [3]अपत्यादिपरिग्रहसद्भावात्तैर्हिंसादिकरणे च तस्यानुमतिप्राप्तेः, अन्यथा परिग्रहापरिग्रहयोरविशेषेण प्रव्रजिताप्रव्रजितयोरभेदापत्तेः । यत्पुनर्व्याख्याप्रज्ञप्त्यादौ त्रिविधं त्रिविधेनेत्यपि प्रत्याख्यानमुक्तमगारिणस्तद्विशेषविषयं विज्ञेयम् । तथाहि–यः किल प्रविव्रजिषुरेव पुत्रादिसंततिपालनाय विलम्बमानः प्रतिमाः प्रतिपद्यते, यो वा विशेषं स्वयम्भूरमणादिगतं[4] मत्स्य-मांस-दन्तिदन्त-चित्रक-चर्मादिकं स्थूलहिंसादि वा कचिदवस्थाविशेषे[5] प्रत्याख्याति, स एव त्रिविधं त्रिविधेनेति करोति इत्यल्पविषयत्वादत्र न [6]विवक्षितमिति ।

१ सोपयोगित्वादत्रैव व्याख्यायते–सि.वि ॥ २ तुला–योगशास्त्रवृत्तिः [२।१८, प. १९२], धर्मसङ्ग्रहवृत्तिः भा. १ प. ५५ तः ॥ ३ आप० मु. ॥ ४ ०त–इति श्रावक. व्र. अवचूरौ योगशास्त्रवृत्तौ धर्मसङ्ग्रहवृत्तौ च ॥ ५ ०पेण–मु. । वि. सि. श्रा. व्रत. अवचूरिधर्मसं.वृत्योरपि ०षे–इति ॥ ६ विवक्षितमपि–सि.वि. ॥

द्विविधं द्विविधेनेति द्वितीयो भङ्गः । अत्र चोत्तरभङ्गास्त्रयः, तत्र द्विविधमिति—स्थूलहिंसादिकं न करोति न कारयति, द्विविधेनेति मनसा वचसा १, यद्वा मनसा कायेनेति २, यद्वा वाचा कायेनेति ३ । तत्र यदा मनसा वाचा न करोति न [1]कारयति तदा मनसाऽभिसन्धिरहित एव वाचाऽपि हिंसादिकम-ब्रुवन्नेव कायेनैव दुश्चेष्टितादिना असंज्ञिकवत्करोति । यदा तु मनसा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसाऽभिसन्धिरहित एव कायेन दुश्चेष्टितादि परिहरन्नेवानाभोगाद्वाचैव हन्मि घातयामि चेति ब्रूते । यदा तु वाचा कायेन न करोति न [1]कारयति तदा मनसैवाभिसन्धिमधिकृत्य करोति कारयति च । अनुमतिस्तु त्रिभिरपि सर्वत्रैवास्ति । एवं शेषविकल्पा अपि भावनीयाः ।

द्विविधमेकविधेनेति तृतीयः । अत्राप्युत्तरभङ्गास्त्रयः । द्विविधं करणं कारणं च एकविधेन मनसा १, यद्वा वचसा २ यद्वा कायेन ३ । प्र. आ. ३९०

एकविधं त्रिविधेनेति चतुर्थः । अत्र च द्वौ प्रतिभङ्गौ, एकविधं करणं मनसा वाचा [2]कायेन च अथवा एकविधं कारणं मनसा वाचा कायेन ।

एकविधं द्विविधेनेति पञ्चमः । अत्र चोत्तरभेदाः षट् , एकविधं करणं द्विविधेन मनसा वाचा १, यद्वा मनसा कायेन २, यद्वा वाचा कायेन ३ । अथवा एकविधं कारणं द्विविधेन मनसा वाचा ४, यद्वा मनसा कायेन ५, यद्वा वाचा कायेन ६ ।

[3]एकविधमेकविधेनेति षष्ठो मूलभङ्गः । अत्राप्युत्तरभङ्गाः षट् , एकविधं करणम् एकविधेन मनसा १, ॥५०४॥

१ कारयेत्–सि. वि. ॥ २ कायेन यद्वा–सि. ॥ ३ तदेव एक० सि. वि. ॥

यद्वा वाचा २, यद्वा कायेन ३, अथवा एकविधं कारणं एकविधेन मनसा ४, यद्वा वाचा ५, यद्वा कायेनेति ६। तदेवं मूलभङ्गाः षट्। षण्णामपि च मूलभङ्गानामुत्तरभङ्गाः सर्वसङ्ख्ययैकविंशतिः। तथा च [1]वक्ष्यति—

"दुविहतिविहा य छच्चिय तेसिं भेया कमेणिमे होंति। पढमेक्को दोन्नि तिया दुगेग दो [2]छक्क इगवीसं॥१॥"

[श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणे गा. ९. प्र. सा. १३२९]

एषाऽपि प्रक्रमादिहैव व्याख्यायते—अनन्तरोक्ता एव द्विविधत्रिविधादयः षड्भङ्गाः स्थाप्यन्ते। तेषां षण्णां भङ्गानां क्रमेणैते वक्ष्यमाणा भेदा—उत्तरविकल्पा भवन्ति। तथाहि—प्रथममेकः स्थाप्यते, तदनन्तरं क्रमेण द्वौ त्रिकौ, तत एको द्विकः, तदनु क्रमेण द्वौ षट्कौ। इयमत्र भावना—प्रागुक्तायाः षड्भङ्ग्याः प्रथमे भङ्गे एक एव भेदः, द्वितीयभङ्गे उत्तरभेदास्त्रयः, तृतीयेऽपि त्रयः, चतुर्थे द्वौ, पञ्चमे षट्, षष्ठेऽपि मूलभङ्गे उत्तरभङ्गाः षडित्येवं षड्भङ्ग्यामुत्तरभङ्गका मिलिता [3]एकविंशतिरिति।

[4]स्थापनाचेयम्—

२	२	२	१	१	१	योगाः
३	२	१	३	२	१	करणानि
१	३	३	२	६	६	भङ्गाः

इति करणकारणमनोवाक्कायैरुत्तरभेदाः। 'उत्तरगुण सत्तमओ' त्ति प्रतिपन्नोत्तरगुणः सप्तमो भेदः।

श्रावकाणां हि द्विधा नियमो—मूलगुणविषय

१ अत्रैव १३२९ तम गाथायाम्॥ २ छक्क—इति श्रावकव्रतभङ्ग प्रकरणे पाठः॥

३ एकविंशतिरपि—सि.॥ ४ स्थापना चेयं—करण उत्तरभङ्गः / कारण मनोवाकाय उत्तरगुणसत्त० सि. वि.॥

उत्तगुणविषयश्च । तत्र मूलभूता गुणाः मूलगुणाः—पञ्चाणुव्रतानि, उत्तरभूता गुणा उत्तरगुणाः—त्रीणि अणुव्रतानि चत्वारि च शिक्षाव्रतानि । इह च संपूर्णासंपूर्णोत्तरगुणभेदमनादृत्य सामान्येनैक एव भेदो विवक्षितः । **'अविरयओ अट्ठमो होइ'** त्ति अविरतः—अविरतसम्यग्दृष्टिरष्टमो भेदः, तदेवमुक्ताः अष्टविधाः श्रावकाः ।

अथ द्वात्रिंशद्विधानाह—**'वयमेगेगं'** इत्यादि, एकैकं स्थूलप्राणातिपातविरमणादिकं व्रतं षड्भिर्विधाभिः—भेदैर्गुणितं—ताडितं द्विविधत्रिविधादिकया पूर्वोक्तया षड्भङ्ग्या गुणितमित्यर्थः । प्रतिपन्नोत्तरगुणाविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणभेदद्विकमिलितं द्वात्रिंशद्भवन्ति । तथाहि—स्थूलप्राणातिपातविरतिं षड्भङ्गीमध्यात्कश्चिदाद्येन भङ्गेन गृह्णाति, कश्चिद् द्वितीयेन, कश्चित् तृतीयेन, कश्चिच्चतुर्थेन, कश्चित्पञ्चमेन, कश्चित् षष्ठेनेति प्राणातिपातविरतेः षड् भङ्गाः । एवं मृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहेष्वपि प्रत्येकं षड् भङ्गा वाच्याः, मिलिताश्च त्रिंशत् ।

आवश्यके पुनरेवं त्रिंशद्भङ्गाः—यथा कश्चित्पञ्चाप्यणुव्रतानि समुदितान्येव गृह्णाति । तत्र च द्विविधत्रिविधादयः षड्भेदाः । अन्यो व्रतचतुष्टयं गृह्णाति तत्रापि षट् । अपरो व्रतत्रयं तत्रापि षट् । अन्यो व्रतद्वयं तत्रापि षट् । अन्यस्त्वेकमेवाणुव्रतं गृह्णाति तत्रापि षडेव भङ्गाः । एवमेते पञ्च षट्कास्त्रिंशद्भवन्ति । उत्तरगुणाविरतसहितास्तु द्वात्रिंशत् ॥२३॥

एवं तावदावश्यकनिर्युक्त्यभिप्रायेण कृता भङ्गप्ररूपणा, सांप्रतं पञ्चत्रिंशदुत्तरसप्तशतसङ्ख्यान् श्रावकभेदान् प्रतिपिपादयिषुर्भगवत्यभिप्रायेण नवभङ्गीमाह—**'तिन्नो'**त्यादि, योगेषु—करणकारणानुमति-

रूपेषु त्रयस्त्रिकाः, त्रयो द्विकाः, त्रय एककाश्च भवन्ति क्रमेण [1]स्थाप्या इति शेषः । तदधस्ताच्च क्रमेण त्रीणि द्वे एकम्, त्रीणि द्वे एकम्. त्रीणि द्वे एकं चैव करणानि–मनोवाक्कायलक्षणानि स्थाप्यानि भवन्तीति पदघटना । भावार्थः पुनरयं–त्रिविधं त्रिविधेनेति प्रथमो भङ्गः, कश्चिद् गृही सावद्यं योगं न करोति न कारयति नान्यं [2]समनुजानीते मनसा वचसा कायेन चेत्येको भङ्ग इति भावः । त्रिविधं द्विविधेनेति द्वितीयो मूलभङ्गः । अत्रोत्तरभङ्गास्त्रयः, तथाहि–न करोति न कारयति नानुजानाति मनसा वाचा १, यद्वा मनसा कायेन २, यद्वा वचसा कायेन ३ ।

त्रिविधमेकविधेनेति तृतीयो भङ्गः । अत्राप्युत्तरभङ्गास्त्रयस्तथाहि–न करोति, न कारयति, नानुजानीते, मनसा १, यद्वा वचसा २, यद्वा कायेन ३ । द्विविधं [3]त्रिविधेनेति चतुर्थो भङ्गः, अत्राप्युत्तरभङ्गास्त्रयः, तथाहि–न करोति न कारयति मनसा वचसा कायेन १ । यद्वा न करोति नानुजानीते त्रिभिरपि करणैः २ । यद्वा न कारयति नानुजानाति त्रिभिरपि करणैः ३ । द्विविधं द्विविधेनेति पञ्चमो भङ्गः । अत्र चोत्तरभेदा नव । तथाहि–न करोति न कारयति मनसा वचसा १, यद्वा मनसा कायेन २, यद्वा वचसा कायेन ३, अथवा न करोति नानुजानीते मनसा वचसा ४, यद्वा मनसा कायेन ५, यद्वा वचसा कायेन ६, अथवा न कारयति नानुजानीते मनसा वचसा ७, यद्वा मनसा कायेन ८, यद्वा वचसा कायेन ९ ।

---

१ प्राप्यन्ते–सि. वि. ॥ २ समनुजानाति–मि. वि. श्रावकव्रतभङ्गावचूरौ च । 'ज्ञोऽनुपसर्गात्" सि. है. ३।३।९६ द्रष्टव्यम ॥ ३ त्रिविधेन-सि. वि. ॥

द्विविधमेकविधेनेति षष्ठो भङ्गः। अत्राप्युत्तरभेदा नव। तथाहि-न करोति न कारयति मनसा १, यद्वा वचसा २ यद्वा कायेन ३, अथवा न करोति नानुजानीते मनसा ४, यद्वा वचसा ५, यद्वा कायेन ६, अथवा न कारयति नानुजानीते मनसा ७, यद्वा वचसा ८, यद्वा कायेन ९।

एकविधं त्रिविधेनेति सप्तमो भङ्गः। अत्र चोत्तरभङ्गास्त्रयः, तथाहि-न करोति मनसा वचसा कायेन १, यद्वा न कारयति त्रिभिरपि करणैः २, यद्वा नानुजानीते त्रिभिरपि करणैः ३।

एकविधं द्विविधेनेत्यष्टमो भङ्गः। अत्र चोत्तरविकल्पा नव, तथाहि-न करोति मनसा वचसा १, यद्वा मनसा कायेन २, यद्वा वचसा कायेन ३, अथवा न कारयति मनसा वचसा ४, यद्वा मनसा कायेन ५, यद्वा वचसा कायेन ६; अथवा नानुजानीते मनसा वचसा ७, यद्वा मनसा कायेन ८, यद्वा वचसा कायेन ९।

एकविधं एकविधेनेति नवमो मूलभङ्गः। अत्राप्युत्तरविकल्पा नव। तथाहि-न करोति मनसा १, यद्वा वचसा २, यद्वा कायेन ३; अथवा न कारयति मनसा ४, यद्वा वचसा ५, यद्वा कायेन ६, नानुजानीते मनसा ७, यद्वा वचसा ८, यद्वा कायेनेति ९।

तदेवं मूलभङ्गा नव उत्तरभङ्गास्तु मीलिताः सर्वसङ्ख्यया एकोनपञ्चाशत्। उक्तं च—

"तिविहंतिविहेण पढमो तिविहं दुविहेण बीयओ होइ। तिविहं एगविहेणं दुविहं तिविहेण ति चउत्थो ॥१॥
दुविहदुविहेण पंचम दुविहेकविहेण छट्ठओ होइ। एक्कविहं तिविहेणं दुविहेण य सत्तमट्ठमओ ॥२॥

एक्कविहेक्कविहेणं नवमो पढमंमि एक्कभङ्गो उ । सेसेसु तिन्नि तिन्नि य तिन्नि य नव नव य तह तिन्नि ॥३॥
नव नव य होंति कमसो एए सव्वेवि इगुणवन्नामं ॥"

३	३	३	२	२	२	१	१	१
३	२	१	३	२	१	३	२	१
१	३	३	३	९	९	३	९	९

[1]स्थापना—[2]इति करणकारणानुमतिमनोवाक्कायाः। ननु च वाक्कायाभ्यां तावत्प्रत्यक्षादिप्रमाणत एव करणकारणानुमतयो दृश्यन्ते, मनसस्तु ताः कथं प्रत्येतव्याः ?, अन्तर्व्यापारत्वेन परैरनुपलक्ष्यमाणत्वात् । उच्यते, निर्व्यापारकायवचनो यदा सावद्ययोगकरणादि मनसा विकल्पयति तदा मुख्यतया कायवचनवन्मनस्यपि करणादीनि संभवन्ति । तथाहि—सावद्ययोगमेनमहं करोमीत्येवं यदा मनसा चिन्तयति तदा करणम् । यदा तु मनसा चिन्तयति करोत्वेष सावद्यं असावपि चेङ्गितज्ञोऽभिप्रायादेव प्रवर्तते तदा कारणम्, यदा पुनः सावद्यव्यापारं विधाय मनसा चिन्तयति—सुष्ठु कृतमिदं मया तदा मानसी अनुमतिरिति । तदेवं सूत्रकृन्निगदितां नवभङ्गीं विवृण्वद्भिरस्माभिः प्रसङ्गादेकोनपञ्चाशद्भङ्ग्यपि प्रदर्शिता ॥२४॥

---

१ स्थापना चात्र-सि. वि. ॥ जे प्रतौ- स्थापनायाम् $\frac{\text{करण कारणानुमति}}{\frac{\text{मनोवाक्कायाः}}{\text{उत्तरभङ्गाः}}}$ इत्यस्ति ।

२ इति करणकारणानुमति मनोवाक्कायाः-सि.वि. नास्ति ।

संप्रति प्रकारान्तरेण सूत्रकार एवैनां [1]प्रतिपादयितुमाह—'मणे' त्यादि, इह च प्राकृतत्वाद्विभक्तिव्यत्ययोऽवगन्तव्यः । ततः [2]करणस्य कारणस्यानुमतेश्च मनोवाक्कायलक्षणैः [3]त्रिभिः करणैः [4]सह योगे—संबन्धे सति एकद्विकत्रिकयोगे—संबन्धे सति एकद्विकत्रिकयोगे—प्रत्येकमेकसंयोगद्विकसंयोगचिन्तया सप्त सप्तका भवन्ति । तथाहि—स्थूलहिंसादिकं न करोति मनसा १, वाचा २, [5]कायेन ३; मनसा वाचा ४, मनसा कायेन ५, वाचा कायेन ६, मनसा वाचा कायेन च ७। एते करणेन सप्त भङ्गाः। एवं कारणेन सप्त; अनुमत्या सप्त। तथा स्थूलहिंसादिकं न करोति न कारयति च मनसा १, वाचा २, कायेन ३, मनसा वाचा ४, मनसा कायेन ५, वाचा कायेन ६, मनसा वाचा कायेन ७। एते करणकारणाभ्यां सप्त भङ्गाः । [6]एवं करणानुमतिभ्यां सप्त कारणानुमतिभ्यामपि सप्त करणकारणानुमतिभिरपि सप्त । एवं सप्त सप्तका मीलिता एकोनपञ्चाशद्भवन्ति ॥२५॥

अत्र सूत्रकारः पूर्वोक्ताया एव नवभङ्ग्या उत्तरभङ्गप्रति[7]पादनपूर्वं सप्तचत्वारिंशदुत्तरशतसङ्ख्यान् भङ्गकानाह—'पढमे' इत्यादि, 'तिन्नि तिये'त्यादिगाथोक्तानां नवभङ्गीप्रतिपादकानामङ्कानामधस्तात्प्रथमे स्थाने एककः स्थाप्यते, ततः क्रमेण त्रयस्त्रिकाः, [8]ततो द्वौ नवकौ, तत एकस्त्रिकः, पुनरपि द्वौ

१ प्रतिपादयन्नाह-सि-संशो. ॥ २ तुला-श्रावकव्रतभङ्गावचूरिः प. २ ॥ ३ त्रिभिः करणैः-सि. वि. नास्ति ॥
४ सहसंयोगे-सह सम्बन्धे- जे. ॥ ५ कायेन च-मु.। कायेन वा-सि.। कयेन-वि.॥
६ एव कारणानुमतिभ्यामपि सप्त, करणानुमतिभ्यां सप्त-मु. ॥ ७ ०पापादनसूत्रं-सि.वि. ॥ ८ तथा-सि. वि. ॥

नवकौ । अयमत्र तात्पर्यार्थः—त्रिविधं त्रिविधेनेत्यत्र प्रथमभङ्गे एक एव विकल्पः; सर्वप्रकारैः प्रत्याख्यातत्वाद्विकल्पान्तराभाव इति भावः । तदन्येषु पुनर्द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु त्रयस्त्रयः, पञ्चमषष्ठयोर्नव नव, सप्तमे त्रयः, अष्टमनवमयोर्नव नवेत्येवं सर्वेऽप्येकोनपञ्चाशत् । एते च त्रिकालविषयत्वात्प्रत्याख्यानस्य कालत्रिकेण—अतीतानागतवर्तमानलक्षणेन गुणिताः सप्तचत्वारिंशं शतं भङ्गानां भवन्ति । त्रिकालविषयता चातीतस्य निन्दया, साम्प्रतिकस्य संवरणेन, अनागतस्य च प्रत्याख्यानेनेति । यदाह—

"अईयं निंदामि पडुप्पन्नं संवरेमि अणागयं च पच्चक्खामि"[पक्खीसूत्रे] त्ति । २६॥

साम्प्रतं पञ्चत्रिंशदुत्तरसप्तशतसङ्ख्यान् श्रावकभेदानाह—'पंचे'त्यादि, इह नवरिशब्द [1]आनन्तर्यार्थः, 'आनन्तर्ये णवरी' [२/१८८] ति प्राकृतलक्षणवचनात् । आनन्तर्यं च पूर्वोक्तापेक्षया । ततोऽयमर्थः-एतदेव सप्तचत्वारिंशं शतं [2]पञ्चस्वप्यणुव्रतेषु प्रत्येकं सप्तचत्वारिंशदधिकस्य [3]भङ्गशतस्य भावात्पञ्चभिरणुव्रतैर्गुणितं सप्त शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि जानीहि—बुध्यस्व श्रावकव्रतग्रहणकाले श्रावकाणां पञ्चाणुव्रतप्रतिपत्तिप्रस्तावे इति ॥२७॥

एते च भङ्गा यस्यार्थतोऽवगताः स एव प्रत्याख्यानप्रवीण इति दर्शयन्नाह—'सीयाल' मित्यादि, विशुद्धिर्नाम जीवस्य विशुद्धिकारित्वात्प्रत्याख्यानमुच्यते तद्विषयं 'सीयाल' ति सप्तचत्वारिंशदुत्तरभङ्गानां-ग्रहणप्रकाररूपाणां शतं यस्योपलब्धम्—अर्थतः सम्यक्परिज्ञातं भवति स खलु-स एव प्रत्याख्याने नियमविशेषप्रतिपत्तिरूपे कुशलो—निष्णातः, शेषा—एतद्व्यतिरिक्ताः पुनरकुशला-अनभिज्ञाः । इह च यद्य-

१ आनन्तर्यार्थः-सि. वि. नास्ति ॥ २ पञ्चस्वणु० सि. वि ॥ ३ भङ्गकस्य-सि. वि. ॥

ष्यनन्तरं पञ्चत्रिंशदुत्तराणि सप्त शतान्यभिहितानि तथापि सप्तचत्वारिंशच्छतमूलत्वात्तेषां मुख्यतया सूत्रे सप्तचत्वारिंशच्छतमेवमुक्तमिति ॥२८॥

अथ [1]षड्भङ्ग्या एवोत्तरभङ्गरूपामेकविंशतिभङ्गीमाह—'दुविहे'त्यादि, इयं च प्राग्व्याख्यातैव। इह च द्विविधत्रिविधादिना पूर्वभणितेन भङ्गकनिकुरम्बेन श्रावकार्हपञ्चाणुव्रतादिव्रतसंहतिभङ्गकदेवकुलिकाः सूचिताः, ताश्च एकैकव्रतं प्रत्यभिहितया षड्भङ्ग्या, तथा तथा एकविंशतिभङ्ग्या, तथा नवभङ्ग्या, तथा एकोनपञ्चाशद्भङ्ग्या च निष्पद्यन्ते।

अथ देवकुलिका इति कः शब्दार्थः?, उच्यते, एकादिव्रतप्रतिबद्धभङ्गककदम्बकप्रतिपादका अङ्काः पट्टादिपुन्यस्ता देवकुलिकाकारत्वेन प्रतिभासनाद्देवकुलिका इति व्यपदिश्यन्ते सर्वास्वपि च देवकुलिकासु प्रत्येकं त्रयस्त्रयो राशयो भवन्ति तद्यथा—आदौ गुण्यराशिः, मध्ये गुणकारकराशिः, अन्ते चागतराशिरिति ॥२९॥

तत्र प्रथमं तावदेतासामेव देवकुलिकानां षड्भङ्ग्यादिक्रमेण विवक्षितव्रतभङ्गकसर्वसङ्ख्यारूपानेवंकारकराशीनाह—'एगे' त्यादिगाथाचतुष्कम्, एकस्मिन् व्रते—स्थुलप्राणातिपातविरमणादिके ये द्विविधत्रिविधादयः षड्भङ्गाः सूत्रे—आवश्यकनिर्युक्त्यादौ श्रावकाणां निर्दिष्टाः-कथितास्त एव षड्भङ्गाः सप्तगुणाः-सप्तभिस्ताडिताः षड्युताश्च क्रमेण सर्वभङ्गकसङ्ख्याराशिं जनयन्तीति शेषः। कथं पुनः षड्भङ्गाः सप्तभिर्गुण्यन्ते? इत्याह—पदवृद्ध्या--मृषावादाद्येकैकव्रतवृद्ध्या, यावन्ति व्रतानि विवक्ष्यन्ते तावतीर्वारा गुण्यन्ते

1 षड्भङ्गानां—सि. वि.॥

इति तात्पर्यम् । स्थुलं च न्यायमाश्रित्यैवमुच्यते यावता एकव्रतभङ्गकराशेरवधौ व्यवस्थापितत्वाद्विवक्षितव्रतेभ्य एकेन हीना वारा गुण्यन्ते इति ।

इयमत्र भावना-- [1]एकव्रते तावत् षड्भङ्गाः, ते च सप्तभिर्गुणिता जाता द्विचत्वारिंशत्, तत्र षट् क्षिप्यन्ते, जाता अष्टचत्वारिंशत्, [2]एषाऽपि सप्तभिर्गुण्यन्ते षट् च क्षिप्यन्ते, जातं ३४२, अत्रापि सप्तभिर्गुणिते षट्सु प्रक्षिप्तेषु जातं २४००, पुनः सप्तभिर्गुणिते षट्प्रक्षेपे च जातं १६८०६ । एवं सप्तगुणनषट्प्रक्षेपक्रमेण तावद्गन्तव्यं यावदेकादश्यां वेलायामागतं [3]१३८४१२८७२०० एते चाष्टचत्वारिंशदादयो द्वादशाप्यागतराशय उपर्यधोभावेन व्यवस्थाप्यमाना अर्द्धदेवकुलिकाकारां भूमिकामास्तृण्वन्तीति खण्डदेवकुलिकेत्युच्यते तदेवमुक्ता षड्भङ्गीप्रतिबद्धा खण्डदेवकुलिका ॥३०॥

एकविंशतिभङ्ग्यादिखण्डदेवकुलिका अप्येवमेव भावनीयाः । केवलमेकविंशतिभङ्गीपक्षे एकविंशतिरवधौ व्यवस्थाप्य वारंवारं द्वाविंशत्या गुण्यन्ते, एकविंशतिस्तु प्रक्षिप्यते यावदेकादशवेलायां द्वादशव्रतभङ्गसर्वसङ्ख्यायामागतं [4]१२८५५००२६३१०४९२१५ ।३१॥

नवभङ्गीपक्षेऽप्येवम्, नवरमवधौ नव, ते च वारंवारं दशभिर्गुण्यन्ते नव च प्रक्षिप्यन्ते यावदेकादश्यां वारायां सर्वव्रतभङ्गसर्वसङ्ख्यायामागतं ९९९९९९९९९९९ ॥३२॥

एकोनपञ्चाशद्भङ्गीपक्षे पुनरवधावेकोनपञ्चाशत्, सा च वारंवारं पञ्चाशता गुण्यते एकोनपञ्चाशच्च

१ तुला-धर्मसंग्रहवृत्तिः भा. १ प. ५६, श्रावकव्रतभङ्गावचूरिः प. ४ ॥ २ एषा सप्त०--सि. वि. ॥
३ एकादश्यां वेलायां तु १३८४१२८७२०० भवति, १३८४१२८७२०२ तु उत्तरगुणाविरतिसंयुक्ता भवन्ति ॥
४ सि. वि. प्रत्योः-१२८५५००२६२१०४९२१५ इति ॥

प्रक्षिप्यन्ते, यावदेकादश्यां वारायां सर्वव्रतभङ्गकसङ्ख्यायामागतम् [1]२४४१४०६२४९९९९९९९९९९९। अक्षरार्थस्तु सुगम एवेति ।

तथा सप्तचत्वारिंशच्छतभङ्गपक्षेऽप्येवम् , नवरं तत्र सप्तचत्वारिंशच्छतमवधौ व्यवस्थाप्यते। वारंवारमष्टचत्वारिंशच्छतेन गुण्यते सप्तचत्वारिंशच्छतं च प्रक्षिप्यते यावदेकादश्यां वेलायामागतम् ११०४४३६०७७१९६११५३३३५६९५७६९५ । उक्तं च–

△"सीयालं भङ्गसयं वयवुड्ढऽडयालसयगुणं काउं । सीयालसएण जुयं सव्वग्गं जाण भङ्गाणं ॥१॥"

तदेवं प्रतिपादिताः पञ्चापि खण्डदेवकुलिकाः । साम्प्रतं संपूर्णदेवकुलिकानामवसरः । तत्र च प्रतिव्रतमेकैकदेवकुलिकासद्भावेन षडभङ्ग्यादिषु प्रत्येकं द्वादश द्वादश देवकुलिकाः प्रादुर्भवन्ति ॥२३॥

तासु च सर्वास्वप्युच्यमानासु महान् ग्रन्थविस्तरो भवतीत्यतो दिग्मात्रप्रदर्शनाय षड्भङ्ग्यामेव द्वादशीं देवकुलिकामभिधित्सुरेककद्विकादिसंयोगसूचकगुणकारकराशिसमानयनोपायमाह—'एगाई' त्यादि, 'एगाई एगुत्तर'त्ति यावत्प्रमाणानां पदानामेककद्विकादिसंयोगाः समानेतुमिष्यन्ते तावत्प्रमाणा एव एकादय एकोत्तरया वृद्ध्या उपर्युपरि क्रमेण स्थाप्यन्ते । इह च द्वादशानां व्रतानां संयोगाः समानेतव्याः, तत एकादयो द्वादश यावन्न्यसनीयाः । स्थापना–

१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१

ततः 'पत्तेयपयंमि'त्ति प्रत्येकं एकैकस्मिन् पदे 'उवरि' त्ति प्रक्षेपाङ्कोपरिस्थिते 'पक्खेवो'त्ति अधस्तनाङ्कस्य प्रक्षेपः कार्यः । अधस्तनाङ्कस्तु तथैव

---

१ जे. सि. वि. प्रतिषु २४१४०२२४९९९९९९९९९९९ इति ।

△ सप्तचत्वारिंशं भङ्गशतं व्रतवृद्धाष्टचत्वारिंशच्छतगुणं कृत्वा। सप्तचत्वारिंशच्छतेन युतं सर्वाग्रं जानीहि भङ्गानाम्॥१॥

ध्रियते, कथं प्रक्षेपः कार्यः ? इत्याह—'**एक्केक्ककहाणि**'त्ति एकैकस्योपरितनाङ्कस्य हानिः—वर्जनं यथा भवति तथा, क्षेपे २ उपरितनोऽङ्कोऽधस्तनाङ्कक्षेपरहितः कार्य इति भावः । '**अवसाणसंखया हुंति संयोग**' त्ति अवसानक्रमेण सर्वाङ्कप्रक्षेपपरिसमाप्तिरूपे ये अङ्काः क्रमशस्तत्सङ्ख्याः—तत्प्रमाणाः संयोगा—एकद्विक्यादिपदमीलनरूपा भवन्ति ।

इयमत्र भावना—प्रथममेकादिद्वादशान्ता ऊर्ध्वायता पङ्क्तिः स्थाप्या । तत एकको द्विके क्षिप्यते, जातास्त्रयः । ते च त्रिषु क्षिप्यन्ते, जाताः षट् । ते च चतुष्के क्षिप्यन्ते, जाता दश । ते च पञ्चके क्षिप्यन्ते, जाता पञ्चदश । ते च षट्के जाता एकविंशतिः । सा च सप्तके जाता अष्टाविंशतिः । सा चाष्टके जाता षट्त्रिंशत्, सा च नवके जाता पञ्चचत्वारिंशत्, सा च दशके जाता पञ्चपञ्चाशत्, सा च एकादशे क्षिप्यते जाता षट्षष्टिः । एषा च नोपरिस्थे द्वादशके क्षिप्यते, किंतु द्वादशकस्तदवस्थ एव ध्रियते । '**एक्केक्ककहाणि**' त्ति वचनात्, इति प्रथमप्रक्षेपः ।

पुनश्चैककस्त्रिके क्षिप्यते, जाताश्चत्वारः । ते च षट्के क्षिप्यन्ते, जाता दश । ते च दशके जाता विंशतिः । सा च पञ्चदशके जाता पञ्चत्रिंशत् । सा चैकविंशतौ जाता षट्पञ्चाशत् । सा चाष्टाविंशतौ जाता चतुरशीतिः । सा च [1]षड्त्रिंशति जातं विंशत्युत्तरं शतम् । तच्च पञ्चचत्वारिंशति जातं पञ्चषष्ट्यधिकं शतम् । तदपि पञ्चपञ्चाशति प्रक्षिप्यते, जातं विंशत्युत्तरं शतद्वयम् । एतच्चोपरिस्थितषट्षष्टौ [2]न क्षिप्यते । '**एक्केककहाणि**' त्ति वचनात्, इति द्वितीयः क्षेपः ।

१ षड्विंशतौ–मु. ॥ २ निक्षिप्यते–सि. वि० ॥

एवं च वारंवारं चरममङ्कं वर्जयित्वोपर्यु परि तावदङ्काः प्रक्षेप्तव्या यावदेकादशः क्षेपः । एककस्त्वन्त्यत्वान्न कुत्रापि क्षिप्यते इति द्वादशस्य क्षेपस्यासंभवः । स्थापना—

तदेवं एककसंयोगा द्वादश, द्विकसंयोगाः षट्षष्टिः, त्रिकसंयोगा द्वे शते विंशत्युत्तरे, चतुष्कसंयोगाश्चत्वारिशतानि पञ्चनवत्यधिकानि, पञ्चकसंयोगाः सप्त शतानि द्विनवत्यधिकानि, षट्कसंयोगा नव शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि, सप्तकसंयोगाः सप्त शतानि द्विनवत्यधिकानि, अष्टकसंयोगाश्चत्वारि शतानि पञ्चनवत्युत्तराणि, नवकसंयोगा द्वे शते विंशत्युत्तरे, दशकसंयोगाः षट्षष्टिः, एकादशसंयोगाद्वादश, द्वादशकसंयोगः पुनरेक एवेति ॥३४॥

१२											
११	६६										
१०	५५	२२०									
९	४५	१६५	४९५								
८	३६	१२०	३३०	७९२							
७	२८	८४	२१०	४६२	९२४						
६	२१	५६	१२६	२५२	४६२	७९२					
५	१५	३५	७०	१६२	२१०	३३०	४९५				
४	१०	२०	३५	५६	८४	१२०	१२५	२२०			
३	६	१०	१५	२१	२८	३६	४५	५५	६६		
२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१

अथवा प्रकारान्तरेण संयोगसङ्ख्यापरिज्ञानोपायमाह—'अहवे' त्यादि, अथवा पदानि—विवक्षितव्रतलक्षणानि पट्टिकादौ स्थापयित्वा 'अक्षान्[1] गृहीत्वा क्रमेण चारणां कुर्यात् । तत एकद्विकादिसंयोगविषये भङ्गाः समुत्पद्यन्ते । तेषां सङ्ख्या कर्तव्या । इह च यद्यपि द्वादशी देवकुलिका वक्तुमुपक्रान्ता तथापि लाघवार्थं पञ्चाणुव्रतान्येवाश्रित्य भावनाऽभिधीयते । तत्र पञ्चानां पदानामेकसंयोगे एकैकचारणया पञ्च भङ्गाः । द्विकसंयोगे दश । ते चैवं—प्रथमद्वितीय-प्रथमतृतीय-प्रथमचतुर्थ-प्रथमपञ्चमचारणया चत्वारः;

१ अक्षतान् -सि. वि. ॥

द्वितीयतृतीय-द्वितीयचतुर्थ-द्वितीयपञ्चमचारणया त्रयः; तृतीयचतुर्थ-तृतीयपञ्चमचारणया द्वौ; चतुर्थपञ्चमचारणया त्वेकः सर्वे दश ।

तथा त्रिकयोगेऽपि दश । ते चैवं—प्रथमद्वितीयतृतीय–प्रथमद्वितीयचतुर्थ–प्रथमद्वितीयपञ्चम–प्रथमतृतीयचतुर्थ–प्रथमतृतीय·पञ्चम–प्रथमचतुर्थपञ्चमचारणया पट् द्वितीयतृतीयचतुर्थ–द्वितीयतृतीयपञ्चम-द्वितीयचतुर्थपञ्चमचारणया त्रयः । तृतीयचतुर्थपञ्चमचारणया त्वेकः । सर्वे दश ।

चतुःसंयोगे पञ्च, ते चैवं–प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थचारणया एकः, प्रथमद्वितीयतृतीयपञ्चमचारणया द्वितीयः, प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमचारणया तृतीयः, प्रथमतृतीयचतुर्थपञ्चमचारणया चतुर्थः, द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमचारणया तु पञ्चमः । पञ्चकयोगे पुनश्चारणाया असंभवादेक एव भङ्ग इति ॥३५॥

एवं सर्वत्रापि चारणा करणीया । अथ सूत्रकारः साक्षादेव द्वादश्या देवकुलिकायाः क्रमेण-गुणकारकराशीनाह–'बारसे'त्यादि गाथाद्वयम्, द्वादश पट्पष्टिर्विंशत्यधिके द्वे शते, 'पंच नव चउरो'त्ति पञ्च नव चत्वारश्च, गणितव्यवस्थावशतो व्युत्क्रमेण स्थाप्यन्ते, ततो भवन्ति पञ्चनवत्युत्तराणि चत्वारि शतानि, एवमग्रेऽपि । 'दो नव सत्त य'त्ति द्विनवत्यधिकानि सप्त शतानि । 'चउ दोन्नि नव य' त्ति चतुर्विंशत्युत्तराणि नव शतानि । 'दो नव य 'सत्तेव' त्ति द्विनवत्यधिकानि सप्त शतानि । पण नव चउरो' त्ति पञ्चनवत्युत्तराणि चत्वारि शतानि । विंशत्युत्तरे द्वे शते, पट्षष्टिर्द्वादश एकश्चेत्येते राशयः सर्वेपामपि श्रावकभङ्गानां पट्पट्त्रिंशदादिरूपाणां गुण्यराशीनां यथाक्रमं गुणकारा भवन्ति । सर्वग्रहणं

प्र. आ.
३९५

१ सत्तेवयति–सि. वि. ॥

चेदं ज्ञापयति–न षड्भङ्ग्यामेव केवलायामेते गुणकाराः, किंत्वेकविंशतिभङ्ग्यादिष्वपि, गुणकारकराशीनां सर्वत्राप्येकस्वरूपत्वात् ॥३६॥ ३७॥

इदानीं द्वादश्या एव देवकुलिकायाः क्रमेण गुणराशीनाह–'छच्चेव ये'त्यादिगाथाचतुष्कम्, षडेव षट्त्रिंशत् [1]'सोलस दुगं चेव' त्ति द्वे शते षोडशोत्तरे २१६, 'छन्नव दुगेक्कं' ति एकसहस्रं षण्णवत्यधिके च द्वे शते १२९६, 'छ सत्त सत्त सत्त य' त्ति सप्त सहस्राः सप्त शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ७७७६, 'छपन्नछछट्ठिछुचउ' त्ति षट्चत्वारिंशत्सहस्राणि षट् शतानि षट्पञ्चाशदधिकानि ४६६५६, 'छुट्ठे' त्ति आद्यषट्कापेक्षया षष्ठे स्थाने इत्यर्थः, 'छत्तीसा नवनउई सत्तावीसा य' त्ति द्वे लक्षे एकोनाशीतिः सहस्रा नव शतानि षट्त्रिंशच्चेति २७९९३६, 'सोलस छन्नउई सत्त य सोलस भंग' त्ति सोलत्ति–षोडश लक्षाः एकोनाशीतिः सहस्राणि षट् शतानि षोडश भङ्गानष्टमस्थाने विजानीहि अवबुध्यस्व [2]१६७९६१६ । 'छन्नउई छावत्तरि सत्त दुसुन्नेके' त्ति एका कोटिः सप्तसप्ततिः सहस्राः षट् शतानि [3]षण्णवतिश्च १००७७६९६ 'भवन्ति नवमे स्थाने 'छाहत्तरि इगसट्ठी छायाला सुन्न छच्चेव' त्ति षट् कोट्यश्चतस्रो लक्षाः षट्षष्टिः सहस्राः शतमेकं षट्सप्ततिश्चेति ६०४६६१७६, 'छप्पन्न सुन्न सत्त य नव सत्तावीस तह य छत्तीस'त्ति षट्त्रिंशत्कोटयः सप्तविंशतिर्लक्षाः सप्तनवतिः सहस्राः षट्पञ्चाशच्चेति, ३६२७९७०५६ । 'छत्तीसा तेवीसा [4]अडूहत्तरी छहत्तरीगवीस' त्ति

[1] सोळ दुगं–मु. ॥ [2] सि. व. प्रत्योः १६६७९६१–इति ॥ [3] षण्णवतिश्च भवन्ति नवमे स्थाने १००७७६९६–मु. ॥ [4] अट्ठह० मु. ॥

प्र. आ. ३९५

द्वे कोटीशते सप्तदश कोटयः सप्तषष्टिर्लक्षाः द्व्यशीतिः सहस्राणि त्रीणि शतानि षट्त्रिंशदधिकानि २१७६-७८२३३६ ।

एतेषां च राशीनामानयनोपायो यथा—आद्याः षट् षड्भिर्गुण्यन्ते जाताः षट्त्रिंशत्, सापि षड्भिर्गुण्यते जाते द्वे शते षोडशोत्तरे, एवं वारंवारं तावत् षड्भिर्गुणनं विधेयं यावद् द्वादशापि गुण्यराशयः संपूर्णाः संपद्यन्ते इति । [1]एत एव षड् देवकुलिकाः षट्त्रिंशदादयो द्वादश गुण्यराशयः क्रमशो द्वादशषट्षष्टिप्रभृतिभिर्द्वादशभिर्गुणकारकराशिभिर्गुणिता आगतराशयो भवन्ति । [2]उक्तं च—

पढमवए छब्भंगा छहि छहिं गुणिया य बारसवि ठाणा । संजोगेहि य गुणिया सावयवयभंगया हुंति ॥१॥''

इह च सूत्रकारेणागतराशयो विस्तरभयान्नोक्ताः, वयं तु विनेयानुग्रहाय गाथाभिरुपदर्शयामः, [3]यथा-

बाहत्तरि १ छाहत्तरि तेवीसा २ सुन्न दु पण सीयाला ३ वीसा पनरस चउसट्ठि ४ दु नव पणसीइ पनर छ य ५॥१॥
चोयालसयं दस एकतीस चउ ६ बार ति नव सयरी य । इग दु दु ७ वीसा नव नव चालीसा एग तेयासी ८॥२॥
वीस इगतीस नव सयरि एग बावीस ९ सोल छस्सत्त सुन्न नव नव तिन्नि य १० दसमंमि ठाणंमि ॥३॥
बाहत्तरि छायाला छप्पन तिप्पन्न ति चउ ११ छत्तीसा । तेवीसा अडहत्तरि छहत्तरि एकवीसा य १२ ॥४॥

गाथाचतुष्टयस्याप्यर्थः प्राग्वदवसेयः । तदेवमुक्ता गुण्यगुणकारकागतराशित्रयप्रदर्शनेन द्वादशी देवकुलिका । [4]एतदनुसारेणाप्रोक्ता अन्या अप्येकादश देवकुलिकाः स्वयमभ्युह्याः । यथा च षड्भङ्ग्यां

प्र. आ. ३१६

१ ते तत एव-वि. । तत एव. सि. ॥ २ उक्तं च-सि. वि. नास्ति ॥ ३ यथा-मु. नास्ति ॥
४ एवदनुसारेण प्राक्तन्यो अप्ये०-सि. वि. ॥

द्वादश देवकुलिकाः एवमेकविंशतिनवैकोनपञ्चाशत्सप्तचत्वारिंशशतभङ्गपक्षेऽप्यनया दिशा प्रत्येकं द्वादश द्वादश देवकुलिकाः समवसेयाः। सर्वसंख्यया च षष्टिर्देवकुलिका भवन्तीति। सर्वासामप्यासां देवकुलिकानां स्थापना बहुश्रुतसूरिसूत्रितेभ्यः पटेभ्यः प्रतिपत्तव्याः, भावार्थस्तु पुरस्ताद्व्यक्तीकरिष्यते ॥३८–४१॥

अथ 'दुविहं तिविहाइणऽइहा होंति' त्ति यत्पूर्वमुक्तं तद्विवृण्वन्नाह–'दुविहे' त्यादिगाथाद्वयं, एतच्च प्रागेव व्याख्यातम् ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

[1]इदानीमष्टोत्तराष्टशताधिकषोडशसहस्रसंख्यान् श्रावकभेदानभिधित्सुः पञ्चाणुव्रतदेवकुलिकाप्रतिपादनाय प्रथममेकादिसंयोगपरिमाणप्रदर्शनपरान् गुणकारकराशीनाह–'पंचण्हमित्यादि, पञ्चानामणुव्रतानामेकद्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकैश्चिन्त्यमानानां यथासंख्येन पञ्च दश दश पञ्चैकश्चेत्येवं संयोगा ज्ञातव्याः, अयमर्थः–पञ्चानामणुव्रतानामेककसंयोगाः पञ्च, द्विकसंयोगा दश, त्रिकसंयोगा अपि दश; चतुष्कसंयोगाः पञ्च, पञ्चकसंयोगस्त्वेक एवेति। एते च संयोगा 'एगाई एगुत्तरे'त्यादिना करणेनाक्षसंचारणया वा समानेतव्याः। भावना तु प्रागेव [2]प्रदर्शिता ॥ ४४ ॥

अथ पञ्चमदेवकुलिकाया [3]गुण्यराशीनाह–'छच्चेवे'त्यादि; आदौ षडेव, ततः षड्त्रिंशत् , 'सोलदुगं चेव' त्ति द्वे शते षोडशोत्तरे, 'नव दुग एक्क' मिति द्वादश शतानि षण्णवत्यधिकानि, 'छ सत्त सत्त सत्त य' त्ति सप्तसहस्राः सप्त शतानि षट्सप्तत्युत्तराणि, पञ्चानामपि व्रतानाममेतद्गुणनस्य–ताडनस्य पदं–स्थानम् , गुण्यराशयः इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

१ इदानीमष्टोत्तरशता० मु. ॥ २ दर्शिता–सि. वि. ॥ ३ गुणरा० सि. वि. ॥

अथ पञ्चमदेवकुलिकाया एवागतराशीनाह— 'वये'त्यादिगाथात्रयम् , व्रतसंबन्धिनामेकक[1]संयोगानां पञ्चानां त्रिंशद्भङ्गा भवन्ति। द्विकसंयोगानां दशानामपि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि भवन्ति। त्रिकसंयोगानां दशानामेकविंशतिर्भङ्गशतानि षष्ट्यधिकानि—षष्ट्यधिकशतोत्तरे द्वे सहस्रे इत्यर्थः। [2]चतुःसंयोगपञ्चके पञ्चानां चतुष्कसंयोगानां चतुःषष्टिः शतान्यशीत्युत्तराणि भवन्ति, पञ्चके—पञ्चकसंयोगे पुनः सप्तसप्ततिः शतानि षट्सप्तत्युत्तराणि भङ्गानां भवन्ति।

इयमत्र भावना—कश्चित्स्थूलप्राणातिपातविरमणादीनि पञ्चाणुव्रतानि प्रतिपद्यते। [3]तत्र किल पञ्चैकसंयोगाः, एकैकस्मिंश्च एककसंयोगे द्विविधत्रिविधादयः षट् षड्भङ्गा भवन्ति। ततः षट् पञ्चभिर्गुण्यन्ते जातास्त्रिंशत्। एतावन्तः पञ्चानां व्रतानामेककसंयोगे भङ्गाः, तथा एकैकस्मिन् द्विकसंयोगे षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्भङ्गाः। तथाहि—प्राणातिपातव्रतसंबन्धी द्विविधत्रिविधलक्षणः प्रथमो भङ्गकोऽवस्थितो मृषावादसत्कान् षड्भङ्गान लभते। एवं प्राणातिपातव्रतसंबन्धी द्विविधद्विविधलक्षणो द्वितीयोऽपि भङ्गकोऽवस्थितो मृषावादसत्कान् षड्भङ्गान् लभते। एवं प्राणातिपातव्रतसंबन्धी द्विविधैकविधलक्षणस्तृतीयोऽपि भङ्गकः एकविधत्रिविधलक्षणश्चतुर्थोऽपि एकविधद्विविधलक्षणः पञ्चमोऽपि एकविधैकविधलक्षणः षष्ठोऽपि भङ्गकोऽवस्थितः, एवं मृषावादसत्कान् [4]षट् षड्भङ्गान् प्रत्येकं लभते। ततश्च षट् षड्भिर्गुणिताः षट्त्रिंशत्। दश चात्र द्विकसंयोगा भवन्तीत्यतः षट्त्रिंशद्दशभिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि। एतावन्तः पञ्चानां व्रतानां द्विकसंयोगे भङ्गाः।

१ ०संयोगानां त्रिंशद्भङ्गानां–सि. वि.॥ २ चतुःपञ्चसंयोग०सि. वि.॥ ३ तथा–सि. वि.॥ ४ षड्भङ्गान्–सि. वि.॥

भङ्गाभिलापश्चैवं—स्थूलप्राणातिपातं प्रत्याख्याति द्विविधं त्रिविधेन स्थूलमृषावादमपि द्विविधं त्रिविधेन १, स्थूलप्राणातिपातं द्विविधं त्रिविधेन, स्थूलमृषावादं तु द्विविधं द्विविधेन २, स्थूलप्राणातिपातं द्विविधं त्रिविधेन; स्थूलमृषावादं तु द्विविधमेकविधेन ३, स्थूलप्राणातिपातं द्विविधं त्रिविधेन, स्थूलमृषावादं त्वेकविधं त्रिविधेन ४, स्थूलप्राणातिपातं द्विविधं त्रिविधेन, स्थूलमृषावादं त्वेकविधं द्विविधेन ५, स्थूलप्राणातिपातं द्विविधं त्रिविधेन स्थूलमृषावादं पुनरेकविधमेकविधेन ६ ।

एवं स्थूलादत्तादानमैथुनपरिग्रहेष्वपि प्रत्येकं षट् षड्भङ्गाः सर्वेऽपि मिलिताश्चतुर्विंशतिः । एते च द्विविधत्रिविधलक्षणं प्राणातिपातप्रथमभङ्गममुञ्चता लब्धाः । एवं द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठेष्वपि प्राणातिपातभङ्गेषु चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिर्भङ्गा भवन्ति । एते सर्वेऽपि चतुश्चत्वारिंशदुत्तरं शतम् ।

तथा स्थूलमृषावादं प्रत्याख्याति द्विविधं त्रिविधेन, स्थूलादत्तादानमपि द्विविधं त्रिविधेन; स्थूलमृषावादं द्विविधं त्रिविधेन, स्थूलादत्तादानं तु द्विविधं द्विविधेन । एवं पूर्वक्रमेण षड्भङ्गा ज्ञेयाः । एवं मैथुनपरिग्रहेष्वपि प्रत्येकं षट् षड्भङ्गाः । सर्वेऽप्यष्टादश । एते च मृषावादप्रथमभङ्गममुञ्चता लब्धाः । एवं द्वितीयादिष्वप्यष्टादश २ भवन्ति । मिलिताश्चाष्टोत्तरं शतम् ।

तथा स्थूलादत्तादानं स्थूलमैथुनं च प्रत्याख्याति द्विविधं त्रिविधेन, स्थूलादत्तादानं द्विविधं त्रिविधेन, [1]स्थूलमैथुनं तु द्विविधं द्विविधेन । एवं पूर्वक्रमेण षड् भङ्गा ज्ञेयाः । एवं मैथुनपरिग्रहेष्वपि षड् भङ्गाः, सर्वेऽपि द्वादश । एते च स्थूलादत्तादानप्रथमभङ्गकममुञ्चता लब्धाः । एवं द्वितीयादिष्वपि द्वादश द्वादश भवन्ति । मिलिताश्च द्वासप्ततिः ।

१ स्थूलमैथुनं तु द्विविधं द्विविधेन—सि. वि. नास्ति ॥

तथास्थूलमैथुनं स्थूलपरिग्रहं च प्रत्याख्याति द्विविधं त्रिविधेन, स्थूलमैथुनं द्विविधं त्रिविधेन, स्थूलपरिग्रहं तु द्विविधं द्विविधेन एवं पूर्वक्रमेण षड् भङ्गाः, एते च स्थूलमैथुनप्रथमभङ्गकममुञ्चता लब्धाः। एवं द्वितीयादिष्वपि प्रत्येकं षट् षड्भवन्ति, मिलिताश्च षट्त्रिंशत्। एते च मूलादारभ्य सर्वेऽपि चतुश्चत्वारिंशं शतम्, अष्टोत्तरं शतम्, द्वासप्ततिः, षट्त्रिंशच्च मिलितास्त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि भवन्तीति। एवं त्रिकसंयोगादिष्वपि भङ्गाभिलापः कार्यः। विस्तरभयाच्च नेह प्रदर्श्यते।

तथा एकैकस्मिंस्त्रिकसंयोगे षोडशोत्तरं शतद्वयं प्रत्येकं [1]भङ्गानां भवन्ति। तथाहि—मृषावादसंबन्धी प्रथमो भङ्गोऽवस्थितोऽदत्तादानसत्कान्षड्भङ्गान् लभते। एवं द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठा अपि षड्भङ्गान् लभन्ते। ततोऽत्रापि षट्त्रिंशद् भङ्गाः। ते च प्राणातिपातप्रथमभङ्गकेन लब्धाः। एवं द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठैरपि प्राणातिपातसंबन्धिभिर्भङ्गैः षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशल्लब्धाः। षट्त्रिंशतश्च षड्भिर्गुणने द्वे शते षोडशोत्तरे। अत्र च त्रिकसंयोगा दश भवन्ति। ततो द्वे शते षोडशोत्तरे [2]दशभिर्गुण्येते जातान्येकविंशतिः शतानि षष्ट्यधिकानि। एतावन्तः पञ्चानां व्रतानां त्रिकसंयोगे भङ्गाः।

तथा एकैकस्मिन् चतुष्कसंयोगे द्वादश शतानि षण्णवत्यधिकानि प्रत्येकं भङ्गानां भवन्ति। तथाहि—अदत्तादानसंबन्धी प्रथमो भङ्गोऽवस्थितो मैथुनव्रतसत्कान् षड्भङ्गान् लभते। एवं द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठा अपि षड् भङ्गान् लभन्ते। जाताः षट्त्रिंशद् भङ्गाः। ते च मृषावादप्रथमभङ्गकेन लब्धाः। एवं द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठैरपि मृषावादभङ्गैः षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशल्लब्धाः, जाते द्वे शते षोडशोत्तरे। एते च प्राणातिपातभङ्गकैः षड्भिरपि प्रत्येकं प्राप्यन्ते। जातानि १२९६। चतुष्कसंयोगाश्चात्र पञ्च,

१ भङ्गानां–सि. वि. नास्ति ॥ २ दशभिर्गुण्यते–खि. वि. ॥

ततो द्वादशशतानि षण्णवत्यधिकानि पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जातानि चतुःषष्टिशतान्यशीत्यधिकानि, एतावन्तः पञ्चानां व्रतानां चतुष्कसंयोगे भङ्गाः ।

तथा पञ्चकसंयोगे मैथुनव्रतसंबन्धिनः प्रथमाद्याः षडपि भङ्गाः प्रत्येकं परिग्रहसत्कान् षट् षड्भङ्गान् लभन्ते । जातम् ३६ । सा च षट्त्रिंशत् अदत्तादानभङ्गैः षड्भिरपि प्रत्येकं प्राप्यते, जातम् २१६ । एते च द्वे शते षोडशोत्तरे मृषावादभङ्गैः षड्भिरपि प्रत्येकं प्राप्यते, जातम् १२९६ । एतानि च द्वादश शतानि षण्णवत्यधिकानि प्राणातिपातव्रतसंबन्धिभिः षड्भिरपि भङ्गैः प्रत्येकं प्राप्यन्ते, जातानि ७७७६ । एक एव चात्र पञ्चकसंयोगः, ततः सप्तसप्ततिशतानि षट्सप्तत्युत्तराणि एकेन गुण्यन्ते, 'एकेन च गुणितं तदेव भवती'ति गुण्यराशेर्वृद्ध्यभावात्सप्तसप्ततिशतानि षट्सप्तत्यधिकानीत्यवस्थितैव सङ्ख्या-जाता । एतावन्तः पञ्चानां व्रतानां पञ्चकसंयोगे भङ्गाः ।

६	५	३०
३६	१०	३६०
२१६	१०	२१६०
१२९६	५	६४८०
७७७६	१	७७७६

प्रा	मृ	अ	मे	प
२३	२३	२३	२३	२३
२२	२२	२२	२२	२२
२१	२१	२१	२१	२१
१३	१३	१३	१३	१३
१२	१२	१२	१२	१२
११	११	११	११	११

व्रतयन्त्रकस्थापना चेयम् , तदेवं गुणकारकगुण्यागतराशित्रिकेण निष्पन्ना परिपूर्णा पञ्चमी देवकुलिका। एतदनुसारेण सर्वासामपि देवकुलिकानां 'निष्पत्ति-र्निपुणेन स्वयमवसेया । '**उत्तरगुणअविरयमेलियाणाजाणाहि सव्वग्गं**'ति प्रतिपन्नोत्तरगुणाविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणभेदद्वयीमिलितानामनन्तरोक्तानां त्रिंशत्प्रभृतीनां भङ्गानां सर्वाग्रं-सर्वसङ्ख्यां जानीहि ॥४६॥४७॥४८॥

एतदेवाह-'**सोलसे**'त्यादि, षोडश सहस्रा अष्टौ शतान्यष्टाधिकानि भवन्ति १६८०८। एषः-[3]पूर्वोक्तो व्रतानां पञ्चसङ्ख्यानां पिंडार्थः-सर्वसमुदायसङ्ख्यास्वरूपः।

१ निष्पत्तिर्निपुणत्वेन-मु.। विशेषार्थं द्रष्टव्यः धर्मसङ्ग्रहभाषान्तरग्रन्थः पृ. १६७ तः ॥

दर्शनादयस्तु प्रतिमा–अभिग्रहविशेषाः, न पुनर्व्रतानि, तोभ्यो व्रतानां विभिन्नस्वरूपत्वादिति भावः । एते च श्रावकाणां भेदाः पञ्चैवाणुव्रतान्याश्रित्योक्ताः, द्वादशव्रतविवक्षया तु भूयस्तरा अपि भेदा भवन्ति ॥४१॥

तथा चाह—

तेरसकोडिसयाइं चुलसीइजुयाइं बारस य लक्खा ।
सत्तासीई सहस्सा दो य सया तह [1]दुरग्गाय ॥५०॥ [श्रावकव्रतभङ्ग प्र. गा. ४०]

'तेरसे'त्यादि, त्रयोदश कोटिशतानि चतुरशीतिकोटयो द्वादश लक्षाः सप्ताशीतिसहस्राणि द्वे शते द्व्युत्तरे १३८४१२८७२०२, एतच्च षड्भङ्गीप्रतिबद्धाया द्वादश्या देवकुलिकायाः समागतसर्वराशिसंपिण्डनेन उत्तरगुणाविरतरूपभेदद्वयप्रक्षेपेण च भवतीति । एते च सर्वेऽपि श्रावकाणामेव व्रतभङ्गा इह प्रतिपादिताः ।

साधूनां पुनः सप्तविंशतिरेव भङ्गा भवन्ति । तथाहि—यन्न करोति तन्मनसा वचसा कायेन । एवं न कारयत्यपि मनसा वाचा कायेन । एवं न समनुजानीते मनसा वचसा कायेनेत्येवं वर्तमाने काले नव भङ्गाः । एवमतीतेऽपि नव । भविष्यत्यपि नवेत्येवं सप्तविंशतिः । आह च भाष्यकृत्—

□ "करणतिगेणेक्केक्कं कालतिए तिघणसंखियमिसीणं । सव्वंति जओ गहियं सीयालसयं पुण गिहीणं ॥१॥

[1] दुरुत्ताय–मु. ॥ □ करणत्रिकेणैकैकं (योगं) कालत्रिकेण त्रिघनसङ्ख्यमृषीणाम् । सर्वमिति यतो गृहीतं सप्तचत्वारिंशं शतं पुनर्गृहिणाम् ॥ (३×३×३=२७)

अत्र न करोमि न कारयामीत्यादिकमेकैकं योगं मनःप्रभृतिना करणत्रयेण सह कालत्रिके चारयेत्; ततश्च त्रयाणां यो घनः–सप्तविंशतिलक्षणस्ततसङ्ख्यैव–भङ्गकसङ्ख्यामाश्रित्य तत्सङ्ख्याप्रमाणमृषीणां–साधूनामवबुध्येतेति शेषः। कस्मादित्याह—यतः सर्वसावद्ययोगं प्रत्याख्यामीति साधुभिः प्रत्याख्यानं गृहीतम्, ततस्तत्प्रत्याख्यानभङ्गकानामेतत्सङ्ख्याप्रमाणता। असर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यायिनां पुनर्गृहिणां प्रत्याख्यानस्य सप्तचत्वारिंशदुत्तरं भङ्गकशतं विज्ञेयमिति ॥५०॥२३६॥

अधुना 'अट्ठारस 'पावठाणगाइ'[1]' ति सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

सव्वं [2]पाणाइवायं १ अलिय २ मदत्तं ३ च मेहुणं सव्वं ४।
सव्वं परिग्गहं ५ तह राईभत्तं ६ च [3]वोसिरिमो ॥५१॥
सव्वं कोहं ७ माणं ८ मायं ९ लोहं १० च राग ११ दोसे १२ य।
कलहं १३ अब्भक्खाणं १४ पेसुन्नं १५ परपरीवायं १६ ॥५२॥
मायामोसं १७ मिच्छादंसणसल्लं १८ तहेव [4]वोसिरिमो।
अंतिमऊसासंमि देहंपि जिणाइपच्चक्खं ॥५३॥

प्र. आ. ३९८

सर्व–सप्रभेदं प्राणातिपातम् १, तथा सर्वमलीकं–मृषावादम् २, तथा सर्वमदत्तम्–अदत्तादानम् ३, तथा सर्वं मैथुनम् ४, तथा सर्वं परिग्रहम्, ५, तथा सर्वं रात्रिभक्तं च–रजनिभोजनम् ६, व्युत्सृजामः–

१ पावठाणाइंति–सि. ॥ २ पाणइवायं–मु. ॥ ३ वोसरिमो–मु. ॥ ४ वोसरिमो–मु. । वोसिरामो-सि. ॥

परिहरामः । तथा सर्वं क्रोधं ७ मानं ८ मायां ९ लोभं च १० रागद्वेषौ च ११-१२ तथा कलहम् १३ अभ्याख्यानं १४ पैशून्यं १५ परपरिवादं १६ मायामृषा १७ मिथ्यात्वदर्शनशल्यं च १८ तथैव सप्रभेदं व्युत्सृजामः । एतान्यष्टादश पापहेतूनि स्थानकानि पापस्थानकानि । न केवलमेतान्येव, किंतु अन्तिमे उच्छ्वासे, परलोकगमनसमये इत्यर्थः, देहमपि निजं शरीरमिति व्युत्सृजामः, तत्रापि ममत्व-मोचनात् जिनादिप्रत्यक्षं--तीर्थकरसिद्धादीनां समक्षमिति ।

तत्र प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहरात्रिभक्तक्रोधमानमायालोभाः प्रतीताः । तथा रागः–अनभिव्यक्तमायालोभलक्षणस्वभावभेदमभिष्वङ्गमात्रम्, 'दोसो' त्ति द्वेषणं द्वेषः, दूषणं वा दोषः; स चानभिव्यक्तक्रोधमानलक्षणभेदस्वभावोऽप्रीतिमात्रम् । कलहो–राटी, अभ्याख्यानं–प्रकटमसद्दोपारोपणम्, पैशून्यं–पिशुनकर्म प्रच्छन्नं सदसद्दोषाविर्भावनम् । तथा परेषां परिवादः परपरिवादो--विकत्थनमित्यर्थः, तथा माया च–निकृतिः, मृषा च–मृषावादः, मायया वा सह मृषा मायामृषा प्राकृतत्वान्मायामोसं मायामुसं वा दोषद्वययोगम्[1] इदं च [2]मानमृषादिदोपसंयोगोपलक्षणम्, वेशान्तरकरणेन लोकप्रतारणमित्यन्ये । तथा मिथ्यादर्शनं--विपर्यस्ता दृष्टिः तदेव तोमरादिशल्यमिव शल्यं दुःखहेतुत्वान्मिथ्यादर्शनशल्यमिति ।

स्थानाङ्गे च रात्रिभोजनं पापस्थानमध्ये न पठितं किंतु परपरिवादाग्रतोऽरतिरतिः । तस्य चायमर्थः—अरतिश्च–तन्मोहनीयोदयजश्चित्तविकार उद्वेगलक्षणः, रतिश्च–तथाविधानन्दरूपा, अरतिरति-

१ ०गः- खि. वि. ॥ २ मानमृषादिसंयोगदोषोपलक्षणं–सि. वि. ॥

रित्येकमेव विवक्षितम् । यतः क्वचन विषये या रतिस्तामेव विषयान्तरापेक्षयाऽरतिं व्यपदिशन्ति । एव-
मरतिमेव रतिमित्यौपचारिकमेकत्वमनयोरस्तीति । तथा रागपदस्थाने पिज्जपदं च पठन्ति, तत्र च प्रिय-
स्य भावः कर्म वा प्रेम, अर्थस्तु रागपदवाच्य एवेति ॥५१॥ ५२॥ ५३॥ २३७॥

इदानीं [1]"मुणिगुण सत्तावीसं' त्यष्टत्रिंशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

छव्वय छकायरक्खा पंचिंदियलोहनिग्गहो खंती ।
भावविसुद्धी पडिलेहणाइकरणे विसुद्धी य ॥५४॥
संजमजोए जुत्तय अकुसलमणवयणकायसंरोहो ।
सीयाइपीडसहणं [2]मरणंतुवसग्गसहणं च ॥५५॥

षट् व्रतानि—प्राणातिपातविरमणादीनि रजनिभोजनपर्यवसानानि, षण्णां कायानां—पृथिव्यादि-त्रसान्तानां रक्षा—संघट्टपरितापादिपरिहारेण सम्यगनुपालनम्, पञ्चानामिन्द्रियाणां—श्रोत्रादीनां निग्रहो—नियन्त्रणम्, इष्टेतरेषु शब्दादिषु रागद्वेषाकरणमित्यर्थः, लोभस्य च निग्रहो—विरागता, क्षान्तिः—क्रोध-निग्रहः, भावविशुद्धिः—अकलुषान्तरात्मता प्रतिलेखनादिकरणे च विशुद्धिः, शुद्धेनाध्यवसायेन सम्यगुप-युक्तया प्रत्युपेक्षणादिक्रियाकरणमित्यर्थः । तथा संयमोपष्टम्भको योऽसौ योगो—व्यापारस्तत्र युक्तता—तत्परता, अकुशलानाम्—अप्रशस्तानां [3]मनोवचनकायानां संरोधो—निषेधः, प्रशस्तानामेव तेषां करणमिति तात्पर्यम् । शीतवातातपादिजनितायाः पीडायाः—वेदनायाः सहनं—सम्यग्मर्षणम्, 'मरणान्तोपसर्गसहनं ॥५२८॥

१ तुला-आवश्यक. हारिभद्रीवृत्तिः प. ६५० ॥ २ मरणउ (तु) वसग्ग० मु. ॥ ३ मनोवचःकायानां.-मु. ॥

च[1] मरणमन्ते येषां ते मरणान्ता—मरणहेतव इत्यर्थ, ते च ते उपसर्गाश्च मरणान्तोपसर्गास्तेषां सहनं—कल्याणमित्रबुद्धया सम्यक्तितिक्षणम्। एते सप्तविंशतिर्मुनीनाम्—अनगाराणां गुणाः—चारित्रविशेषा भवन्ति।

अन्यत्र पुनरित्थमनगारगुणा उक्ताः—महाव्रतानि पञ्च ५, इन्द्रियनिग्रहाश्च पञ्च १०, क्रोधादिविवेकाश्चत्वारः १४, सत्यानि त्रीणि, तत्र--भावसत्यं—शुद्धान्तरात्मता, करणसत्यं-यथोक्तप्रतिलेखनादिक्रियाकरणम्, योगसत्यं—मनःप्रभृतीनामवितथत्वम् १७, क्षमा—अनभिव्यक्तक्रोधमानस्वरूपस्य द्वेषसंज्ञितस्याप्रीतिमात्रस्याभावः। अथवा क्रोधमानयोरुदयनिरोधः, [1]क्रोधमानशब्दाभ्यां तूदयप्राप्तयोस्तयोर्निरोधः प्रागभिहित इति न पौनरुक्त्यम् १८, विरागता—अभिष्वङ्गमात्रस्याभावः, यद्वा मायालोभयोरनुदयो मायालोभविवेकशब्दाभ्यां तूदयप्राप्तयोस्तयोर्निरोधः प्रागभिहित इतीहापि न पुनरुक्तता १९, मनःप्रभृतिनिरोधाः २२, ज्ञानादिसंपन्नतास्तिस्रः २५, [2]वेदनाधिसहनता २६, मरणान्तोपसर्गसहनं च २७ ॥५४॥ ॥५५॥ २३८॥

इदानीम् 'इगवीसा सावयगुणाणं' त्येकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

धम्मरयणस्स जोगो अक्खुद्दो १ रूववं २ पगइसोमो ३।
लोयप्पिओ ४ अकूरो ५ भीरू ६ [3]असढो ७ सदक्खिन्नो ८ ॥५६॥

१ क्रोधमानविवेकशब्दाभ्यां-वि. ॥ २ वेदनाधिकसहनता- सि. षि. ॥ ३ असठो—मु. ॥

लज्जालुओ ९ दयालू १० मज्झत्थो ११ सोमदिट्ठि १२ गुणरागी १३ ।
सक्कहसुपक्खजुत्तो १४ [1]सुदीहदंसी १५ विसेसन्नू १६ ॥५७॥
वुड्ढाणुगो १७ विणीओ १८ कयन्नुओ १९ परहियत्थकारी य २० ।
तह चेव लद्धलक्खो २१ इगवीसगुणो हवइ सड्ढो ॥५८॥ [धर्मरत्नप्रकरणे ५-७]

परतीर्थिकप्रणीतानां सर्वेषामपि [2]धर्माणां मध्ये प्रधानत्वेन यो रत्नमिव वर्तते स धर्मरत्नं—जिनोदितो देशविरत्यादिरूपः समाचारः, तस्य योग्यः—उचित ईदृक्स्वरूप एव श्रावको भवति । तद्यथा—अक्षुद्र इत्यादि । [3]तत्र यद्यपि क्षुद्रः—तुच्छः, क्षुद्रः—क्रूरः, क्षुद्रो—दरिद्रः, क्षुद्रो- लघुरित्यनेकार्थः क्षुद्रशब्दः, तथाऽपीह तुच्छार्थो गृह्यते तस्यैव प्रस्तुतोपयोगित्वात् । ततः क्षुद्रः—तुच्छोऽगम्भीर इत्यर्थः, तद्विपरीतोऽक्षुद्रः । स च सूक्ष्ममतित्वात् सुखेनैव धर्ममवबुध्यते १ ।

प्र. आ. ४००

रूपवान्—संपूर्णाङ्गोपाङ्गतया मनोहराकारः, स च तथारूपसंपन्नः सदाचारप्रवृत्त्या भविकलोकानां धर्मे गौरवमुत्पादयन् प्रभावको भवति । [4]ननु नन्दिषेणहरिकेशबलप्रभृतीनां कुरूपाणामपि धर्मप्रतिपत्तिः श्रूयते, अतः कथं रूपवानेव धर्मेऽधिक्रियते ? सत्यम्, इह द्विविधं रूपं—सामान्यमतिशायि च, तत्र सामान्यं संपूर्णाङ्गत्वादि, तच्च नन्दिषेणादीनामप्यासीदेवेति न विरोधः प्रायिकं चैतच्छेषगुणसद्भावे कुरूपत्वस्याप्यदुष्टत्वात् । एवमग्रेऽपि । अतिशायि पुनर्यद्यपि तीर्थकरादीनामेव संभवति, तथापि येन क्वचिद्देशे काले वयसि वा वर्तमानो रूपवानयमिति जनानां प्रतीतिमुपजनयति तदेवेहाधिकृतं मन्तव्यम् २ ।

१ सुदीहदरिसी-इति धर्मरत्नप्रकरणे पाठः ॥ २ तुला—धर्मरत्नप्रकरणस्वोपज्ञवृत्तिः गा. ५ प. ३ ॥
३ तुला-धर्मरत्न प्र. स्वो. वृत्तिः गा. ८ प. ४ ॥ ४ तुला—धर्मरत्न प्र. स्वोपज्ञवृत्तिः गा. ९ प. ६ तः ॥

[1]प्रकृत्या–स्वभावेन सौम्यः–अभीषणाकृतिर्विश्वसनीयरूप इत्यर्थः । एवंविधश्च प्रायेण न पापव्यापारे व्याप्रियते सुखाश्रयणीयश्च भवति ३ ।

[2]लोकस्य-सर्वजनस्य इहपरलोकविरुद्धवर्जनेन दानशीलादिगुणैश्च प्रियो–वल्लभो लोकप्रियः, सोऽपि सर्वेषां धर्मे बहुमानं जनयति ।

[3]अक्रूरः–अक्लिष्टाध्यवसायः, क्रूरो हि परच्छिद्रान्वेषणलम्पटः कलुषमनाः स्वानुष्ठानं कुर्वन्नपि न फलभाग्भवतीति ५ ।

भीरुः–ऐहिकामुष्मिकापायेभ्यस्त्रसनशीलः, स हि कारणेऽपि सति न निःशङ्कमधर्मे प्रवर्तते ६ ।

अशठः–अच्छद्मानुष्ठाननिष्ठः, शठो हि वञ्चनप्रपञ्चचतुरतया सर्वस्याप्यविश्वसनीयो भवति ७ ।

सदाक्षिण्यः–स्वकार्यपरिहारेण परकार्यकरणैकरसिकान्तःकरणः, स च कस्य नाम नानुवर्तनीयो भवति १८ ।

'लज्जालू य' त्ति प्राकृतशैल्या लज्जावान् , स खल्वकृत्यासेवनवार्तयाऽपि [4]व्रीड्यति, स्वयमङ्गीकृतमनुष्ठानं च परित्यक्तुं न शक्नोति ९ ।

दयालुः–दयावान् , [5]दुःखितजन्तुजातत्राणाभिलाषुक इत्यर्थः, 'धर्मस्य हि दया मूल'मिति प्रतीतमेव १० ।

---

१ तुला–स्वोपज्ञवृत्तियुतं धर्मरत्नप्रकरणम् गा. १० ॥ २ तुला-धर्मरत्नप्रकरण गा. ११ ॥
३ तुला-धर्मरत्नप्रकरणं गा १२ तः ॥ ४ व्रीडते–मु. ॥ ५ दुःखितजन्तुत्राणा० सि. वि. ॥

मध्यस्थो— [1]रागद्वेषत्यक्तधीः, स हि सर्वत्रारक्तद्विष्टतया विश्वस्यापि वल्लभो भवति ११ ।

सौम्यदृष्टिः—कस्याप्यनुद्वेजकः, स हि दर्शनमात्रेणापि प्राणिनां प्रीतिं पल्लवयति १२ ।

गुणेषु—गाम्भीर्यस्थैर्यप्रमुखेषु रज्यतीत्येवंशीलो गुणरागी, स हि गुणपक्षपातित्वादेव सद्गुणान् बहु मन्यते निर्गुणांश्चोपेक्षते १३ ।

सत्कथाः—सदाचारचारित्वात्सुचरित्रचर्याकथनरुचयो न तु दुश्चारित्रचर्याकथनरुचयो ये सपक्षाः—सहाया जनास्तैर्युक्तः—अन्वितो धर्माविबन्धकपरिवार इति भावः, एवंविधश्च न केनचिदुन्मार्गे नेतुं शक्यते १४ ।

अन्ये तु सत्कथः सुपक्षयुक्तश्चेति पृथग्गुणद्वयं मन्यन्ते । मध्यस्थः सोमदृष्टिश्चेति द्वाभ्यामप्येकमेवेति ।

तथा सुदीर्घदर्शी—सुपर्यालोचितपरिणामपेशलकार्यकारी, स किल पारिणामिक्या बुद्ध्या सुन्दरपरिणाममैहिकमपि कार्यमारभते १५ ।

विशेषज्ञः—सारेतरवस्तुविभागवेदी, अविशेषज्ञस्तु दोषानपि गुणत्वेन गुणानपि दोषत्वेनाध्यवस्यति १६ ।

वृद्धान्—परिणतमतीननुगच्छति गुणार्जनबुद्ध्या सेवत इति वृद्धानुगः, वृद्धजनानुगत्या हि प्रवर्तमानः पुमान् न जातुचिदपि विपदः पदं भवति १७ ।

विनीतो—गुरुजनगौरवकृत् ; विनयवति हि सपदि [2]संपदः प्रादुर्भवन्ति १८ ।

१ रागद्वेषे—सि. ॥ २ संपदं—सि. वि. ॥

स्वल्पमप्युपकारमैहिकं पारत्रिकं वा परेण [1]कृतं जानाति न निह्नुते इति कृतज्ञः । कृतघ्नो हि सर्वत्राप्यमन्दां निन्दां समासादयति १९ ।

परेषाम्–अन्येषां हितान्–पथ्यानर्थान्–प्रयोजनानि कर्तुं शीलं यस्य स परहितार्थकारी, सदाक्षिण्योऽभ्यर्थित एव करोति, अयं पुनः स्वत एव परहिताय प्रवर्तते इत्यनयोर्भेदः । यश्च प्रकृत्यैव परहितकरणे नितरां निरतो भवति स निरीहचित्ततयाऽन्यानपि सद्धर्मे स्थापयति २० ।

तथा लब्धमिव लब्धं लक्षं–शिक्षणीयानुष्ठानं येन स लब्धलक्षः, पूर्वभवाभ्यस्तमिव सर्वमपि धर्मकृत्यं झटित्येवाधिगच्छतीति भावः । ईदृशो हि वन्दनप्रत्युपेक्षणादिकं धर्मकर्म सुखेनैव शिक्षयितुं शक्यते २१ ।

तदेवमेकविंशतिगुणसंपन्नः श्राद्धः–श्रावको भवतीति ॥५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ २३९ ॥

इदानीं 'तेरिच्छीणुक्किट्ठा[2] गब्भठिइ' त्ति चत्वारिंशदधिकद्विशततमं द्वारमाह–

उक्किट्ठा गब्भठिई तिरियाणं होइ अट्ठ वरिसाइं ।
माणुस्सीणुक्किट्ठा[3] इत्तो गब्भट्ठिइं वुच्छं ॥ ५९ ॥

उत्कृष्टा गर्भस्थितिः–गर्भावस्थानं तिरश्चीनां–तिर्यग्योषितां भवत्यष्टौ वर्षाणि, ततः परं गर्भस्य विपत्तिः प्रसवो वेति ॥ ५९ ॥ २४० ॥

इदानीं **'माणुसीणुक्किट्ठा गब्भठिइ'** त्ति तथा [4]**'तग्गब्भस्स कायट्ठिइ'**त्येकचत्वारिंशदधिकद्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमे द्वारे आह—

१ कृतं जातं जानाति–खि. ॥ २ ०ट्ठ–मु. ॥ ३ ०ट्ठं–मु. ॥ ४ तद्गर्भस्य–सि. खि. ॥

गब्भट्ठिइ मणुस्सीणुक्किट्ठा होइ वरिसबारसगं ।
'गब्भस्स य कायठिई नराण चउवीस वरिसाइं' ॥ ६० ॥

मानुषीणां—मनुष्यस्त्रीणामुत्कृष्टा गर्भस्थितिर्भवति वर्षद्वादशकं—द्वादशवर्षप्रमाणा । अयमर्थः—कश्चिज्जन्तुराविर्भूतप्रभूतपापाभिभूतवपुर्वातपित्तादिदूषिते देवादिस्तम्भिते वा गर्भे द्वादश वर्षाणि निरन्तरं तिष्ठतीति । इयं च भवस्थितिरुक्ता, कायस्थितिः पुनर्नराणां गर्भस्य चतुर्विंशतिर्वर्षाणि, इदमुक्तं भवति—कश्चिज्जीवो द्वादश वर्षाणि जीवित्वा तदन्ते च मृत्वा तथाविधकर्मवशात्तत्रैव गर्भस्थिते कलेवरे समुत्पद्य पुनर्द्वादश वर्षाणि जीवतीत्येवं चतुर्विंशतिर्वर्षाण्युत्कृष्टतो गर्भे जन्तुस्तिष्ठतीति ॥६०॥२४१॥२४२॥

२४१-२ द्वारेषु मनुष्यगर्भ-स्थितिः काय-स्थितिः आहारश्च

इदानीं 'गब्भट्ठियजीवआहारो' त्ति त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

गाथा १३६०-२

पढमे समये जीवा उप्पन्ना गब्भवासमज्झंमि ।
ओयं आहारंती सव्वप्पणयाए[2] पूयव्व[3] ॥ ६१ ॥
ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा[4] मुणेयव्वा ।
पज्जत्ता उण लोमे पक्खेवे हुंति भइयव्वा ॥ ६२ ॥

प्र. आ. ४०१

प्रथमे समये जीवा उत्पन्ना गर्भवासमध्ये ओज आहारयन्ति—ओजआहारं कुर्वन्ति । सव्वप्पयणयाए' त्ति सर्वात्मना, सर्वैरप्यात्मप्रदेशैरित्यर्थः । किंवदित्याह—अपूपा इव । यथा हि तैलभृततप्ततापिकायां प्रथमसमय एवापूपाः सकलमपि तैलमापिबन्ति; एवं जीवा अपि गर्भोत्पत्तिप्रथमसमये ओज आहारयन्ति ।

१ गब्भस्स वासमज्झम्मि नराण-सि. वि. ॥ २ ०इ-मु. ॥ ३ ०व्वा-ता. सि. वि. ॥ ४ ०या-मु. ॥

पितुः संबन्धि शुक्रं मातुः संबन्धि शोणितमेतद्द्वयमप्येकत्र मिलितम् ओज इत्युच्यते । अथ कस्यामवस्थायां जीवस्याहारः क इत्येतत्प्रसङ्गतः प्राह–'ओये'त्यादि, इयं च प्रागेव पञ्चोत्तरद्विशततमद्वारे व्याख्याता ॥ ६१-६२ ॥२४३ ॥

इदानीं 'रिउरुहिरसुक्कजोए जेत्तियकालेण गब्भसंभूइ' त्ति चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमं द्वारमाह-

रिउसमयण्हायनारी नरोवभोगेण गब्भसंभूई ।
बारसमुहुत्त मज्झे जायइ उवरिं पुणो [1]नेय ॥ ६३ ॥

मासावसाने त्रीणि दिनानि यावद्युवतीनां यदजस्रमस्रं श्रवति तदृतुरित्युच्यते । तत्र ऋतुसमये स्नातायास्त्र्यहादूर्ध्वं शुद्धिहेतोः कृतस्नानायाः नार्याः स्त्रियो नरोपभोगेन पुरुषसंभोगेन गर्भसंभूतिर्भवति । सा च द्वादशानामेव मुहूर्तानां मध्ये जायते । चतुर्विंशतिघटिकानां मध्ये इत्यर्थ । ऊर्ध्वं पुनर्नैव गर्भसंभूतिः, द्वादश मुहूर्तानि यावच्छुक्रशोणिते अविध्वस्तयोनिके भवतः । तत उर्ध्वं ध्वंसमुपगच्छत इति भावः ॥ ६३ ॥ २४४ ॥

इदानीं 'जत्तिय पुत्ता गब्भे' त्ति तथा 'जत्तिय पियरो य पुत्तस्स' त्ति पञ्चचत्वारिंशदधिकषट्चत्वारिंशदधिके च द्विशततमे द्वारे प्राह–

सुयलक्खपुहुत्तं होइ एगनरभुत्तनारिगब्भंमि ।
[2]उक्कोसेणं नवसयनरभुत्तत्थीइ [3] एगसुओ ॥ ६४ ॥

१ नेमा-सि. ॥ २ ऊक्कोसेयं-ता. । उक्कोसेभं-सि. ॥ ३ ए-ता. ॥

सुतलक्षपृथक्त्वं भवत्येकपुरुषभुक्ताया नार्या गर्भे। पृथक्त्वं चेह द्विप्रभृतिरानवभ्य इति समयोक्तं ज्ञेयम्, अयमर्थः—एकस्याः स्त्रियः पुरुषेणोपभुक्ताया गर्भे जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा यावत् उत्कृष्टतस्तु नव लक्षाणि जीवानामुत्पद्यन्ते। [1]निष्पत्तिं तु प्राय एको वा द्वौ वा गच्छतः; शेषास्तु स्वल्पकालं जीवित्वा तत एव म्रियन्ते इति। तथोत्कृष्टतो [2]नवशतसङ्ख्यैर्नरैरुपभुक्तायाः स्त्रियो गर्भे एकः सुतो भवति। कोऽर्थः?—काचिद् दृढसंहनना कामातुरा च तरुणी यदा द्वादशमुहूर्तमध्ये उत्कर्षतो नवभिर्नरशतैः संभुज्यते तदा तद्बीजे यः पुत्रो जायते स नवानां पितृशतानां पुत्रो भवतीति ॥६४॥२४५–२४६॥

प्र॰ आ॰
४०२

इदानीं 'महिलाण गब्भअभवणकालो पुरिसअबीयकालो' त्ति सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

पणपन्नाए परेणं जोणि पमिलायए महिलियाणं।
पणहत्तरीए परओ होइ अबीयओ नरो पायं॥ ६५॥
वाससयाउयमेयं परेण जा होइ पुव्वकोडीओ।
तस्सद्धे अमिलाया [3]सव्वाउयवीसइमभागो॥ ६६॥

वर्षाणां पञ्चपञ्चाशतः परत आर्तवाभावान्महिलानां योनिः प्रम्लायति—गर्भोत्पत्तिकारणतां न प्रतिपद्यते। भावार्थस्तु निशीथचूर्ण्यक्षरैरुपदर्श्यते—

---

१ निष्पत्तिस्तु प्राय एको द्वौ–सि॰॥ २ नवशतैर्नरै॰ सि॰॥
३ सव्वाउयवीसमाये य–मु॰। सव्वाउय वीसमागो य–ता॰॥

"इत्थीए जाव पणपन्न वासा न पूरंति ताव [1]अमिलिया[लाणा] जोणि, आर्तवं भवति गर्भं च गृह्णातीत्यर्थः । पणपन्नवासाए पुण कस्सइ अत्तवं भवति न पुण गब्भं [2]गिण्हइ । पणपन्नाए परओ नो अत्तवं नो गब्भं [3]गिण्हइ" [निशीथचू. सू. १, उ. ६, गाथा २२३६] त्ति ।

तथा वर्षाणां पञ्चसप्ततेः परतः प्रायेण नरः—पुमान् भवत्यवीजो—गर्भाधानयोग्यवीर्यविवर्जितः ॥६५॥

कियत्प्रमाणायुषां पुनरेतन्मानं द्रष्टव्यमित्याह—'वासे'त्यादि [4]वर्षशतायुषामैदंयुगीनानामेवैतद्—गर्भधारणादिकालमानमुक्तं द्रष्टव्यं । परेण तर्हि का वार्ता ? इत्याह—'परेण जा होइ पुव्वकोडीओ' इत्यादि वर्षशतात्परतो वर्षशतद्वयं त्रयं चतुष्टयं चेत्यादि यावन्महाविदेहादिमनुष्याणां या पूर्वकोटिः सर्वायुष्के भवति तस्य सर्वायुषोऽर्धं तदर्धं यावदम्लाना—गर्भधारणक्षमा युवतीनां योनिर्द्रष्टव्या । [5]ततः परतः सकृत्प्रसवधर्मिणोऽम्लानयोनयश्चावस्थितयौवनत्वात् । पुरुषाणां तु सर्वस्यापि पूर्वकोटिपर्यन्तस्य स्वायुषोऽन्त्यो विंशतितमो भागोऽवीजो भवति ॥ ६६ ॥ २४७ ॥

प्र. आ. ४०२

इदानीं 'सुक्काईण पमाणं'त्यष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

वीयं सुक्कं तह सोणियं च ठाणं तु जणणिगब्भंमि ।
ओयं तु उवट्ठंभस्स कारणं तस्सरूवं तु ॥ ६७ ॥

---

१ अमिलिया य जोणि सि. वि. । अमिलाया—इति तन्दुलवैचारिकवृत्तौ पाठः ॥ २ गेण्हइ – सि. वि. ॥ ३ गेण्हइ—सि. वि. ॥ ४ तुला—तन्दुलवैचारिकवृत्तिः प. ५ ॥ ५ ततः अपि परतः—सि. वि. ॥

[1]अट्ठारसपिट्ठिकरंडयस्स संधीउ हुंति देहंमि ।
बारस [2]पंसुलियकरंडया [3]इहं तह छ पंसुलिए ॥ ६८ ॥
होइ कडाहे सत्तंगुलाइं जीहा पलाइ पुण चउरो ।
अच्छीउ दो पलाइं सिरं तु भणियं चउकवालं ॥ ६९ ॥
अद्धुट्ठपलं हिययं बत्तीसं [4]दसण अट्ठिखंडाइं ।
कालेज्जयं तु समए पणवीस पलाइ निद्दिट्ठं ॥ ७० ॥
अंताइं दोन्नि इहयं पत्तेयं पंच पंच वामाओ ।
सट्ठिसय संधीणं मम्माण सयं तु सत्तहियं ॥ ७१ ॥

प्र. आ. ४०२

[5]सट्ठिसयं तु सिराणं नाभिप्पभवाण सिरमुवगयाणं ।
रसहरणिनामधेज्जाण जाणऽणुग्गहविघाएसु ॥ ७२ ॥
सुइचक्खुघाणजीहाणणुग्गहो होइ तह विघाओ य ।
[6]सट्ठिसयं अन्नाणवि सिराणऽहोगामिणीण तहा ॥ ७३ ॥
पायतलमुवगयाणं जंघाबलकारिणीणऽणुवघाए ।
उवघाए [7]सिरवियणं कुणंति अंधत्तणं च तहा ॥ ७४ ॥

---

१ अट्टारसपिट्ठि॰ सि. वि. ॥ २ पांसु॰ वि. । पासु॰ ता. ॥ ३ इह हवंति पंसुला—ता. ॥
४ दंसण अच्छिखंडाइं-मु. ॥ ५ सट्ठसयं-ता. ॥ ६ सट्ठसयं-मु ॥ ७ सिरिवियणं-ता. सि. वि. ॥

अवराण गुदपविट्ठाण होइ सट्ठं सयं तह सिराणं[1] ।
जाण बलेण पवत्तइ वाउ मुत्तं पुरीसं च ॥ ७५ ॥
अरिसा उ पांडुरोगो वेगनिरोहो य ताण य विघाए ।
तिरियगमाण सिराणं सट्ठसयं होइ अवराणं ॥ ७६ ॥
बाहुबलकारिणीओ उवघाए कुच्छिउयरवियणाओ ।
कुव्वंति तहऽन्नाओ पणवीसं सिंभधरणीओ ॥ ७७ ।
तह पित्तधारिणीओ पणवीसं दस य सुक्कधरणीओ ।
इय सत्त सिरसयाइं नाभिप्पभवाइं पुरिसस्स ॥ ७८ ॥
तीसूणाइं इत्थीण वीसहीणाइं हुंति संढस्स ।
नव ण्हारूण सयाइं नव [2]धमणीओ य देहंमि ॥ ७९ ॥
तह चेव सव्वदेहे नवनउई लक्ख [3]रोमकूवाणं ।
अद्धुट्ठा कोडीओ समं पुणो केसमंसूहिं ॥ ८० ॥
मुत्तस्स सोणियस्स य पत्तेयं [4]आढयं वसाए उ ।
अद्धाढयं भणंति य पत्थं [5]मत्थुलुयवत्थुस्स ॥ ८१ ॥

१ ०ण-सि. त्रि. ॥ २ धमनीओ-सि. वि. ॥ ३ रोमकूवा य-ता० ॥ ४ माढया—ता. ॥
५ मथुलयवत्थस्स-वा. ॥ मंथुलय० सि. वि ॥

असुइमल पत्थछक्कं कुलओ कुलओ य पित्तसिंभाणं ।
सुक्कस्स अद्धकुलओ दुट्ठं हीणाहियं होज्जा ॥ ८२ ॥
एक्कारस इत्थीए नव सोयाइं तु हुंति पुरिसस्स ।
इय किं [1]सुइत्तणं अट्ठिमंसमलरुहिरसंघाए ? ॥ ८३ ॥

'बीय' मित्यादि, बीजं—कारणं तच्च शरीरस्य शुक्रं तथा शोणितं च, पितुः शुक्रम् मातुः शोणितम्, एतद् द्वयमपि शरीरस्य कारणमित्यर्थः । स्थानं तु तस्यादौ जननीगर्भे—मातुरुदरमध्यभागे, शुक्रशोणितसमुदाय ओज इत्युच्यते शरीरोपष्टम्भस्यापि प्रथमतस्तदेव [2]हेतुः-तस्य शरीरस्य कारणमित्यर्थः । तस्य शरीरस्य स्वरूपं तु अट्ठारसपिट्ठकरंडयस्स' इत्याद्यनन्तरवक्ष्यमाणलक्षणमिति शेषः ॥ ६७ ॥

प्र. आ. ४०३

तदेवाह—'अट्ठे'त्यादिगाथाद्वयम्, देहे—मनुष्यशरीरे [3]पृष्ठकरण्डकस्य—पृष्ठवंशस्याष्टादश ग्रन्थिरुपाः संधयो भवन्ति । यथा वंशस्य [4]पर्वाणि, तेषु चाष्टादशसु सन्धिषु मध्ये द्वादशभ्यः सन्धिभ्यो द्वादशा [5]पंशुलिका निर्गत्योभयपार्श्वावावृत्य वक्षःस्थलमध्योर्ध्ववर्त्यस्थिसंधि[6] लगित्वा पल्लकाकारतया परिणमन्ति । अत आह—इह शरीरे द्वादश पंशुलिकारूपाः करण्डका—वंशका भवन्ति । 'तह छपुंसुलिए होइ कडाहे' त्ति, तथा तस्मिन्नेव पृष्ठवंशे शेषषट्संधिभ्यः षट् पांशुलिका निर्गत्य पार्श्वद्वयं चावृत्य हृदयस्योभयतो वक्षःपञ्जरादधस्ताद् [7]शिथिलकुक्षेस्तूपरिष्टात्परस्परासंमिलितास्तिष्ठन्ति । अयं [8]च कटाह इत्युच्यते । जिह्वा—

---

१ सुइत्ताणं—ता. ॥ २ हेतुः कारणमित्यर्थः, तस्य शरीरस्य स्वरूपं तु-मु. ॥ ३ तुला-तन्दुलवैचारिकवृत्तिः प. ३७ तः । पृष्टकरण्डस्य-सि. वि ॥ ४ पर्वणि-सि. वि. । ५ पांशु० इति तन्दुलवैचारिकवृत्तौ पाठः ॥ ६ ०स्थि-मु. । ०स्थिति-तन्दुलवैचारिकवृत्तौ ॥ ७ शिथिलकुक्षितर० मु. ॥ तन्दुलवैचारिकवृत्तावपि शिथिलकुक्षितस्तुइति ॥ ८ तु-सि. वि. ॥

मुखाभ्यन्तर्वर्तिमांसखण्डरूपा दैर्घ्येणात्माङ्गुलतः [1]सप्ताङ्गुलप्रमाणा भवति । तौल्ये तु मगधदेशप्रसिद्धेन पलेन चत्वारि पलानि भवन्ति । अक्षिमांसगोलकौ तु द्वे पले । शिरस्तु अस्थिखण्डरूपैश्चतुर्भिः कपालैः निष्पद्यन्ते इति ॥६८॥६९॥

[2]तथा 'अदुधुद्धे'त्यादि, हृदयान्तर्वर्तिमांसखण्डं सार्धपलत्रयं भवति । द्वात्रिंशच्च मुखे दन्ता—अस्थिखण्डरुपाः प्रायः प्राप्यन्ते । कालेयजं तु—वक्षोऽन्तगूढमांसविशेषरूपं पञ्चविंशतिपलान्यागमे निर्दिष्टम् ॥७०॥

[3]तथा—'अंताइं' इत्यादि, इह शरीरे द्वे अन्त्रे भवतः, प्रत्येकं पञ्चपञ्चवामप्रमाणे तथा संधयः—अङ्गुलाद्यस्थिखण्डमेलापकस्थानानि तेषां षष्ट्यधिकं शतं भवन्ति । मर्माणि— [4]सङ्घाणिकाविरकादीनि, तेषां तु सप्ताधिकं शतं भवति ॥७१॥

अथ पुरुषशरीरे शिरासङ्ख्यामाह—'सट्ठिसय'मित्यादिगाथासप्तकम् , इह पुरुषस्य शरीरे नाभिप्रभवाणि शिराणां—स्नसानां सप्त शतानि भवन्ति । तत्र षष्ट्यधिकं शतं शिराणां नाभेः शिरसि गच्छति । ताश्च रसहरणीनामधेयाः[5], रसो ह्रियते—विकीर्यते यकाभिरितिकृत्वा, यासां चानुग्रहविघातयोः सतोर्यथासङ्ख्यं [6]श्रोत्रचक्षुघ्राणजिह्वानामनुग्रहो विघातश्च भवति । तथा अन्यासामप्यधोगामिनीनां पादतलमुपगतानामनुपघाते जङ्घाबलकारिणीनां स्नसानां षष्ट्यधिकं शतं भवति, उपघाते तु ता एव [7]शिरोवेदनाऽन्धत्वादीनि कुर्वन्ति । तथाऽपरासां गुदप्रविष्टानां शिराणां षष्ट्यधिकं शतं भवति, यासां बलेन वायुमूत्रं पुरीषं च

१ सप्ताङ्गुलानि भवन्ति—सि. वि ॥ २ तथा—सि. वि. नास्ति ॥ ३ तथाह—सि. वि. ॥ ४ शङ्खाणिकावियरकादीनि-इति तन्दुलवैचारिकवृत्तौ ॥ ५ ०यानि—सि. वि. ॥ ६ श्रुतिचक्षु० सि. वि. ॥ ७ शिरोवेदनान्धतादीनि-सि. वि. ॥

प्राणिनां प्रवर्तते । एतासां च विघातेऽर्शांसि पाण्डुरोगो[1] वेगनिरोधश्च भवति । तथा अपरासां तिर्यग्गामिनीनां शिराणां षष्ट्यधिकं शतं भवति । ताः पुनर्बाहुबलकारिण्यः । उपघाते च सति कुक्षिउदरवेदनाः कुर्वन्ति । तथाऽन्याः पञ्चविंशतिः शिराः श्लेष्मधारिण्यो भवन्ति । तथा पित्तधारिण्योऽपि पञ्चविंशतिः शिराः, दश च शिराः शुक्राख्यसप्तमधातुधारिण्यः । इत्येवं नाभिप्रभवाणि सप्तशिराशतानि पुरुषस्य शरीरे भवन्ति ॥ ७२-७८ ॥

अथ स्त्रीनपुंसकयोः कियन्त्य एता भवन्तीत्याशङ्क्याह—'तीसूणाइं" इत्यादिगाथाचतुष्कम्, त्रिंशता न्यूनानि स्त्रीणां सप्त शिराशतानि भवन्ति । विंशत्या च हिनानि सप्त शतानि शिराणां भवन्ति षण्ढस्य—नपुंसकस्य । तथा स्नायूनाम्—अस्थिबन्धनशिराणां शतानि नव [2]नव च धमन्यो रसवहा—नाड्यो देहे ॥७९॥

॥५४२॥

तथा सर्वस्मिन्नपि देहे नवनवतिर्लक्षा रोमकूपाणां भवन्ति । रोम्णां—तनूरुहाणां कूपा इव कूपा रोमकूपा रोमरन्ध्राणीत्यर्थः । एतच्च संख्यानं श्मश्रुकेशैर्विनाऽवसेयम् । तैस्तु सह सार्धास्तिस्रः कोटयः रोमकूपानां जायन्ते । तत्र श्मश्रूणि—कूर्चकचाः, केशास्तु—शिरोरुहा इति ॥८०॥

प्र.आ.
४०४

शरीरे सर्वदैव मूत्रस्य शोणितस्य च प्रत्येकमवस्थितमाढकं मगधदेशप्रसिद्धमानविशेषरूपं भणन्ति । उक्तं च—

"दो असईओ पसई, दो पसइओ सेइया, चत्तारि सेइयाउ कुलओ, चत्तारि कुडवा पत्थो, चत्तारि पत्था आढयं, चत्तारि आढया दोणो" [ ] इत्यादि; ।

॥५४२॥

धान्यभृतोऽवाङ्मुखीकृतो हस्तोऽसतीत्युच्यते । वसायास्त्वर्धाढकं [3]भणन्ति । [4]मस्तकभेज्जको

१ ०गा—सि. वि. ॥ २ नव—मु. नास्ति ॥ ३ भणितं—सि. ॥ ४ मस्तक भेजको-सि.वि. ॥

[1]मस्तुलुङ्गवस्तु । अन्ये त्वाहुः—मेदपिप्पिसादि [2]मस्तुलुङ्गम् , तस्यापि प्रस्थं यथोक्तरूपं वदन्ति ॥८१॥

अशुचिरूपो योऽसौ मलस्तस्य प्रस्थषट्कं भवति । पित्तश्लेष्मणोः प्रत्येकं यथानिर्दिष्टस्वरूपः कुलवो भवति । शुक्रस्त्वर्धकुलवः । एतच्चाढकप्रस्थादिकं मानं बालकुमारतरुणादीनां 'दो असइओ पसई' [ ] त्यादिक्रमेणात्मीयात्मीयहस्तेनानेतव्यम् , उक्तमानाच्च शुक्रशोणितादेर्यत्र हीनाधिक्यं भवति तत्र वातादिदूषितत्वेनेति ज्ञेयम् ॥८१॥

अथ [3]स्रोतानि शरीरे यावन्ति भवन्ति तावंत्युपदर्श्योपसंहरति-'एक्कारसे'त्यादि द्वौ कर्णौ द्वे चक्षुषी द्वे घ्राणे मुखं स्तनौ पायुरुपस्थश्चेत्येवमेकादश [4]स्रोतानि स्त्रियो भवन्ति । स्तनवर्जाणि शेषाणि नव पुरुषस्य । एतच्च मनुजगतिमाश्रित्य प्रोक्तम् । तिर्यग्गतौ तु अजादीनां द्विस्तनीनामेकादश [5]स्रोतानि गवादीनां चतुःस्तनीनां त्रयोदश; सूकर्यादीनामष्टस्तनीनां सप्तदश । निर्व्याघाते एवम् , व्याघाते पुनरेकस्तन्या अजाया दश, त्रिस्तन्याश्च गोर्द्वादशेति । इत्येवमस्थ्यादिसंघातरूपे शरीरे किं नाम स्वरूपतः शुचित्वम् ? न किञ्चिदित्यर्थः ॥८३॥२४८॥

इदानीं 'सम्मत्ताईणुत्तमगुणाण लाहंतरं तु उक्कोसं' इत्येकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

सम्मत्तंमि य लद्धे पलियपुहुत्तेण सावओ होइ ।
चरणोवसमखयाणं सायरसंखंतरा हुंति ॥ ८४ ॥

प्र. आ. ४०४

यावत्यां कर्मस्थितौ सम्यक्त्वं लब्धं तन्मध्यात्पल्योपमपृथक्त्वलक्षणे स्थितिखण्डे क्षपिते श्रावको

१ मस्तुलङ्क० सि. वि. ॥ २ मस्तुलङ्ग० सि. वि. ॥ ३-४-५ स्रोत्राणि-मु. ॥

देशविरतो भवेत् । ततश्चरणोपशमक्षयाणामन्तरा संख्यातानि सागरोपमाणि भवन्ति । इयमत्र भावना—देशविरतिप्राप्त्यनन्तरं संख्यातेषु सागरोपमेषु क्षपितेषु चारित्रमवाप्नोति । ततोऽपि संख्यातेषु सागरोपमेषु क्षपितेषूपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते । ततोऽपि संख्यातेषु सागरोपमेषु क्षपितेषु क्षपकश्रेणिर्भवति । ततस्तद्भवे मोक्ष इति । एवमप्रतिपतितसम्यक्त्वस्य देवमनुष्यजन्मसु संसरणं [1]कुर्वतोऽन्याऽन्यमनुष्यभवे देशविरत्यादिलाभो भवति । यदिवा तीव्रशुभपरिणामवशात्क्षपितबहुकर्मस्थितेरेकस्मिन्नपि भवेऽन्यतरश्रेणिवर्ज्यान्येतानि सर्वाण्यपि भवन्ति । श्रेणिद्वयं त्वेकस्मिन् भवे सैद्धान्तिकाभिप्रायेण न भवत्येव । किंत्वेकैवोपशमश्रेणिः क्षपकश्रेणिर्वा भवतीति । उक्तं च—

⊙ "एवं अप्परिवडिए सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु । अन्नयरसेढिवज्जं [2]एगभवेणं पि सव्वाइं ॥१॥"

इदानीं 'न लहंति माणुसत्तं सत्ता जेऽणंतरुवट्ट' त्ति पञ्चाशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

सत्तममहिनेरइया तेऊ वाऊ अणंतरुव्वट्टा ।
न लहंति माणुसत्तं तहा असंखाउया सव्वे ॥८५॥

सप्तमपृथिवीनैरयिकास्तैजसकायिका [3]वायुकायिकास्तथा असङ्ख्यातवर्षायुषः सर्वे तिर्यङ्मनुष्याश्चानन्तरमुद्वृत्ता मानुष्यं न लभन्ते । मृत्वाऽनन्तरभवे मनुजेषु नोत्पद्यन्ते इत्यर्थः । शेषास्तु सुरनरतिर्यग्नारका नरेषूत्पद्यन्ते ॥ ८५ ॥ २५० ॥

⊙ एवमप्रतिपतिते सम्यक्त्वे देवमनुजजन्मसु अन्यतरश्रेणिवर्जानि एकभवेनापि सर्वाणि ॥१॥

१ कुर्वतोऽन्योन्य० मु. ॥ २ एगभवेणं च- मु ॥ ३ वायुकायिकापि स्तथा-सि. ॥

इदानीं 'पुव्वंगपरिमाणं' ति एकपञ्चाशदधिकद्विशततमं द्वारमाह–

वरिसाणं लक्खेहिं चुलसीसंखेहिं होइ पुव्वंगं ।
एयं चिय एयगुणं जायइ पुव्वं तयं तु इमं ॥८६॥

वर्षाणां लक्षैश्चतुरशीतिसङ्ख्यैर्भवति पूर्वाङ्गं–पूर्वाख्यस्य सङ्ख्याविशेषस्य कारणम्, अनेनैवैतद्गुणेन तस्य जायमानत्वात् । तथा चाह–'एयं चिय' इत्यादि, एतदेव–पूर्वाङ्गं चतुरशीतिवर्षलक्षलक्षणम्, एतद्गुणं चतुरशीतिलक्षैर्गुणितं सञ्जायते पूर्वम्, तत्पुनरिदम्–अनन्तरद्वारे वक्ष्यमाणस्वरूपमिति ॥८६॥२५१॥

साम्प्रतं 'माणं पुव्वस्स' त्ति द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमं द्वारमाह–

[1]पुव्वस्स उ परिमाणं सयरिं खलु वासकोडिलक्खाओ ।
छप्पन्नं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं ॥१॥ ८७॥

[तुला-जीवसमासे गा. ११३, ज्योतिष्करण्डके गा. ६२]

पूर्वाभिधानस्य सङ्ख्याविशेषस्य परिमाणं वर्षकोटिनां सप्ततिः कोटिलक्षाः षट्पञ्चाशत् सहस्राणि, ७०५६०००००००००० ॥ ८७॥ २५२ ॥

इदानीं 'लवणसिहमाणं' ति त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमं द्वारमाह–

[2]दसजोयण सहस्सा लवणसिहा चक्कवालओ रुंदा ।
सोलससहस्स उच्चा सहस्समेगं तु ओगाढा ॥२॥ ८८॥ [बृहत्क्षेत्रसमासे गा. ४१५]

१ गाथेयं बृहत्संग्रहण्या (चन्द्र.) २६२ ॥ २ दसजोयणाण सहसा–मु. । तुला–स्थानाङ्गवृत्तिः प. २२८ B ॥

लवणसमुद्रे योजनलक्षद्वयविष्कम्भे मध्यमेषु दशसु योजनसहस्रेषु नगरप्राकार इव जलमूर्ध्वं गतम्, तस्योत्सेधवृद्धिः शिखेव शिखा, ततो लवणस्य शिखा लवणशिखा, सा दशयोजनानां सहस्राणि चक्रवालतो रुन्द्रा–रथचक्रवद्विस्तीर्णा । भूतलसमजलपट्टादूर्ध्वं षोडशयोजनसहस्राण्युच्चा एकं तु सहस्रमधोऽवगाढा ।

इयमत्र भावना–लवणसमुद्रे जम्बूद्वीपाद्धातकीखण्डद्वीपाच्च प्रत्येकं पञ्चनवतिपञ्चनवतियोजनसह-स्राणि गोतीर्थम्, गोतीर्थं नाम तडागादिष्विव प्रवेशमार्गरूपो नीचो नीचतरो भूप्रदेशः, गोतीर्थमिति व्यु-त्पत्तेः । मध्यभागावगाहस्तु दशयोजनसहस्रप्रमाणविस्तारः । गोतीर्थं च जम्बूद्वीपवेदिकान्तसमीपे धातकी-
॥५४६॥ खण्डवेदिकान्तसमीपे चाङ्गुलासङ्ख्येयभागः । ततः परं समतलाद् भूभागादारभ्य क्रमेण प्रदेशहान्या तावन्नीचत्वं नीचतरत्वं परिभावनीयं यावत्पञ्चनवतियोजनसहस्राणि, पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्ते च समतलं भूभागमपेक्ष्य उण्डत्वं योजनसहस्रमेकम् ।

तथा जम्बूद्वीपवेदिकातो[1] धातकीखण्डद्वीपवेदिकातश्च समतले भूभागे प्रथमतो जलवृद्धिरङ्गुल-सङ्ख्येयभागः, ततः समतलभूभागमेवाधिकृत्य प्रदेशवृद्ध्या जलराशिः क्रमेण परिवर्धमानः परिवर्धमानः तावत्परिभावनीय यावदुभयतोऽपि पञ्चनवतियोजनसहस्राणि । पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्ते चोभयतोऽपि समभूभागमपेक्ष्य जलवृद्धिः सप्त योजनशतानि । किमुक्तं भवति ?–तत्र प्रदेशे समभूभागमपेक्ष्यावगाहो योजनसहस्रम्, तदुपरि जलवृद्धिः सप्त योजनशतानीति । ततः परं मध्ये भूभागे दशयोजनसहस्रविस्तारे- ॥५४६॥
ऽवगाहो योजनसहस्रम् जलवृद्धिः षोडश योजनसहस्राणि । पातालकलशगतवायुक्षोभे च तेषामुपरि अहोरात्र-

1 ०तो–सि. वि. नास्ति॥

मध्ये द्वौ वारौ किञ्चिन्न्यूने द्वे गव्यूते उदकमतिरेकेण परिवर्धते पातालकलशगतवायूपशान्तौ च हीयते ॥८८॥२५३॥

इदानीम् 'उस्सेहंगुलआयंगुलपमाणंगुलपमाणं' ति चतुःपञ्चाशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

उस्सेहंगुल १ मायंगुलं च २ तइयं पमाणनामं च ३ ।
इय तिन्नि अंगुलाइं वावारिज्जंति समयंमि ॥८९॥ [अंगुलस॰ २]
सत्थेण सुतिक्खेणवि छेत्तुं भेत्तुं च जं किर न सक्का ।
तं परमाणुं सिद्धा वयंति आइं पमाणाणं ॥९०॥

[जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्रे २।१९ अनुयोगद्वा. सू. ३४३।१००]

[1]परमाणू तसरेणू रहरेणू अग्गयं च वालस्स ।
लिक्खा जूया य जवो अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो ॥९१॥

[अनुयोगद्वारसूत्रे सू. ३३९, ज्योतिष्करण्डके गा. ७३-७४, जीवसमासे गा. ९८]

[2]वीसपरमाणुलक्खा सत्तानउई भवे सहस्साइं ।
सयमेग बावन्नं एगंमि उ अंगुले हुंति ॥९२॥
परमाणू इच्चाइक्कमेण उस्सेहअंगुल भणिय ।
जं पुण आयंगुलमेरिसेण तं भासियं विहिणा ॥९३॥

१ परमाणु रहरेणू तसरेणू - ता. सि. वि. ॥ २ वीसप॰ मु. ॥

[1]जे जंमि जुगे पुरिसा अट्ठसयंगुलसमूसिया हुंति ।
तेसिं जं नियमंगुलमायंगुलमेत्थ तं होइ ॥९४॥ [तुला जीवसमासे गा. १०३]
[2]जे पुण एयपमाणा ऊणा अहिगा [3]व तेसिमेयं तु ।
आयंगुलं न भन्नइ किंतु तदाभासमेवत्ति ॥९५॥ [अंगुलसत्तरी गा. ४-५]
उस्सेहंगुलमेगं हवइ [4]पमाणंगुलं सहस्सगुणं ।
उस्सेहंगुलदुगुणं वीरस्सायंगुलं भणियं ॥९६॥ [विशेषणवती गा. १]
आयगुलेण वत्थुं उस्सेहपमाणओ मिणसु देहं ।
नगपुढविविमाणाइं मिणसु पमाणंगुलेणं तु ॥९७॥

[5]अगि-रगीत्यादिदण्डके अगिर्गत्यर्थो धातुः । गत्यर्थाश्च ज्ञानार्था अपि भवन्त्यतोऽग्यन्ते-प्रमाणतो ज्ञायन्ते पदार्था अनेनेत्यङ्गुलं-मानविशेषः । तच्च त्रिविधम्, तद्यथा-आद्यमुत्सेधाङ्गुलम्, द्वितीयमात्माङ्गुलम्, तृतीयं च प्रमाणाङ्गुलनामकम्, इत्येतानि त्रीण्यङ्गुलानि समये-सिद्धान्ते तत्तद्वस्तुमानविषयतया व्यापार्यन्ते । [6]तानि च वस्तूनि यथायथमेभिर्मीयन्ते इत्यर्थः ॥८९॥

नन्वमीषामङ्गुलानां मध्ये उत्सेधाङ्गुलं तावत् किंप्रमाणं भवतीत्याशङ्क्य तत्प्रमाणनिष्पत्तिक्रमनिरूपणार्थमाह-'सत्थेणे' त्यादि, शस्त्रेण-खड्गादिना सुतीक्ष्णेनापि छेत्तुं-द्विधाकर्तुं भेत्तुं वा-खंडशो विदारयितुं सच्छिद्रं वा कर्तुं यं पुद्गलविशेषं न शक्ताः पुमांसस्तं परमाणुं घटाद्यपेक्षयाऽतिसूक्ष्मं सिद्धाः-

१ जं-सि. वि. ॥ २ जं-सि. ॥ ३ य-सि. वि. ॥ ४ पमाणांगुलं-सि. वि. ॥ ५ धातुपाठे १।८३ ॥ ६ तानि तानि च-सि. वि. ॥

सैद्धान्तिकतया प्रसिद्धा यद्वा ज्ञानप्रसिद्धाः केवलिनः, न तु मुक्तिप्राप्ताः, तेषां शरीराद्यभावेन वचनस्यासंभवात् , वदन्ति–ब्रुवते प्रमाणानाम्–अङ्गुलहस्तादीनामादिं[1] –मूलम् , किलशब्देन चेदं सूच्यते–लक्षणमेवेदं परमाणोः, न पुनस्तं छेत्तुं भेत्तुं वा कोऽप्यारमते । अतिश्लक्ष्णत्वेन छेदनभेदनाविषयत्वात्प्रयोजनाभावाच्चेति । अयं चेह व्यवहारनयमतेनैव परमाणुत्वेनोच्यते, यावताऽनन्ताणुकस्कन्ध एवासौ । केवलं [2]सूक्ष्मपरिमाणापन्नत्वेन चक्षुर्ग्रहणच्छेदनभेदनाद्यविषयत्वादमुमपि व्यवहारनयः परमाणुं मन्यत इतीह परमाणुत्वेनोपन्यस्त इति ॥९?॥

उक्तं परमाणुस्वरूपम् , इदानीं तदुपरिवर्तिनः शेषानुत्सेधाङ्गुलनिष्पत्तिकारण[3]भूतानन्यानपि परिमाणविशेषानाह–'परमाणू' इत्यादि, इह परमाणोरनन्तरम् उपलक्षणस्य व्याख्यानादुच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिकादीनि त्रीणि पदानि गाथायामनुक्तान्यपि द्रष्टव्यानि । **अनुयोगद्वारा**दिषु तथैवाभिधानाद्युक्तिसंगतत्वाच्च[4] । ततश्चानन्तैः परमाणुभिरेकस्या उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिकाया **आगमे**ऽभिधानात्परमाणुं वर्जयित्वा सर्वेऽप्येते उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका-श्लक्ष्णश्लक्ष्णिकोर्ध्वरेणु-त्रसरेणु-रथरेण्वादयो यवपर्यन्ताः परिमाणविशेषा यथोत्तरमष्टगुणाः क्रमेण कर्तव्याः । तत उत्सेधाङ्गुलं निष्पद्यते ।

[5]इयमत्र भावना–पूर्वोक्तव्यावहारिकपरमाणवोऽनन्ता मिलिताः सन्त एका उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका भवति । अतिशयेन श्लक्ष्णाश्लक्ष्णश्लक्ष्णा सैव श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका उत्तरप्रमाणापेक्षया उत्–प्राबल्येन श्लक्ष्ण-

१ ०दि–सि. वि. ॥ २ सूक्ष्मपरिणामापन्नत्वेन-मु. ॥ ३ भूतान् परि० सि. वि. ॥ ४ ०त-सि.वि. ॥
५ तुला-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्तिः (प्र. २।१९ प. ९४), ज्योतिष्करण्डवृत्तिः प. ४३ तः । जीवसमासवृत्तिर्द्रष्टव्या ॥

श्लक्ष्णिका उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका । अष्टाभिरुच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिकाभिरेका श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका । प्राक्तनप्रमाणापेक्षयाऽष्टगुणत्वात्, [1]ऊर्ध्वरेण्वपेक्षया चाष्टमभागवर्तित्वात् । अष्टाभिः श्लक्ष्णश्लक्ष्णिकाभिरेक ऊर्ध्वरेणुः, जालप्रभाऽभिव्यङ्ग्यः स्वतः परतो वा ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्चलनधर्मा रेणुरूर्ध्वरेणुः । अष्टभिरूर्ध्वरेणुभिरेकस्त्रसरेणुः, त्रस्यति–पूर्वादिवातप्रेरितो गच्छति यो रेणुः स त्रसरेणुः । अष्टभिस्त्रसरेणुभिरेको रथरेणुः, [2]भ्रमद्रथचक्रोत्खातो रेणू रथरेणुः । पूर्वः पौरस्त्यादिवातेषु चलति, अयं तु तत्सद्भावेऽपि रथचक्राद्युत्खननमन्तरेण न चलतीत्यस्मात्पूर्वोऽल्पप्रमाणः ।

इह च बहुषु सूत्रादर्शेषु **'परमाणू रहरेणू तसरेणू'** इत्यादिरेव पाठो दृश्यते, स चासङ्गत एव लक्ष्यते । रथरेणुमाश्रित्य त्रसरेणोरष्टगुणत्वानुपपत्तेः, उक्तन्यायेन विपर्ययस्यैव घटनादिति । यदपि [3]**संग्रहण्यां** 'परमाणू रहरेणू तसरेणू' [ ] इत्यादिरेव पाठो दृष्ट इत्युच्यते तत्रापि समानः [4]पन्थाः । तस्यापि घटमानकत्वस्य चिन्त्यत्वादागमेन सह विरोधाद्युक्त्यसंगतत्वाच्चेति । प्र. आ. ४०६

अष्टभी रथरेणुभिर्देवकुरूत्तरकुरुमनुष्याणां [5]संबंधि एकं वालाग्रं भवति । तैरष्टभिर्हरिवर्षरम्यक्मनुष्यवालाग्रं भवति, [6]तैरष्टभिर्हैमवतहैरण्यवतमनुष्यवालाग्रम्, तैरष्टभिः पूर्वविदेहापरविदेहमनुष्यवालाग्रम्, [7]तैरप्यष्टभिर्भरतैरवतमनुष्यवालाग्रम् । इह चैवं वालाग्राणां भेदे सत्यपि वालाग्रजातिसामान्यविवक्षया

---

१ ऊर्ध्वरेणुत्वापेक्षया-सि.वि. ॥ २ तुला-जीवसमासवृत्तिः गा. ९८, प. ९८ ॥ ३ संग्रहिण्यां-मु. । बृहत्संग्रहण्यां (चन्द्र.) गा. २६१ द्रष्टव्या ॥ ४ पथा-सि. ॥ ५ संबधिकं वालाग्रं-सि.वि. ॥ ६ तैरष्टभिर्हैमवतैरण्य० मु. । ज्योतिष्करण्डटीकायाम् (प. ४४) लोकप्रकाशे [१।२७] च द्रष्टव्यम् ॥ ७ तैरष्ट० मु. ॥

वालाग्रमिति सामान्येनैकमेव सूत्रे निर्दिष्टमिति । 'अष्टभिर्भरतैरवतमनुष्यवालाग्रैरेका[१] प्रतीतस्वरूपैव लिक्षा जायते । ताभिरष्टाभिरेका यूका, ताभिरप्यष्टाभिर्यवशब्दसूचितमेकं यवमध्यम्, अष्टभिर्यवमध्यैरेक-मुत्सेधाङ्गुलं निष्पद्यत इति ।

इत ऊर्ध्वं सूत्रानुक्तमप्युपयोगित्वादुच्यते–एतानि षडङ्गुलान्यङ्गुलषट्कविस्तीर्णः पादस्य मध्यतल-प्रदेशः पादैकदेशत्वात्पादो भवति द्वौ [३]च युग्मीकृतावेतौ पादौ द्वादशाङ्गुलप्रमाणा वितस्तिः, द्वे वितस्ती हस्तः, चत्वारो हस्ता धनुः, द्वौ धनुः, द्वौ धनुःसहस्रौ गव्यूतम्, चत्वारि गव्यूतानि योजनमिति । उक्तं च–
"अट्ठेव य जवमज्झाणि अंगुलं छच्च अंगुला पाओ । पाया य दो विहत्थी दो य विहत्थी भवे हत्थो ॥१॥
चउहत्थं पुण धणुहं दुन्नि सहस्साइं गाउय तेसिं । चत्तारि गाउया पुण जोयणमेगं मुणेयव्वं" ॥२॥ ॥९१॥

अथैकस्मिन्नुत्सेधाङ्गुले कियन्तः परमाणवो भवन्तीत्येतदाशङ्क्याह—'वीसे' त्यादि, विंशतिर्लक्षाः परमाणूनां सप्तनवतिसहस्राणि शतं चैकं द्विपञ्चाशदधिकम् एकस्मिन्नुत्सेधाङ्गुले एतावन्तः परमाणवो भवन्ति । इयं च संख्या 'परमाणू तसरेणू' इत्यादिगाथायां साक्षादुपात्तानेव परमाणुविशेषानाश्रित्य द्रष्टव्या, उपलक्षणव्याख्यानलब्धोच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिकादित्रयापेक्षया पुनरतिभूयसी परमाणुसंख्या संपद्यत इति ॥९२॥

अथोत्सेधाङ्गुलोपसंहारपूर्वमात्माङ्गुलं [४]संबन्धयन्नाह––'परमाणु' इत्यादि, परमाण्वादिक्रमेण भणितं प्रथममुत्सेधाङ्गुलम्, उत्सेधो–देवादिशरीराणामुच्चत्वं [५]तन्निर्णयकर्तृकत्वेन तद्विषयमङ्गुलमुत्सेधा-

१ ज्योतिष्करण्डक वृत्तौ तु–'अष्टौ पूर्वविदेहापरविदेहमनुष्यवालाग्राण्येका लिक्षा' इति दृश्यते । अनुयोगद्वार-वृत्तिः जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वृत्तिश्च (प. ९४) द्रष्टव्या ॥
२ ०काभिः-सि.वि. ॥ ३ च–सि.वि. नास्ति ॥ ४ संबंधमाह-सि.वि. ॥ ५ तन्निर्णयकर्तृत्वेन–सि. वि. ॥

ङ्गुलम्, यद्वा उत्सेधो 'अणंताणं सुहुमपरमाणुपुग्गलाणं समुदयसमिइसमागमेणं एगे ववहारपरमाणू' [ ]
इत्यादिक्रमेणोच्छ्रयो–वृद्धिस्तस्माज्जातमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम्, यत्पुनरात्माङ्गुलं पूर्वमुद्दिष्टं तदीदृशेन–
वक्ष्यमाणस्वरूपेण विधिना–प्रकारेण भाषितं–प्रतिपादितं तीर्थकृद्गणधरैः ॥९३॥

तमेव विधिमाह–'जे जंमी' त्यादि, 'ये पुरुषाः–चक्रवर्ति-वासुदेवादयो यस्मिन् युगे–सुषमदुष्षमा-
दिकाले निजाङ्गुलेनैवाष्टोत्तरं शतमङ्गुलानामुच्छ्रिता–उच्चा भवन्ति, तेषां च स्वकीयाङ्गुलेनाष्टोत्तराङ्-
गुलशतोच्चानां पुरुषाणां यन्निजम्–आत्मीयमङ्गुलं तत्पुनरात्माङ्गुलं भवति। इह च ये यस्मिन् काले
प्रमाणयुक्ताः पुरुषा भवन्ति तेषां संबन्धी आत्मा गृह्यते तत आत्मनोऽङ्गुलमात्माङ्गुलम् ॥९४॥

इदं च पुरुषाणां कालादिभेदेनानवस्थित मानत्वादनियतप्रमाणं द्रष्टव्यम् 'जे पुणे' त्यादि, [2]ये
पुनः पुरुषा एतस्मादष्टोत्तराङ्गुलशतलक्षणात्प्रमाणान्न्यूनाः समधिका वा तेषां संबन्धि यदङ्गुलमेतदा-
त्माङ्गुलं न भण्यते, किंतु तदाभासमेव–आत्माङ्गुलाभासमेव, परमार्थत आत्माङ्गुलं तन्न भवती-
त्यर्थः। लक्षणशास्त्रोक्तस्वरादिशेषलक्षणवैकल्यसहायं च यथोक्तप्रमाणाद्धीनाधिक्यमिह प्रतिषिद्धं न केवल-
मिति संभाव्यते, भरतचक्रवर्त्यादीनां स्वाङ्गुलतो विंशत्यधिकाङ्गुलशतमानानामप्यत्र निर्णीतत्वा-
न्महावीरादीनां च केषाञ्चिन्मतेन चतुरशीत्याद्यङ्गुलप्रमाणत्वादिति ॥९५॥

साम्प्रतं क्रमसंप्राप्तं प्रमाणाङ्गुलमाह––'उस्सेहंगुले' त्यादि, उत्सेधाङ्गुलम्–अनन्तरोक्तस्वरूपं
सहस्रगुणं सदेकं प्रमाणाङ्गुलं भवति, [3]परमप्रकर्षरूपं प्रमाणं प्राप्तमङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलम्, नातः परं

१ तुला-जीवसमासवृत्तिः गा. १०३, प. १०१॥ २ प्रज्ञापनावृत्तिर्द्रष्टव्या॥ ३ परमं-मु.॥

प्र. आ.
४०७

बृहत्तरमङ्गुलमस्तीति भावः । यदिवा समस्तलोकव्यवहारराज्यादि[1]स्थितिप्रथमप्रणेतृत्वेन प्रमाणभूतोऽस्मिन्नवसर्पिणीकाले तावद्युगादिदेवो भरतचक्रवर्ती वा तस्य प्रमाणभूतपुरुषस्याङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलम्, तच्च भरतचक्रवर्तिन आत्मांगुलम् तदा आत्माङ्गुलस्य प्रमाणाङ्गुलस्य च तुल्यत्वात् ।

ननु यदि भरतचक्रिणः संबन्ध्यङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलमित्युच्यते, एवं सत्युत्सेधाङ्गुलात्प्रमाणाङ्गुलं चतुःशतगुणमेव स्यात्, न सहस्रगुणम्, [2]तथाहि–भरतचक्रवर्ती आत्मीयाङ्गुलेन किल विंशं शतमङ्गुलानामनुयोगद्वारचूर्ण्यादिषु निर्णीतः । उत्सेधाङ्गुलेन तु पञ्चधनुःशतमानत्वात् प्रतिधनुश्च षण्णवत्यङ्गुलसद्भावादष्टचत्वारिंशत्सहस्राण्यङ्गुलानामसौ संपद्यते । एवं च सत्येकस्मिन् प्रमाणाङ्गुले उत्सेधाङ्गुलानां चत्वार्येव शतानि भवन्ति । विंशत्यधिकशतेन प्रमाणाङ्गुलानामष्टचत्वारिंशत्सहस्रसंख्यस्योत्सेधाङ्गुलराशेर्भागापहारे एतावत एव लाभात् । ततश्चैवं भरतसंबन्ध्यङ्गुललक्षणं प्रमाणाङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलाच्चतुःशतगुणमेव स्यात् न सहस्रगुणमिति, सत्यमुक्तम्, किन्तु प्रमाणाङ्गुलस्यार्धतृतीयोत्सेधाङ्गुलरूपं पृथुत्वमस्ति, ततो यदा स्वकीयपृथुत्वेन युक्तं यथावस्थितमेवेदं चिन्त्यते तदोत्सेधाङ्गुलात्प्रमाणाङ्गुलं चतुःशतगुणमेव भवति । यदा त्वर्धतृतीयोत्सेधाङ्गुललक्षणेन विष्कम्भेण शतचतुष्टयलक्षणं प्रमाणाङ्गुलदैर्घ्यं गुण्यते तदोत्सेधाङ्गुलविष्कम्भा सहस्राङ्गुलदीर्घा च प्रमाणाङ्गुलसूचिर्जायते ।

इदमुक्तं भवति–अर्धतृतीयोत्सेधाङ्गुलविष्कम्भे प्रमाणाङ्गुले तिस्रः श्रेणयः [3]कल्प्यन्ते, प्रथमा उत्सेधाङ्गुलैकाङ्गुलविष्कम्भा शतचतुष्टयदीर्घा, द्वितीयापि तावन्मानैव, तृतीयापि दैर्घ्येण चतुः-

१ ०स्थितिप्रमाणप्रणेतृत्वेन-सि. ॥ २ तथा-सि.वि. ॥ ३ कल्पन्ते–सि. वि. ॥

शतमानैव विष्कम्भतस्त्वर्धाङ्गुलप्रमाणा, ततश्चैतस्या दैर्घ्याच्छतद्वयं गृहीत्वा विष्कम्भोऽङ्गुलप्रमाणः [१]संपाद्यते, तथा च सत्यङ्गुलशतद्वयदीर्घा अङ्गुलविष्कम्भा इयमपि सिद्धा । ततस्तिसृणामप्येतासामुपर्युपरि व्यवस्थापने उत्सेधाङ्गुलेनाङ्गुलसहस्रदीर्घा अङ्गुलविष्कम्भा प्रमाणाङ्गुलस्य सूचिः सिद्धा भवति । तत इमां सूचिमधिकृत्य उत्सेधाङ्गुलात्प्रमाणाङ्गुलं सहस्रगुणदीर्घमुक्तम् । वस्तुतस्तु चतुःशतगुणदीर्घमेव । [२]अत एव पृथ्वीपर्वतद्वीपपयोराशिविमानादिमानान्यनेनैव चतुःशतगुणेनार्धतृतीयाङ्गुललक्षणस्वविष्कम्भान्वितेनानीयन्ते न तु सहस्रगुणया अङ्गुलविष्कम्भया सूच्या इति तावद्वृद्धसम्प्रदायादवगतम् । तत्त्वं तु केवलिनो विदन्तीति ।

प्र. आ. ४०८

तथा तदेवोत्सेधाङ्गुलं द्विगुणं सद् वीरस्य भगवतोऽपश्चिमतीर्थंकृत एकमात्माङ्गुलं भणितं पूर्वाचार्यैः, वर्धमानस्वामी हि भगवान् आदेशान्तरादात्माङ्गुलेन चतुरशीतिरङ्गुलानि, उत्सेधाङ्गुलतस्तु सप्तहस्तमानत्वादष्टषष्ट्यधिकं शतम् । तथा चानुयोगद्वारचूर्णिः–

"वीरो आएसंतरओ आयंगुलेण चुलसीइअंगुलमुव्विद्धो उत्सेहंगुलओ सयमट्ठसट्ठं हवइ" [ ] इति ।

ततो द्वे उत्सेधाङ्गुले वीरस्यैकमात्माङ्गुलं भवति । अत्र च मतान्तराण्यधिकृत्य बहु वक्तव्यं तच्च नोच्यते ग्रन्थगौरवभयात् ।

इदं च त्रिविधमप्यङ्गुलं पुनः प्रत्येकं त्रिधा भवति, तद्यथा–सूच्यङ्गुलम्, प्रतराङ्गुलम्, घनाङ्गुलं च, तत्र दैर्घ्येणाङ्गुलायता बाहल्यतस्त्वेकप्रादेशिकी नभःप्रदेशश्रेणिः सूच्यङ्गुलमुच्यते । एतच्च

१ संपद्यते–सि. वि. ॥ २ मतान्तरदर्शनार्थं द्रष्टव्यः लोकप्रकाशः १ । ४३-४४ ॥

सद्भावतोऽसंख्येयप्रदेशमप्यसत्कल्पनया सूच्याकारव्यवस्थापितप्रदेशत्रयनिष्पन्नं द्रष्टव्यम्, [1]स्थापना चेयं ०००, सूची सूच्यैव गुणिता प्रतराङ्गुलम्, इदमपि परमार्थतोऽसंख्येयप्रदेशात्मकम् असद्भावतस्त्वेवानन्तरदर्शिता त्रिप्रदेशात्मिका सूचिः तयैव गुण्यते । अतः प्रत्येकं प्रदेशत्रयनिष्पन्नसूचीत्रयात्मकं नवप्रदेशसंख्यं संपद्यते । स्थापना चेयम्—
000
000
000,

प्रतरश्च सूच्या गुणितो दैर्घ्यविष्कम्भबाहल्येषु समसंख्यं घनाङ्गुलं भवति । दैर्घ्यादिषु त्रिष्वपि स्थानेषु समतालक्षणस्यैव समयचर्यया घनस्येह रूढत्वात् । प्रतराङ्गुलं तु दैर्घ्य-विष्कम्भाभ्यामेव प्रदेशैः समं [2]न पिण्डतः, तस्य तत्रैकप्रदेशमात्रत्वादिति भावः । इदमपि सद्भावतो दैर्घ्य-विष्कम्भ-बाहल्येषु प्रत्येकमसंख्येय[3]प्रदेशमानमसत्प्ररूपणया तु सप्तविंशतिप्रदेशात्मकम्, पूर्वोक्तत्रिपदेशात्मकसूच्याऽ[4]नन्तरप्रदर्शिते नवप्रदेशात्मके प्रतरे गुणिते एतावतामेव प्रदेशानां भावात् । एषां च स्थापनानन्तरनिर्दिष्टनवप्रदेशात्मकप्रतरस्याध उपरि च नव नव प्रदेशान् दत्त्वा भावनीया, तथा च सत्यायामविष्कम्भपिण्डैस्तुल्यविषयमापद्यत इति ॥९६॥

अथ येनाङ्गुलेन यन्मीयते तदाह—'आय' मित्यादि, आत्माङ्गुलेन वास्तु मिमीष्व । तच्च वास्तु त्रिधा—खातमुच्छ्रितमुभयं च, तत्र खातं—कूपभूमिगृहतडागादि, उच्छ्रितं—धवलगृहादि, उभयं—भूमिगृहादियुक्तं धवलगृहादि । तथा देहं—देवादीनां शरीरमुत्सेधप्रमाणतः—उत्सेधाङ्गुलेन मिमीष्व ।

१ स्थापना चेयं ०००-सि. वि. ॥ २ न -मु. नास्ति ॥ ३ ०प्रदेश० मु. नास्ति ॥ ४ ०नन्तरदर्शितनव० सि. वि. ॥

प्रमाणाङ्गुलेन पुनर्नगपृथ्वीविमानादीनि मिमीष्व । तत्र नगा-मेर्वाद्याः, पृथिव्यो-घर्माद्याः, विमानानि-सौधर्मावतंसकादीनि, आदिशब्दाद्भवननरकावासद्वीपसमुद्राद्यपि प्रमाणाङ्गुलेन मिमीष्वेति ॥९७॥ २५४॥

इदानीं 'तमकायसरूवं' ति पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

[1]जंबूदीवाउ असंखेज्जइमा अरुणवरसमुद्दाओ ।
बायालीससहस्से जगईउ जल विलंघेउ ॥९८॥
समसेणीए सतरस एक्कवीसाइं जोयणसयाइं ।
उल्लसिओ तमरूवो वलयागारो [2]अउक्काओ ॥९९॥
[3]तिरियं पवित्थरमाणो आवरयंतो सुरालयचउक्कं ।
[4]पंचमकप्पे रिट्ठंमि पत्थडे चउदिसिं मिलिओ ॥१४००॥
हेट्ठा मल्लगमूलट्ठिइट्ठिओ [5]उवरि बंभलोयं जा ।
कुक्कुडपंजरगागारसंठिओ सो तमक्काओ ॥१४०१॥
दुविहो से विक्खंभो संखेज्जो अत्थि तह असंखेज्जो ।
[6]पढमंमि उ विक्खंभो संखेज्जा जोयणसहस्सा ॥२॥
परिहीए ते असंखा बोए विक्खंभपरिहिजोएहिं ।
हुंति असंखसहस्सा नवरमिमं होइ वित्थारो ॥३॥

१ तुलनीयं भगवतीसूत्रम् ६।५। सू. २४१॥ २ अपुक्कायो—ता. । अवुक्कायो-सि. ॥ ३ तिरिय पवित्थर० मु. । तिरिअं वित्थर० खि ॥ ४ पंचमकप्पेहिं-सि. ॥ ५ उवरिं-सि. ॥ ६ पढमंमिवि-मु । पढमंमि य-सि. ॥

जम्बूद्वीपादसङ्ख्ये यतमो योऽसावरुणवरसमुद्रस्तमाश्रित्य द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि जगत्या जलं विलङ्घ्य समश्रेण्या-समभित्तितया एकविंशत्यधिकानि सप्तदश योजनशतानि यावद्वलयाकारस्तमोरूपो देवानामपि तत्रोद्योताभावेन महान्धकारात्मकत्वादप्काय उल्लसितः । अयमर्थः—एतस्माज्जम्बूद्वीपात्तिर्यगसङ्ख्यातद्वीपसमुद्रान् व्यतिक्रम्यारुणवरनामा द्वीपः समस्ति । तद्वेदिकापर्यन्ताद् द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यरुणवरं समुद्रमवगाह्यात्रान्तरे जलोपरितनतलादूर्ध्वमेकविंशत्युत्तराणि सप्तदश योजनशतानि यावत्समभित्त्याकारतया गत्वा वलयाकृतिरप्कायमयो महान्धकाररूपस्तमस्कायः समुल्लसित इति । [1]अयं च तिर्यक्प्रविस्तरन् सुरालयचतुष्कं-सौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्ररूपं देवलोकचतुष्टयमावृण्वन्-आच्छादयन्नूर्ध्वं तावद्गतो यावत् पञ्चमे ब्रह्मलोकनामके कल्पे तृतीयेऽरिष्टविमानप्रस्तटे चतसृष्वपि दिक्षु मिलित इति ॥९८-१४००॥

अथ तमस्कायस्य संस्थानमाह—'हेट्ठे' त्यादि, अधस्ताद्- [2]अधोभागे मल्लकमूलस्थितिस्थितो-मल्लकं-शरावं तस्य मूल-बुध्नं तस्य स्थितिः-संस्थानं तया स्थितो-व्यवस्थितः, शरावबुध्नाकार इति भावः । उपरिष्टाच्च ब्रह्मलोकं यावत् [3]कुक्कुटपञ्जरकाकारसंस्थितः सः-पूर्वोक्तस्वरूपस्तमस्कायो भवति । प्र. आ. ४०१
तमसां-तमिस्रपुद्गलानां कायो-राशिस्तमस्काय [4]इति ॥१॥

अथास्य तमस्कायस्य विष्कम्भं परिधिं च प्राह—'दुविहो' इत्यादिगाथाद्वयम् , द्विविधो-द्विप्रकारः

---

१ अयं तिर्यक् विस्तरन्-सि. ॥ २ अधोभागेन-सि. ॥ ३ कुक्कुट० मु. ॥ ४ इति स्थापना॥ [cross-shaped diagram] सि.॥

से' त्ति तस्य तमस्कायस्य विष्कम्भो—विस्तारो भवति—सङ्ख्यातस्तथा असङ्ख्यातश्च । तत्र प्रथमे विष्कम्भे आदित आरभ्य ऊर्ध्वं सङ्ख्येययोजनानि यावत्सङ्ख्येया योजनसहस्राः प्रमाणतो भवन्ति । परिधौ—परिक्षेपे पुनस्त एव योजनसहस्रा असङ्ख्याताः । अधस्तमस्कायस्य सङ्ख्यातयोजनविस्तृतत्वेऽप्यसङ्ख्याततमद्वीपपरिक्षेपतो बृहत्तरत्वात्तत्परिक्षेपस्यासङ्ख्यातयोजनसहस्रप्रमाणत्वमविरुद्धम्, आन्तरबहिः परिक्षेपविभागस्तु नोक्तः । उभयस्याप्यसङ्ख्याततया तुल्यत्वादिति ।

तथा [1]द्वितीये विष्कम्भे विष्कम्भपरिधियोगाभ्यां—विष्कम्भेन परिधिना च प्रत्येकमसङ्ख्याता योजनसहस्रा भवन्ति । नवरं [2]केवलमिदमत्रासङ्ख्यातयोजनसहस्ररूपं प्रमाणं विस्तारे भवति । वलयाकारादूर्ध्वं यदाऽसौ तमस्कायः क्रमेण विस्तरति तदानीमिदं प्रमाणमवसेयमिति भावः । अस्य च तमस्कायस्य महत्त्वमित्थमागमविदः प्रवेदयन्ति । यथा—यो देवो महर्द्धिको यया गत्या तिसृभिश्चपुटिकाभिरेकविंशति वारान् सकलं जम्बूद्वीपमनुपरिवृत्यागच्छेत् स एव देवस्तयैव गत्या षड्भिरपि मासैः सङ्ख्यातयोजन विस्तारमेव तमस्कायं व्यतिव्रजेत् नेतरमिति, यदा च कश्चिद्देवः परदेव्यासेवाहेवाकपररत्नापहारादिभिरपराधमाधत्ते तदा बलवद्देवभयात् प्रपलाय्य देवानामपि भूरिभयाविर्भावकत्वेन गमनविघातहेतौ तस्मिंस्तमस्काये निलीयत इति ॥२॥३॥ ॥२५५॥

सम्प्रति 'अणंतछक्कं' ति षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

[3]सिद्धा १ निगोयजीवा २ वणस्सई ३ काल ४ पोग्गला ५ चेव ।
सव्वमलोगागासं ६ छप्पेएऽणंतया नेया ॥४॥ ॥५५८॥

१ द्विविधे-सि. ॥ २ केवलमिदमस० खि. ॥ ३ तुला—नव्यचतुर्थकर्मग्रन्थे ५५ गाथा ॥

सर्वे एव सिद्धाः–अपगतसकलकर्मकलंकाः, तथा सर्वेऽपि सूक्ष्मबादरभेदभिन्ना निगोदजीवा–अनन्तकायिकजन्तवः, तथा सर्वे वनस्पतयः–प्रत्येकानन्तवनस्पतिजीवाः, काल इति–सर्वेऽतीतानागतवर्तमानसमयाः, सर्वे पुद्गलाः–समस्तपुद्गलास्तिकायगताः परमाणवः, तथा सर्वं–समस्तमलोकाकाशम्, अयं च सर्वशब्दः प्रत्येकं लिङ्गवचनपरिणामेन सर्वत्र संबन्धनीयः, स च तथैव संबन्धितः। एते–प्रदर्शितस्वरूपाः षडपि राशयोऽनन्तका ज्ञेयाः ॥४॥२५६॥

इदानीम् 'अट्ठंगनिमित्ताणं' ति सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

[1]अंगं १ सुविणं २ च सरं ३ उप्पायं ४ अंतरिक्ख ५ भोमं च ६ ।
वंजण ७ लक्खण ८ मेव य अट्ठपयारं इह निमित्तं ॥५॥
अंगप्फुरणाईहिं सुहासुहं जमिह भन्नइ तमंगं १ ।
[2]तह सुस्सिविणयदुस्सिविणएहिं जं सुमिणयंति तयं २ ॥६॥
इट्ठमणिट्ठं जं सरविसेसओ तं सरंति विन्नेयं ३ ।
रुहिरवरिसाइ जंमि जायइ भन्नइ तमुप्पायं ४ ॥७॥
गहवेहभूयअट्टहासपमुहं जमंतरिक्खं तं ५ ।
भोमं च भूमिकंपाइएहिं नज्जइ वियारेहिं ६॥८॥

१ तुला-उत्तराध्ययन सू. १५/७, अंगविज्जा पृ. १, गा. १ ॥
२ तह सुसुमिणय दुस्सुमिणएहिं–मु. । तह सुसिविणाय सि. ॥

इह वंजणं मसाई ७ लंछणपमुहं तु लक्खणं भणियं ८ ।
सुहअसुहसूयगाइं अंगाईयाइं अट्ठावि ॥९॥

अङ्गं स्वप्नः स्वर उत्पात आन्तरिक्षं भौमं व्यञ्जनं लक्षणं चेत्येवमष्टप्रकारम्—अष्टविधमिह—शास्त्रे निमित्तं भवति । अतीतानागतवर्तमानानामतीन्द्रियभावानामधिगमे निमित्तं—हेतुर्यद्वस्तुजातं तन्निमित्तम्, सूत्रे स्वप्नादिपदेषु प्राकृतत्वात्पुंसकत्वमिति ॥५॥

प्र. आ. ४१०

साम्प्रतमष्टप्रकारमपि निमित्तं क्रमेण व्याख्यातुमाह—'अंगे' त्यादिगाथाचतुष्कम्, अङ्गस्फुरणादिभिः—[1]शरीरावयवस्पन्दप्रमाणादिभिर्यदिह वर्तमानमतीतमनागतं वा शुभं वा—प्रशस्तमशुभं वा—अप्रशस्तम् अन्यस्मै कथ्यते, तद्भण्यतेऽङ्गाख्यं निमित्तम्, यथा—

"[2]दक्षिणपार्श्वे स्पन्दनमभिधास्ये तत्फलं स्त्रिया वामे।
पृथिवीलाभः शिरसि स्थानविवृद्धिर्ललाटे स्यात् ॥१॥" इत्यादि १।

तथा सुस्वप्नदुःस्वप्नाभ्यां यत्कथ्यते शुभाशुभं तत्स्वप्नाख्यं निमित्तम्; यथा—

"[3]देवेज्यात्मजबान्धवोत्सवगुरुच्छत्राम्बुजप्रेक्षणं, प्राकारद्विरदाम्बुदद्रुमगिरिप्रासादसंरोहणम् ।
अम्भोधेस्तरणं सुरामृतपयोदध्नां च पानं तथा, चन्द्रार्कग्रसनं स्थितं शिवपदे स्वापे प्रशस्तं नृणाम् ॥१॥"
इत्यादि २।

॥५६०॥

[1] शरीरावयवस्पन्दि० सि. ॥ [2] तुला-स्थानाङ्गवृत्ति प. ४२७ B ॥ [3] देवेष्टात्म० जे. ॥

इष्टमनिष्टं च यत्स्वरविशेषतः षड्जादिस्वरसप्तकविभागतः शकुनरुतरूपाद्वा परस्मै कथ्यते तत् स्वर-नामकं निमित्तम्, यथा—

"सज्जेण लब्भए वित्तिं, कयं च न विणस्सइ ।
गावो मित्ता य पुत्ता य, नारीणं चेव वल्लहो ॥१॥" इत्यादि ।

यद्वा—'[1]चिलिचिलिमद्दो पुन्नो सामाए सूलिसूलि धन्नो उ ।
चेरी चेरी दित्तो [2]चिक्कुत्ती लाभहेउत्ति ॥१॥' इत्यादि ३ ।

सहजरुधिरवृष्ट्यादि [3]यस्मिन् जायते भण्यते तदुत्पाताभिधं निमित्तम्, आदिशब्दादस्थिवृष्ट्यादि-परिग्रहः; यथा—

"मज्जानि रुधिरास्थीनि, धान्याङ्गारान् वसां तथा । मघवा वर्षते यत्र, भयं विद्याच्चतुर्विधम् ॥१॥"
इत्यादि ४ । ग्रहवेधभूताट्टहासप्रमुखमान्तरिक्षं निमित्तम्, तत्र ग्रहवेधो–ग्रहस्य ग्रहमध्येन निर्गमः, भूताट्टहासः–अतिमहानाकाशे आकस्मिकः किलकिलारावः, यथा—

"भिनत्ति सोमं मध्येन, ग्रहेष्वन्यतमो यदा । तदा राजभयं विद्यात्, प्रजाक्षोभं च दारुणम् ॥१॥"
इत्यादि । प्रमुखग्रहणाद्गन्धर्वनगरादिपरिग्रहः । यथा—

"कपिलं शस्यघाताय, माञ्जिष्ठं हरणं गवाम् । अव्यक्तवर्णं कुरुते, बलक्षोभं न संशयः ॥१॥

---

१ चिलिचिलिमद्दो–इति स्थानाङ्गवृत्तौपाठः २७७ B ॥ २ चक्कुत्ति-सि. ॥ ३ यस्मिन् जायते (भण्यते)- मु. ॥

गंधर्वनगरं स्निग्धं, सप्राकारं सतोरणम्। सौम्यां दिशं समाश्रित्य, राज्ञस्तद्विजयङ्करम् ॥२॥"
इत्यादि ५।

भूमिकम्पादिभिर्विकारैः शुभाशुभं यद् ज्ञायते तद्भौमं निमित्तम्, यथा–
"शब्देन महता भूमिर्यदा रसति कम्पते। सेनापतिरमात्यश्च, राजा राष्ट्रं च पीड्यते ॥१"
[1]इत्यादि ६।

इह–अस्मिन् शास्त्रे व्यञ्जनं–मषादि, लाञ्छनप्रमुखं तु लक्षणं भणितम्, यथा—
"नाभ्यधस्ताद्भवेद्यस्या, लाञ्छनं मशकोऽपि वा। कुङ्कुमोदकसङ्काशं, सा प्रशस्ता निगद्यते ॥१॥"
इत्यादि। प्र. आ. ४१०

निशीथग्रन्थे पुनरित्थमुक्तं—"[2]माणाइगं लक्खणं मसाइगं वंजणं, अहवा जं सरीरेण सह समुप्पन्नं तं लक्खणं पच्छा उप्पन्नं वंजण" [१३।१६।४२१४] मिति।

तदेवं शुभाशुभसूचकान्यङ्गादीन्यष्टावपि प्रतिपादितानीति। लक्षणानि च पुरुषविभागेनेत्थं निशीथे प्रोक्तानि—

"पागयमणुयाणं बत्तीसं, अट्ठसयं बलदेववासुदेवाणं, अट्ठसहस्सं चक्कवट्टितित्थगराणं, जे फुडा हत्थपायाइसु लक्खिज्जंति तेसिं पमाणं भणियं[3] जे पुण अंतो स्वभावसत्त्वादयः तेहिं सह बहुतरा भवंती' [१३।१६।४२१३] त्यादि, ॥६॥७।८॥९॥२५७॥ ॥५६२॥

१ इत्यादि-मु. नास्ति ॥ २ तुला-स्थानाङ्गवृत्तिः प. ४६१ B ॥ ३ ०तं–खि. ॥

संप्रति 'माणुम्माणपमाणं' ति अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

जलदोणमद्धभारं समुहाइं[1] समूसिओ उ जो नव उ ।
माणुम्माणपमाणं तिविहं खलु लक्खणं [2]नेयं ॥१०॥

मानं—जलद्रोणप्रमाणता, उन्मानं—तुलारोपितस्यार्धभारप्रमाणता, [3]यश्च स्वमुखानि नवैव समुच्छ्रितः स पुमान् प्रमाणोपेतो भवति । अयमर्थः—पानीयपरिपूर्णायां पुरुषप्रमाणादीषदतिरिक्तायां महत्यां कुण्डिकायां प्रवेशितो यः पुरुषो जलस्य [4]द्रोणं—सर्वार्धघटिकाघटस्वरूपं निष्कासयति द्रोणेन जलस्योनां वा तां पूरयति स पुरुषो मानयुक्तो भवति । तथा सारपुद्गलोपचितत्वात् तुलायामारोपितः सन्नर्धभारं यः पुरुषस्तुलयति स उन्मानयुक्तो भवति । तथा यद्यस्यात्मीयमङ्गुलं तेनात्मनोऽङ्गुलेन द्वादशाङ्गुलानि मुखं प्रमाणयुक्तं भवति । अनेन च मुखप्रमाणेन नव मुखानि सर्वोऽपि पुरुषः प्रमाणयुक्तो भवति । प्रत्येकं द्वादशाङ्गुलैर्नवभिर्मुखैरष्टोत्तरं शतमङ्गुलानां संपद्यते । ततश्चैतावदुच्छ्रयः पुमान् प्रमाणयुक्तो भवतीति । तदेवं मानोन्मानप्रमाणरूपमेतत् त्रिविधं लक्षणमुत्तमपुरुषाणां खलु निश्चयेन ज्ञेयमिति ॥१०॥ २५८॥

१ ०इ ता. भगवतीसूत्रवृत्तौ च प. ११९ ॥ २ एयं-इति स्थानाङ्गवृत्तौ (प.४६२A) भगवतीसूत्रवृत्तौ च प. ११९A ॥ ३ यस्य-मु. । येश्च-सि. । जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिवृत्तिस्तुलनीया [प.२५२] तत्रापि 'यश्च' इति पाठः ॥ ४ द्रोणं स चाधघटिका० सि. । 'पुरुषः सारपुद्गलोपचितो जलस्य द्रोणं त्रिटङ्कसौवर्णिकगणनापेक्षया द्वात्रिंशत्सेरप्रमाणं निष्काशयति' इति जम्बूद्वीप प्र. शान्तिचन्द्रीयवृत्तौ प. २५२ B ॥

इदानीम् 'अट्ठारस भक्खभोज्जाइं'[1] त्येकोनषष्ट्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

[1]सूओ १ यणो २ जवन्नं ३ तिन्नि य मंसाइं ६ गोरसो ७ जूसो ८ ।
भक्खा ९ गुललावणिया १० मूलफला ११ हरियगं [2]डागो १३ ॥११॥
होइ रसालू य १४ तहा पाणं १५ पाणीय १६ पाणगं १७ चेव ।
अट्ठारसमो सागो १८ निरुवहओ लोइओ पिण्डो ॥१२॥
जलथलखहयरमंसाइं तिन्नि जूसो उ जीरयाइजुओ ।
[3]मुग्गरसो भक्खाणि य खंडखज्जयपमोक्खाणि ॥१३॥
गुललावणिया गुडप्पपडीउ गुलहाणियाउ वा भणिया ।
[4]मूलफलतिक्कपयं हरियमिह जीरयाईयं ॥१४॥
डाओ वत्थुलाईण[5] भज्जिया हिंगुजीरयाइजुया ।
सा य रसालू जा मज्जियत्ति तल्लक्खणं चेयं ॥१५॥
दो घयपला महु पलं दहियस्सऽद्धाढयं मिरिय वीसा ।
दस खंडगुलपलाइं [6]एस रसालू निवइजोगो ॥१६॥
पाणं सुराइयं पाणियं जलं पाणगं पुणो एत्थ ।
दक्खावाणियपमुहं सागो सो तक्कसिद्धं जं ॥१७॥

१ तुला-स्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः प.११८ तः ॥ २ सागो-इति स्थानाङ्गवृत्तौ पाठः ॥ ३ मग्ग॰ ता. ॥
४ मूलफलनेक्कपयं-सि. ॥ ५ °णि-सि. ॥ ६ एस रसालू निवइ जोग्गा-सि. ॥

सूपः ओदनः यवान्नं त्रीणि मांसानि गोरसो यूषः भक्ष्याणि गुडलावणिका मूलफलानि हरितकं शाकः, तथा भवति रसाला, आर्षत्वाच्च रसालू इति निर्देशः। तथा पानं पानीयं पानकम् अष्टादशश्च शाकः। एषोऽष्टादशविधो निरुपहतो- [1]निर्गत उपहतः-दोषो यस्मादसौ निरुपहतो-निर्दोष इत्यर्थः। लौकिको-निर्विवेकलोकप्रतीतः पिण्डः-आहार इति ॥११॥१२॥

तत्र सूपो-दालिः, ओदनः-कूरः, यवान्नं यवनिष्पन्नं परमान्नम्, गोरसो-दुग्धदधिघृतप्रभृतिकः। शेषं च सूत्रकृदेव क्रमेण विवृणोति—'जलो' त्यादिकं गाथापञ्चकम्, जलचरस्थलचरखचरजीवसंबन्धीनि त्रीणि मांसानि। तत्र जलचरा-मत्स्यादयः, स्थलचरा-हरिणादयः, खचरा-लावकादयः। तथा जूषो-जीरककटुभाण्डादिभिर्युतः सुसंभृतो मुद्गरसः; तथा भक्ष्याणि-खण्डखाद्यकप्रमुखाणि, खाद्यकं-खज्जकम्, तच्च खण्डेन खरण्टितम्, तत्प्रमुखाणि, तथा गुललावणिका-गुडपर्पटिका, पूर्वदेशीयप्रधानगुडकृता या पर्पटिकेत्यर्थः। अथवा गुडमिश्रा धाना गुडधाना भणिता गुललावणिकेति। 'मूलकफल' मिति त्वेकमेव पदं ग्राह्यम्, नतु द्वयम्, तत्र मूलानि अश्वगन्धादीनां फलानि सहकारादीनाम्, तथा हरितकमिह जीरकादिपत्रनिर्मितम्, तथा [2]डाको वस्तुलराजिकादीनां भर्जिकाहिङ्गुजीरकादिभिर्युता सुसंस्कृता; सा च रसाला ज्ञेया या [3]मार्जितेति लोके प्रसिद्धा, तस्याश्चेदं-वक्ष्यमाणं स्वरूपम्।

तदेवाह—'दो घयपले' त्यादि, द्वे पले घृतस्य एकं पलं मधुनः, अर्धाढको दध्नः, विंशतिर्मरिचानि वर्तितानि, दश च पलानि खण्डस्य गुडस्य वा, एतैः पदार्थैर्मिलितै रसाला निष्पद्यते, एषा च

१ निर्गतमुपहतं-सि.॥ २ शाको-इति स्थानाङ्गसूत्रवृत्तौ प. ११८॥ ३ तुला- धातुपारायणम् पृ. १७५, पृ. ३५३॥

नृपतीनां—राज्ञामुपलक्षणत्वादीश्वरलोकस्य योग्या—उचितेति। तथा पानं—सुरादि, आदिशब्दात्सर्वमद्यभेद-परिग्रहः, तथा पानीयं—सुशीतलं सुस्वादु च जलम्, पानकं पुनरत्रद्राक्षाखर्जूरादिकृतं पानकप्रमुखम्, तथा शाकः स उच्यते यत्तक्रेण सिद्धं—निष्पन्नं वटकादीति ॥१३॥१४॥१५॥१६॥१७॥ २५९॥

सम्प्रति 'छट्ठाणवुड्डिहाणि' त्ति षष्ट्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

वुड्ढी वा हाणीवा अणंत १ अस्संख २ संखभागेहिं ३ ।
वत्थूण संख ४ अस्संख ५ णंत ६ गुणणेण य विहेया ॥१८॥

अनन्ताऽसङ्ख्यातसङ्ख्यातभागैः सङ्ख्यातासङ्ख्यातानन्तगुणेन च वस्तूनां—पदार्थानां वृद्धिर्वा हानिर्वा विधेया। इह षट्स्थानके त्रीणि स्थानानि भागेन—भागहारेण वृद्धानि हीनानि वा भवन्ति; त्रीणि च स्थानानि गुणनेन—गुणकारेण, "भागो तिसु गुणणा तिसु" [ ] इति वचनात्। 'तत्र भागहारेऽनन्तासङ्ख्यातसङ्ख्यातलक्षणः क्रमः, गुणकारे च सङ्ख्यातासङ्ख्यातानन्तलक्षण इति। अयमर्थः—सर्वविरतिविशुद्धिस्थानादीनां वस्तूनां वृद्धिर्वा हानिर्वा चिन्त्यमाना षट्स्थानगता प्राप्यते। तद्यथा—अनन्तभागवृद्धिः, असङ्ख्यातभागवृद्धिः, सङ्ख्यातभागवृद्धिः, सङ्ख्यातगुणवृद्धिः, असङ्ख्यातगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिश्च; एवं हानिरपि।

तत्र किञ्चित्सुगमत्वात्सर्वविरतिविशुद्धिस्थानान्येवाश्रित्य लेशतो भाव्यते—इह हि सर्वोत्कृष्टादपि देशविरतिविशुद्धिस्थानात् सर्वजघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानमनन्तगुणम्, अनन्तगुणता च सर्वत्रापि

१ स[illegible] माग० सि. ॥

षट्स्थानकचिन्तायां सर्वजीवानन्तकप्रमाणेन गुणकारेण द्रष्टव्या । इयमत्र भावना—सर्वजघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानं केवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन विच्छिद्यते । छित्त्वा च निर्विभागा भागाः पृथक्क्रियन्ते । ते च निर्विभागा भागाः सर्वसंकलनया विभाव्यमाना यावन्तः सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागाः भागाः [1]सर्वजीवानन्तकरूपेण गुणकारेण गुण्यमाना जायन्ते तावत्प्रमाणाः प्राप्यन्ते ।

अत्राप्ययं भावार्थः—इह किलासत्कल्पनया सर्वोत्कृष्टस्य देशविरतिविशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागा दश सहस्राणि [2]१००००, [3]सर्वजीवानन्तकप्रमाणश्च राशिः शतम् , ततस्तेन शतसङ्ख्येन सर्वजीवानन्तकमानेन राशिना दशसहस्रसङ्ख्याः सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागा गुण्यन्ते, जाता दश लक्षाः [4]१००००००, एतावन्तः किल सर्वजघन्यस्यापि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागा भवन्ति । एते च सर्वजघन्यचारित्रसत्कविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागाः समुदिताः सन्तः सर्वजघन्यं संयमस्थानं भण्यते । तस्मादनन्तरं यद् द्वीतीयं संयमस्थानं तत् पूर्वस्मादनन्तभागवृद्धम् ।

किमुक्तं भवति ?—प्रथमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया द्वितीयसंयमस्थाने निर्विभागा भागा अनन्ततमेन भागेनाधिका भवन्तीति । तस्मादपि यदनन्तरं तृतीयं तत्ततोऽनन्तभागवृद्धम् , एवं पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तरोत्तराणि निरन्तरमनन्तभागवृद्धानि संयमस्थानानि अङ्गुलमात्रक्षेत्रासङ्ख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि । एतानि च समुदितानि संयमस्थानान्येकं कण्डकं भवति, कण्डकं नाम समयपरिभाषया अङ्गुलमात्रक्षेत्रासङ्ख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा सङ्ख्याऽभिधीयते । उक्तं च—

---

१ सर्वजीवानन्तकगुणेन-सि. ॥ २ मुद्रिते-१०००० नास्ति ॥ ३ सर्वसङ्ख्यानन्तक० सि. ॥ ४ मुद्रिते १०००००० नास्ति ।

❀ "कण्डंति एत्थ भन्नइ अंगुलभागो असंखेज्जो" [ ] तस्माच्च कण्डकात् परतो यदन्यदनंतरं संयमस्थानं तत् पूर्वस्मादसङ्ख्येयभागाधिकम्।

एतदुक्तं भवति—पाश्चात्यकण्डकसत्कचरमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया [1]कण्डकानन्तरे संयमस्थाने निर्विभागभागगतप्रदेशा असङ्ख्येयतमेन भागेनाधिकाः प्राप्यन्ते। ततः पराणि पुनर्यान्यन्यानि संयमस्थानानि अङ्गुलमात्रक्षेत्रासङ्ख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि तानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धान्यवसेयानि। एतानि च समुदितानि द्वितीयं कण्डकम्। तस्य च द्वितीयकण्डकस्योपरि यदन्यत् संयमस्थानं तत्पुनरपि द्वितीयकण्डकसत्कचरमसंयम[2]स्थानगतनिर्विभागभागापेक्षयाऽसङ्ख्येयभागवृद्धम्, ततो भूयोऽपि ततः पराणि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति। ततः पुनरप्येकमसङ्ख्येयभागवृद्धं संयमस्थानम्। एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः संयमस्थानैर्व्यवहितान्यसङ्ख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वाच्यानि यावत्तान्यपि कण्डकमात्राणि भवन्ति। चरमादसङ्ख्येयभागाधिकसंयमस्थानात् पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि वाच्यानि। ततः परमेकं सङ्ख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्, ततो मूलादारभ्य यावन्ति स्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव क्रमेणाभिधाय पुनरप्येकं सङ्ख्येयभागाधिकं संयमस्थानं वाच्यम्। इदं च द्वितीयं सङ्ख्येयभागाधिकं स्थानम्।

❀ कण्डकमिति भण्यतेऽङ्गुलभागोऽसङ्ख्येयः।।

१ कण्डकादनन्तरे—सि.॥ २ ०स्थानागत० सि.॥

ततोऽनेनैव क्रमेण तृतीयं वाच्यम्, अमूनि चैवं सङ्ख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वाच्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति। [1]तत उक्तक्रमेण भूयोऽपि सङ्ख्येयभागाधिकस्थानप्रसंगे सङ्ख्येयगुणाधिकमेकं स्थानं वक्तव्यम्, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्राग्व्यतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तथैव वाच्यानि, ततः पुनरप्येकं सङ्ख्येयगुणाधिक स्थानं वाच्यम्, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वाच्यानि ।

ततः पुनरप्येकं सङ्ख्येयगुणाधिकं स्थानम्, अमून्यप्येवं सङ्ख्येयगुणाधिकानि [2]स्थानानि तावद्वाच्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति। ततस्तेनैव क्रमेण पुनः सङ्ख्येयगुणाधिकस्थानप्रसंगेऽसङ्ख्येयगुणाधिकं स्थानं वाच्यम्, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव भूयोऽपि वाच्यानि । ततः पुनरप्येकमसङ्ख्येयगुणाधिक संयमस्थानं वाच्यम्, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वाच्यानि । ततः पुनरप्येकमसङ्ख्येयगुणाधिकम्, अमूनि चैवमसङ्ख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वाच्यानि यावत्कण्डकमात्राणि ।

ततः पूर्वपरिपाट्या पुनरप्यसङ्ख्येयगुणाधिकस्थानप्रसङ्गेऽनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वाच्यम्, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागुक्तानि भवन्ति तावन्ति तथैव वाच्यानि, ततो भूयोऽप्येकमनन्तगुणाधिकं स्थानम्, ततः पुनरपि मूलादारभ्य तावन्ति स्थानानि तथैव वाच्यानि, ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं स्थानम्, एवमनन्तगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वाच्यानि यावत्कण्डक-

१ ततस्तेनैवक्रमेण–सि॰ ॥ २ संयमस्थानानि-सि॰ ॥

मात्राणि भवन्ति। ततो भूयोऽपि तेषामुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि संयमस्थानानि मूलादारभ्य तथैव वाच्यानि। यत्पुनरनन्तगुणवृद्धिस्थानं तन्न प्राप्यते। षट्स्थानकस्य परिसमाप्तत्वात्। इत्थंभूतान्यसङ्ख्येयानि कण्डकानि समुदितानि एकं षट्स्थानकं भवति। अस्माच्च षट्स्थानकादूर्ध्वमुक्तक्रमेणैव द्वितीयं षट्स्थानकमुत्तिष्ठति। एवमेव च तृतीयम्। एवं षट्स्थानकान्यपि तावद्वाच्यानि यावदसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति। उक्तं च—

△ "छट्ठाणगअवसाणे अन्नं छट्ठाणयं पुणो अन्नं। एवमसंखा लोगा छट्ठाणाणं मुणेयव्वा ॥१॥

[1]अस्मिंश्च षट्स्थानके यादृशोऽनन्ततमो भागोऽसङ्ख्येयतमः सङ्ख्येयतमो वा गृह्यते यादृशस्तु सङ्ख्येयोऽसङ्ख्येयोऽनन्तो वा गुणकारः स निरूप्यते—तत्र यदपेक्षयाऽनन्तगुणवृद्धता तस्य सर्वजीवसङ्ख्याप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते, हृते च भागे यल्लब्धं सोऽनन्ततमो भागः, तेनाधिकमुत्तरं संयमस्थानम्।

किमुक्तं भवति ?—प्रथमस्य संयमस्थानस्य ये निर्विभागा भागास्तेषां सर्वजीवसङ्ख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति ये लभ्यन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैर्भागै[2]र्द्वितीयसंयमस्थाने निर्विभागा भागा अधिकाः प्राप्यन्ते द्वितीयसंयमस्थानस्य ये निर्विभागा भागास्तेषां सर्वजीवसङ्ख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यावन्तो लभ्यन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैर्भागैरधिकास्तृतीये संयमस्थाने निर्विभागा भागाः प्राप्यन्ते। एवं यद्यत्संयमस्थानमनन्तभागवृद्धमुपलभ्यते तत्तत्पाश्चात्यस्यसंयमस्थानस्य सर्वजीवसङ्ख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यद्यल्लभ्यते तावत्प्रमाणेना[3]नन्ततमेन भागेनाधिकमवगन्तव्यम्।

△ षट्स्थानकावसाने अन्यं षट्स्थानकं पुनरन्यम्। एवमसङ्ख्यालोकाः षट्स्थानकानां ज्ञातव्याः॥

१ अस्मिंश्च गुणस्थानके—सि.॥ २ ०र्द्वितीयभागसंयम०—सि.॥ ३ ०नन्ततमभागेन० सि.॥

असङ्ख्येयभागाधिकानि पुनरप्येवं—पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य सत्कानां निर्विभागभागानामसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यद्यल्लभ्यते [1]सोऽसङ्ख्येयतमो भागः। ततस्तेनासङ्ख्येयतमेन भागेनाधिकान्यसङ्ख्येयभागाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि। सङ्ख्येयभागाधिकानि त्वेवं—पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्योत्कृष्टेन सङ्ख्येयेन [2]भागे हृते सति यद्यल्लभ्यते स सङ्ख्येयतमो भागः। [3]ततस्तेन सङ्ख्येयतमेन भागेनाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि।

सङ्ख्येयगुणवृद्धानि पुनरेवम्—पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य ये ये निर्विभागा भागास्ते ते उत्कृष्टेन [4]सङ्ख्येयकमानेन राशिना गुण्यन्ते, गुणिते च सति यावन्तो यावन्तो भवन्ति तावत्तावत्प्रमाणानि सङ्ख्येयगुणाधिकानि स्थानानि द्रष्टव्यानि। एवमसङ्ख्येयगुणवृद्धान्यनन्तगुणवृद्धानि च भावनीयानि। नवरमसङ्ख्येयगुणवृद्धौ पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य निर्विभागा भागा असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेनासङ्ख्येयेन गुण्यन्ते। अनन्तगुणवृद्धौ तु सर्वजीवप्रमाणे[5]नानन्तेनेति।

अयं च षट्स्थानकविचारः स्थापनां विना मन्दबुद्धिभिः सम्यगवबोद्धुं न शक्यते, सा च स्थापना कर्मप्रकृतिपटेभ्यः प्रतिपत्तव्या, विस्तरभयात्तु नेह प्रदर्श्यते। केवलं कियन्तमपि स्थानाशून्यार्थं स्थापनाप्रकारं प्रकाशयामः। तथाहि—प्रथमं तावत्तिर्यक्पङ्क्तौ चत्वारो बिन्दवः स्थाप्यन्ते। तेषां च [6]कण्डकमिति संज्ञा। सर्वेषामपि चैतेषामन्योऽन्यमनन्तभागवृद्ध्या वृद्धिरवसेया। ततस्तेषामग्रतोऽसङ्ख्यातभागवृद्धिसंज्ञक

१ स सोऽसङ्ख्येय० मि.॥ २ भागेनाहृते-सि.॥ ३ ततस्तेन तेन सङ्ख्येयभागेना० सि.॥
४ सङ्ख्येयमानेन - सि.॥ ५ ०नानन्तकेनेति-सि.॥ ६ कडकण्डकमिति- सि.॥

एककः स्थाप्यते । ततो भूयोऽपि चत्वारो बिन्दवः । तत एकक इत्यादि तावदवसेयं यावद्विंशतिबिन्दवश्चत्वारश्चैकका जाताः । तदनु सङ्ख्यातभागवृद्धिसंज्ञको द्विकः स्थाप्यते । ततः पुनरपि विंशतिर्बिन्दवश्चत्वारश्चैककाः । ततो द्वितीयो द्विकः । एवं विंशतेर्विंशतेर्बिन्दूनामन्तराऽन्तरा [1]चतुर्णां चतुर्णामेककानामवसाने [2]तृतीयचतुर्थावपि द्विकौ क्रमेण स्थाप्यौ । तदनु भूयोऽपि चतुर्थद्विकस्याग्रे विंशतिबिन्दवश्चत्वारश्चैकका: । एवं च जातं बिन्दूनां शतम् । एककानां विंशतिश्चत्वारश्च द्विकाः ।

अत्रान्तरे चतुर्णां बिन्दूनामग्रतः सङ्ख्यातगुणवृद्धि[3]संज्ञकः प्रथमस्त्रिकः संस्थाप्यते । ततः पुनरपि बिन्दूनां [4]शतादेककानां विंशतेर्द्विकानां चतुष्टयाच्च परतो द्वितीयस्त्रिकः स्थाप्यते । एवं बिन्दूनां [5]शते, एककानां विंशतौ, द्विकानां च चतुष्टये चतुष्टयेऽतिक्रान्ते तृतीयश्चतुर्थावपि त्रिकौ स्थाप्यौ । तदनु चतुर्थत्रिकस्याप्यग्रे बिन्दूनां शतमेककानां विंशतिर्द्विकानां चतुष्टयं च स्थाप्यते । ततो जातानि पञ्च शतानि बिन्दूनां शतमेककानां विंशतिर्द्विकानां चत्वारश्च त्रिकाः ।

अत्रान्तरे चतुर्णां बिन्दूनामग्रतोऽसङ्ख्यातगुणवृद्धि[6]संज्ञकः प्रथमचतुष्कः स्थाप्यते । ततो भूयोऽपि पञ्च शतानि बिन्दूनाम् । शतमेककानां विंशतिर्द्विकानां चत्वारश्च त्रिकाः प्रागिव स्थाप्यन्ते । ततो द्वितीयचतुष्कः स्थाप्यः । एवं बिन्दूनां [7]शतपञ्चके एककानां शते, द्विकानां विंशतौ, त्रिकाणां चतुष्टये चतुष्टये चातिक्रान्ते तृतीयचतुर्थावपि चतुष्कौ क्रमेण स्थाप्यौ । ततश्चतुर्थचतुष्कस्याग्रे पञ्चमचतुष्क- ॥५७२॥

१ च चतुर्णां-सि. ॥ २ तृतीयचतुर्थेष्वपि-सि. ॥ ३ ०सञ्ज्ञिकः-सि. ॥ ४ शतमेककानां-सि. संशो. । शतामेदेककानां- सि. मू. ॥ ५ शते शते- सि. ॥ ६ ०सञ्ज्ञिकः- सि. ॥ ७ शतपञ्चके शतपञ्चके -सि. ॥

योग्यं दलिकं स्थापयित्वा अनन्तगुणवृद्धिसंज्ञकः प्रथमः पञ्चको न्यस्यते । एवमनेनैवानन्तरोक्तेन क्रमेण द्वितीयतृतीयचतुर्था अपि पञ्चका न्यसनीयाः । ततश्चतुर्थपञ्चकस्याप्यग्रे पञ्चमपञ्चकोचितं दलिकं लिख्यते, न च पञ्चकः स्थाप्यते । तत आद्यन्तयोः प्रत्येकं बिन्दुचतुष्टयेन प्रथमं षट्स्थानं समाप्यते; यदा पुनः प्रथमानन्तरं द्वितीयं षट्स्थानकं स्थापयितुमिष्यते तदा तदपेक्षया प्रथमं पृथक्चत्वारो बिन्दवः स्थाप्यन्ते । तदनन्तरमेककादिः सर्वोऽपि पूर्वोक्तविधिः क्रमेण कर्तव्य इति ।

[1]साम्प्रतमङ्कानां बिन्दूनां च सर्वसङ्ख्या कथ्यते—तत्रैकस्मिन् षट्स्थानके चत्वारः पञ्चका भवन्ति । ततः पञ्चभिर्वा गुणयेदिति करणवशाच्चतुर्णां पञ्चकानां पञ्चभिर्गुणने लब्धा विंशतिचतुष्काः । एतेषामपि पञ्चभिर्गुणने लब्धं शतं त्रिकाणाम् [2]१०० तेषामपि पञ्चभिर्गुणने लब्धानि पञ्च शतानि द्विकानाम् ५००, तेषामपि च पञ्चभिर्गुणने लब्धे द्वे सहस्रे सार्धे एककानाम् २५००, तेषामपि च पञ्चभिर्गुणने लब्धानि द्वादश सहस्राणि सार्धानि बिन्दूनां १२५०० । इयमेकस्मिन् षट्स्थाने सर्वसङ्ख्या । एवं शेषेष्वपि षट्स्थानकेषु प्रतिपत्तव्यमिति ॥१८॥२६०॥

इदानीम् 'अवहरिउं जाइ' व तीरंति' त्येकषष्ट्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

समणी १ मवगयवेयं २ परिहार ३ पुलाय ४ मप्पमत्तं ५ च ।
चउदसपुव्वि[3] ६ आहारगं च ७ [4]न य कोइ संहरइ ॥१९॥

१ साम्प्रतमेकाना-सि. संशो. ॥ २ मुद्रिते अङ्कानि न सन्ति, एवमग्रेऽपि द्वयोः स्थलयोः ॥ ३ ०व्वं-सि. ॥
४ न कयाइ-सि. । न य कयाइ-ता. ॥

श्रमणीम्—अजिह्मब्रह्मचरणशरणां साध्वीम्, अपगतवेदं—क्षपितवेदम्, 'परिहार' त्ति प्रतिपन्नपारिहारिकतपश्चरणम्, पुलाकं—लब्धिपुलाकम्, अप्रमत्तम्—अप्रमत्तसंयतम्, चतुर्दशपूर्विणं—चतुर्दशपूर्वधरम्, आहारकं च—आहारकशरीरिणं नैव कोऽपि—विद्याधरदेवादिः (ग्रन्थाग्रं १७०००) संहरति—प्रत्यनीकतया-[1]ऽनुकम्पया अनुरागेण वोत्क्षिप्यान्यत्र क्षिपति। इह च न सर्वोऽपि चतुर्दशपूर्वधर आहारकलब्धिमान् भवति, किंतु कश्चिदेवेति ज्ञापनार्थमाहारकग्रहणम् ॥१९॥२६१॥

इदानीम् 'अंतरदीव' त्ति द्विषष्ट्यधिकं द्विशततमं द्वारमाह—

[2]चुल्लहिमवंतपुव्वावरेण विदिसासु सायरं तिसए।
गंतूणंतरदीवा तिन्नि सए हुंति विच्छिन्ना ॥२०॥ प्र. आ. ४१५
अउणावन्ननवसए किंचूणे परिहि तेसिमे नामा।
[3]एगोरुअ १ आभासिय २ वेसाणी चेव ३ नंगूली ४ ॥२१॥
एएसिं दीवाणं परओ चत्तारि जोयणसयाणि[4]।
ओगाहिऊण लवणं सपडिदिसिं चउसयपमाणा ॥२२॥
चत्तारंतरदीवा हय ५ गय ६ गोकन्न ७ [5]सक्कुलीकन्ना ८।
एवं पंचसयाइं छस्सय सत्तट्ठ नव चेव ॥२३॥

---

१ ०नुकम्पतया अनुरूपेण-खि.॥ २ तुला प्रज्ञापनावृत्तिः प. ५१, स्थानाङ्गवृत्तिः प.२२७-८ ॥ ३ एगोयरुआभासिय-सि.। एगूरुग-इति स्थानाङ्गवृत्तौ, एगोरुयगामासिय-इति प्रज्ञापनावृत्तौ प. ५१ B पाठः। तुला-प्रज्ञापनासूत्रम् १।३६ ॥ ४ ०इं-सि. स्थानाङ्गवृत्तौ च ॥ ५ संकुलीकन्ना-मु.। प्रज्ञापनासूत्रे (१।३६) संकुलि० इति पाठः ॥

ओगाहिऊण लवणं विक्खंभोगाहसरिसया भणिया ।
चउरो चउरो दीवा ईमेहिं नामेहिं नायव्वा ॥२४॥
आयंसमिंढगमुहा [1]अयोमुहा गोमुहा य [2]चउरेए १२ ।
अस्समुहा हत्थिमुहा सीहमुहा चेव वग्घमुहा १६ ॥२५॥
तत्तो य आसकन्ना [3]हरिकन्न अकन्न कन्नपावरणा २० ।
[4]उक्कमुहा मेहमुहा विज्जुमुहा विज्जुदंता य २४ ॥२६॥
घणदंत लट्ठदंता य गूढदंता य सुद्धदंता य २८ ।
वासहरे [5]सिहरिंमि य एवं चिय अट्ठवीसावि ॥२७॥
तिन्नेव हुंति आई एगुत्तरवड्ढिया नवसयाओ ।
ओगाहिऊण लवणं तावइयं चेव विच्छिन्ना ॥२८॥

[6]इह जम्बूद्वीपे भरतस्य हैमवतस्य च क्षेत्रस्य सीमाकारी पूर्वापरपर्यन्ताभ्यां लवणार्णवजलसंस्पर्शी महाहिमवदपेक्षया क्षुल्लो–लघुर्हिमवन्नामा पर्वतः समस्ति । तस्य लवणार्णवजलसंस्पर्शादारभ्य पूर्वस्यां

१ अजोमुहा-ता २ चउरोए-मु । चउरेते इति स्थानाङ्गवृत्तौ पाठः ॥ ३ हरिकन्ना-सि. । हत्थियकन्ना–इति स्थानाङ्गवृत्तौ पाठः ॥ ४ उक्कामुहा–इति प्रज्ञापनावृत्तौ, उक्कमुह-इति कर्मग्रन्थ देवेन्द्रसूरिवृत्तौ ॥ ५ सिहरंमि-ता. स्थानाङ्गवृत्तौ च ॥ ६ तुला–प्रज्ञापनासूत्रमलयगिरिवृत्तिः प. ५१ A तः, कर्मग्रन्थदेवेन्द्रसूरिवृत्तिः १/८ ॥

पश्चिमायां च दिशि प्रत्येकं द्वे द्वे गजदन्ताकारे दंष्ट्रे-विनिर्गते । तत्र [1]ईशान्यां दिशि या निर्गता दंष्ट्रा-तस्यां हिमवतः पर्यन्तादारभ्य त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रं गत्वा—अवगाह्य अत्रान्तरे योजनशत-त्रयायामविष्कम्भः किञ्चिन्न्यूनैकोनपञ्चाशदधिकनवयोजनशतपरिरय [2]एकोरुकनामा द्वीपो वर्तते । अयं च पञ्चधनुःशतप्रमाणविष्कम्भया गव्यूतद्वयोच्छ्रितया पद्मवरवेदिकया वनखण्डेन च सर्वतः परिमण्डितः । एवं सर्वेऽप्यन्तरद्वीपाः प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया वनखण्डेन च परिक्षिप्तपरिसराः समवसेयाः ।

एवं तस्यैव हिमवतः पर्वतस्य पर्यन्तादारभ्य दक्षिणपूर्वस्यां दिशि त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्र-मवगाह्य द्वितीयदंष्ट्राया उपरि [3]एकोरुकद्वीपप्रमाण आभासिकनामा द्वीपो वर्तते । तथा तस्यैव हिमवतः पश्चिमायां दिशि पर्यन्तादारभ्य दक्षिणपश्चिमायां [4]दिशि नैरृतकोणे इत्यर्थः, त्रीणि योजनशतानि लवण-समुद्रमवगाह्य दंष्ट्राया उपरि यथोक्तप्रमाणो वैषाणिकनामा द्विपः । तथा तस्यैव हिमवतः पश्चिमायामेव दिशि पर्यन्तादारभ्य पश्चिमोत्तरस्यां दिशि वायव्यकोणे इत्यर्थः, त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमध्ये चतुर्थी दंष्ट्रामतिक्रम्यात्रान्तरे पूर्वप्रमाणो नाङ्गोलिकनामा द्वीपः । एवमेते हिमवतश्चतसृष्वपि विदिक्षु तुल्यप्रमाणाश्चत्वारोन्तरे—लवणसमुद्रमध्ये द्वीपा अन्तरद्वीपा अवतिष्ठन्ते ।

तत एतेषामेकोरुकादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतः **'सपडिदिसं'** ति प्रत्येकं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु चतसृष्वपि चत्वारि चत्वारि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य चतुर्योजनशतायामविष्कम्भा जम्बूद्वीप-

॥५७६॥

---

१ ऐशान्यां-इति प्रज्ञापनावृत्तौ कर्मग्रन्थवृत्तौ च पाठः ॥ २ एकोरुचक-सि. ॥ ३ एकोरुचक॰ सि ॥
४ दिशि-सि. प्रतौ प्रज्ञापनावृत्तौ च नास्ति ॥

वेदिकातश्चतुर्योजनशतप्रमाणान्तरा हयकर्ण-गजकर्ण-गोकर्ण-शष्कुलीकर्णनामानश्चत्वारोऽन्तरद्वीपाः। तद्यथा—[1]एकोरुकस्य परतो हयकर्णः, आभाषिकस्य परतो गजकर्णः, वैषाणिकस्य परतो गोकर्णः, नङ्गोलिकस्य परतः शष्कुलीकर्ण इति। एवमग्रेऽपि भावना कार्या।

तत एतेषामपि हयकर्णादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतः पुनरपि यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं पञ्च पञ्च योजनशतानि व्यतिक्रम्य पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा जम्बूद्वीपवेदिकातः [2]पञ्चयोजनशतप्रमाणान्तरा आदर्शमुख मेण्ढमुखा-ऽयोमुख गोमुखनामानश्चत्वारो द्वीपाः। एतेषामप्यादर्शमुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो भूयोऽपि यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं षट् षट् योजनशतानि व्यतिक्रम्य षट्षड्योजनशतायामविष्कम्भा जम्बूद्वीपवेदिकातः षड्योजनशतप्रमाणान्तरा अश्वमुख-हस्तिमुख-सिंहमुख-व्याघ्रमुखनामानश्चत्वारो द्वीपाः।

एतेषामप्यश्वमुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो [3]भूयो यथाक्रमं [4]पूर्वोत्तरादिषु विदिक्षु प्रत्येकं सप्तयोजनशतायामविष्कम्भा जम्बूद्वीपवेदिकातः सप्तयोजनशतप्रमाणान्तरा [5]अश्वकर्णहरिकर्णाकर्णकर्णप्रावरणनामानश्चत्वारो द्वीपाः। एतेषामप्यश्वकर्णादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकमष्टावष्टौ योजनशतान्यतिक्रम्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भा जम्बूद्वीपवेदिकातोऽष्टयोजनशतप्रमाणान्तरा उल्कामुख मेघमुख-विद्युन्मुख-विद्युद्दन्ताभिधानाश्चत्वारो द्वीपाः। ततोऽमीषामप्युल्कामुखादीनां चतुर्णां

---

१ एकोरुचकस्य–सि.॥ २ पञ्चयोजनशतानि व्यतिक्रम्य अन्तरा–सि.॥ ३ भूयो-सि. प्रज्ञापनावृत्तौ कर्मग्रन्थवृत्तौ च नास्ति॥ ४ पूर्वोत्तरादिषु विदिक्षु–सि प्रज्ञापनावृत्तौ कर्मग्रन्थवृत्तौ च॥ ५ अश्वकर्णहयकर्ण० इति कर्मग्रन्थवृत्तौ पाठ॥

द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं नव नवयोजनशतान्यतिक्रम्य नवयोजनशतायामविष्कम्भा जम्बूद्वीपवेदिकातो नवयोजनशतप्रमाणान्तरा घनदन्त-लष्टदन्त-गूढदन्त-शुद्धदन्तनामानश्चत्वारो द्वीपाः।

एवमेते हिमवति पर्वते चतसृषु विदिक्षु व्यवस्थिताः सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिः। एवं शिखरिण्यपि वर्षधरे-पर्वते लवणोदार्णवजलसंस्पर्शादारभ्य यथोक्तप्रमाणान्तराश्चतसृषु विदिक्षु व्यवस्थिता एकोरुकादि-नामानोऽष्टा[1]विंशतिसङ्ख्या द्वीपा वक्तव्याः। ततः सर्वसङ्ख्यया षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपा भवन्तीति ॥२०-२८॥

अथैतेषु वर्तमानानां मनुष्याणां स्वरूपमाह-'संती' त्यादिगाथात्रयम्,

संति इमेसु नरा वज्जरिसहनारायसंहणणजुत्ता ।
[2]समचउरंसगसंठाणसंठियादेवसमरूवा ॥२९॥
अट्ठधणुस्सयदेहा किंचूणाओ नराण इत्थीओ ।
पलयअसंखिज्जइभागआऊया लक्खणोवेया ॥३०॥
दसविहकप्पदुमपत्तवंछिया तह न तेसु दीवेसु ।
ससिसूरगहण[3]मक्कूणजूयामसगाइया हुंति ॥३१॥

एतेषु सर्वेष्वप्यन्तरद्वीपेषु नराः-पुरुषाः सन्ति-सदैव परिवसन्ति। ते च वज्रर्षभनाराच[4]संहननिनः समचतुरस्रसंस्थानसंस्थिता [5]देवलोकानुकारिरूपलावण्याकारशोभितविग्रहा अष्टधनुःशतप्रमाणशरीरोच्छ्रयाः।

---

१ विंशति एव शिखराण्यपि वर्षधरे सर्वसङ्ख्या जे. सि.॥ २ समचउरंसगसंठाणा संठिया-ता.। समचउरंससंठाणं संठिया-सि. ३ ०मंकुण जूआ० सि.॥ ४ ०संहनिन'-सि. प्रतौ कर्मग्रन्थवृत्तौ च, तुला-प्रज्ञापनासूत्रवृत्तिः प. ५२ B, कर्मग्रन्थवृत्तिः प. २३ B॥ ५ देवलोकानुसारिरूपलावण्यालंकार० सि.॥

स्त्रीणां त्विदमेव प्रमाणं किञ्चिन्न्यूनं द्रष्टव्यम् । तथा पल्योपमासङ्ख्येयभागप्रमाणायुषः समग्रशुभलक्षण-[1]तिलकमषाद्युपेताः स्त्रीपुरुषयुगलव्यवस्थिता दशविधकल्पपादपावाप्तवाञ्छितोपभोगसम्पदः प्रकृत्यैव प्रतनु-क्रोधमानमायालोभाः संतोषिणो निरौत्सुक्या मार्दवार्जवसंपन्नाः [2]सत्यपि मनोहारिणि मणि-कनक-मौक्तिकादिके ममत्वकारणे ममत्वाभिनिवेशरहिताः सर्वथाऽपगतवैरानुबन्धाः परस्परप्रेष्यप्रेषकभावरहितत्वाद-हमिन्द्राः हस्त्यश्वकरभगोमहिष्यादिसद्भावेऽपि तत्परिभोगपराङ्मुखाः पादविहारचारिणो ज्वरादिरोगभूत-पिशाचादिग्रहव्यस नावेरहिताः । चतुर्थान्ताहारमेते गृह्णन्ति । आहारश्च शाल्यादिधान्यसद्भावेऽपि न तन्निष्पन्नः, किंतु शर्करातोऽप्यनन्तगुणमाधुर्या[4] मृत्तिका चक्रवर्तिभोजनादप्यधिकमधुराणि [5]कल्पद्रुपुष्पफलानि चेति । चतुःषष्टिश्च पृष्ठकरण्डकास्तेषाम् षण्मासावशेषायुषश्चामी स्त्रीपुरुषयुगलं प्रसुवते, एकोनाशीतिदिनानि च तत्परिपालयन्ति । स्तोकस्नेहकषायतया च ते मृत्वा दिवं व्रजन्ति । मरणं च तेषां [6]जृम्भाकाशक्षुतादिमात्रपुरस्सरं न शरीरपीडयेति ।

तथा तेषु द्वीपेष्वनिष्टसूचकाश्चन्द्रसूर्योपरागादयः शरीरोपद्रवकारिणश्च मत्कूण यूका-मशकः-मक्षिकादयो न भवन्ति । येऽपि च जायन्ते भुजगव्याघ्रसिंहादयस्तेऽपि मनुष्याणां न बाधितुमलम्, नाप्यन्योऽन्यं हिंस्यहिंसकभावे वर्तन्ते । क्षेत्रानुभावतो रौद्रभावरहितत्वात् । अत एव तेऽपि मृत्वा दिवमेव व्रजन्ति ।

---

१ ०तिलकमुखाद्युपेता.-सि. ॥ २ संत्यपि-सि. ॥ तुला-प्रज्ञापनासूत्रवृत्तिः प. ५३B, कर्मग्रन्थवृत्तिः प. २४ ॥
३ ० न विरहिताश्चतुर्थान्ता० सि. ॥ ४ ०र्ये-सि. ॥ ५ कल्पद्रुफलानि-सि. ॥ तत्परिपालयं स्तोक० सि. ॥
६ जृम्भाकास० मु. । सि. प्रतौ कर्मग्रन्थवृत्तावपि जृम्भाकाश० इति ॥

भूमिरपि तत्र रेणुपङ्ककण्टकादिरहिता सकलदोषपरित्यक्ता सर्वत्र समतला रमणीया च वर्तत इति । यच्चात्र सूत्रातिरिक्तमुक्तं तत्सर्वमुपलक्षणत्वाद् द्रष्टव्यम् ॥२९॥ ॥३०॥३१॥२६२॥

इदानीं 'जीवाजीवाणं अप्पबहुयं' ति त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

नर १ नेरइया २ देवा ३ सिद्धा ४ तिरिया ५ कमेण इह हुंति ।
थोव १ असंख २ असंखा ३ अणंतगुणिया ४ अनंतगुणा ५ ॥३२॥
नारी १ नर २ नेरइया ३ तिरिच्छि[1] ४ सुर ५ देवि ६ सिद्ध ७ तिरिया ८ य ।
थोव असंखगुणा चउ संखगुणाऽणंतगुण दोन्नि ॥३३॥
तस तेउ पुढवि जल वाउकाय [2]अकाय वणस्सइ सकाया ।
थोव असंखगुणाहिय तिन्नि [3]दोऽणंतगुणअहिया ॥३४॥
पण चउ ति दु य अणिंदिय एगिंदि सइंदिया कमा हुंति ।
थोवा तिन्नि य अहिया दोऽणंतगुणा विसेसहिया ॥३५॥
जीवा पोग्गल समया दव्व पएसा य पज्जवा चेव ।
थोवाणंताणंता विसेसअहिआ दुवेऽणंता ॥३६॥

इह सर्वत्र यथासङ्ख्येन पदयोजना, तत्र सर्वस्तोकास्तावन्नरा—मनुष्याः सङ्ख्येयकोटीकोटीमात्रप्रमाणत्वात् । तेभ्यो नैरयिका असङ्ख्येयगुणाः । अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सम्बन्धिनि प्रथमवर्गमूले

१ °च्छि-सि. ॥ २ अकाय वणसइ-ता. ॥ ३ दोणंतेण गुणअहिया-ता. । दोणंतगुणाओ अहियत्ति-सि. ॥

तृतीयेन वर्गमूलेन [1]गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्यैकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभः प्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवा असङ्ख्येयगुणाः । व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां च प्रत्येकं प्रतरासङ्ख्येयभागवर्तिश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सिद्धा अनन्तगुणाः । कालस्यानन्तत्वात्, षण्मासान्ते च कस्यचिदवश्यं सिद्धिगमनात् तत्प्राप्तस्य च पुनरावृत्त्यभावात् । तेभ्योऽपि तिर्यञ्चोऽनन्तगुणाः । अनन्तेनापि कालेनैकनिगोदानन्तभागवर्तिजीवराशेः सिद्धत्वात्, तिर्यग्गतौ त्वसङ्ख्येयनिगोदसद्भावात्, प्रतिनिगोदं च सिद्धानन्तगुणजीवराशिभावात् ॥३२॥

उक्तं नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धरूपाणां पञ्चानामल्पबहुत्वम् । इदानीं नैरयिकतिर्यग्योनिकतिर्यग्योनिकीमनुष्यमानुषीदेवदेवीसिद्धलक्षणानामष्टानामल्पबहुत्वमाह–'**नारी**'त्यादि, सर्वस्तोका नार्यो मनुष्यस्त्रियः । सङ्ख्येयकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । ताभ्यो नरा–मनुष्या असङ्ख्येयगुणाः । इह नरा इति संमूर्च्छिमजा अपि मनुष्या गृह्यन्ते, वेदस्याविवक्षणात् । ते च संमूर्च्छिमजा वान्तादिषु नगरनिर्धमनान्तेषु जायमाना असङ्ख्येयाः प्राप्यन्ते । तेभ्यो नैरयिका असङ्ख्येयगुणाः । मनुष्या ह्युत्कृष्टपदेऽपि श्रेण्यसङ्ख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा लभ्यन्ते । नैरयिकास्त्वङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसत्कतृतीयवर्गमूलगुणितप्रथमवर्गमूलप्रमाणश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः । ततो भवन्त्यसङ्ख्येयगुणाः । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियोऽसङ्ख्येयगुणाः । प्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्योऽपि देवा असङ्ख्येयगुणाः । असङ्ख्येयगुणप्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगतप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्योऽपि

प्र. आ.
४१७

1 गुणितेन-सि. ॥

देव्यः सङ्ख्येयगुणाः । द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । ताभ्योऽपि सिद्धा अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि तिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागेवोक्ता ॥३३॥

अथ सामान्येनैव जन्तूनां कायविशेषणविशेषितानामल्पबहुत्वमाह–'तसे'त्यादि, सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः, द्वीन्द्रियादीनामेव त्रसकायत्वात् । तेषां च शेषकायापेक्षयाऽत्यल्पत्वात् । तेभ्यस्तैजसकायिका असङ्ख्येयगुणाः, असङ्ख्येयलोकाकाश[1]प्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः पृथिवीकायिकाविशेषाधिकाः, प्रभूतासङ्ख्येयलोकाकाश[2]प्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्कायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासङ्ख्येयलोकाकाश[3]प्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यो वायुकायिका [4]विशेषाधिकाः, प्रभूततमासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशमानत्वात् । तेभ्योऽकायिका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सकाया विशेषाधिकाः, पृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ॥३४॥

साम्प्रतमेकेन्द्रियत्वादिविशेषणविशिष्टानां जन्तूनामल्पबहुत्वमाह–'पणे'त्यादि, सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः, सङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणविष्कम्भसूचीप्रमितप्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः । तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूतसङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसंख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततमसंख्येययोजनकोटीकोटी-

१-२-३ ०प्रदेश० सि. RD नास्ति ॥ ४ विशेषिकाः-सि. RD ॥

प्रमाणत्वात् । [1]तेभ्योऽनिन्द्रिया अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽप्येकेन्द्रिया अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां [2]सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् । तेभ्योऽपि सेन्द्रिया विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ॥ ३५ ॥

अथ जीवपुद्गलादीनामल्पबहुत्वमाह–'जीवे' त्यादि, वक्ष्यमाणापेक्षया सर्वस्तोका जीवाः, तेभ्यः पुद्गला अनन्तगुणाः । इह हि परमाणुद्विप्रदेशिकादीनि पृथक्पृथग्द्रव्याणि । तानि च सामान्यतस्त्रिधा–प्रयोगपरिणतानि, मिश्रपरिणतानि, विस्रसापरिणतानि च । तत्र प्रयोगपरिणतान्यपि तावज्जीवेभ्योऽनन्तगुणानि । एकैकस्य जीवस्यानन्तैः प्रत्येकं ज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलस्कन्धैरावेष्टितत्वात् । किं पुनः शेषाणि ?, यतः प्रयोगपरिणतेभ्यो मिश्रपरिणतान्यनन्तगुणानि, तेभ्योऽपि विस्रसापरिणतान्यनन्तगुणानि, ततो युक्तं जीवेभ्यः पुद्गला अनन्तगुणाः ।

तेभ्योऽद्धासमया अनन्तगुणाः, यत एकस्यापि परमाणोर्द्रव्यक्षेत्रकालभावविशेषसम्बन्धवशा[3]दनन्ता भाविनः समया उपलब्धाः । यथैकस्य परमाणोस्तथा [4]सर्वेषां परमाणूनां सर्वेषां च प्रत्येकं द्विप्रदेशिकादीनां स्कन्धानामेवमन्यान्यद्रव्यक्षेत्रकालभावसम्बन्धिनामनन्ताः समया [5]अतीता अपीति सिद्धं पुद्गलेभ्यः समयानामनन्तगुणत्वम् ।

तेभ्यः सर्वद्रव्याणि विशेषाधिकानि, [6]कथमिति चेद् ? उच्यते, इह ये अनन्तरमद्धासमयाः पुद्गलेभ्योऽनन्तगुणा उक्तास्ते प्रत्येकं द्रव्याणि, ततो द्रव्यचिन्तायां तेऽपि गृह्यन्ते । तेषु मध्ये सर्वजीवद्रव्याणि

१ तेभ्योऽनि० मु. । २ सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात्-मु. ॥ ३ दनन्ता भावसमया-मु. । °दनन्ताभाविनः समया-जे. RD। ०दनन्तान्य भाविनः समया-सि. ॥ ४ सर्वेषां परमाणूनां-सि. R D नास्ति ॥
५ अतीता अनागता अपीति-मु. ॥ ६ कथमिति तेभ्यः सर्वद्रव्याण्यनन्तरमद्धा० जे. सि. RD ॥

[1]सर्वपुद्गलद्रव्याणि धर्माधर्माकाशास्तिकायद्रव्याणि च प्रक्षिप्यन्ते । तानि च समुदितान्यप्यद्धासमयानामनन्तभागकल्पानीति तेषु प्रक्षिप्तेष्वपि मनागधिकत्वं जातमित्यद्धासमयेभ्यः सर्वद्रव्याणि विशेषाधिकानि ।

तेभ्यः सर्वप्रदेशा अनन्तगुणाः । एकस्याप्यलोकाकाशद्रव्यस्य सर्वद्रव्यानन्तगुणप्रदेशत्वात् । तेभ्यः सर्वपर्यवा अनन्तगुणाः । एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽनन्तानामगुरुलघुपर्यायाणां सद्भावादिति ॥३६।२६३॥

इदानीं 'जुगप्पहाणसूरिसंख' त्ति चतुःषष्टयधिकद्विशततमं द्वारमाह—

जा दुप्पसहो सूरि होहिंति जुगप्पहाण आयरिया ।
अज्जसुहम्मप्पभिई चउरहिया दुन्नि [2]य सहस्सा ॥ ३७ ॥

इहावसर्पिण्यां दुष्षमावसानसमये द्विहस्तोच्छ्रितवपुर्विंशतिवर्षायुष्कः पुष्कलतपःक्षपितकर्मतया समासन्नसिद्धिसौधः शुद्धान्तरात्मा दशवैकालिकमात्रसूत्रधरोऽपि चतुर्दशपूर्वधर इव शक्रपूज्यो दुष्प्रसभनामा सर्वान्तिमः सूरिर्भविष्यति । ततस्तं [3]दुष्प्रसभं यावत्तमभिव्याप्यैवेत्यर्थः । आर्यसुधर्मप्रभृतयः, आरात् सर्वहेयधर्मेभ्यो[4]ऽर्वाग्जातः आर्यः, स चासौ सुधर्मस्तत्प्रभृतयः । प्रभृतिग्रहणाच्च जम्बूस्वामिप्रभवशय्यम्भवाद्या गणधरपरम्परा गृह्यते । युगप्रधानाः—तत्कालप्रचरत्पारमेश्वरप्रवचनोपनिषद्वेदित्वेन विशिष्टतरमूलगुणोत्तरगुणसंपन्नत्वेन च तत्कालापेक्षया भरतक्षेत्रमध्ये प्रधाना आचार्याः—सूरयश्चतुरधिकसहस्रद्वयप्रमाणा भविष्यन्ति । अन्ये तु चतूरहितसहस्रद्वयप्रमाणा इत्याहुः । तत्त्वं तु सर्वविदो विदन्ति । यच्च महानिशीथग्रन्थे जग्रन्थ ग्रन्थकारः—

प्र. आ. ४१८

१ सर्वपुद्गलद्रव्याणि-सि. RD नास्ति ॥ २ उ ता ॥ ३ दुष्प्रसहया यावत्तमभि० सि. ॥ ४ ०र्वाग्यातः- मु. ॥

△"इत्थं चायरियाणं पणपन्ना होंति कोडिलक्खाओ। कोडिसहस्से कोडीसए य [1]तह इत्तिए चेवत्ति ॥१॥"
तत्सामान्यमुनिपत्यपेक्षया द्रष्टव्यम्, तथा च तत्रैवोक्तम्–
❀ "एएसिं मज्झाओ एगे निव्वडइ गुणगणाइन्ने। सव्वुत्तमभंगेणं तित्थयरस्साणुसरिसगुरू ॥१॥
॥३७॥२६४॥

इदानीम् 'उस्सप्पिणिअंतिमजिणतित्थप्पमाणं' ति पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

[2]ओसप्पिणिअंतिमजिण तित्थं सिरिरिसहनाणपज्जाया।
संखेज्जा जावइया तावयमाणं धुवं भविहो ॥ ३८ ॥

इह श्रीऋषभस्वामिनः केवलज्ञानपर्यायो वर्षसहस्रोन एकः पूर्वलक्षः। तत एवंस्वरूपा ज्ञानपर्यायाः सङ्ख्येया यावन्तो भवन्ति तावत्प्रमाणमुत्सर्पिण्यामन्तिमजिनस्य चतुर्विंशतितमस्य [3]भद्रकृन्नाम्नस्तीर्थकृतस्तीर्थं ध्रुवं–निश्चितं भविष्यति। संङ्ख्येयपूर्वलक्षमानं तत्तीर्थमित्यर्थः ॥३८॥२६५॥

इदानीं 'देवाण पवियारो' त्ति षट्षष्ट्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

दो कायप्पवियारा कप्पा फरिसेण दोन्नि दो रूवे।
सद्दे दो चउर मणे नत्थि वियारो उवरि यत्थो ॥ ३९ ॥

[तुला--बृहत्संग्रहणी जिनभद्रीया गा. १८१]

२६५ द्वारे भद्रकृत्तीर्थं गाथा १४३८

२६६ द्वारे देव-प्रविचारः गाथा १३३९-४० प्र. आ. ४१९

△ इत्थं चाचार्याणां पञ्चपञ्चाशत्कोटीलक्षाः कोटीसहस्रा कोटीशतं तथैतावन्त एवेति ॥१॥
❀ एतेषां मध्यात् एके निपतन्ति गुणगणाकीर्णाः सर्वोत्तमभङ्गे तीर्थकरानुसदृशा गुरवः ॥१॥
१ तहा–सि. ॥ २ ओसप्पिण- मु. ॥ ३ भद्रकृन्नाम० सि. DR ॥

गेविज्जणुत्तरेसु[1] अप्पवियारा हवंति सव्वसुरा।
'सप्पवियारठिईणं अणंतगुणसोक्खसंजुत्ता ॥ ४० ॥

द्वौ कल्पाविति मर्यादायां कल्पशब्देन च तात्स्थ्यात् कल्पस्था देवाः। ततोऽयमर्थः—भवनपत्यादय ईशानान्ता देवाः [2]क्लिष्टोदर्कपुंवेदानुभावान्मनुष्यवन्मैथुने निमज्जन्तः सर्वाङ्गीणं कायक्लेशजं[3] स्पर्शानन्दमासाद्य तृप्यन्ति नान्यथेति। कायेन—शरीरेण मनुष्यस्त्रीपुंसानामिव प्रवीचारो—मैथुनोपसेवनं ययोस्तौ कायप्रवीचारौ। तथा स्पर्शेन द्वौ सनत्कुमार-माहेन्द्रौ सप्रवीचारौ। तद्देवा हि मैथुनाभिलाषिणो देवीनां स्तनाद्यवयवस्पर्शलीलयैव कायप्रवीचारदेवेभ्योऽनन्तसुखमवाप्नुवन्ति तृप्ताश्च जायन्ते। देवीनामपि देवैः स्पर्शे कृते सति दिव्यप्रभावतः शुक्रपुद्गलसंचारेणानन्तगुणं सुखमुत्पद्यते एवमग्रेऽपि भावना कार्या।

तथा द्वौ ब्रह्मलोक-लान्तकौ रूपदर्शने सप्रवीचारौ। देवीनां दिव्योन्मादजनकरूपावलोकनेनैव तत्र सुराः सुरतसुखजुषो जायन्त इत्यर्थः। तथा द्वौ शुक्र-सहस्रारौ देवीशब्दे श्रुते सति सप्रवीचारौ। सुरसुन्दरीणां सविलासगीतहसितभाषितभूषणादिध्वनिमाह्लादकमाकर्ण्य उपशांतवेदास्तत्र देवा भवन्तीत्यर्थः। तथा चत्वारः—आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युताभिधानदेवलोकदेवा मनसा सप्रवीचारा भवन्ति। ते हि यदा प्रवीचारचिकीर्षया देवीश्चित्तस्य गोचरीकुर्वन्ति तदैव तास्तत्संकल्पाज्ञानेऽपि तथाविधस्वभावतः कृताद्भुतशृङ्गाराः स्वस्थानस्थिता एव उच्चावचानि मनांसि दधाना मनसैव भोगायोपतिष्ठन्ते। तत इत्थमन्योऽन्यं ॥५८६॥

१ अप्प० ता.॥ २ क्लिष्टोदयपुं० सि. RD॥ ३ ०ज-सि. RD॥

मनःसङ्कल्पे दिव्यप्रभावादेव देवीषु शुक्रपुद्गलसंक्रमत उभयेषां कायप्रवीचारादनन्तगुणं सुखं संपद्यते तृप्तिश्चोल्लसतीति । उपरि च–ग्रैवेयकादिषु स्त्रीप्रवीचारः–स्त्रीसेवा सर्वथा नास्तीति ॥ ३९ ॥

अत एवाह–'गेवेज्जे' त्यादि, ग्रैवेयकेषु नवसु अनुत्तरविमानेषु पञ्चसु अप्रवीचारा–मैथुनसेवाविरहिता भवन्ति सर्वेऽपि सुरा–देवाः । नन्वेवं तेषामप्रवीचाराणां सुखं किंचिन्न भविष्यतीत्याह–सप्रवीचारस्थितिभ्यो देवेभ्यः सकाशादनन्तगुणसौख्यसंयुक्तास्ते ग्रैवेयका अनुत्तरसुराश्च भवन्ति । प्रतनुमोहोदयतया प्रशमसुखान्तर्लीनत्वात् । ते च तथाभवस्वभावत्वेन चारित्रपरिणामाभावान्न ब्रह्मचारिण इति ॥४०॥२६६॥

संप्रति 'कण्हराईण सरूवं' ति सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमं द्वारमाह–

[1]पंचमकप्पे रिट्ठंमि पत्थडे अट्ठ कण्हराईओ ।
[2]समचउरंसक्खाडयठिइओ दो दो दिसिचउक्के ॥ ४१ ॥
पुव्वावरउत्तरदाहिणाहिं [3]मज्झिल्लियाहिं पुट्ठाओ ।
दाहिणउत्तरपुव्वा [4]अवरा बहिकण्हराईओ ॥ ४२ ॥
पुव्वावरा छलंसा तंसा पुण दाहिणुत्तरा बज्झा ।
[5]अब्भंतरचउरंसा सव्वावि य कण्हराईओ ॥४३॥ [भगवतीसू. ६।५।२४३]

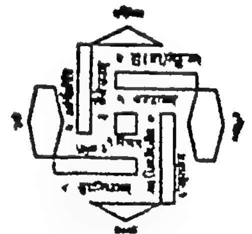
१ तुला-भगवतीसूत्रम् ६।५। २४२-३ । स्थानाङ्गसूत्रम् ६२३ ॥ २ समचउरंसक्खोडय० मु. । समचउरसखा० ता. । सि. प्रतौ भगवतीसूत्रेऽपि ०सक्खा० ॥ ३ मज्झिल्लयाहि-ता. ॥ ४ अवराउ-ता. ॥ ५ अब्भिंतर० ता. ॥

[1]आयामपरिक्खेवेहिं [2]ताण असंखजोयणसहस्सा ।
संखेज्जसहस्सा पुण विक्खंभे कण्हराईणं ॥ ४४ ॥
ईसाणदिसाईसु एयाणं [3]अंतरेसु अट्ठसुवि ।
अट्ठ विमाणाइं तहा तम्मज्झे एक्कगविमाणं ॥ ४५ ॥
[4]अच्चिं १ [5]तहऽच्चिमालिं २ [6]वइरोयण ३ पभंकरे य ४ चंदाभं ५ ।
सूराभं ६ सुक्काभं ७ सुपइट्ठाभं च ८ रिट्ठाभं ९ ॥ ४६ ॥
अट्ठायरट्ठिइया वसंति लोगंतिया सुरा तेसु ।
सत्तट्ठभवभवता गिज्जति इमेहिं नामेहिं ॥ ४७ ॥
सारस्सय १ माइच्चा २ वण्ही ३ वरुणा य ४ गद्दतोया ५ य ।
तुसिया ६ अव्वाबाहा ७ अग्गिच्चा ८ चेव रिट्ठा य ९ ॥४८॥ [आवश्यकनि. २१४]
पढमजुयलंमि सत्त उ [7]सयाणि बीयंमि चउदस सहस्सा ।
तइए सत्त सहस्सा नव चेव सयाणि सेसेसु ॥४९॥ [भगवतीसूत्रे ६।५।२४३]

१ भगवतीसूत्रे तु- 'कण्हराईओ णं भंते ! केवतियं आयामेणं केवतियं विक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेण पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं असंखाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ताओ । ६।५। सू. २४२॥ २ ताणं असंखजोअणसहस्सा-सि. RD ॥ ३ अंतरेसुवि-ता. ॥ ४ स्थानाङ्ग-सूत्रे तु-'अच्ची अच्चिमाली वतिरोअणे पभकरे चंदाभे सूराभे सुपइट्ठाभे अग्गिच्चाभे' इति-८।३। सू. ६२३॥
५ तहच्चियमालि-सि. ॥ ६ वयरोयण-ता. । वयरोयण वंभकरय चंदाभं-सि. ॥ ७ सयाविणीयंमि चउदस-सि. ॥

पञ्चमे ब्रह्मलोकनामके कल्पे तृतीये रिष्टप्रस्तटे अष्टौ कृष्णराज्यो भवन्ति। कृष्णाः सचित्ताचित्तपृथिवीपरिणामरूपा 'राज्यो-भित्त्याकारव्यवस्थिताः पङ्क्तयः कृष्णराज्यः। कथंभूतास्ता इत्याह—'समचतुरस्राः,' समाः—सर्वास्वपि दिक्षु तुल्याः चतुरस्राः चतुष्कोणाः अत एवाखाटकस्थितयः। इहाखाटकाः प्रेक्षास्थाने आमनविशेषलक्षणाः। [2]प्रज्ञप्तिटीकायां तथा व्याख्यानात्। तत्स्थितयः—तत्सदृशाकाराः, यथा चैता व्यवस्थितास्तथा दर्शयति—'दो दो दिसिचउक्के' त्ति दिक्चतुष्के—चतसृष्वपि पूर्वादिषु दिक्षु द्वे द्वे कृष्णराज्यौ व्यवस्थिते। तथाहि—पूर्वस्यां दक्षिणोत्तरायते तिर्यग्विस्तीर्णे द्वे कृष्णराज्यौ। एवं दक्षिणस्यां पूर्वापरायते, अपरस्यां दक्षिणोत्तरायते, उत्तरस्यां पूर्वापरायते इति ॥४१॥

अथ तासामेव पुनः स्वरूपमाह—'पुव्वे' त्यादि; पूर्वापरोत्तरदक्षिणाभिर्मध्यवर्तिनीभिः कृष्णराजीभिः क्रमेण दक्षिणोत्तरपूर्वापराबहिर्वर्तिन्यः कृष्णराज्यः स्पृष्टा। अयमर्थः—पौरस्त्याभ्यन्तरा कृष्णराजी दक्षिणबाह्यां कृष्णराजीं स्पृशति। एवं दक्षिणाभ्यन्तराह्यां पश्चिमबाह्यां, पश्चिमाऽभ्यन्तरा उत्तरबाह्याम्, उत्तराभ्यन्तरा च पूर्वबाह्यामिति। △ स्थापना चेयम्—॥४२॥



कोणविभागस्त्वेवं—'पुव्वावरे' त्यादि, पौरस्त्य-पाश्चात्ये द्वे बाह्ये कृष्णराज्यौ षडस्रे-षट्कोटिके, 'औत्तरदाक्षिणात्ये पुनर्बाह्ये द्वे कृष्णराज्यौ त्र्यस्रे, अभ्यन्तराः सर्वा अपि—चतस्रोऽपि कृष्णराज्यश्चतुरस्राः ॥४३॥

१ राजयो-सि. ॥ २ भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) टीकायां २७१ A पत्रे ॥ ३ उत्तरा० मु. ॥ ४ स्थानाङ्गवृत्तावपि औत्तरा० इति। औत्तर० सि. ॥ △ प्रवचनसारोद्धारटीकायाः हस्तलिखितआदर्शेषु यद्यपि स्थापना दृश्यते, किन्तु न सा सुबोधा। अतः भगवतीसूत्र-स्थानाङ्गसूत्रवृत्त्यादिषु दृश्यमाना स्थापना अत्र प्रदर्श्यते।

साम्प्रतमेतासामेव प्रमाणमाह—'आयामे' त्यादि, आयाम-परिक्षेपाभ्यां--दैर्घ्य-परिधिभ्यां तासां कृष्णराजीनामसङ्ख्याता योजनसहस्रा भवन्ति । विष्कम्भे-विस्तारे पुनः कृष्णराजीनां सङ्ख्याता योजनसहस्रा इति ॥४४॥

[1]△अथैतासां मध्ये विमानसंयोजनमाह-△'ईसाणे' त्यादि, एतासामष्टानां कृष्णराजीनामीशानदिगादिष्वष्टस्वप्यन्तरेषु-राजीद्वयमध्यलक्षणेष्ववकाशान्तरेष्वष्टौ विमानानि भवन्ति । तथा तन्मध्ये--तासां बहुमध्यभागे एकं विमानम् ॥४५॥

तान्येव विमानानि नामतः प्राह—'अच्चो'त्यादि, अयमर्थः—अभ्यन्तरोत्तर-पूर्वयोः कृष्णराज्योरन्तरे अर्चिर्विमानम् १, एवं पूर्वयोरर्चिर्मालिः २, अभ्यन्तरपूर्व[2]दक्षिणयोर्वैरोचनम् ३, दक्षिणयोः [3]प्रभङ्करम् ४, अभ्यन्तरदक्षिणपश्चिमयोश्चन्द्राभम् ५, पश्चिमयोः सूराभम् ६, [4]अभ्यन्तरपश्चिमोत्तरयोः शुक्राभम् ७, उत्तरयोः सुप्रतिष्ठाभम् ८, सर्वकृष्णराजीमध्यभागे तु रिष्ठाभमिति ९ ॥४६॥ प्र.आ. ४२०

अथैतन्निवासिनो देवानाह—'अट्ठाये' त्यादि, [5]तेष्वेवाकाशान्तरवर्तिष्वष्टासु अर्चिःप्रभृतिषु विमानेषु 'लोकान्तिकाः' लोकस्य—ब्रह्मलोकस्यान्ते—समीपे भवाः सुरा—देवाः परिवसन्ति । कथंभूता इत्याह—'अष्टातरस्थितयः' [6]अष्टावतराणि—सागरोपमाणि स्थितिर्येषां ते तथा । तथा सप्तभिरष्टभिर्वा भवैर्भवान्तो

१ △ △ चिह्नद्वयमध्यवर्तीपाठः मि. RD नास्ति ॥ २ ०दक्षिणयोर्विरो० सि. ॥ ३ स्थानाङ्गवृत्तौ तु-दक्षिणयोर्मध्ये शुभङ्करे विमाने वरुणाः । इति प. ४३३A ॥ ४ स्थानाङ्गवृत्तौ तु-"अभ्यन्तरोत्तराया अग्रे अङ्काभेऽव्याबाधाः । इति प. ४३३ ॥ ५ तेष्ववकाशा० सि. R ॥ ६ एकावतराः सिद्ध्यन्ति भवे भाविनि निश्चितम् । अष्टावतरा अप्येते, निरूपिता मतान्तरे ॥२४४॥ तन्मतद्वयं चैवं लोकान्ते-लोकाग्रलक्षणे सिद्धिस्थाने भवा लोकान्तिकाः . इति स्थानाङ्गवृत्तौ" इति लोकप्रकाशे २० । २४४ तः ॥

मुक्तिर्येषां ते सप्ताष्टभवभवान्ताः, एतैश्च—वक्ष्यमाणैर्नामभिरमी गीयन्ते—कथ्यन्ते ॥४७॥

तान्येव नामानि विमानक्रमेणाह—'**सारे**' त्यादि, सारस्वताः १ मकारोऽलाक्षणिकः, आदित्याः २, वह्नयः ३, वरुणाः ४, गर्दतोयाः ५, तुषिताः ६, अव्याबाधाः ७, आग्नेयाः ८, एते संज्ञान्तरतो मरुतोऽप्यभिधीयन्ते । रिष्ठाश्चेति 'तास्थ्यात्तद्व्यपदेश' इति रिष्ठविमानाधारा रिष्ठाः ९ । एते च सारस्वतादयो लोकान्तिकसुराः प्रव्रज्यासमयात्संवत्सरेणार्वागेव स्वयं [1]सम्बुद्धमपि जिनेन्द्रं कल्प इतिकृत्वा 'भगवन् ! सर्वजनजीवहितं तीर्थं प्रवर्तयेति' [2]बोधयन्ति ॥४८॥

अथैतेषां देवानां परिवारमाह—'**पढमे**' त्यादि, अयमत्राभिप्रायः—सारस्वता-ऽऽदित्ययोः समुदितयोः सप्त देवाः सप्त च देवशतानि परिवारः, एवं वह्नि-वरुणयोश्चतुर्दश देवाश्चतुर्दश च देवसहस्राः, गर्दतोयतुषितयोः सप्तदेवाः सप्त च देवसहस्राः, शेषेषु त्वव्याबाधाग्नेयरिष्ठेषु नव देवा नव च देवशतानीति ॥४९॥२६७॥

इदानीं '**सज्झायस्स अकरणं**' त्यष्टषष्ट्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

संजमघा १ [3]उप्पाये २ सादिव्वे ३ वुग्गहे य ४ सारीरे ५ ।
[4]महिया १ सच्चित्तरओ २ [5]वासम्मि य ३ संजमे तिविहं ॥५०॥
महिया उ गब्भमासे सच्चित्तरओ य ईसिआयंब[6] ।
वासे तिन्नि पगारावुब्बुय तव्वज्ज फुसिए य ॥५१॥

१ सम्बुद्ध इति-सि R॥ २ बोधयन्ति-सि. R नास्ति ॥ ३ उवघाये-इति आवश्यकनिर्युक्तौ [गा.१३२३] इति पाठः ॥ ४ महया-ता. ॥ ५ वासहरिस य-मि. ॥ ६ बे-मु. । ०वो-आव. नि. ॥

दव्वे तं चिय दव्वं खेत्ते जहियं तु [1]जच्चिरं कालं ।
ठाणाइभास भावे मोत्तुं उस्सासउम्मेसे ॥५२॥
पंसू य मंसरुहिरे केससिलावुट्ठि तह रयुग्घाए ।
मंसरुहिरे [2]अहरत्तं अवसेसे जच्चिरं सुत्तं ॥५३॥
पंसू अच्चित्तरओ [3]रयस्सलाओ दिसा रउग्घाओ ।
तत्थ सवाए निव्वायए य सुत्तं परिहरंति ॥५४॥
गंधव्वदिसा विज्जुक्क गज्जिए जूव जक्खआलित्ते ।
एक्केक्कपोरिसिं गज्जियं तु दो पोरिसी हणइ ॥५५॥
दिसिदाहो छिन्नमूलो उक्क सरेहा [4]पगाससंजुत्ता ।
संझाछेयावरणो उ जूवओ सुक्कि [5]दिण तिन्नि ॥५६॥
चंदिमसूरुवरागे निग्घाए गुंजिए अहोरत्तं ।
संझाचउ पडिवए जं [6]जहिं सुगिम्हए नियमा ॥५७॥

प्र. आ.
४२१

आसाढो इंदमहो कत्तिय सुगिम्हए य बोद्धव्वे ।
एए महामहा खलु एएसिं [7]जाव [8]पाडिवया ॥५८॥

---

१ यच्चिर-सि. ॥ २ महोरत्तं-सि. । अहरत्त-इति आवश्यकनिर्युक्तौ ॥ ३ रयस्सिलाओ-इति आवश्यकनिर्युक्तौ ॥
४ पगास जुत्ता वा-इति आवश्यक निर्युक्तौ ॥ ५ दिणि-सि. ॥ ६ जेहिं-ता. ॥ ७ चेव-इति आवश्यकनिर्युक्तौ ॥
८ पडिवइया-ता. । प्पडिवइया-सि. ॥

उक्कोसेण दुवालस चंदो जहन्नेण पोरिसी [1]अट्ठ ।
सूरो जहन्न बारस पोरिसि उक्कोस दो अट्ठ ॥५९॥
सग्गहनिवुड्ड एवं सूराई जेण हुंतिऽहोरत्ता[2] ।
आइन्नं दिणमुक्को[3] सोच्चिय दिवसो य राई य ॥६०॥
वुग्गहदंडियमाई संखोभे दंडिए [4]व कालगए ।
अणरायए य सभए जच्चिरऽनिद्दोच्चऽहोरत्तं ॥६१॥
तद्दिवसभोइआइ अंतो सत्तण्ह जाव सज्झाओ ।
[5]अणाहस्स य हत्थसयं दिट्ठिविवित्तंमि सुद्धं तु ॥६२॥
[6]मयहर पगए बहुपक्खिए य सत्तघर अंतर [7]मयंमि ।
निद्दुक्खत्ति य गरिहा न पढंति [8]सणीयगं वावि ॥६३॥
तिरिपंचिंदिय दव्वे खेत्ते सट्ठिहत्थ पोग्गलाइन्नं ।
तिकुरत्थ महंतेगा नगरे बाहिं तु गामस्स ॥६४॥
काले तिपोरिसि अट्ठ व भावे सुत्तं तु नंदिमाईयं ।
सोणिय मंसं चम्मं अट्ठीवि य [9]अहव चत्तारि ॥६५॥

---

१ अट्ठा-सि ॥ २ ०र्त्तं-सि. ॥ ३ क्के-मु. ॥ ४ व-मु. । व-सि. नास्ति । य-इति आवश्यकनिर्युक्तौ ॥ ५ अणहस्स-मु. । अणहयस्स-सि. ॥ ६ मयहरति-सि. ॥ ७ मए वा-इत्यावश्यकनिर्युक्तौ ॥ ८ सणियगं-मु. । सणीयगं-इत्यावश्यकनिर्युक्तौ सि. प्रतौ च । मणीयगं-वा. ॥ ९ हुंति चत्तारि-इत्यावश्यकनिर्युक्तौ ॥

अंतो बहिं व धोयं सट्ठी हत्थाउ पोरिसी तिन्नि ।
महकाइ अहोरत्तं [1]रत्ते वूढे य सुक्कं तु ॥६६॥
अंडगमुज्झिय कप्पे न य भूमि खणंति इयरहा तिन्नि ।
असज्झाइयप्पमाणं मच्छियपाया जहिं बुड्डे ॥६७॥
अजराउ तिन्नि [2]पोरिसि जराउयाणं जरे [3]पडे तिन्नि ।
रायपहबिंदुपडिए कप्पे वूढे पुणो नत्थि ॥६८॥
माणुस्सियं चउक्का अट्ठिं मोत्तूण सयमहोरत्तं ।
परियावन्नविवन्ने सेसे तिय सत्त अट्ठेव ॥६९॥
रत्तुक्कडा उ इत्थी अट्ठ [4]दिणा तेण सत्त सुक्कहिए ।
तिण्ह दिणाण परेणं अणोउगं[5] तं [6]महारत्तं ॥७०॥
दंते दिट्ठे विगिंचण सेसट्ठि बारसेव वरिसाइं ।
दड्ढट्ठोसु न चेव य कीरइ सज्झायपरिहारो ॥७१॥

[आवश्यकभाष्य गा. २१६-७, आवश्यकनि १३३१-२-१३३४-५, १३३७-८, १३४२, १३४४, १३४७, १३५०-२ आव. भा. २१९, २२० आव. नि. १३५५-६]

आ—मर्यादया सिद्धान्तोक्तन्यायेन अध्ययनं—पठनम् आध्यायः, सुष्ठु—शोभन आध्यायः स्वाध्यायः,

---

१ रत्ते-इत्यावश्यक नियुक्तौ ॥ २ पोरसि-ता. ॥ ३ पडिए ता. खि. ॥ ४ दिणे-मु. । दिणे तिन्नि ता. सि. । आवश्यकनियुक्तावपि दिणा-इति पाठः ॥ ५ ०यं-ता. ॥ ६ महोरत्तं-इत्यावश्यकनियुक्तौ ॥

स एव स्वाध्यायिकं यत्र नास्ति तदस्वाध्यायिकं-रुधिरादि । तन्मूलभेदापेक्षया द्विधा-आत्मसमुत्थं परसमुत्थं च । आत्मनः-स्वाध्याय चिकीर्षोः समुद्भूतमात्मसमुत्थम्, परस्मात्-स्वाध्यायकर्तुरन्यस्मात्समुद्भूतं परसमुत्थम्। तत्र बहुवक्तव्यत्वात्प्रथमतः परसमुत्थमेव प्रतिपाद्यते । तच्च पञ्चविधम्, तद्यथा-संयमघाति-संयमौपघातिकम् १, औत्पातिकम्-उत्पातनिमित्तम् २, सदेवं-देवताप्रयुक्तम् ३, व्युद्ग्रहः-संग्रामः ४, शारीरं च-शरीरसंभवम् ५ । एतेषु च पञ्चस्वप्यस्वाध्यायिकेषु स्वाध्यायं विदधतः साधोस्तीर्थकृदाज्ञाभङ्गादयो दोषा भवन्ति । तत्र संयमे—संयमोपघातविषयमस्वाध्यायिकं त्रिविधं-महिका सचित्तरजो वर्षं चेति ॥५०॥

त्रीनपि भेदान् क्रमेण व्याख्यानयति--'मही'त्यादि, [1]महिका गर्भमासे पतन्ती धूमरी प्रतीता । गर्भमासो नाम कार्तिकादिर्यावन्माघमासः । सा च पतनसमकालमेव सर्वमप्कायभावितं करोति । सचित्तरजो नाम व्यवहारमचित्ता [2]वातोद्धूता श्लक्ष्णा धूलिः । तच्च सचित्तरजो वर्णत ईषदाताम्रं दिगन्तरेषु दृश्यते । गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । तदपि निरन्तरपातेन त्रयाणां दिनानां परतः सर्वं पृथ्वीकायभावितं करोति ।

वर्षस्य पुनस्त्रयः प्रकारा भवन्ति । तानेवाह—'बुब्बुय' त्ति यत्र वर्षे निपतति पानीयमध्ये बुद्बुदाः--तोयशलाकारूपा उत्तिष्ठन्ति तद्वर्षमप्युपचाराद् बुद्बुदमित्युच्यते । तद्वर्जे--तैर्बुद्बुदैर्वर्जितं द्वितीयं वर्षम् । तृतीयं [3]'फुसिएय' त्ति जलस्पर्शिका निपतन्त्यः । तत्र बुद्बुदे वर्षे निपतति यामाष्टकादूर्ध्वम् । अन्ये

१ तुला-आवश्यकहारिभद्रीया वृत्तिः प.७३४॥ २ अरण्यवातो-मु. ॥ ३ फुसियवस्सि-मु. ॥

तु व्याचक्षते--त्रयाणां दिनानां परतः। [1]तदूर्ध्वपञ्चानां दिनानां परतः। जलस्पर्शिकारूपे सप्तानां दिनानां परतः सर्वमप्कायस्पृष्टं भवति ॥५१॥

अथ संयमघातिभेदानां सर्वेषामपि चतुर्विधं परिहारमाह—'दव्वे' इत्यादि, द्रव्ये- द्रव्यतस्तदेवास्वाध्यायिकं महिका सचित्तरजो वर्षं वा [2]वर्ज्यते। क्षेत्रे यावति क्षेत्रे महिकादि पतति ताव क्षेत्रम्। कालतो [3]'जच्चिरं' यावन्तं कालं पतति तावन्तं कालम्। भावे—भावतो मुक्त्वा उच्छ्वासमुन्मेषं च। तद्वर्जने जीवितव्यव्याघातसंभवात्। [4]शेषां—स्थानादिकां आदिशब्दादुद्गमनागमनप्रतिलेखनादिपरिग्रहः कायिकीं चेष्टां भाषां च वर्जयन्ति। इह च न निष्कारणेन कामपि लेशतोऽपि चेष्टां कुर्वन्ति। ग्लानादिकारणे तु समापतिते यतनया हस्तसंज्ञया अक्षिसंज्ञया अङ्गुलीसंज्ञया वा व्यवहरन्ति पोतावरिता वा भाषन्ते, वर्षाकल्पावृताश्च गच्छन्तीति ॥५२॥

गतं संयमोपघात्यस्वाध्यायिकम्, इदानीमौत्पातिकमाह—'पंसू य'इत्यादि, अत्र वृष्टिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, पांशुवृष्टौ मांसवृष्टौ रुधिरवृष्टौ केशवृष्टौ शिलावृष्टौ च। तत्र पांशुवृष्टिर्नाम यदचित्तं रजो निपतति। मांसवृष्टिर्मांसखण्डानि पतन्ति। रुधिरवृष्टिर्यत्र रुधिरबिन्दवः पतन्ति। केशवृष्टिर्यदुपरिभागात्केशाः पतन्ति। शिलावृष्टिः—पाषाणनिपतनं [5]करकादिशिलावृष्टिर्वेत्यर्थः। तथा रजउद्घाते[6] रजस्वलासु दिक्षु सूत्रं न पठ्यते। शेषाः सर्वा अपि चेष्टाः क्रियन्ते। तत्र मांसे रुधिरे च पतति एकमहोरात्रं

१ तदूर्ध्व–मु.। तदूर्ध्वपञ्चानां दिनानां जल० सि. B ॥ २ वर्ज्यन्ते-मु. B ॥ ३ यच्चिरं-सि. ॥
४ शेषं स्थानादिकं-मु. ॥ ५ करकादि-शिलावर्षमित्यर्थः-मु. ॥ ६ ०तेन-सि. B ॥

वर्ज्यते, अवशेषे–पांशुवृष्ट्यादौ यावच्चिरं–यावन्तं कालं पांशुप्रभृति पतति तावन्तं कालं सूत्रं–'**नन्द्यादि**' न पठ्यते । शेषकालं तु पठ्यते ॥५३॥

सम्प्रति पांशुरजउद्घातयोर्व्याख्यानमाह— '**पंसू**' इत्यादि, पांशवो नाम धूमाकारमापाण्डुरमचित्त-रजः । रजउद्घातो रजस्वला दिशो यासु सतीषु समन्ततोऽन्ध[1]कारमिव दृश्यते । तत्र पांशुवृष्टौ रजउद्घाते वा सवाते निर्वाते च पतति यावत्पतनं तावत्सूत्रं परिहरन्ति ॥५४॥

गतमौत्पातिकम् , इदानीं सदेवमाह—'**गंधव्वे**' त्यादि, गन्धर्वनगरं नाम यच्चक्रवर्त्यादिनगर-स्योत्पातसूचनाय संध्यासमये तस्य नगरस्योपरि द्वितीयं नगरं प्राकाराट्टालकादिसंस्थितं दृश्यते । '**दिस**' त्ति दिग्दाहः, विद्युत्–तडित् , उल्का–सरेखा, प्रकाशयुक्ता वा, गर्जितं-जीमूतध्वनिः, यूपको-[2]वक्ष्यमाण-लक्षणः, यक्षादीप्तं नाम-एकस्यां दिशि अन्तराऽन्तरा यद् दृश्यते विद्युत्सदृशः प्रकाशः । एतेषु मध्ये [3]गन्धर्व-नगरादिकमेकैकां पौरुषीं हन्ति । एकैकं प्रहरं यावत्स्वाध्यायो न विधीयते इति भावः । गर्जितं पुनः द्विपौरुषीं हन्ति । इह च गन्धर्वनगरं नियमात् । सदेवम् , अन्यथा तस्याभावात् । शेषकाणि तु दिग्दाहादीनि भाज्यानि-कदाचित्स्वाभाविकानि भवन्ति कदाचिद्देवकृतानि । तत्र स्वाभाविकेषु स्वाध्यायो न परिह्रियते, किंतु देवकृतेषु । परं येन कारणेन स्फुटं[4]वैविक्त्ये न तानि न ज्ञायन्ते तेन तेषामविशेषेण परिहारः । उक्तं च—

⊙ "गंधव्वनगर नियमा सादिव्वं सेसगाणि भइयाणि । जेण न नज्जंति फुडं तेण उ तेसिं तु परिहारो ॥१॥५५॥

---

१ ०गार इव – सि. ॥ २ वक्ष्यमाणः यक्षदीप्तं-सि. ॥ ३ गन्धर्वनगरादिकमेकैकमेकैकां-सि. ॥ ४ वैववक्तयै-सि. ।
⊙ गान्धर्वनगर नियमात सदैवं शेषकाणि भक्तानि । येन न ज्ञायन्ते स्फुटं तेन तु तेषां परिहार एव ॥१॥

अथ दिग्दाहादिव्याख्यानमाह-'दिसो' त्यादि, दिशि-पूर्वादिकायां छिन्नमूलो दाहः-प्रज्वलनं दिग्दाहः । किमुक्तं भवति ?—अन्यतमस्यां दिशि महानगरं प्रदीप्तमिवोपरि प्रकाशोऽधस्तादन्धकार इति दिग्दाहः । उल्का पृष्ठतः [1]सरेखा प्रकाशयुक्ता वा तारकस्येव पातः । यूपको नाम [2]शुक्ले-शुक्लपक्षे त्रीणि दिनानि यावद्, द्वितीयस्यां तृतीयस्यां चतुर्थ्यां चेत्यर्थः, सन्ध्याछेदः—सन्ध्याविभागः स आव्रियते येन स [3]सन्ध्याच्छेदावरणश्चन्द्रः । इयमत्र भावना—शुक्लपक्षे द्वितीया तृतीया चतुर्थीरूपेषु त्रिषु दिनेषु सन्ध्यागतश्चन्द्र इतिकृत्वा सन्ध्या न विभाव्यते, ततस्तानि शुक्लपक्षे त्रीणि दिनानि यावच्चन्द्रः सन्ध्याच्छेदावरणः स यूपक इति । एतेषु त्रिषु दिनेषु प्रादोषिकं कालं न गृह्णन्ति, प्रादोषिकीं च सूत्रपौरुषीं न कुर्वन्ति । सन्ध्याच्छेदाविभावनेन कालवेलापरिज्ञानाभावादिति । न केवलं अमूनि सदैवानि, किंत्वन्यान्यपि ॥५६॥

तान्येवाह—'चंदो' त्यादि, चन्द्रस्य-चन्द्रविमानस्योपरागो—राहुविमानतेजसोपरञ्जनं चन्द्रोपरागो ग्रहणमित्यर्थः । [4]एवं सूर्योपरागोऽपि । ततश्चन्द्रोपरागे सूर्योपरागे च [5]तद्दिनेऽपगते इति वाक्यशेषः । तथा साभ्रे निरभ्रे वा नभसि व्यन्तरकृतो महागर्जितसमो ध्वनिर्निर्घातः । गर्जितस्यैव विकारो गुञ्जावद्गुञ्जमानो महाध्वनिर्गुञ्जितम्, तस्मिन्निर्घाते गुञ्जिते च प्रत्येकमहोरात्रं यावत्स्वाध्यायपरिहारः । अयं चात्र विशेषः—यस्यां वेलायां निर्घातो गुञ्जितं वाऽधिकृते दिनेऽभवत् द्वितीयेऽपि दिने यावत्सैव वेला प्राप्ता भवति तावदस्वाध्याय एव । उक्तं च—"निग्घायगुञ्जिएसु विसेसो-बिइयदिणे जाव मा [6]वेला अहोरत्तच्छेएण ण छिज्जइ, जहा अन्नेसु [7]अमज्झाइएसु" [ ] इति ।

---

१ परेषा प्रकाश० सि. ॥ २ शुक्ले-सु. नास्ति ॥ ३ सन्ध्यावरणश्चन्द्रः-जे. ॥ ४ एवं सूर्योपरागग्रहणमित्यर्थः एवं सूर्योपरागोऽपि-सि. ॥ ५ तद्दिनापगते-सि. ॥ ६ वेलत्ति अहोरत्तच्छेएमण छिज्जइ सि । वेलेवत्ति-R ॥ ७ असज्झाएसु. B ॥

'संझाचउ' त्ति चतस्रः संध्यास्तिस्रो रात्रौ, तद्यथा—प्रस्थिते सूर्ये अर्धरात्रे प्रभाते च, चतुर्थी दिनस्य मध्यभागे, एतासु चतसृष्वपि सन्ध्यासु स्वाध्यायो न विधीयते । शेषक्रियाणां तु प्रतिलेखनादीनां तु न प्रतिषेधः । **'पाडिवए'** त्ति प्रतिपद्ग्रहणेन प्रतिपत्पर्यन्ताश्चत्वारो महामहाः सूचिताः । ततश्चतुर्णां महामहानां चतसृषु-प्रतिपत्सु तथैव स्वाध्याय एव न क्रियते । न शेषक्रियाणां प्रतिषेधः । **'जं जहिं सुगिम्हए नियम'** त्ति एवमन्योऽपि य उत्सवः पशुवधादिबहुलो यस्मिन् ग्रामनगरादौ यावन्तं कालं प्रवर्तते स तत्र तावन्तं कालं वर्जनीयः । सुग्रीष्मकः—चैत्रमासभावी पुनर्महामहः सर्वेषु देशेषु शुक्लपक्षप्रतिपद आरभ्य चैत्रपौर्णमासीप्रतिपत्पर्यन्तो नियमात् प्रसिद्ध इति ॥५७॥

के पुनस्ते चत्वारो महामहाः ? [1]तत्राह—**'आसाढी'** त्यादि, आषाढी—आषाढपौर्णमासीमहः, इन्द्रमहः-अश्वयुक्पौर्णमासी, कार्तिकी-कार्त्तिकपौर्णमासी, सुग्रीष्मकः—चैत्रपौर्णमासी, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वादेत एव चत्वारो महान्तः—सर्वातिशायिनो महा—उत्सवा महामहा बोद्धव्याः । एतेषां च चतुर्णां महामहानां मध्ये यो महामहो यस्मिन् देशे यतो दिवसादारभ्य यावन्तं कालं प्रवर्तते तस्मिन् देशे ततो दिवसादारभ्य तावन्तं कालं न स्वाध्यायं कुर्वन्ति । इह च यद्यपि सर्वेऽपि महामहाः पौर्णमासीपर्यंता एव प्रसिद्धास्तथापि क्षणानुवृत्तिसंभवेन प्रतिपदोऽप्यवश्यं वर्जनीयाः । अत एवाह—**'जाव पाडिवइ'** त्ति गतार्थम् ॥५८॥

सम्प्रति जघन्यत [2]उत्कर्षतश्च चन्द्रोपरागं सूर्योपरागं चाधिकृत्य स्वाध्यायविघात[3]कालमाह—**'उक्कोसेणे'** त्यादिगाथाद्वयम् , चन्द्र उत्कर्षतो द्वादशपौरुषीं हन्ति, जघन्यतस्त्वष्टौ । कथमिति चेदुच्यते—

१ तत्रसूत्रकृदाह-सु. ॥ २ उत्कर्षतश्चन्द्रो० सि. ॥ ३ कालमानमाह-सु. ॥

उद्गच्छंश्चन्द्रमा राहुणा गृहीतः। ततश्चतस्रः पौरुषी रात्रेर्हन्ति, चतस्र आगामिनो दिवसस्य एवमष्टौ। द्वादश पुनरेवं-प्रभातकाले चन्द्रमाः [1]सग्रहण एवास्तमुपगतः ततश्चतस्रः पौरुषीर्दिवसस्य हन्ति चतस्र आगामिन्या रात्रेश्चतस्रो द्वितीयस्य दिवसस्य। अथवा औत्पातिकग्रहणेन[2] सर्वरात्रिकं ग्रहणं सञ्जातं सग्रह एव निमग्नः। तत्र संदूषितरात्रेश्चतस्रः पौरुषीरन्यच्चाहोरात्रम्। अथवा अभ्रच्छन्नतया विशेषपरिज्ञानाभावाच्च न ज्ञातं कस्यां वेलायां ग्रहणं ? प्रभाते च सग्रहो निमज्जन् दृष्टस्ततः समग्रा रात्रिः परिहृता अन्यश्चाहोरात्रमिति द्वादश।

तथा सूर्यो जघन्येन द्वादश [3]पौरुषीर्हन्ति, उत्कर्षतो द्वावष्टौ-षोडशपौरुषीरित्यर्थः। कथमिति चेदुच्यते-सूर्यः सग्रह एवास्तमुपयातः, ततश्चतस्रः पौरुषी रात्रेर्हन्ति, चतस्र आगामिनो दिवसस्य, चतस्रस्ततः परस्या रात्रेरेवं द्वादश। षोडश पुनरेवं-सूर्य उद्गच्छन् राहुणा गृहीतः सकलं च दिवसमुत्पातवशात्सग्रहः स्थित्वा सग्रह एवास्तं [4]गतः। ततश्चतस्रः पौरुषीर्दिवसस्य हन्ति चतस्र आगामिन्या रात्रेश्चतस्रोऽपरदिवसस्य ततोऽपि चतस्रोऽपरस्या रात्रेः एवं षोडश पौरुषीर्हन्ति सग्रह उद्गतः सग्रह एवास्तमितः। तथा चोक्तम्-

"एयं उग्गच्छंतगहिए सग्गहनिवुड्ढे दट्ठव्व"[ ] मिति

कथमिति चेदुच्यते-'सुराई जेण होंतऽहोरत्त' त्ति सूर्योदयो येनाहोरात्राः, यतः सूर्यादिरहोरात्रस्ततो दिनमुक्ते सूर्ये स एव दिवसः सैव च रात्रिरस्वाध्यायिकतया परिह्रियन्ते। चन्द्रे तु तस्यामेव

१ सग्रह एवा० सि B॥ २ ०न-सि. नास्ति॥ ३ पौरुषीं हन्ति-सि. B॥ ४ उपगतः-सि.॥

रात्रौ मुक्ते यावदपरश्चन्द्रो [1]नोदितस्ता तावदस्वाध्याय इति सैव रात्रिरपरं च दिनमित्येवमहोरात्रमस्वाध्यायः। अन्ये पुनराहुः आचीर्णमिदं–चन्द्रो रात्रौ गृहितो रात्रावेव मुक्तस्तस्या एव रात्रेः शेषं वर्जनीयम्, यस्मादागामिसूर्योदये समाप्तिरहोरात्रस्य जाता। सूर्योऽपि यदि दिवा गृहीतो दिवैव च मुक्तस्ततस्तस्यैव दिवसस्य शेषं रात्रिश्च वर्जनीयेति ॥६०॥

गतं सदेवमस्वाध्यायिकम्, इदानीं व्युद्ग्रहजमाह--'वुग्गहे' त्यादि गाथाद्वयम्, व्युद्ग्रहे–परस्परविग्रहे दण्डिकादीनाम्, आदिशब्दात्सेनापत्यादीनां च परस्परं विग्रहेऽस्वाध्यायः। इयमत्र भावना–द्वौ दण्डिकौ सस्कन्धावारौ परस्परं संग्रामं कर्तुकामौ यावन्नोपशाम्यतस्तावत्स्वाध्यायं कर्तुं न कल्पते। एवं द्वयोः [2]सेनाधिपत्योर्द्वयोर्वा तथाविधप्रसिद्धिपात्रयोः स्त्रियोः परस्परं व्युद्ग्रहे वर्तमाने, अथवा मल्लयुद्धे, तथा द्वयोर्ग्रामयोः परस्परं कलहभावे बहवस्तरुणाः परस्परं लोष्टैर्युध्यन्ति[3], यदिवा बाहुयुद्धादिभिः स्वतो लोष्टादिभिर्वा परस्परं कलहे [4]देशविशेषप्रसिद्धे रजःपर्वणि वा यावन्नोपशमो भवति सेनाधिपादिव्युद्ग्रहस्य तावदस्वाध्यायः। किं कारणमिति चेदुच्यते तत्र वानमन्तराः कौतुकेन [5]स्वस्वपक्षेण समागच्छन्ति ते छलयेयुः। भूयसां च लोकानामप्रीतिर्यथा वयमेवं भीता वर्तामहे कामप्यापदं प्राप्स्यामः एते च श्रमणका निर्दुःखाः सुखं पठन्ति।

तथा दण्डिके कालगते 'अणरायए य' त्ति यावदन्यो राजा नाभिषिक्तो भवति तावत्प्रजानां

१ नोदेति ता० मु.। नोदितस्तावदस्वाध्याय-सि.॥ २ तुला–आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका गा १३४० भा. २ प. १२७॥ ३ ०न्तो-सि.॥ ४ देशप्रसिद्धे-मु.॥ ५ स्वपक्षेण— सि. R.।

महान् संक्षोभो भवति, तस्मिन् संक्षोभे सति स्वाध्यायो न कल्पते । सभयं— '[1]म्लेच्छादिभयाकुलं तस्मिन्नपि स्वाध्यायो न कर्तव्यः। एतेषु सर्वेषु व्युद्ग्रहादिष्वस्वाध्यायविधिमाह—**'जच्चिरऽनिद्दोच्चिऽहोरत्त'** ति व्युद्ग्रहादिषु यच्चिरं—यावन्तं कालम् **'अनिदोच्चं'** इत्यनिर्भयमस्वास्थ्यमित्यर्थः । तावन्तं कालमस्वाध्यायः । स्वस्थीभवनानन्तरमप्येकमहोरात्रं परिहृत्य स्वाध्यायः कर्तव्यः । उक्तं च—

"निद्दोच्चीभूएवि अहोरत्तमेगं परिहरित्ता सज्झाओ कीरइ" [ ] इति । इह **'संखोभे दंडिए य कालगए'** इत्यनेनान्यदपि सूचितमस्ति, ततस्तदभिधित्सुराह—**'तद्दिवसे'** त्यादि, भोजिके—ग्रामस्वामिनि आदिशब्दाद्वक्ष्यमाणमहत्तरादिपरिग्रहः, सप्तानां गृहाणामन्तः—मध्ये कालगते सति तद्दिवसमहोरात्रं यावदस्वाध्याय—स्वाध्यायपरिहारः ।

प्रसङ्गादन्यदपि प्रतिपादयति—**'अणाहस्स'** इत्यादि, कोऽप्यनाथो हस्तशताभ्यन्तरे मृतः, तस्मिन्ननाथे हस्तशताभ्यन्तरे कालगते स्वाध्यायो न क्रियते । [2]तत्रेयं यतना—शय्यातरस्यान्यस्य वा तथाविधस्य श्रावकस्य यथा वार्ता कथ्यते 'स्वाध्यायान्तरायमस्माकमनाथमृतकेन कृतमस्ति, ततः सुन्दरं भवति यदीदं छर्द्यते ।' एवमभ्यर्थितो यदि शय्यातरादिः परिष्ठापयेत्ततः शुभं भवतीति स्वाध्यायः कार्यः । [3]अथवा शय्यातरादिर्न कोऽपि परिष्ठापयितुमिच्छति तदाऽन्यस्यां वसतौ व्रजन्ति । यद्यन्या वसतिर्नास्ति तदा रात्रौ सागारिकासंलोके [4]वृषभास्तदनाथमृतकमन्यत्र प्रक्षिपन्ति। अथ तत्कलेवरं श्वशृगालादिभिः समन्ततो विकीर्णं

१ म्लेच्छादिमयं कुलं-सि.B ॥ २ तुला-आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका गा. १३४३ भा. २ प. १२७॥
३ अथवा (च) शय्या० मु ॥ ४ वृषभावृहस्त० सि. B ॥

ततः समन्ततो निभालयन्ति यद् दृष्टं तत्सर्वमपि त्यजन्ति, इतरस्मिंस्तु प्रयत्ने कृतेऽप्यदृष्टे अशठा इति कृत्वा शुद्धाः । स्वाध्यायं कुर्वन्ति अपि न प्रायश्चित्तभाज इति भावः ॥६१-६२॥

संप्रति '**तद्दिवसभोइयाई**' इत्यत्रोक्तमादिशब्दं व्याख्यानयति-'**मयहरे**' त्यादि, महत्तरके--गामप्रधाने प्रकृते-ग्रामाधिकारनियुक्ते बहुपाक्षिके-बहुस्वजने, चकारात् शय्यातरे, अन्यस्मिन् वा प्राकृते मनुष्ये स्ववसत्यपेक्षया सप्तगृहाभ्यन्तरे मृते तद्दिवसम्-एकमहोरात्रमस्वाध्यायः । किं कारणमत आह-निर्दुःखा अमी इत्यप्रीत्या गर्हासंभवात् । ततो न पठन्ति, [शनैर्वा पठन्ति] यथा न कोऽपि शृणोतीति । महिलारुदितशब्दोऽपि यावत् श्रूयते तावन्न पठन्ति ॥६३॥

गतं व्युद्ग्रहजम्, इदानीं शारीरिकस्यावसरः, [1]तच्च द्विविधं-मानुषं तैरश्चं च, तत्र तैरश्चं त्रिधा-जलजं-[2]मत्स्यादितिर्यग्भवम्, एवं गवादीनां स्थलजम्, मयूरादीनां च खजम् । पुनर्जलजादिकं प्रत्येकं द्रव्यादिभेदतश्चतुर्विधम् । तानेव द्रव्यादीन् चतुरो भेदानाह-'**तिरि**' त्यादि, द्रव्ये-द्रव्यतस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां जलजादीनां रुधिरादिद्रव्यमस्वाध्यायिकम्, न विकलेन्द्रियाणाम् । क्षेत्रे-क्षेत्रतः षष्टिहस्ताभ्यन्तरे परिहरणीयम्, न परतः । अथ तत्स्थानं तैरश्चेन पौद्गलेन-मांसेन समन्ततः काककुक्कुरादिभिर्विक्षिप्तेनाकीर्णं-व्याप्तं तदा यदि स ग्रामस्तर्हि तस्मिन् तिसृभिः कुरथ्याभिरन्तरिते विकीर्णे पौद्गले स्वाध्यायः क्रियते । अथ नगरं तदा तत्र यस्यां राजा सबलवाहनो गच्छति देवयानो रथो वा विविधानि वा वाहनानि गच्छन्ति तया महत्याऽप्येकया रथ्यया अन्तरिते स्वाध्यायः कार्यः । अथ स ग्रामः समस्तोऽपि विकीर्णेन

१ तुला-आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका गा. १३४४ भा. २ प. १२० B ॥ २ जलमत्स्यादि० सि. R ॥

गाथा १४५०-७१

प्र. आ. ४२५

पौद्गलेनाकीर्णो विद्यते न तिसृभिः कुरथ्याभिरन्तरितं तत्पौद्गलमवाप्यते तदा ग्रामस्य बहिः स्वाध्यायो विधेयः ॥६४॥

गता क्षेत्रतो मार्गणा, सम्प्रति कालतो भावतश्च तामाह—'काले' त्यादि, काले–कालतस्तज्जलजादिगतं रुधिरादि संभवकालादारभ्य तिस्रः पौरुषीर्हन्ति। 'अट्ठेवे' ति यत्र महाकायपञ्चेन्द्रियस्य [1]मूषकादेर्मार्जारादिना मारणं तत्राष्टौ पौरुषीर्यावदस्वाध्यायः। गता कालतोऽपि मार्गणा, भावत आह–भावे–भावतो नन्द्यादिकं सूत्रं न पठन्ति। अथवा जलजादिकं प्रत्येकं रुधिरादिभेदतश्चतुर्विधम्, तद्यथा–शोणितं मांसं चर्म अस्थि चेति। चत्वार्यप्येतानि प्रतीतानि ॥६५॥

अत्रैव विशेषमाह-'अंतो' इत्यादि, यदि षष्टेर्हस्तानाम् अन्तः-मध्ये मांसं धौतं· प्रक्षालितं तदा तस्मिन् [2]बहिर्नीतेऽपि तत्र नियमात् केचिदवयवाः पतिता भवन्ति ततस्तिस्रः पौरुषीः परिहर्तव्यः स्वाध्यायः। एवं पाकेऽप्यवसेयम्, षष्टिहस्तेभ्यो बहिः–परतः पुनः प्रक्षालिते पक्वे वा पिशिते स्वाध्यायः कर्तव्यः; न कश्चिद्दोषः।

'अट्ठेवे' ति प्राग्यदुक्तं तदिदानीं भावयति–'महकाए अहोरत्तं' ति एतच्च प्रागेव व्याख्यातम्। [3]अत्रैके प्राहुः–यदि मार्जारादिना मूषकादिरविभिन्न एव सन् मारितो मारयित्वा च गृहीत्वा अथवा गिलित्वा यदि ततः स्थानात्पलायते तदा पठन्ति साधवः सूत्रम्, [4]न विशेषः। अन्ये नेच्छंति यतः कस्तं जानाति अविभिन्नो भिन्नो वा मारित इति। अपरे पुनरेवमाहुः–यत्र मार्जारादिः स्वयं मृतोऽन्येन ॥६०४॥

१ मूषिका० सि. B ॥ २ बहिर्नीतेऽपि यतस्ततस्तत्र नियमात्-मु. ॥
३ तुला-आवश्यकनिर्युक्तिदीपिकायां भाष्यगाथा २२१ भा. २ प. १२८ ॥ ४ न कश्चिद्दोषः-मु. ॥

वा केनाप्यविभिन्न एव सन्मारितस्तत्र यावत्तत्कलेवरं न भिद्यते तावन्नास्वाध्यायिकम् । विभिन्ने [1]त्वस्वाध्यायिकमिति । [2]तदेतदसमीचीनम् । यतश्चर्मादिभेदतश्चतुर्विधमस्वाध्यायिकं तस्मादविभिन्नेऽप्य-स्वाध्याय एव । [3]'रत्ते वूढे य सुद्धं' ति यत्तत्र षष्टिहस्ताभ्यन्तरे पतितं रक्तं-रुधिरं तेनावकाशेन पानीयप्रवाह आगतस्तेन व्यूढं तदा पौरुषीत्रयमध्येऽपि शुद्धमस्वाध्यायिकमिति स्वाध्यायः कार्यः ॥६६॥

तैरश्चास्वाध्यायिकप्रस्तावादन्यदप्याह–'अण्डगे' त्यादि, षष्टिहस्ताभ्यन्तरे अण्डके पतिते यदि तदण्डकमभिन्नमद्याप्यस्ति तदा तस्मिन्नुज्झिते स्वाध्यायः कल्पते । अथ पतितं सत्तदण्डकं भिन्नं तस्य च कललबिन्दुर्भूमौ पतितस्तदा न कल्पते । न च भूमिं खनन्ति । इतरथा–भूमिखनने यदि तदस्वाध्या-यिकमपनयन्ति तथापि तिस्रः पौरुषीर्यावदस्वाध्यायः । अथ कल्पे पतितं सत्तदण्डकं भिन्नं कललबिन्दुर्वा तत्र लग्नस्तदा तस्मिन् षष्टिहस्तेभ्यः परतो बहिर्नीत्वा धौते कल्पते । अण्डकबिन्दोरसृग्बिन्दोर्वाऽस्वाध्या-यिकस्य प्रमाणं यत्र मक्षिकापादा निमज्जन्ति, किमुक्तं भवति ?–यावन्मात्रे मक्षिकापादो निमज्जति तावन्मात्रेऽप्यण्डकबिन्दौ रुधिरबिन्दौ वा भूमौ पतितेऽस्वाध्यायः ॥६७॥

किंच–"अजराउ" इत्यादि, अजरायुः–जरायुरहिता हस्तिन्यादिका प्रसूता तिस्रः पौरुषीः स्वाध्यायं हन्ति । [4]अहोरात्रं छेदं मुक्त्वा–अहोरात्रे तु छिन्ने आसन्नायामपि प्रसूतायां कल्पते स्वाध्यायः । जरायु-जादीनां पुनर्गवादीनां यावज्जरायुर्लम्बते तावदस्वाध्यायः । जरायौ पतितेऽपि सति तदनन्तरं तिस्रः पौरुषी-

१ त्वस्वाध्यायिकमाह–जे. ॥ २ तदेतत्स० सि. ॥ ३ आवश्यकनिर्युक्तिदीपिकायां तु-'मय रद्धे वुड्ढे भ सुद्धं तु इति तुर्यपदस्य व्याख्या–यन्मांसं राद्धं पक्वं वा तच्छुद्धम्' इति मा. २ । प. १२८B ॥ ४ अहोरात्रछेदमुक्त्वा-सि. ११ ॥

र्यावदस्वाध्यायः । तथा राजपथे यद्यस्वाध्यायिकबिन्दवः पतितास्तदा कल्पते स्वाध्यायः । किं कारणमिति चेदुच्यते, [1]यतस्तत्स्त्रयोगत आगच्छतां गच्छतां च मनुष्यतिरश्चां पदनिपातैरेवोत्क्षिप्तं भवति । जिनाज्ञा चात्र प्रमाणमतो न कश्चित् दोषः । अथ पुनस्तदस्वाध्यायिकं तैरश्चं राजपथादन्यत्र षष्टिहस्ताभ्यन्तरे पतितं तदा तस्मिन् व्यूढे वर्षोदकेन उपलक्षणमेतत् दग्धे वा प्रदीपनकेन शुद्ध्यति स्वाध्यायः ॥६८॥

गतं तैरश्चमधुना मानुषमाह—'**माणुस्से**' त्यादि, मानुषमस्वाध्यायिकं चतुर्धा–चर्म रुधिरं मांसम् अस्थि च । एतेष्वस्थि मुक्त्वा शेषेषु सत्सु क्षेत्रतो हस्तशताभ्यन्तरे न कल्पते स्वाध्यायः कालतोऽहोरात्रम् । '**परियावन्नविवन्ने**' त्ति मानुषं तैरश्चं वा यद्रुधिरं तद्यदि पर्यापन्नत्वेन–परिणामान्तरापन्नत्वेन [2]स्वभावाद्वर्णाद्विवर्णीभूतं भवति खदिरकल्कसदृशं तदा तदस्वाध्यायिकं न भवतीति क्रियते तस्मिन् पतितेऽपि स्वाध्यायः । '**सेस**' त्ति पर्यापन्नं विवर्णं मुक्त्वा शेषमस्वाध्यायिकं भवति ।

प्र.आ. ४२६

'**तिग**' त्ति [3]यदविरताया मासे २ आर्तवमस्वाध्यायिकमागच्छति तत्स्वभावतस्त्रीणि दिनानि गलति । ततस्तानि त्रीणि दिनानि यावदस्वाध्यायः । त्रयाणां दिवसानां परतोऽपि कस्याश्चिद्गलति परं न तदार्तवं भवति किंतु तन्महारक्तं नियमात् पर्यापन्नं विवर्णं भवतीति नास्वाध्यायिकं गण्यते । तथा यदि प्रसूताया दारको जातस्तदा सप्त दिनान्यस्वाध्यायिकं अष्टमे दिवसे कर्तव्यः स्वाध्यायः । अथ दारिका जाता तर्हि सा रक्तोत्कटेति तस्यां जातायामष्टौ दिनान्यस्वाध्यायः । नवमे दिने स्वाध्यायः कल्पते ॥६९॥

---

१ यत्तत् स्वयोगत-मु. ॥ २ स्वभावाद्वर्णाद्विवर्णीकृतभूतं–सि. R ॥ ३ यदविरतयामासे आर्तव० सि. R ॥

एनमेव गाथावयवं व्याचिख्यासुराह–'रत्तु' इत्यादि, निषेककाले यदि रक्तोत्कटता तदा स्त्री इति तस्यां जातायां दिनान्यष्टावस्वाध्यायः। दारकः शुक्राधिकस्ततस्तस्मिन् जाते सप्त दिनान्यस्वाध्यायः। तथा स्त्रीणां त्रयाणां दिनानां परतस्तन्महारक्तमनार्तवं भवति ततो न गणनीयम् ॥७०॥

अस्थि मुक्त्वेति यत्पूर्वमुक्तं तस्येदानीं विधिमाह–'दंते' इत्यादि। यत्र हस्तशताभ्यन्तरे दारकादीनां दन्तः पतितो भवति तत्र प्रयत्नतो निभालनीयः। यदि दृश्यते तदा परिष्ठाप्यः। अथ [1]सम्यग्मृग्यमाणैरपि न दृष्टस्तदा शुद्धमिति कल्पते स्वाध्यायः। 'अन्ये' तु ब्रुवते–तस्यावहेठनार्थं कायोत्सर्गः करणीयः। दन्तं मुक्त्वा शेषे [2]अङ्गोपाङ्गसम्बन्धिन्यस्थनि हस्तशताभ्यन्तरे पतिते द्वादश वर्षाणि न कल्पते स्वाध्यायः। अथास्थीन्यग्निना दग्धानि तदा हस्तशताभ्यन्तरे स्थितेष्वपि तेषु नैव क्रियते स्वाध्यायस्य–वाचनादेः परिहारः। अनुप्रेक्षा तु न कदाचनापि प्रतिषिद्ध्यते इति ॥७१॥२६८॥

इदानीं 'नंदीसरदीवठिय' इत्येकोनसप्तत्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

विक्खंभो कोडिसयं तिसट्ठिकोडी उ [3]लक्खचुलसीई।
नंदीसरो पमाणंगुलेण इय जोयणपमाणो ॥७२॥
एयंतो अंजणरयणसामकरपसरपूरिओवंता।
घालतमालवणावलिजुयव्व घणपडलकलियव्व ॥७३॥

१ सम्यग्मृगयमाणैरपि-सि. B ॥ २ अङ्गोपाङ्गानां-सि. B ॥ ३ लक्खनचुलसीई- मु. ॥

चउरो अंजणगिरिणो पुव्वाइदिसासु ताणमेक्केक्को ।
[1]चुलसीसहस्सउच्चो ओगाढो जोयणसहस्सं ॥७४॥ [2]जुम्मं ॥
मूले सहस्सदसगं विक्खंभेत स्स उवरि सयदसगं ।
तेसु घणमणिमयाइं सिद्धाययणाणि चत्तारि ॥७५॥
जोयणसयदीहाइं बावत्तरि ऊसियाइं रम्माइं ।
पन्नास वित्थडाइं चउदुवाराइं सधयाइं ॥७६॥
पइदारं मणितोरणपेच्छामंडवविरायमाणाइं ।
पत्तेयणुस्सयऊसियअट्ठुत्तरसयजिणजुयाइं ॥७७॥
मणिपेढिया महिंदज्झया य [3]पोक्खरिणिया य पासेसु ।
कंकेल्लिसत्तवन्नयचंपय[4]चूयवणजुत्ताओ ॥७८॥
नंदुत्तरा य नंदा आणंदा नंदिवद्धणा नाम ।
पुक्खरिणीओ चउरो पुव्वंजणचउदिसिं संति ॥७९॥
विक्खंभायामेहिं जोयणलक्खप्पमाणजुत्ताओ ।
दसजोयणूसियाओ चउदिसितोरणवणजुयाओ ॥८०॥

१ तुला-स्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः ४।२।३७ प. २३१B तः ।। २ जुम्मं-ता. R नास्ति ।। ३ पोक्खरणिया- ता. ।। ४ ०चूया मु. ।।

तासिं मज्झे दहिमुह महीहरा दुद्धदहियसियवन्ना ।
पोक्खरिणीकल्लोला [1]हणणोऽभवफेण[2]पिण्डुव्व ॥८१॥
चउसट्ठिसहस्सुच्चा दसजोयणसहस्सवित्थडा सव्वे ।
सहसमहो उवगाढा उवरि अहो पल्लयागारा ॥८२॥
अंजणगिरिसिहरेसु व तेसुवि जिणमंदिराइं रुंदाइं ।
वावीणमंतरालेसु पव्वयदुगं दुगं अत्थि ॥८३॥
ते रइकराभिहाणा विदिसिठिया अट्ठ पउमरागाभा ।
उवरिट्ठियजिणिंदसिणाणघुसिणरससंग[3]पिंगुव्व ॥८४॥
[4]अच्चंतमसिणफासा अमरेसरविंदविहियआवासा ।
दसजोयणसहस्सुच्चा [5]उव्विद्धा गाउयसहस्सं ॥८५॥
झल्लरिसंठाणठिया [6]उच्चत्तसमाणवित्थडा सव्वे ।
तेसुवि जिणभवणाइं [7]नेयाइं जहुत्तमाणाइं ॥८६॥
दाहिणदिसाए भद्दा विसालवावी य [8]कुमुयपुक्खरिणी ।
तह [9]पुंडरीगिणी मणितोरणआरामरमणीया ॥८७॥

१ ०हरिणो० जे. । ०हगणो० मि. ॥ २ ०पिंडव्व-ता. सि. R ॥ ३ ०पिंगव्व-ता. सि. ॥ ४ अच्चंतमसिणफणा-जे. सि. R॥ ५ उव्विद्धा-मि. ॥ ६ उच्चत्तविमाण० सि.॥ ७ भेयाइं-जे. । मयाइं-सि. R ॥ ८ कुमुयविक्खरिणी-सि. ॥ ९ पुंडरीगणी-ता.॥

गाथा
१४७२-
९१

पुक्खरिणी नंदिसेणा तहा अमोहा य वावि गोथूभा ।
तह य सुदंसणवावी पच्छिमअंजणचउदिसासु ॥८८॥
विजया य वेजयंती [1]जयंति अपराजिया उ वावीओ ।
उत्तरदिसाए पुव्वुत्तवावीमाणा उ बारसवि ॥८९॥
[2]सव्वाओ वावीओ दहिमुहसेलाण ठाणभूयाओ ।
[3]अंजणपमुहं गिरितेरसगं विज्जइ चउदिसिंपि ॥९०॥
इय बावन्नगिरीसर[4]सिहरट्ठियवीयरायबिम्बाणं ।
पूयणकए चउव्विहदेवनिकाओ समेइ सया ॥९१॥

प्र. आ.
४२७

इतो जम्बूद्वीपादष्टमो [5]वलयाकारः कामं कमनीयतया सकलसुरविसरानन्दी नन्दीश्वरो नाम द्वीपोऽस्ति । नन्द्या—अत्युदारजिनमन्दिरोद्यानपुष्करिणीपर्वतप्रभृतिप्रभूतपदार्थसार्थसमुद्भूतयाऽत्यद्भूतया समृद्ध्या ईश्वरः—स्फातिमान्नन्दीश्वरः । [6]स च विष्कम्भे—चक्रवालविष्कम्भतः एकं कोटिशतं त्रिषष्टिः कोट्यश्चतुरशीतिर्लक्षाः १६३८४०००० इत्येतावद्योजनप्रमाणः । योजनानि चात्र प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नान्यवसेयानि ॥७२॥

१ जयंत–ता. ॥ २ सव्वाओ वि वावीओ–ता. ॥ ३ अंजणगिरिपमुहं–मु. ॥ ४ ०सिहरिट्ठिउ० सि. ॥
५ वलयकारंमलयति कामं–खि. ॥ ६ तुला–स्थानाङ्गवृत्तिः प. २३१ ॥

अथाञ्जनशैलादिवक्तव्यतामाह— 'एयन्तो' इत्यादि गाथात्रिकम्, एतस्य नन्दीश्वरस्य द्वीपस्यान्तः–मध्यभागे पूर्वादिषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन चत्वारः सर्वात्मनाऽञ्जनरत्नमया अञ्जनगिरयः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा–पूर्वस्यां दिशि देवरमणः, दक्षिणस्यां नित्योद्योतः, पश्चिमायां स्वयंप्रभः, उत्तरस्यां रमणीयः । उक्तं च—

"पुव्वदिसि देवरमणो निच्चुज्जोओ य दाहिणदिसाए । अवरदिसाए सयंपभ रमणिज्जो उत्तरे पासे ॥१॥"
[नन्दीश्वरप्रकरणसन्दोह गा. ९]

कथंभूतास्ते इत्याह–अञ्जनरत्नानां–कृष्णरत्नविशेषाणां ये श्यामाः करप्रसराः–प्रभापटलानि तैः पूरिताः–परिपूर्णतां नीता उपान्ताः–पर्यन्तभागा येषां ते तथा । एवंविधाश्चोत्प्रेक्ष्यन्ते–बालतमालवनावलीयुता इव–तरुणतरतमालतरुवनमण्डलीवलयिता इव । तथा घनपटलकलिता इव–प्रावृषेण्यपयोदपङ्क्तियुक्ता इव । धाराधरा हि [1]विविधोद्यानहृद्याः सजलजलदजालमालिनो [2]भवन्तीति ॥७३॥

तथा तेषामञ्जनकपर्वतानामेकैकोऽञ्जनकः पर्वतः प्रत्येकं चतुरशीतियोजनसहस्राणि उच्चः–उच्छ्रितः, एकं योजनसहस्रमवगाढो भूमिप्रविष्टः । तथा तस्यैकैकस्याञ्जनगिरेर्मूले–धरणितले सहस्रदशकं–दश योजनसहस्राणि भवन्ति, विष्कम्भे–विस्तरतः । तदनन्तरं च [3]मात्रया परिहीयमानस्य तस्य उपरि–पर्यन्तभागे शतदशकं–योजनसहस्रं विष्कम्भेन । एवं चैते चत्वारोऽप्यञ्जनगिरयो मूले विस्तीर्णा मध्ये संक्षिप्ता उपरि च तनुकाः संवृत्ताः । तेषु चाञ्जनगिरिषु घनमणिमयानि--नानाविधनिःसपत्नरत्ननिर्मितानि एकैक-

१ विविधोद्यानाद्या.–सि. ॥ २ हि भवन्तीति-मु. ॥ ३ मात्रया परिहीयते तस्य उपर्यन्तभागे–सि. प्र ॥

स्मिन्नेकैकसद्भावाच्चत्वारि सिद्धायतनानि शाश्वतानि सिद्धानां वा-शाश्वतीनामर्हत्प्रतिमानामायतनानि सिद्धायतनानि भवन्ति ॥७४-७५॥

अथैतेषामेव प्रमाणादिप्रतिपादनायाह-'जोयणे' त्यादि गाथात्रयम्, तानि सिद्धायतनानि योजनशतमेकं दीर्घाणि-पूर्वपश्चिमतः, [1]द्वासप्ततिर्योजनान्युच्छ्रितानि, रम्याणि-रमणीयानि, पञ्चाशद्योजनानि विस्तृतानि-विस्तीर्णानि दक्षिणोत्तरतः। तथा एकैकस्यां दिशि एकैकसद्भावेन चत्वारि द्वाराणि येषु तानि चतुर्द्वाराणि। सध्वजानि-सपताकानि ॥७६॥

तथा प्रतिद्वारमेकैकस्मिन् द्वारे मणयः-चन्द्रकान्तादिरत्नविशेषास्तन्निष्पन्नैस्तोरणैः, प्रेक्षा-प्रेक्षणकं तदर्थं मण्डपाः-प्रेक्षामण्डपास्तैश्च प्रसिद्धस्वरूपैर्विशेषेण राजमानानि- [2]शोभमानानि ॥७७॥

तथा पञ्चधनुः शतसमुच्छ्रितैरष्टोत्तरशतसङ्ख्यैः ऋषभ-वर्धमान-चन्द्रानन-वारिषेणाख्यैर्जिनैः शाश्वतप्रतिमाभिर्युतानि-संयुक्तानि।

तेषां सिद्धायतनानां मध्ये मणिमय्यः-सर्वात्मना रत्नमय्यः पीठिका-वेदिकाः प्रज्ञप्ताः, तासामुपरि महेन्द्रध्वजाः, महेन्द्रा इत्यतिमहान्तः समयभाषया ते च ते ध्वजाश्चेति। अथवा महेन्द्रस्यैव-शक्रादेर्ध्वजा महेन्द्रध्वजाः। तेषां च पुरतः प्रत्येकं योजनशतायामाः, पञ्चाशद्योजनविष्कम्भा, [3]दशयोजनोद्वेधाः पुष्करिण्यो-वाप्यः प्रज्ञप्ताः। ताश्च पार्श्वेषु चतसृषु दिक्षु कङ्केल्लिसप्तपर्ण चम्पकचूतवनयुक्ताः। तत्र

१ द्वासप्ततिर्योजनान्युत्थानि-सि. R ॥ २ शोभनानि-सि. R ॥ ३ दशयोजनोच्छ्रेधा-सि. R ॥

पूर्वस्यां दिशि अशोकवनम्, दक्षिणस्यां सप्तच्छदवनम् पश्चिमायां चम्पकवनम्, उत्तरस्यां च सहकारवनमिति ॥७८॥

उक्ता अञ्जनगिरिवक्तव्यता, [1]अथ पुष्करिणीवक्तव्यतामाह–'नन्दु' इत्यादि गाथाद्वयम्, तेषु चतुर्षु अञ्जनगिरिषु मध्ये योऽसौ पूर्वः--पूर्वदिग्भावी अञ्जनगिरिस्तस्य चतुर्दिशि–चतसृषु दिक्षु लक्षमेकं गत्वा चतस्रः पुष्करिण्यः सन्ति। तद्यथा–पूर्वस्यां नन्दोत्तरा, दक्षिणस्यां नन्दा, अपरस्यां आनन्दा, उत्तरस्यां नन्दिवर्धना च ॥७९॥

ताश्च विष्कम्भायामाभ्यां योजनलक्षप्रमाणयुक्ता, [2]दश योजनान्युच्छ्रिता–उद्विद्धाः, तथा चतसृषु

---

१ लोकप्रकाशे तु-"नन्दिषेणा तथाऽमोघा, गोस्तूपा च सुदर्शना। स्युर्वाप्यो देवरमणात्पूर्वादिदिक्चतुष्टये ॥१४७॥ नन्दोत्तरा तथा नन्दा सुनन्दा नन्दिवर्द्धना। पुष्करिण्यश्चतस्रः स्युर्नित्योद्योताश्चतुर्दिशम् ॥१४८॥ भद्रा विशाला कुमुदा चतुर्थी पुण्डरीकिणी। स्वयंप्रभगिरेः पूर्वादिषु दिक्ष्विति वापिकाः ॥१४९॥ विजया वैजयन्ती च जयन्ती चापराजिता। वाप्यः प्राच्यादिषु दिक्षु रमणीयाञ्जनगिरेः ॥१५०॥ अयं नन्दीश्वरस्तवनन्दीश्वरकल्पाभिप्रायेण षोडशानामपि पुष्करिणीनां नामक्रमः"..........लोकप्रकाशे सर्ग २४। प.२९३॥

२ लोकप्रकाशे "जीवाभिगमसूत्रवृत्तौ प्रवचनसारोद्धारवृत्तौ च एता दशयोजनोद्विद्धा उक्ताः। नन्दीश्वरस्तोत्रे नन्दीश्वरकल्पे च सहस्रयोजनोद्विद्धा उक्ताः। स्थानाङ्गसूत्रेऽपि (सू.३०७) 'ताओ णं णंदाओ पुक्खरणीओ एगं जोअणसयसहस्सं आयामेणं पन्नासं जोअणसहस्साइं विक्खंभेणं दस जोअणसयाइं उव्वेहेणं' इत्युक्तमिति ज्ञेयं" (सर्ग २४। गा. १४० तः) अत्रेव टिप्पने "आयामविष्कम्भाद्यपेक्ष्य पुष्करिणीना दशशतोद्वेधयोग्यतेति अध्याहार्यो दशशब्दात् शतशब्दः, ततो न विरोधः केषामपि" इति लोकप्रकाशे द्वितीयविभागे [देवचन्द्रलालभाई संस्करणे]पाठः प. २९३A ॥

दिक्षु नानामणिमयस्तम्भसंनिविष्टैरुत्तुङ्गैस्तोरणैः पूर्वादिदिक्क्रमेणाशोकसप्तच्छदचम्पकचूतवनैश्च युक्ताः—परिक्षिप्ताः। एवं शेषाञ्जनगिरिसम्बन्धिनीनामपि पुष्करिणीनां वाच्यम्।

तासां मध्ये—बहुमध्यदेशभागे सर्वात्मना स्फटिकमया दधिमुखनामानो महीधराः—पर्वताः सन्ति। ते च दुग्धदधिवत् सितः—श्वेतो वर्णः—कान्तिर्येषां ते तथा। अतश्चोत्प्रेक्ष्यन्ते—पुष्करिणीनां—वापीनां ये कल्लोलाः—[1]समुल्लसन्तस्तरङ्गास्तेषां यदाहननं—परस्परं प्रतिस्फालनं तत्समुद्भूताः फेनपिण्डा इव ॥८१॥

एते दधिमुखपर्वताः सर्वेऽपि चतुःषष्टियोजनसहस्राण्युच्छ्रिता दशयोजनसहस्राणि विस्तीर्णाः, एकं योजनसहस्रमधोऽवगाढाः, उपर्यधश्च सर्वत्र समाः, अत एव पल्यङ्कसंस्थानसंस्थिताः ॥८२॥

तेष्वपि दधिमुखपर्वतेषु रुन्द्राणि—विशालानि जिनमन्दिराणि—सिद्धायतनानि वक्तव्यानि। यथाऽञ्जनगिरिशिखरेषु अञ्जनपर्वतोपरिवर्तिसिद्धायतनवक्तव्यतात्रापि वक्तव्येति भावः। तथैतासामेव वापीनामपान्तरालेषु द्वौ द्वौ [2]पर्वतौ स्तः ॥८३॥

तत्स्वरूपमाह—'ते' इत्यादि गाथात्रयम्, पूर्वाञ्जनगिरेर्विदिक्षु व्यवस्थिता [3]द्वयोर्द्वयोर्वाप्योरन्तराले बहिःकोणयोः प्रत्यासत्तौ प्रत्येकं पर्वतद्वितयभावादष्टौ रतिकरनामानः पर्वताः सन्ति। ते च ' [4]पद्म-

१ समुल्लसमुल्लसन्तस्तरङ्गा० सि.॥ २ पर्वतौ ततस्तत्स्वरूपमाह-सि. B॥ ३ द्वयोर्वाप्योरन्तराले-सि.॥

४ प्रवचनसारोद्धारवृत्त्यभिप्रायेण एते पद्मरागमयाः, स्थानाङ्गवृत्त्यभिप्रायेण तु सौवर्णा इति। लोकप्रकाशे सर्ग २४। १६९ प. प. २९४ A। "सुष्ठुवर्णमया इत्यथकत्वेन विरोधः, यद्वा पद्मरागो रक्तः सुवर्णं च रक्तमपि स्यात्" इति तत्रैव टिप्पने॥

रागाभाः' पद्मरागः—शोणमणिविशेषस्तद्वदाभा—प्रभा येषां ते तथा । अत उत्प्रेक्ष्यन्ते—उपरिस्थिताः—तदुपरि वर्तमाना ये जिनेन्द्राः शाश्वतप्रतिमास्तेषां यत् स्नानं—कुङ्कुमजलं तत्संपर्कतः पाटला इव । सर्वेऽपि चैते रतिकराः प्रकामकोमलस्पर्शाः, तथा सुरपतिसमूहकृतावासाः, दश योजनसहस्राण्युच्छ्रिता, गव्यूतसहस्रं—[1]सार्धयोजनशतद्वयमुद्विद्धाः, उच्चत्वसमानविस्तरा दशयोजनसहस्रविस्तीर्णा इत्यर्थः, सर्वतः समा झल्लरीसंस्थानसंस्थिता [2]इति । तेष्वपि रतिकरेषु यथोक्तमानानि पूर्वोक्तप्रमाणानि जिनभवनानि ज्ञेयानि ॥८४-८६॥

तदेवमुक्ता पूर्वाञ्जनगिरिवक्तव्यता । एतदनुसारेण च शेषदिगञ्जनगिरीणामपि सर्वं वाच्यम्, नवरं पुष्करिणीनां नामसु विशेषः । तमेवाह—'दाहिणे' त्यादि गाथाचतुष्कम्, दक्षिणस्यां दिशि [3]दक्षिणाञ्जने इत्यर्थः पूर्वस्यां दिशि भद्रा वापी, दक्षिणस्यां दिशि विशाला, अपरस्यां दिशि कुमुदा, उत्तरस्यां पुण्डरीकिणी । एताश्च सर्वा अपि मणिमयतोरणारामरमणीयाः ॥८७॥

तथा पश्चिमाञ्जनगिरौ पूर्वस्यां दिशि नन्दिषेणा वापी, दक्षिणस्याममोघा, अपरस्यां गोस्तूभा, उत्तरस्यां सुदर्शना तथोत्तराञ्जनगिरौ पूर्वस्यां दिशि विजया दक्षिणस्यां वैजयन्ती, अपरस्यां जयन्ती, उत्तरस्यामपराजिता । द्वादशानामप्यमूषां वापीनां प्रमाणादिकं सर्वं पूर्वाञ्जनगिरिवापीवद् [4]वक्तव्यम् ॥८८-८९॥

सर्वा अपि षोडशाप्येता वाप्यो दधिमुखशैलानां स्थानभूताः—आधारभूता एव । एतासु वापीषु

१ सार्ध-सि. ॥ २ इत्यर्थः-जे. ॥ ३ दक्षिणस्याञ्जने-सि. ॥ ४ च वक्तव्यं-सि. ॥

मध्यभागे दधिमुखशैला व्यवस्थिता इत्यर्थः। तदेवं नन्दीश्वरद्वीपे चतसृष्वपि [1]दिक्षु प्रत्येकमञ्जनगिरि-प्रमुखं गिरित्रयोदशकं विद्यते। तथाहि—एकैकस्यां दिशि एकैकोऽञ्जनगिरिश्चत्वारो दधिमुखाः, अष्टौ रतिकराः, मिलिताश्च त्रयोदश। ते च चतसृष्वपि दिक्षु प्रत्येकमेतावतामद्रीणां सद्भावाच्चतुर्भिर्गुण्यन्ते। जाता द्विपञ्चाशद्गिरयः ॥९०॥

साम्प्रतं सर्वोपसंहारमाह—'इये' त्यादि, इति—प्रागुक्तप्रकारेण द्विपञ्चाशत्सङ्ख्यगिरीश्वरशिखरेषु स्थितानां वीतरागबिम्बानां पूजाकृते चतुर्विधो—भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकलक्षणो देवनिकायः—

॥६१६॥ सुरसमूहः सदा—सर्वकालं समेति। प्र. आ. ४२९

इह च नन्दीश्वरवक्तव्यतायां बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थगौरवभयात्। विशेषार्थिना च जीवाभिगमादिशास्त्राणि परिभावनीयानि। यच्चात्र जीवाभिगमद्वीपसागरप्रज्ञप्तिसंग्रहिण्यादिभ्यः किञ्चिदन्यथात्वं दृश्यते तन्मतान्तरमवसेयमिति ॥९१॥२६९॥

इदानीं 'लद्धीओ' त्ति सप्तत्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

आमोसहि १ विप्पोसहि २ खेलोसहि ३ जल्लओसहो ४ चेव।
सव्वोसहि ५ संभिन्ने ६ ओहो ७ रिउ ८ विउलमइलद्धी ९ ॥९२॥
चारण १० आसीविस ११ केवलिय १२ [2]गणहारिणो य १३ पुव्वधरा १४।
अरहंत १५ चक्कवट्टी १६ बलदेवा १७ वासुदेवा १८ य ॥९३॥ ॥६१६॥

---

१ प्रविक्ष्- प्रत्येकमञ्जनगिरि त्रयोदशक-सि.॥ २ गणधारिणो-ता. सि.॥

खीरमहुसप्पिआसव १९ कोट्ठयबुद्धी २० पयाणुसारी २१ य।
तह बीयबुद्धि २२ तेयग २३ आहारग २४ सोयलेसा २५ य ॥९४॥
वेउव्विदेहलद्धी २६ अक्खीणमहाणसी २७ पुलाया २८ य।
परिणामतववसेणं एमाई हुंति लद्धीओ ॥९५॥
[1]संफरिसणमामोसो मुत्तपुरीसाण विप्पुसो [2]वावि (वयवा)।
अन्ने विडित्ति विट्ठा भासंति पइत्ति पासवणं ॥९६॥
एए अन्ने य बहू जेसिं [3]सव्वेवि सुरहिणोऽवयवा।
[4]रोगोवसमसमत्था ते हुंति तओसहिं पत्ता ॥९७॥
जो सुणइ सव्वओ मुणइ सव्वविसए उ सव्वसोएहिं।
सुणइ [5]बहुएव सद्दे [6]भिन्ने संभिन्नसोओ सो ॥९८॥
रिउ सामन्नं तम्मत्तगाहिणी रिउमई मणोनाणं।
पायं विसेसविमुहं घडमेत्तं चिंतियं मुणइ ॥९९॥
विउलं [7]वत्थुविसेसण नाणं तग्गाहिणी मई विउला।
चिंतियमणुसरइ घडं पसंगओ पज्जवसएहिं ॥१५००॥

१ तुला-प्रश्नव्याकरणस्य अभयदेवसूरीयावृत्तिः प. १०५ तः ॥ २ विप्पा-इति प्रश्नव्याकरणवृत्तौ पाठः ॥
३ सव्वे य सुरभओऽवयवा-इति प्रश्नव्याकरणवृत्तौ पाठः ॥ ४ रोगोवसमत्था- ता. R ॥ ५ बहुएवि-मु. ॥
६ भन्नइ-इति प्रश्नव्याकरणवृत्तौ पाठः ॥ ७ वत्थुविसेसमाण-इति प्रश्नव्याकरणवृत्तौ पाठः ॥

आसी दाढा तग्गय महाविसाऽऽसीविसा दुविहभेया ।
ते कम्मजाइभेएण णेगहा चउविहविकप्पा ॥१५०१॥
खीरमहुसप्पिसा[1]ओवमाणवयणा तयासवा हुंति ।
कोट्ठयधन्नसुनिग्गलसुत्तत्था कोट्ठबुद्धिया ॥२॥
जो सुत्तपएण बहुं सुयमणुधावइ पयाणुसारी सो ।
जो अत्थपएणऽत्थं अणुसरइ स बीयबुद्धीओ ॥३॥
अक्खीणमहाणसिया भिक्खं जेणाणियं पुणो तेणं ।
परिभुत्तं चिय खिज्जइ [2]बहुएहिंवि न उण अन्नेहिं ॥४॥
भवसिद्धियपुरिसाणं एयाओ हुंति भणियलद्धीओ ।
भवसिद्धियमहिलाणवि जत्तिय जायंति तं वोच्छं ॥५॥
अरहंतचक्किकेसवबलसंभिन्ने य चारणे पुव्वा ।
गणहरपुलायआहारगं च न हु भवियमहिलाणं[3] ॥६॥
अभवियपुरिसाणं पुण दस पुव्विल्लाउ केवलित्तं च ।
उज्जुमई विउलमई तेरस एयाउ न हु हुंति ॥७॥

---

१ ०ओवमा वयाण-ता. । ओवमा उ वयणे-इति प्रश्नव्याकरणवृत्तौ । २ बहुएहिवि-मु. ॥ ३ ०णा-ता. ॥

अभवियमहिलाणंपि हु एयाओ हुंति भणियलद्धीओ ।
महुखीरासवलद्धीवि नेय सेसा उ अविरुद्धा ॥८॥

लब्धिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् आमर्शौषधिलब्धिः, विप्रुडौषधिलब्धिः, खेलौषधिलब्धिः, जल्लौषधिलब्धिः, सर्वौषधिलब्धिः, सम्भिन्नेति 'सूचकत्वात्सूत्रस्य' सम्भिन्नश्रोतोलब्धिः, अवधिलब्धिः, ऋजुमतिलब्धिः, विपुलमतिलब्धिः, चारणलब्धिः, आशीविषलब्धिः, केवलिलब्धिः, गणधरलब्धिः, पूर्वधरलब्धिः, अर्हल्लब्धिः, चक्रवर्तिलब्धिः, बलदेवलब्धिः, वासुदेवलब्धिः, क्षीरमधुसर्पिराश्रवलब्धिः, कोष्ठकबुद्धिलब्धिः पदानुसारिलब्धिः, तथा बीजबुद्धिलब्धिः, तेजोलेश्यालब्धिः, आहारकलब्धिः, शीतलेश्यालब्धिः, वैकुर्विकदेहलब्धिः, अक्षीणमहानसीलब्धिः, पुलाकलब्धिः। एवमेता अष्टाविंशतिसङ्ख्याः आदिशब्दादन्याश्च जीवानां शुभशुभतरशुभतमपरिणामवशादसाधारणतपःप्रभावाच्च नानाविधलब्धयः ऋद्धिविशेषा भवन्ति ॥९२-९५॥

अथैताः क्रमेण व्याचिख्यासुः पूर्वं तावदामर्शौषध्यादिलब्धिपञ्चकं प्रपञ्चयितुमाह—'संफरिसे' त्यादि गाथाद्वयम्, संस्पर्शनमामर्शः स एवौषधिर्यस्यासावामर्शौषधिः करादिसंस्पर्शमात्रादेव विविधव्याधिव्यपनयनसमर्थो लब्धिलब्धिमतोरभेदोपचारात् साधुरेवामर्शौषधिरित्यर्थः। इदमत्र तात्पर्यं—यत्प्रभावात् स्वहस्तपादाद्यवयवपरामर्शमात्रेणैवात्मनः परस्य वा सर्वेऽपि रोगाः प्रणश्यन्ति सा आमर्शौषधिः।

'मुत्तपुरीसाण विप्पुसो 'वावि' (ऽवयवा) त्तिमूत्रपुरीषयोर्विप्रुषः—अवयवाः इह विप्रुडुच्यते। 'विप्पुसो वाऽवि' त्ति पाठस्तु ग्रन्थान्तरेष्वदृष्टत्वादुपेक्षितः। [2]अथ चावश्यमेतद्व्याख्यानेन प्रयोजनम्,

१ पाविति विप्पोत्ति मूत्र० जे. सि. ॥ २ अथवा-सि. ॥

तदेत्थं व्याख्येयं–वाशब्दः समुच्चये, अपिशब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च । ततो मूत्रपुरीषयोरेवावयवा इह विप्रुडुच्यते इति । 'अन्ये तु भाषन्ते–विडिति विष्ठा पत्ति प्रश्रवणं मूत्रम् । 'सूचकत्वात् सूत्रस्ये' ति ॥९६॥

तत 'एए' त्ति एतौ विप्रुण्मूत्रावयवौ 'अन्ने य' त्ति अन्ये च खेल-जल्लकेश-नखादयो बहवः सर्वे च समुदिता अवयवा येषां साधूनां सुरभयो रोगोपशमसमर्थाश्च [2]ते साधवो भवन्ति । कथंभूता इत्याह-'तओसहिं पत्ति' त्ति ते च ते औषधयश्च तदौषधयो–विण्मूत्रखेलजल्लकेशनखाद्यौषधयः सर्वौषधयश्च ताः प्राप्तास्तदौषधिप्राप्ताः विण्मूत्राद्यौषधयः सर्वौषधयश्च साधवो भवन्तीत्यर्थः ।

प्र. आ. ४३०

एतदुक्तं भवति–यन्माहात्म्यान्मूत्रपुरीषावयवमात्रमपि रोगराशिप्रणाशाय संपद्यते सुरभि च सा विप्रुडौषधिः । तथा खेलः–श्लेष्मा, जल्लो–मलः कर्ण-वदन-नाशिका-नयन-जिह्वासमुद्भवः शरीरसम्भवश्च, तौ खेल-जल्लौ यत्प्रभावतः सर्वरोगापहारकौ सुरभी च भवतः सा क्रमेण खेलौषधिर्जल्लौषधिश्च । तथा यन्माहात्म्यतो विण्मूत्रकेशनखादयश्च सर्वेऽप्यवयवाः समुदिताः सर्वत्र भेषजीभावं सौरभं च भजंते सा सर्वौषधिरिति ॥९७॥

सम्प्रति सम्भिन्नश्रोतोलब्धिमाह-'जो' इत्यादि, यः सर्वतः-सर्वैरपि शरीरदेशैः शृणोति स सम्भिन्नश्रोताः । अथवा यः सर्वानपि शब्दादीन् विषयान् सर्वैरपि श्रोतोभिः-इन्द्रियैर्जानाति, एकतरेणापीन्द्रियेण समस्तापरेन्द्रियगम्यान् विषयान् योऽवगच्छतीत्यर्थः । स सम्भिन्नश्रोतोलब्धिमान् । अथवा द्वादशयोजनविस्तृतस्य चक्रवर्तिकटकस्य युगपद्ब्रुवाणस्य तत्तूर्यसङ्घातस्य वा समकालमास्फाल्यमानस्य सम्भिन्नान्–लक्षणतो

१ तुला-प्रश्नव्याकरणवृत्तिः प. १०५ A ॥ २ ते - सि. नास्ति ॥

विधानतश्च परस्परं विभिन्नान् जननिवहसमुत्थान् शङ्खकाहलाभेरी[1]भाणकढक्कादितूर्यसमुत्थान् वा युगपदेव च सुबहून् शब्दान् यः शृणोति स संभिन्नश्रोताः [2]सम्भिन्नश्रोतोलब्धिरिति ॥९८॥

अथ [3]ऋजुमतिलब्धिविपुलमतिलब्धिं चाह–'रिउ' इत्यादि गाथाद्वयम् । ऋजु–सामान्यं वस्तुमात्रम्, तद्ग्राहिणी मतिः– [4]संवेदनम् ऋजुमति मनोज्ञानं–मनःपर्यायज्ञानमेव । सा च प्रायो–बाहुल्येन विशेषविमुखं–देशकालाद्यनेकपर्यायपरित्यक्तं घटमात्रं परेण चिन्तितं जानाति । तथा विपुलं वस्तुनो घटादेर्विशेषाणां देश-क्षेत्र कालादीनां मानं–सङ्ख्यास्वरूपम्, तद्ग्राहिणी मतिर्विपुला । सा च परेण चिन्तितं घटं प्रसङ्गतः पर्यवशतैरुपेतमनुसरति–सौवर्णः पाटलिपुत्रकोऽद्यतनो महानपवरकस्थित इत्याद्यपि [5]प्रभूतविशेषविशिष्टं घटं परेण चिन्तितमवगच्छतीत्यर्थः ।

इदमत्र तात्पर्यं–मनःपर्यायज्ञानं द्वेधा–ऋजुमतिर्विपुलमतिश्च । तत्र सामान्यघटादिवस्तुमात्रचिन्तनप्रवृत्तमनःपरिणामग्राहि किञ्चिदविशुद्धतरमर्धतृतीयाङ्गुलहीनमनुष्यक्षेत्रविषयं ज्ञानं ऋजुमतिलब्धिः । पर्यायशतोपेतघटादिवस्तुविशेषचिन्तनप्रवृत्तमनोद्रव्यग्राहि स्फुटतरं संपूर्णमनुष्यक्षेत्रविषयं ज्ञानं विपुलमतिलब्धिः ॥१४९९-१५००॥

सम्प्रत्याशीविषलब्धिमाह–'आसी'त्यादि, आश्यो–[6]दंष्ट्रास्तासु गतं–स्थितं महद्विषं येषां भवति ते आशीविषाः । ते च द्विभेदाः–कर्मभेदेन जातिभेदेन च । तत्र कर्मभेदेन पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनयो

१ ०भाणढक्का० सि. ॥ २ स सम्भिन्न० सि. ॥ ३ ऋजुमतिलब्धिविपुलमतिलब्धी–सि. ॥ ४ संवेदं–सि. ॥ ५ प्रभूत–सि. ॥ ६ दंष्ट्रास्तासुपगतं–सि. ॥

मनुष्या देवाश्च सहस्रारान्ता इत्यनेकविधाः । एते हि तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वा गुणत आशीविषवृश्चिकभुजङ्गादिसाध्यां क्रियां कुर्वन्ति । शापप्रदानादिना परं व्यापादयन्तीति भावः । देवास्त्वपर्याप्तावस्थायां तच्छक्तिमन्तो मन्तव्याः । ते हि पूर्वं मनुष्यभवे समुपार्जिताशीविषलब्धयः सहस्रारान्तदेवेष्वभिनवोत्पन्ना अपर्याप्तावस्थायां प्राग्भविकाशीविषलब्धिसंस्कारादाशीविषलब्धिमन्तो व्यवह्रियन्ते । ततः परं तु पर्याप्तावस्थायां संस्कारस्यापि निवृत्तिरिति न तद्व्यपदेशभाजः ।

यद्यपि च नाम पर्याप्ता अपि देवाः शापादिना परं व्यापादयन्ति तथापि न लब्धिव्यपदेशः । भवप्रत्ययतस्तथारूपसामर्थ्यस्य सर्वसाधारणत्वात् । गुणप्रत्ययो हि सामर्थ्यविशेषो लब्धिरिति प्रसिद्धेः, जातिभेदेन च वृश्चिक-मण्डूक-सर्प-मनुष्यभेदाच्चतुर्विधाः क्रमेण बहु बहुतर-बहुतमातिबहुतमविषाः । वृश्चिकविषं ह्युत्कृष्टतोऽर्धभरतक्षेत्रप्रमाणं वपुर्व्याप्नोति, मण्डूकविषं भरतक्षेत्रप्रमाणम्, भुजङ्गविषं तु जम्बूद्विपप्रमाणम्, मनुष्यविषं तु समयक्षेत्रप्रमाणमिति ॥१५०१॥

अथ क्षीरमधुसर्पिराश्रवलब्धिं कोष्ठकबुद्धिलब्धिं चाह–'खीरे' त्यादि, क्षीरं–दुग्धम् मधु–मधुरद्रव्यम् सर्पिः–घृतम्, एतत्स्वादोपमानं[2] वचनं वैरस्वाम्यादिवत्तदाश्रवाः–क्षीरमधुसर्पिराश्रवा भवन्ति । इयमत्र भावना-पुण्ड्रेक्षुचारिणीनां गवां लक्षस्य क्षीरमर्धार्धक्रमेण दीयते यावदेकस्याः पीतगोक्षीरायाः क्षीरम् । तत्किल चातुरिक्यमित्यागमे गीयते । तद्यथोपभुज्यमानमतीव मनःशरीरप्रह्लादहेतुरुपजायते, तथा यद्वचनमाकर्ण्यमानं मनःशरीरसुखोत्पादनाय प्रभवति ते क्षीराश्रवा । क्षीरमिव वचनमा–समन्तात् श्रवन्तीति व्युत्पत्तेः ।

१ ०द्धः-सि. R ॥ २ ०न-खि. R ॥

२७० द्वारे लब्धि-स्वरूपं गाथा १४९२-१५०८ प्र. आ. ४३१

एवं मध्वपि किमप्यतिशायिशर्करादिमधुरद्रव्यं द्रष्टव्यम्। घृतमपि पुण्ड्रेक्षुचारिगोक्षीरसमुत्थं मन्दाग्निक्वथितं विशिष्टवर्णाद्युपेतम्। मध्विव वचनमाश्रवन्तीति मध्वाश्रवाः। घृतमिव वचनमाश्रवन्तीति घृताश्रवाः। उपलक्षणत्वाच्च अमृताश्रविण ईक्षुरसाश्रविण इत्यादयोऽप्येवमवसेयाः! अथवा येषां पात्रपतितं कदन्नमपि क्षीरमधुमर्पिरादिरसवीर्यविपाकं जायते, ते क्रमेण क्षीराश्रविणो मध्वाश्रविणः सर्पिराश्रविण इत्यादि।

तथा कोष्ठकनिक्षिप्तधान्यानीव सुनिर्गला–अविस्मृतत्वाच्चिरस्थायिनः सूत्रार्था येषां ते [1]कोष्ठकधान्यसुनिर्गलसूत्रार्थाः कोष्ठबुद्धयः। कोष्ठे इव धान्यं या बुद्धिराचार्यमुखाद्विनिर्गतौ तदवस्थावेव सूत्रार्थौ धारयति न किमपि तयोः सूत्रार्थयोः कालान्तरेऽपि गलति सा कोष्ठबुद्धिलब्धिरिति भावः॥२॥

अथ पदानुसारिलब्धिं बीजबुद्धिलब्धिं चाह–'जो' इत्यादि, योऽध्यापकादेः केनापि [2]सूत्रपदेनाधीतेन बहूनपि सूत्रं स्वप्रज्ञयाऽभ्यूह्य तदनभ्यस्तमेव गृह्णाति स पदानुसारलब्धिमान्। तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सदित्यादिरर्थप्रधानं पदमर्थपदं तेनैकेनापि विजभूतेनाधिगतेन योऽन्यमश्रुतमपि यथावस्थितं प्रभूतमर्थमवगाहते स बीजबुद्धिलब्धिमान्। इयं च बीजबुद्धिलब्धिः सर्वोत्तमप्रकर्षप्राप्ता [3]भगवताम् गणभृतां ते हि उत्पादादिपदत्रयमवधार्य सकलमपि द्वादशाङ्ग्यात्मकं प्रवचनमभिसूत्रयन्तीति॥३॥

इदानीमक्षीणमहानसीलब्धिमाह—'अक्खीणे'त्यादि, येनानीतं भैक्षं बहुभिरपि–लक्षसङ्ख्यै-

१ कोष्ठकधान्यसुनिर्गत सूत्रार्थाः-सि. R॥ २ सूत्रपदेनाधीयते (ऽनुधावति–अधीते)–मु.॥ ३ गणभृतां भगवतां–मु.॥

॥६२३॥

[1]रप्यन्यैस्तृप्तितोऽपि भुक्तं न क्षीयते यावदात्मना भुङ्क्ते, किंतु तेनैव भुक्तं निष्ठां याति तस्याक्षीणमहानसीलब्धिः ।

अत्र चावधि-चारण-केवलि-गणधारि-पूर्वधर-अर्हच्चक्रवर्ति-बलदेव-वासुदेव तेजोलेश्या-ऽऽहारक-शीतलेश्या-वैक्रिय पुलाकलब्धयः प्रायेण प्रागेव परमार्थतः प्रतिपादितत्वात्प्रतीतत्वाच्च सूत्रकृता न विवृता इति तेजोलेश्याशीतलेश्यालब्धी च स्थानाशून्यार्थं किञ्चिद्व्याख्यायेते—तत्र तेजोलेश्यालब्धिः क्रोधाधिक्यात्प्रतिपन्थिनं प्रति मुखेनानेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनदक्षतीव्रतरतेजोनिसर्जनशक्तिः ।

शीतलेश्यालब्धिस्त्वगण्यकारुण्यवशादनुग्राह्यं प्रति तेजोलेश्याप्रशमनप्रत्यलशीतलतेजोविशेषविमोचनसामर्थ्यम् । पुरा किल **गोशालकः** कूर्मग्रामे करुणारसिकान्तःकरणतया [2]स्नानाभावाविर्भूतप्रभूतयुकासन्ततितायिनं **वैशिकायिनं** बालतपस्विनमकारणकलहकलनतया 'अरे यूकाशय्यातर' इत्याद्ययुक्तोक्तिभिः कोपाटोपाध्मायमानमानसमकरोत् । तदनु वैशिकायिनस्तस्य दुरात्मनो दाहाय वज्रदहनदेश्यां तेजोलेश्यां विससर्ज । तत्कालमेव च भगवान् **वर्धमानस्वामी** प्रगुणितकरुणस्तत्प्राणत्राणाय प्रचुरपरितापोच्छेदच्छेकां शीतलेश्याममुञ्चदिति ।

[3]इह यः खलु यमी निरन्तरं षष्ठं तपः करोति, पारणकदिने च सनखकुल्माषमुष्ट्या जलचुलुकेन चैकेनात्मानं यापयति, तस्य षण्मासान्ते तेजोलेश्यालब्धिरियमुत्पद्यते ।

१ ०रप्यन्यैस्तृप्तिं नाऽपि-सि. R ॥ २ स्नानाभावाविर्भूतयूका० मु. ॥ ३ इह च यः खलु नियमात् निरन्तरं-मु. ॥

तथा 'एमाई हुंति लद्धीओ' इत्यत्रादिशब्दादन्या अप्यणुत्व-महत्त्व-लघुत्व गुरुत्व-[1]प्राप्तिप्राकाम्येशित्व-वशित्वा-ऽप्रतिघातित्वा-ऽन्तर्धानकामरूपित्वादिका लब्धयो बोद्धव्याः । तत्राणुत्वम्-[2]अणुशरीरता येन बिशच्छिद्रमपि प्रविशति, तत्र च चक्रवर्तिभोगानपि भुङ्क्ते । महत्त्वं मेरोरपि महत्तरशरीरकरणसामर्थ्यम् । लघुत्वं–वायोरपि लघुतरशरीरता । गुरुत्वं–वज्रादपि गुरुतरशरीरतया इन्द्रादिभिरपि प्रकृष्टबलैर्दुःसहता । प्राप्तिः–भूमिस्थस्य अङ्गुल्यग्रेण मेरुपर्वताग्रप्रभाकरादेः स्पर्शसामर्थ्यम्, प्राकाम्यम्–अप्सु भूमाविव प्रविशतो गमनशक्तिः । तथाऽप्स्विव भूमावुन्मज्जननिमज्जने । ईशित्वं–त्रैलोक्यस्य प्रभुता तीर्थकरत्रिदशेश्वरऋद्धिविकरणम् । वशित्वं–सर्वजीववशीकरणलब्धिः । अप्रतिघातित्वम्–अद्रिमध्येऽपि निःसङ्गगमनम्, अन्तर्धानम्–अदृश्यरूपता । कामरूपित्वं–युगपदेव नानाकाररूपतया विकुर्वणशक्तिरिति ।

अथ भव्यत्वाभव्यत्वविशिष्टानां पुरुषाणां महिलानां च यावत्यो लब्धयो भवन्ति तत् प्रतिपादयति 'भवे' त्यादि गाथाचतुष्कम्, भवा–भाविनी सिद्धिः–मुक्तिपदं येषां ते भवसिद्धिका भव्या इत्यर्थः । ते च ते पुरुषाश्च ते तथा, तेषामेताः–पूर्वोक्ताः सर्वा अपि लब्धयो भवन्ति । तथा भवसिद्धिकमहिलानामपि यावत्यो लब्धयो न जायन्ते तद्वक्ष्ये ॥५॥

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–[3]'अरिहंते' त्यादि, अर्हच्चक्रवर्ति-वासुदेव-बलदेव-सम्भिन्नश्रोतश्चारण-पूर्वधर-गणधर-पुलाका-ऽऽहारकलब्धिलक्षणा एता दश लब्धयो भव्यमहिलानां–भव्यस्त्रीणां 'न हु' नैव भवन्ति । शेषास्त्वष्टादश लब्धयो भव्यस्त्रीणां भवन्तीति सामर्थ्याद्गम्यते । यच्च मल्लिस्वामिनः

१ ०प्राप्त० R । ०प्राप्तप्राकाम्ये० सि. ॥ २ अणुशरीरमकुर्वाणां येन–सि. । अणुशरीरमकुर्वाणं–R ॥ ३ अर्हंतेत्यादि–सि.R ॥

स्त्रीत्वेऽपि [1]यत्तीर्थकरत्वमभूत्तदाश्चर्यभूतत्वान्न गण्यते । तथा अनन्तरमुक्तास्तावद्दश लब्धयः केवलित्वं च-केवलिलब्धिरन्यच्च ऋजुमतिविपुलमतिलक्षणं लब्धिद्वयमित्येतास्त्रयोदश लब्धयः पुरुषाणामप्यभव्यानां नैव कदाचनापि भवन्ति । शेषाः पुनः पञ्चदश भवन्तीति भावः । अभव्यमहिलानामप्येताः पूर्वभणितास्त्रयोदश लब्धयो न भवन्ति । चतुर्दशी मधुक्षीराश्रवलब्धिरपि नैव तासां भवति । शेषास्त्वेतद्व्यतिरिक्ताश्चतुर्दशलब्धयोऽविरुद्धाः, भवन्तीत्यर्थः ॥६॥७॥८॥२७०॥

इदानीं 'तव'त्येकसप्तत्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

पुरिमड्ढेक्कासणनिव्विगइयआयंबिलोववासेहिं ।
एगलया इय पचहिं होइ तवो इंदियजउत्ति ॥९॥ प्र.आ. ४३२
निव्विगइयमायामं उववासो इय लयाहिं तिहिं भणिओ ।
नामेण [2]जोगसुद्धो नवदिणमाणो तवो एसो ॥१०॥
नाणंमि दसणम्मि य चरणम्मि य तिन्नि तिन्नि पत्तेयं ।
उववासो तप्पूयापुव्वं तन्नामगतवंमि ॥११॥
एक्कासणगं तह नव्विगइयमायंबिलं अभत्तट्ठो ।
इय होइ लयचउक्कं कसायविजए तवच्चरण ॥१२॥ ॥६२६॥

॥६२५॥

1 अभूत्तीर्थकरत्वमभूत्त० सि. ॥ 2 जोगसिद्धि–सि. ॥

खमणं एक्कासणगं एक्कगसित्थं च एगठाणं च ।
[1]एक्कगदत्तं नोव्वियमायंबिलमट्ठकवलं च ॥१३॥
एसा एगा लइया अट्ठहिं लइयाहिं दिवस चउसट्ठी ।
इय अट्ठकम्मसूडणतवंमि भणिया जिणिंदेहिं ॥१४॥
इग दुग इग तिग दुग चउ तिग पण चउ छक्क पंच सत्तछग ।
अट्ठग सत्तग नवग अट्ठग नव सत्त अट्ठेव ॥१५॥
छग सत्तग पण छक्कं चउ [2]पण तिग चउर दुग तिगं एगं ।
दुग एक्कग उववासा लहुसिह[3]निक्कीलियतवंमि ॥१६॥
चउपन्नं खमणसयं [4]दिणाण तह पारणाणि तेत्तीसं ।
इह परिवाडिचउक्के वरिसदुगं दिवस अडवीसा ॥१७॥
विगईओ निव्विगईयं तहा अलेवाडयं च आयामं ।
परिवाडिचउक्कंमि य पारणएसु विहेयव्वं ॥१८॥
इग दुग इग तिग दुग चउ तिग पण चउ छक्क पंच सत्त छगं ।
अड सत्त नवऽड दस नव एक्कारस दस य बारसगं ॥१९॥

---

१ एक्कगदत्ति-सि. ॥ २ पणि-ता. ॥ ३ निकीलिय-ता. । ०निक्कीलिया० सि. ॥ ४ दिणाणि-ता. ॥

एक्कार तेर बारस चउदस तेरस य पनर चउदसगं ।
सोलस पनरस [1]सोलाइ होइ [2]विवरीयमेक्कंतं ॥२०॥
एए उ अभत्तट्ठा इगसट्ठी पारणाणमिह होइ ।
एसा एगा लइया चउग्गुणाए पुण इमाए ॥२१॥
[3]वरिसछगं मासदुगं दिवसाइं तहेव बारस हवंति ।
एत्थ महासीहनिकीलियंमि तिव्वे तवच्चरणे ॥२२॥
[4]एक्को दुगाइ एक्कग अंतरिया जाव सोलस हवंति ।
पुण सोलस एगंता एक्कंतरिया अभत्तट्ठा ॥२३॥
पारणयाणं सट्ठी परिवाडिचउक्कगंमि चत्तारि ।
वरिसाणि[5] हुंति मुत्तावलीतवे दिवससंखाए ॥२४॥
इग दु ति काहलियासु दाडिमपुप्फेसु हुंति अट्ठ तिगा ।
एगाइसोलसंता सरियाजुयलंमि उववासा[6] ॥२५॥
अंतंमि तस्स पयगं तत्थंकट्ठाणमेक्कमह पंच ।
सत्त य सत्त य पण पण तिन्निक्कंतेसु तिगरयणा ॥२६॥

---

१ सोला- मु. ॥ २ विवरीयमेक्केक्कं- ता. ॥ ३ वरिसछक्कं मासदुगं च दिवसाइं बारस-सि. ॥
४ एगो-ता. । एक्को-सि. ॥ ५ ०णा-ता. ॥ ६ ०सो- ता. ॥

पारणयदिणट्ठासी परिवाडि चउक्को वरिसपणगं ।
नव मासा अट्ठारस दिणाणिरयणावलितवंमि ॥२७॥
रयणावलीकमेणं कीरइ कणगावली तवो नवरं ।
[1]कज्जा दुगा तिगपए दाडिमपुप्फेसु पयगे य ॥२८॥
परिवाडिचउक्के वरिसपंचगं दिणदुगूणमासतिगं ।
पढमतवुत्तो कज्जा पारणयविही तवप्पणगे ॥२९॥
भद्दाइतवेसु तहाऽऽइया लया इग दु तिन्नि चउ पंच ।
तह [2]ति चउ पंच इग दु तह पणग इग दोन्नि ति चउक्कं ॥३०॥
तह दु ति चउ पणगेगं तह चउ पणगेग दोन्नि तिन्नेव ।
पणहत्तरि उववासा पारणयाणं तु पणवीसा ॥३१॥
पभणामि महाभद्दं इग दुग तिग चउ पणछ सत्तेव ।
तह चउ पण छग सत्तग इग दु ति तह सत्त एक्कं दो ॥३२॥
तिन्नि चउ पंच छक्कं तह तिग चउ पण छ सत्तगेगं दो ।
तह छग सत्तग इग दो तिग चउ पण तह दुगं ति चउ ॥३३॥
पण छग सत्तेक्कं तह पण छग सत्तेक्क दोन्नि निय चउरो ।

---

१ कुज्जा-मु. ॥ २ तिग चउ पण इग दो-सि. ॥

पारणयाण गुवन्ना छण्णउयसयं च उत्थाणं ॥३४॥
भद्दोत्तरपडिमाए पण छग सत्तट्ठ नव तहा सत्त ।
अट्ठ नव पंचच्छ तहा नव पण छग सत्त अट्ठेव ॥३५॥
तह छग सत्तट्ठ नव पण तहट्ठ नव [1]पणछ सत्तऽभत्तट्ठा ।
पणहत्तरसयसंखा पारणगाणं तु पणवीसा ॥३६॥
पडिमाए सव्वभद्दाए पण छ सत्तट्ठ नव दसेक्कारा ।
तह अट्ठ नव दस एक्कार पण छ सत्त य तहेक्कारा ॥३७॥
[2]पण छग सत्तग अट्ठ नव दस तह सत्तट्ठ नव दसेक्कारा ।
पण छ तहा दस एक्कार पण छ सत्तट्ठ नव य तहा ॥३८॥
छग सत्तट्ठ नव दसगं एक्कारस पंच तह नवग दसगं ।
एक्कारस पण छक्कं सत्तट्ठ य इह तवे होंति ॥३९॥
तिन्नि सया बाणउया इत्थुववासाण होंति संखाए ।
[3]पारणया गुणवन्ना भद्दाइतवा इमे भणिया ॥४०॥
पडिवइया एक्कक्कि्चय दुगं दुइज्जाण जाव पन्नरस ।
खमणेहऽमावसाओ होइ तवो सव्वसंपत्ती ॥४१॥

प्र. आ. ४६३

॥६३०॥

१ पणट्ठ–मु. ॥ २ पण छ सत्तट्ठट्ठ नव दस सत्तट्ठ नव दस एक्कार–सि. ॥
३ पारणयाण गुणवन्ना–ता. । पारणयाणगुवन्ना सि. ॥

रोहिणिरिक्खदिणे रोहिणीतवो[1] सत्त मासवरिसाइं ।
सिरिवासुपुज्जपूयापुव्वं कीरइ अभत्तट्ठो ॥४२॥
एक्कारस सुयदेवीतवंमि एक्कारसीओ मोणेणं ।
कीरंति चउत्थेहिं सुयदेवीपूयणापुव्वं ॥४३॥
सव्वंगसुंदरतवे कुणंति जिणपूयखंतिनियमपरा ।
अट्ठुववासे एगंतरंबिले धवलपक्खंमि ॥४४॥
एवं निरुजसिहोवि हु नवरं सो होइ सामले पक्खे ।
तंमि य अहिओ कीरइ गिलाणपडिजागरणनियमो ॥४५॥
सो परमभूसणो होइ जंमि आयंबिलाणि बत्तीसं ।
अंतरपारणयाइं भूसणदाणं च देवस्स ॥४६॥
आयइजणगोऽवेवं नवरं सव्वासु धम्मकिरियासु[2] ।
अणिगूहियबलविरियप्पवित्तिजुत्तेहिं सो कज्जो ॥४७॥
एगंतरोववासा सव्वरसं पारणं च चेत्तंमि ।
सोहग्गकप्परुक्खो होइ तहा दिज्जए दाणं ॥४८॥
तवचरणसमत्तीए कप्पतरू जिणपुरो ससत्तीए ।

[1] °वे-ता. । [2] °य-मि. ॥

गाथा १५०१-१५७१

प्र. आ. ४३४

कायव्वो नाणाविहफलविलसिरसाहियासहिओ ॥४९॥
तित्थयरजणणिपूयापुव्वं एक्कासणाइं सत्तेव ।
तित्थयरजणणिनामगतवंमि कीरंति भद्दवए ॥५०॥
एक्कासणाइएहिं भद्दवयचउक्कगंमि सोलसहिं ।
होइ समोसरणतवो तप्पूयापुव्वविहिएहिं ॥५१॥
नंदीसरपडपूया नियसामत्थसरिसतवचरणा ।
होइ अमावस्सतवो अमावसावासरुद्दिट्ठो ॥५२॥
सिरिपुंडरीयनामगतवंमि एगासणाइ कायव्वं ।
चेत्तस्स पुन्निमाए पूएयव्वा य तप्पडिमा ॥५३॥
देवग्गठवियकलसो जा पुन्नो अक्खयाण मुट्ठीए ।
जो तत्थ सत्तिसरिसो तवो तमक्खयनिहिं बिंति ॥५४॥
वड्ढइ जहा कलाए एक्केक्काएऽणुवासरं चंदो ।
संपुन्नो संपज्जइ जा सयलकलाहिं पव्वंमि ॥५५॥
तह पडिवयाए एक्को कवलो बीयाइ पुन्निमा जाव ।
एक्केक्ककवलवुड्ढी जा तेसिं होइ पन्नरसगं ॥५६॥
एक्केक्कं किण्हंमि य पक्खंमि कलं जहा ससो मुयइ ।

कवलोवि तहा मुच्चइ जाऽमावासाइ सो एक्को ॥५७॥
एसा चंदप्पडिमा जवमज्झा मासमित्तपरिमाणा ।
इण्हि तु वज्जमज्झं मासप्पडिमं पवक्खामि ॥५८॥
पन्नरस पडिवयाए एक्कगहाणीए जावऽमावस्सा ।
एक्केणं कवलेणं जाया तह पडिवईऽवि सिआ ॥५९॥
बीयाइयासु इक्कगवुड्ढी जा पुन्निमाए पन्नरस ।
जवमज्झवज्जमज्झाओ दोवि पडिमाओ भणियाओ ॥६०॥
दिवसे दिवसे एगा दत्ती पढमंमि सत्तगे गिज्झा ।
वड्ढइ दत्ती सह सत्तगेण जा सत्त सत्तमए ॥६१॥
इगुवन्नवासरेहिं होइ इमा सत्तसत्तमी पडिमा ।
अट्ठट्ठमिया नवनवमिया य दसदसमिया चेव ॥६२॥
नवर वड्ढइ दत्ती सह अट्ठगनवगदसगवुड्ढीहिं ।
चउसट्ठी एक्कासी सयं च दिवसाणिमासु कमा ॥६३॥
एगाइयाणि आयंबिलाणि एक्केक्कवुड्ढिमंताणि ।
पज्जंतअभत्तट्ठाणि जाव पुन्नं सयं तेसिं ॥६४॥
एयं आयंबिलवद्धमाणनामं महातवच्चरणं ।

वरिसाणि एत्थ चउदस मासतिगं वीस दिवसाणि ॥६५॥
गुणरयणवच्छरंमी सोलस मासा हवंति तवचरणे ।
एगंतरोववासा पढमे मासंमि कायव्वा ॥६६॥
ठायव्वं [1]उक्कुडुआसणेण दिवसे निसाए पुण निच्चं ।
वीरासणिएण तहा होयव्वमवाउडेणं च ॥६७॥
बीयाइसु मासेसुं कुज्जा एगुत्तराए वुड्ढीए ।
जा सोलसमे सोलस उववासा हुंति मासंमि ॥६८॥
जं पढमगंमि मासे तमणुट्ठाणं समग्गमासेसु ।
पंच सयाइं दिणाणं वीसूणाइं इमंमि तवे ॥६९॥
तह अंगोवंगाणं चिइवंदणपंचमंगलाईणं ।
उवहाणाइं जहाविहि हवंति नेयाइं तह समया ॥७०॥

तपति-निर्दहति दुष्कर्माणीति तपः । तच्च नानाविधोपाधिनिबन्धनत्वादनेकप्रकारम् , तत्रेन्द्रियजयमूलत्वाज्जिनधर्मस्य प्रथममिन्द्रियजयाह्वयं तपः प्राह—प्रथमदिने पूर्वार्धम् , द्वितीयदिने एकाशनकम् , तृतीयदिने निर्विकृतिकम् , चतुर्थदिने आचामाम्लम् , पञ्चमदिने उपवासः, इत्येवं पञ्चभिस्तपोदिनैरेका लता । लता श्रेणिः परिपाटी चेत्येकार्थाः । एकैकं चेन्द्रियमाश्रित्यैवंस्वरूपा एकैका लता क्रियते । ततः ॥६३४॥

1 उक्कुडुयगासणेण - सि. ॥

पञ्चभिर्लताभिः पञ्चविंशत्या दिवसैरिन्द्रियजयाख्यस्तपोविशेषो भवति । इन्द्रियाणां-स्पर्शनादीनां पञ्चानामपि [1]जयो-दमनं यस्मादसाविन्द्रियजयः । इन्द्रियजयहेतुत्वाद्वा इन्द्रियजयः । यद्यपि सर्वाण्यपि तपांसीन्द्रियजये प्रभविष्णूनि तथापीन्द्रियजयमालम्ब्य क्रियमाणत्वादस्यैव तपसस्तद्धेतुत्वं पूर्वसूरिभिरभिहितम् एवमुत्तरत्रापि वाच्यम् ॥९॥

योगशुद्धितपः प्राह—'निव्विगइये' त्यादि, निर्विकृतिकम् [2]आचामाम्लम् उपवासश्च इत्येका लता । एकैकं च योगमाश्रित्यैवंविधा एकैका लता क्रियते । ततस्तिसृभिर्लताभिर्योगशुद्धिनामकं दिननवकप्रमाणमेतत्तपो भणितं पूर्वर्षिभिः । सूत्रे च पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । योगानां-मनोवाक्कायव्यापाराणां शुद्धिः-अनवद्यता यस्मात्तत्तपो योगशुद्धिः ॥१०॥

ज्ञान-दर्शन-चारित्रतपांसि प्राह-'नाणंमी'त्यादि, ज्ञाने-ज्ञानशुद्धिनिमित्तम् , दर्शने-दर्शनशुद्धिनिमित्तम् , चरणे-चारित्रशुद्धिनिमित्तम् तत्पूजापूर्वं-ज्ञानादिपूजापुरस्सरं तन्नामके-ज्ञानादिनामके तपसि प्रत्येकं त्रयस्त्रय उपवासा भवन्ति । इदमुक्तं भवति- [3]ज्ञानशुद्धिहेतोस्त्रिभिरुपवासैः कृतैर्ज्ञानतपो भवति, तत्र च यथाशक्ति ज्ञानस्य-सिद्धान्तादेः पुस्तकन्यस्तस्य[4] सुप्रशस्तपरिधापनिकादिकरणं ज्ञानवतां च पुरुषाणामेषणीयवस्त्रान्नपानप्रदानादिरूपा पूजा कर्तव्या । एवं त्रिभिरुपवासैर्दर्शनतपो भवति । नवरं तत्र दर्शनप्रभावकाणां सम्मत्यादिग्रन्थानां सद्गुरूणां च पूजा विधेया । तथा त्रिभिरुपवासैश्चारित्रतपो

१ दमो-सि. ॥ २ आचाम्लं-सि. R । पञ्चाशकप्रकरणं तुलनीयम् [१९।३८] ॥ ३ ज्ञानस्य सिद्धि हेतो०-मु. ॥ ४ ०स्य- सि. नास्ति ॥

भवति । तत्रापि चारित्रिणां पूजा करणीयेति ॥११॥

कषायविजयतपः प्राह—'एक्के' त्यादि, एकाशनकम्, निर्विकृतिकम्, आचाम्लम् अभक्तार्थश्च—उपवासः, इत्येका लता । प्रतिकषायं चैकैका लता क्रियते [1]तत्कषायविजयं तपश्चरणम् कषायाणां—क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणानां चतुर्णां विशेषेण जयः—अभिभवनं यस्मादितिकृत्वा । अस्मिंश्च तपसि चतस्रो लताः, षोडश दिवसानि ॥१२॥

अष्टकर्मसूदनं तपः प्राह—'खमण' मित्यादिगाथाद्वयम्, क्षमणम्—उपवासः १, एकाशनम् २, एकसिक्थकम् ३, एकस्थानकम् ४, एका दत्तिः ५, निर्विकृतिकम् ६, आचाम्लम् ७, अष्टकवलं च ८ एषा एका लता । एकैकं च [2]कर्माश्रित्यैवंरूपा एकैका लता क्रियते । ततोऽष्टाभिर्लताभिर्दिवसानां चतुःषष्टिर्भणिता जिनेन्द्रैरष्टकर्मसूदनतपसि । अष्टानां कर्मणां—ज्ञानावरणादीनां सूदनं—विनाशनं यस्मात्तदष्टकर्मसूदनं तपः । एतत्समाप्तौ च जिनपतीनां स्नपनविलेपनपूजनपरिधापनिकादि विधेयम्, पुरतो [3]विशिष्टबलिमध्ये कनकमयी कर्मतरुदारिका कुठारिका च ढौकनीया ॥१३-१४॥

[4]**लघुसिंहनिष्क्रीडितं तपः** प्रतिपादयितुमाह—'इगे' त्यादिगाथाद्वयम्, [5]अनन्तरवक्ष्यमाणमहासिंहनिष्क्रीडितापेक्षया लघु--ह्रस्वं सिंहस्य निष्क्रीडितं--गमनमित्यर्थः, सिंहनिष्क्रीडितं तदिव यत्त-

---

१ एतत्क० सि. ॥ २ कर्माश्रित्यैवं स्वरू० सि. ॥ ३ विशिष्टबलिमध्ये-सि. R ॥
४ तुला- ज्ञाताधर्मकथासूत्रम् अध्ययन ८ । सू. ६४ ॥ ५ तुला- अन्तकृद्दशाङ्गवृत्तिः ८।२।१९ प. २८ A । ज्ञाताधर्मकथाङ्गवृत्तिः प. १२४ A । औपपातिकसूत्रवृत्तिः सू. १५ । प. ३० A ॥

पस्तत्सिंहनिष्क्रीडितमिति । सिंहो हि गच्छन् गत्वाऽतिक्रान्तं देशमवलोकयति एवं यत्र तपस्यतिक्रान्ततपोविशेषं [1]पुनरासेव्याग्रेतनं तं प्रकरोति तत् सिंहनिष्क्रीडितमिति । एतस्य चैवं रचना–एकादयो नवान्ताः क्रमेण स्थाप्यन्ते, पुनरपि [2]प्रत्यागतया नवादय एकान्ताः, ततश्च द्व्यादीनां नवान्तानामग्रे प्रत्येकमेकादयोऽष्टान्ताः स्थाप्यन्ते । ततो नवाद्येकान्तप्रत्यागतपङ्क्तावष्टादीनां द्व्यन्तानामादौ सप्तादय एकान्ताः स्थाप्यन्ते इति । [3]स्थापना चेयम्–

१			१
२	१	१	२
३	२	२	३
४	३	३	४
५	४	४	५
६	५	५	६
७	६	६	७
८	७	७	८
९	८		९

अयमर्थः–प्रथममेक उपवासः क्रियते, ततः पारणकम् , एवमन्तरा सर्वत्र पारणकं ज्ञेयम् , ततो द्वौ तत एकः, ततस्त्रय उपवासाः, ततो द्वौ, ततश्चत्वारः, ततस्त्रयः, ततः पञ्च, ततश्चत्वारः, ततः षट् , ततः पञ्च, ततः सप्त, ततः षट् , ततोऽष्टौ, ततः सप्त, ततो नव, ततोऽष्टौ, ततो नव, ततः सप्त, ततोऽष्टौ, ततः षट् , ततः सप्त, ततः पञ्च, ततः षट् ततश्चत्वारः, ततः पञ्च, ततस्त्रयः, ततश्चत्वारः, ततो द्वौ, ततस्त्रयः, तत एकः, ततो द्वौ, तत एक इति । एते लघुसिंहनिष्क्रीडिते तपस्युपवासाः ॥१५–१६॥

अथोपवासदिवसानां पारणकदिनानां च सङ्ख्यामाह—'चउ' इत्यादि, लघुसिंहनिष्क्रीडिते तपसि क्षमणदिनानां–उपवासदिवसानां शतमेकं चतुष्पञ्चाशदधिकम् ।

१ पुनः पुनरासेव्या इति अन्तकृद्दशाङ्गवृत्तिः ८।२।सू. १९। प. २८ A ॥
२ प्रत्यागत्य-इति अन्तकृद्दशाङ्गवृत्तौ ८।२।१९ प. २८A ॥ ३ अन्तकृद्दशाङ्गवृत्तौ तु–स्थापना चेयम् १।२।१।३।२।४।३।५।४।६।५।७।६।८।७।९।८।९।७।८।६।७।५।६।४।५।३।४।२।३।१।२।१। [प.२८ A] ॥

तथाहि—द्वे नवसङ्कलने तत एका ४५, पुनः ४५, अष्टसङ्कलना चैका ३६, सप्तसङ्कलनाप्येकैव २८, सर्वमीलने च यथोक्ता सङ्ख्या भवति १५४ । तथा पारणकानि त्रयस्त्रिंशत् । तदेवं सर्वदिनसङ्ख्या १८७ । ते च षण्मासाः सप्तदिनाधिका भवन्ति । [1]एतच्च तपः परिपाटीचतुष्टयेन क्रियते । तत एतेषु चतुर्गुणितेषु द्वे वर्षे अष्टाविंशतिदिनाधिके भवतः ॥१७॥

अथ परिपाटीचतुष्टयेऽपि प्रत्येकं पारणस्वरूपं निरूपयति—'विगई' त्यादि, प्रथमपरिपाट्यां पारणकेषु विकृतयो भवन्ति । सर्वरसोपेतं पारणकमिति भावः । द्वितीयपरिपाट्यां निर्विकृतिकं-[2]विकृतिविरहः, तृतीयपरिपाट्यामलेपकारि—वल्लचणकादि । चतुर्थपरिपाट्यां माचाम्लं परिमितभैक्ष्यमिति । एवमस्य तपसः पारणकभेदेन चतस्रः परिपाट्यो विधेयाः ६ ॥१८॥

महासिंहनिष्क्रीडितं तप आह--'इगे' त्यादि गाथाद्वयम् , [3]इह एकादयः षोडशान्ताः षोडशादयश्चैकान्ताः स्थाप्यन्ते । ततश्च द्व्यादीनां षोडशान्तानामग्रे प्रत्येकमेकादयः पञ्चदशान्ताः, षोडशादिषु त्वेकान्तेषु पञ्चदशादीनां द्व्यन्तानामादौ प्रत्येकं चतुर्दशादयः एकान्ताः स्थाप्यन्ते । [4]स्थापना चेयम् ,

१	२	१	३	२	४	३	५	४	६	५	७	६	८	७	९	८	१०	९	११	१०	१२	११	१३	१२	१४	१३	१५	१४	१६		
महासिंहनिष्क्रीडितं तपः																															१५
१	२	१	३	२	४	३	५	४	६	५	७	६	८	७	९	८	१०	९	११	१०	१२	११	१३	१२	१४	१३	१५	१४	१६		

१ ततश्च-सि. ॥ २ विकृतिकविरहः-सि. ॥ ३ तुला-अन्तकृद्दशाङ्गवृत्तिः प. २८ B ॥
४ तुला-औपपातिकवृत्तिः सू. १५ । प. ३० ॥

अयमर्थः--प्रथममेक उपवासः, ततो द्वौ, तत एकः, ततस्त्रयः, ततो द्वौ, ततश्चत्वारः, ततस्त्रयः, ततः पञ्च, ततश्चत्वारः, ततः षट्, ततः पञ्च, ततः सप्त, ततः षट्, ततोऽष्टौ, ततः सप्त, ततो नव, ततोऽष्टौ, ततो दश, ततो नव, तत एकादश, ततो दश, ततो द्वादशः तत एकादश, ततस्त्रयोदश, ततो द्वादश, ततश्चतुर्दश, ततस्त्रयोदश, ततः पञ्चदश, ततश्चतुर्दश, ततः षोडश, ततः पञ्चदशोपवासा इति । एवं प्रत्यागत्याऽपि षोडशोपवासाः ततश्चतुर्दशेत्यादि तावदवसेयं यावत्पर्यंत एक उपवास इति ॥१९-२०॥

अथोक्तशेषं दिनमर्वसङ्ख्यां चाह—'एए' इत्यादि गाथाद्वयम्, अस्मिन्महासिंहनिष्क्रीडिते तीव्रे—अतिदुश्चरे तपश्चरणे एते-पूर्वोक्तपङ्क्तिद्वितयोदिता अभक्तार्था-उपवासा भवन्ति । ते च सर्वसङ्ख्यया चत्वारि शतानि सप्तनवत्युत्तराणि । तथाहि-अत्र द्वे षोडशसङ्कलने १३६-१३६ [1]एकपञ्चदशसङ्कलनेन १२०, एकैव चतुर्दशसङ्कलनेति १०५ । तथा एकषष्टिः पारणकानि भवन्ति । ततः सर्वैकत्वे वर्षमेकं षण्मासा अष्टादश च दिनानीत्येषा परिपाटी । एतदपि च तपः पूर्ववत्पारणकभेदेन चतसृभिः परिपाटीभिः परिसमाप्यते । ततोऽस्य राशेश्चतुर्भिर्गुणने वर्षाणि षट्, मासौ द्वौ, दिनानि च द्वादश भवन्तीति ७ ॥२१-२२॥

[2]मुक्तावलीतपः प्राह—'एको' इत्यादि गाथाद्वयम्, मुक्तावली—मौक्तिकहारस्तदाकारस्थापनया

१ एका पञ्चदशसङ्कलने(ना) १२० एकैव चतुर्दशसङ्कलने (ना)-मु.। पञ्चदशसङ्कलना १२० चतुर्दशसङ्कलना १०५-इति अन्तकृद्दशाङ्गवृत्तौ प. २८ B ॥ २ अन्तकृद्दशाङ्गसूत्रवृत्तौ तु-"मुक्तावली सुगमैव, नवरं तस्या चतुर्थं ततः षष्ठादीनि चतुस्त्रिंशत्तमपर्यन्तानि चतुर्थभक्तान्तरितानि ततश्चतुर्थं च करोति एवं चेयं तपसि इयत्प्रमाणा भवति-षोडशसङ्कलनाद्विना

गाथा
१५०१-
१५७०

प्र. आ.
४३७

यत्तपस्तन्मुक्तावलीत्युच्यते, तत्रादौ तावदेकक: स्थाप्यते, ततो द्विक-त्रिकादय एकान्तरिता भवन्ति यावत् पर्यन्ते षोडश । ततः पुनः प्रत्यागत्या षोडशादय एककपर्यन्ता एककान्तरिताः स्थाप्यन्ते । स्थापना चेयम्——

१	२	१	३	१	४	१	५	१	६	१	७	१	८	१	९	१	१	१	११	१	१२	१	१३	१	१४	१	१५	१	१६
१	२	१	३	१	४	१	५	१	६	१	७	१	८	१	९	१	१०	१	११	१	१२	१	१३	१	१४	१	१५	१	१६

अयमर्थः—पूर्वं तावदेक उपवासः, ततो द्वौ, ततः पुनरेकः, ततस्त्रयः, तत एकः, ततश्चत्वारः, तत एकः, ततः पञ्च, तत एकः, ततःषट्, तत एकः, ततः सप्त, तत एकः, ततोऽष्टौ, तत एकः, ततो नव, तत एकः, ततो दश, तत एकः, तत एकादश तत एकः, ततो द्वादश, तत एकः, ततस्त्रयोदश, तत एकः, ततश्चतुर्दश तत एकः, ततः पञ्चदश, तत एकः, ततः षोडशोपवासाः । एवमर्धं मुक्तावल्या निष्पन्नम् । द्वितीयमप्यर्धमेवं द्रष्टव्यम् । [1]केवलमत्रप्रतिलोमगत्या उपवासान करोति, तद्यथा—षोडशोपवासान् कृत्वा एकमुपवासं करोति, ततः पञ्चदश-तत एकमित्येवमेकोपवासान्तरितमेकोत्तरहान्या तावन्नेयं यावत्पर्यन्ते द्वावुपवासौ कृत्वा एकमुपवासं करोतीति ।

एतेऽभक्तार्था-उपवासाः सर्वाग्रेण त्रीणि शतानि । तथाहि—द्वे षोडशसङ्कलने १३६--१३६, पञ्चदशसङ्कलना च १२०, चतुर्थानि २८, पारणकानि ५९, एषां च मीलनेन मासाः ११, दिनानि १३ भवन्ति । सूत्रे तु दिनानि १५ दृश्यन्ते तच्च नावगम्यत इति प. ३१ B ॥ अष्टाविंशतिश्च चतुर्थानि, तथा षष्टिः पारणकानि, ततो जातं वर्षमेकम् । एतदपि तपः प्राग्वच्चतसृभिः

[1] केवलमत्र प्रतिलोमत्वयं प्रतिलोमगत्या-सि. ॥

परिपाटीभिः समाप्यते, ततो भवन्ति मुक्तावलीतपसि दिवससङ्ख्यया चत्वारि वर्षाणीति, [1]अंतकृद्दशासु पुनर्य एव प्रथमपङ्क्तिपर्यन्तवर्तिनः षोडश द्वितीयपङ्क्तिप्रारम्भेऽपि त एव, एक एव षोडशक इति तात्पर्यम् ८।२३-४॥

रत्नावलीतपः प्राह–'इगे'त्यादि गाथात्रयम्, रत्नावली–आभरणविशेषः रत्नावलीव रत्नावली। यथा हि रत्नावली उभयत आदिसूक्ष्मस्थूलस्थूलतरविभागकाहलिकाख्यसौवर्णावयवद्वययुक्ता, तदनु दाडिमपुष्पोभयोपशोभिता, ततोऽपि सरलसरिकायुगलशालिनी पुनर्मध्यदेशे सुश्लिष्टपदकसमलङ्कृता च भवति। एवं यत्तपः पट्टादावुपदर्श्यमानमिममाकारं धारयति तद्रत्नावलीत्युच्यते। [2]तत्रैककद्विकत्रिका उत्तराधर्यक्रमेण काहलिकयोः [3]स्थाप्या भवन्ति। तदनु द्वयोरपि दाडिमपुष्पयोः प्रत्येकमष्टौ त्रिकाः। ते चोभयतो रेखाचतुष्टयेन नव कोष्ठकान विधाय मध्ये च शून्यं कृत्वा स्थाप्यन्ते। ततश्चाधोऽधः सरिकायुगले एकादयः षोडशान्ताः स्थाप्याः। तस्य च सरिकायुगलस्यान्तेपर्यन्ते पदकं–पङ्क्त्यष्टकेन चतुस्त्रिंशदङ्कस्थानानि, कोष्ठकाः इत्यर्थः।

तत्र प्रथमायां पङ्क्तावेकमङ्कस्थानम्, द्वितीयस्यां पञ्च, तृतीयस्यां सप्त, चतुर्थ्यामपि सप्त, पञ्चम्यां पञ्च, षष्ठ्यामपि पञ्च, सप्तम्यां त्रीणि, अष्टम्यां [4]त्वेकमेवाङ्कस्थानम्, तेषु चतुस्त्रिंशत्यपि कोष्ठकेषु त्रिकरचना, त्रिकाः स्थाप्यन्ते इति भावः। स्थापना चेयम्,

१ द्रष्टव्यं ८।२। सूत्र २४१. ३१ B ततः॥ २ तत्रैककद्विकत्रिकान्तराधर्य० सि.॥ ३ स्थाप्या-जे. नास्ति॥ ४ त्वेकमेव० सि.॥

			३	३	३																
१	२	३	३	०	३	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
			३	३	३																

		३	३				
	३	३	३	३	३		
	३	३	३	३	३	३	
३	३	३	३	३	३	३	३
	३	३	३	३	३	३	
	३	३	३	३	३		
		३	३				

			३	३	३																
१	२	३	३	०	३	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
			३	३	३																

इदमत्र तात्पर्यं--रत्नावलीतपसि प्रथममेकमुपवासं करोति ततो द्वौ ततस्त्रीन् इत्येका काहलिका, अंतरा च सर्वत्र पारणकं वाच्यम् । ततोऽष्टावष्टमानि—उपवासत्रिकात्मकानि करोति । एतैः किल काहलिकाया अधस्ताद्दाडिमपुष्पं निष्पद्यते, ततश्चैकमुपवासं करोति, ततोऽपि द्वौ, ततस्त्रीन्, ततोऽपि चतुर इत्येवं पञ्च, षट्, सप्ता-ऽष्टौ, नव, दशैकादश, द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश, पञ्चदश, षोडशोपवासान् करोति । एषा हि दाडिमपुष्पस्याधस्तादेका सरिका, ततश्चतुस्त्रिंशदष्टमानि करोति । एतैः किल पदकं संपद्यते । ततः षोडशोपवासान् करोति, ततः पञ्चदश, ततश्चतुर्दश इत्येवमेकैकहान्या तावन्नेयं यावदेक उपवासः । एषा द्वितीया सरिका भवति । ततश्चाष्टावष्टमानि करोति । एतैरपि द्वितीयं दाडिमपुष्पं निष्पद्यते, ततस्त्रीनुपवासान् करोति, ततो द्वौ, तत एकमुपवासं करोति, एतैर्द्वितीया काहलिका निष्पद्यते । एवं सति परिपूर्णा

रत्नावली सिद्धा भवति । अस्मिंश्च रत्नावलीतपसि काहलिकायास्तपोदिनानि १२, दाडिमपुष्पयोः षोडशभिरष्टमैर्दिनानि ४८, सरिकायुगले द्वाभ्यां षोडशसंकलनाभ्यां दिनानि २७२, पदके चतुस्त्रिंशताऽष्टमैर्दिनानि १०२ । सर्वैकत्वे चत्वारि शतानि चतुस्त्रिंशदुत्तराणि, अष्टाशीतिश्च पारणकदिनानि, उभयमीलने पञ्च शतानि द्वाविंशत्युत्तराणि, [1]पिण्डितास्तु वर्षमेकम् , मासाः पञ्च, दिनानि च द्वादश । इदमपि च तपः पूर्ववच्चतसृभिः परिपाटीभिः समर्थ्यते, ततश्चतुर्भिर्गुणने वर्षाणि पञ्च, मासा नव, अष्टादश च दिनानीति ९ ॥२५-७॥

[2]**कनकावलीतपः** प्राह–'**रयणे**'त्यादि गाथाद्वयम् , कनकमयमणिकनिष्पन्नो भूषणविशेषः कनकावली, तदाकारं स्थापनया यत्तपस्तत्कनकावलीत्युच्यते । एतच्च कनकावलीतपो रत्नावलीतपः क्रमेणैव क्रियते । नवरं–केवलं दाडिमपुष्पयोः पदके च त्रिकपदे–त्रिकाणां स्थाने उपवासद्वयसूचका द्विकाः कर्तव्याः । शेषं पुनः सर्वमपि तथैवेति । अस्मिंश्च तपसि काहलिकयोस्तपोदिनानि द्वादश दाडिमपुष्पयोर्द्वात्रिंशत् सरिकायुगले द्वे शते द्वासप्तत्युत्तरे पदके चाष्टषष्टिः । सर्वसङ्ख्यया त्रीणि शतानि चतुरशीत्यधिकानि । अष्टाशीतिश्च पारणकदिवसाः । तत्प्रक्षेपाच्चत्वारि दिनशतानि द्वासप्तत्युत्तराणि । सर्वाग्रपिण्डस्तु वर्षमेकम् त्रयो मासा, द्वाविंशतिर्दिवसाः । अत्रापि पूर्ववच्चतुर्भिर्गुणने वर्षाणि पञ्च, मासौ द्वौ, दिनानि चाष्टाविंशतिरिति ।

[3]अन्तकृद्दशादिषु तु कनकावल्यां पदके दाडिमद्वये च द्विकस्थाने त्रिका उक्ताः, रत्नावल्यां च द्विका

---

१ पिण्डस्तु-सि. ॥ २ तुला-औपपातिकवृत्तिः प. २१ B तः । ३ द्रष्टव्यम् अन्तकृद्दशाङ्गसूत्रम् ८।२।१७ प. २७ A तः ॥

इति । तथा प्रथमतपसि लघुसिंहनिष्क्रीडिते यः सर्वरसाहारादिकः पारणकविधिरुक्तः स तपःपञ्चकेऽपि[1] लघुबृहत्सिंहनिष्क्रीडित-मुक्तावली-रत्नावली-कनकावलीलक्षणे कर्तव्यः। एतच्च सर्वं यथायथं भावितमेवेति १०॥२८-९॥

अथ [2]भद्रतपः—प्राह—भद्दे'त्यादि गाथाद्वयम्, भद्रादिषु—भद्र-महाभद्र-भद्रोत्तर-सर्वतोभद्रेषु तपस्सु मध्ये पूर्वं भद्रतपः प्रतिपादयामि। तद्यथा—आदौ भवेदेक उपवासः, ततो द्वौ, ततस्त्रयः, ततश्चत्वारः, ततः पञ्चइत्येका लता, एवं त्रयश्चत्वारः पञ्च एको द्वौ इति द्वितीया, पञ्च एको द्वौ त्रयश्चत्वार इति तृतीया, द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च एक इति चतुर्थी, चत्वारः पञ्च एको द्वौ त्रय इति पञ्चमी। इह पञ्चभिर्लताभिः पञ्चसप्ततिरुपवासाः, पञ्चविंशतिश्च पारणकानि, [3]उभयमीलनेन च शतमेकं दिनानामिति ११॥३०-३१॥ स्थापना चेयम् ।

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

[4]महाभद्रं तपः प्राह—'पभणामी' त्यादि गाथात्रयम्, प्रकर्षेण भणामि—प्रतिपादयामि महाभद्रनामकं तपः, तद्यथा—पूर्वमेक उपवासः, ततो द्वौ, त्रयश्चत्वारः, पञ्च, षट्, सप्तेत्येका लता । चत्वारः, पञ्च, षट्, सप्त, एको द्वौ, त्रय इति द्वितीया । सप्त, एको, द्वौ, त्रयश्चत्वारः, पञ्च षडिति तृतीया । त्रयश्चत्वारः, पञ्च, षट्, सप्तएको द्वाविति चतुर्थी । षट्, सप्तैको द्वौ, त्रय-

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

१ ०पु-सि ॥ २ भद्रतपः प्राह—भद्रतप स्थापना-सि. ॥ तुला—औपपातिकवृत्तिः सू. १५। प. ३० तत्र तु सर्वतोभद्रा क्षुद्रा इत्यभिधानम् । तत्त्वार्थसूत्रस्य सिद्धसेनीयावृत्तिः सू. ९।६, भा. २ प. २०४, अत्राऽपि सर्वतोभद्रं क्षुल्लकम् इत्यभिधानम् ॥ ३ उभयमीलने-मु. ॥ ४ तुला—अन्तकृद्दशाङ्गसूत्रम ८।६।२३ प. ३० A तत्र महासर्वतोभद्रा-इत्यभिधानम् ॥

श्चत्वारः, पञ्चेति पञ्चमी । द्वौ, त्रयश्चत्वारः, पञ्च, षट्, सप्त, एक इति षष्ठी । पञ्च, षट्, सप्त, एको द्वौ, त्रयश्चत्वार इति सप्तमी [1]स्थापना—इहैकोनपञ्चाशत्पारणकानि, षण्णवत्यधिकं शतं चतुर्थानाम्—उपवासाना मित्यर्थः । एवं चास्मिन्महाभद्रे तपसि द्वे शते पञ्चचत्वारिंशदुत्तरे दिनानां भवत इति[2] १२॥३२-३४॥

साम्प्रतं [3]भद्रोत्तरं तपः प्राह—'भद्दो' इत्यादि गाथाद्वयम्, प्रतिमा नाम प्रतिज्ञाविशेषः । ततो भद्रोत्तरप्रतिमायां—भद्रोत्तरतपसि पञ्च, षट्, सप्ताष्टौ. नवेत्याद्या लता । सप्ताष्टौ, नव, पञ्च, षडिति द्वितीया । नव, पञ्च, षट्, सप्ताष्टाविति तृतीया । षट्, सप्ताष्टौ, नव, पञ्चेति चतुर्थी । अष्टौ, नव, पञ्च, षट्, सप्तेति पञ्चमी । इह पञ्चसप्तत्युत्तरं शतमभक्तार्थानाम्--उपवासानाम्, पञ्चविंशतिस्तु पारणकानाम् एवं च भद्रोत्तरतपसि शतद्वयं दिनानां भवति । स्थापना चेयम् १३॥३५—३६॥

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

साम्प्रतं **सर्वतोभद्रतपः** प्राह—'**पडिमे**' त्यादि गाथाचतुष्कम्, प्रतिमायां [4]सर्वतोभद्रायां सर्वतोभद्रतपसीत्यर्थः, पञ्च, षट्, सप्त, अष्टौ, नव, दश, एकादश उपवासा इति प्रथमा लता । अष्टौ, नव, दश, एकादश, पञ्च, षट्, सप्तेति द्वितीया । एकादश, पञ्च, षट्, सप्ताष्टौ, नव, दशेति तृतीया । सप्त, अष्टौ नव, दश, एकादश, पञ्च, षडिति चतुर्थी । दश, एकादश, पञ्च, षट्, सप्त, अष्ट नवेति

1 स्थापना—मु. नास्ति ॥ 2 स्थापना चेयम् [*]३८—मु. ॥ 3 तुला—औपपातिकसूत्रवृत्तिः प. ३१ B तः । द्रष्टव्या तत्त्वार्थसूत्रस्य सिद्धसेनीयावृत्तिः भा. २, प. २०५ । अन्तकृद्दशाङ्गसूत्रम् वर्ग ८ । सू. २४ प. ३० B तः ॥
4 तुला—औपपातिकसूत्रवृत्ति. प. ३२ A । अन्तकृद्दशाङ्गसूत्रवृत्तौ—"वाचनान्तरे प्रतिमात्रयस्य लक्षणगाथा उपल-

५	६	७	८	९	१०	११
८	९	१०	११	५	६	७
११	५	६	७	८	९	१०
७	८	९	१०	११	५	६
१०	११	५	६	७	८	९
६	७	८	९	१०	११	५
९	१०	११	५	६	७	८

पञ्चमी । षट् , सप्त, अष्टौ, नव, दश, एकादश, पञ्चेति षष्ठी । नव, दश, एकादश, पञ्च, षट् , सप्त, अष्टाविति सप्तमी । स्थापना चेयम् ।

अत्र च सर्वसङ्ख्यया त्रीणि शतानि द्विनवत्युत्तराणि उपवासानां भवन्ति । एकोनपञ्चाशच्चपारणकानां उभयमीलने चत्वारि शतान्येकचत्वारिंशदधिकानि दिनानां भवन्तीति । तदेवमेतानी भद्रादीनि-भद्र-महाभद्र-भद्रोत्तर-सर्वतोभद्र-रूपाणि चत्वारि तपांसि भणितानि । ग्रंथान्तरे पुनरमून्यन्यथाऽपि दृश्यन्ते । एतेष्वपि चतुर्षु तपस्सु प्राग्वत्पारणकभेदतः प्रत्येकं चातुर्विध्यं [1]च द्रष्टव्यम् , दिनसङ्ख्या च यथायथमानेतव्येति १४ ॥३७-४०॥

अथ [2]सर्वसौख्यसम्पत्तितपः प्राह–'**पडिवे**' त्यादि, प्रतिपदेकैव, द्विकं द्वितीययोः, एवं यावत्पञ्चदश अमावास्याः क्षमणैः–उपवासैर्यत्र भवन्ति । अयमर्थः–एका प्रतिपद् , द्वे द्वितीये, तिस्रस्तृतीयाः, चतस्रश्चतुर्थ्यः, एवं यावत्पञ्चदश पञ्चदश्यः कृतोपवासा यत्र भवन्ति तत्तपः सर्वसंपत्तिः 'सूचकत्वात्सूत्रस्य'

श्यन्ते, यथा–आई दोण्ह चउत्थं आई भद्दोत्तराए बारसमं । बारसम सोलसमं वीसतिमं चेव चरिमाइं । ……… … अथ द्वितीयपङ्क्तिरचनार्थमाह–पढमं तइयं तो जाव चरिमयं ऊणमाई उ पूरे । पंच य परिवाडीओ खुड्डगभिद्दुत्तराए य । —— —…अथ महासर्वतोभद्राया द्वितीयपङ्क्तिरचनार्थमाह–पढमं तु चउत्थं जाव चरिमयं ऊणमाइउं पूरे । सत्त य परिवाडीओ महालये सव्वओभद्दे ॥ [प. ३० B तः] ॥ ॥६४६॥

१ च-सि. नास्ति ॥ २ तुला–पञ्चाशकप्र. १९।३८ ॥

सर्वसौख्यसंपत्तिस्तपो भवति । सर्वेषां सौख्यानां संपत्तिः–प्राप्तिर्यस्मादितिकृत्वा, यद्वा सर्वसंपत्तिरित्येव नाम । तथाहि–तत्किमपि वस्तु नास्ति भुवस्तले यदस्य सम्यगासेवितस्य तपसः प्रभावतः प्रायेण प्राणिनां न संपद्यते इति । इह चामावास्याशब्दश्रवणादन्यत्र च 'इय जाव पन्नरस पुन्निमासु कीरंति जत्थ उववासा' [ ] इत्यादिवचनाकर्णनादवसीयते इह च यथेदं तपः कृष्णपक्षे शुक्लपक्षे वा प्रारभ्यते न कश्चिद्दोषः । अत्र च विंशत्युत्तरं शतमुपवासानां भवति १५ ॥४१॥

रोहिणीतपः प्राह—'रोहिणी'त्यादि, [1]रोहिणी–देवताविशेषः तदाराधनार्थं तपो रोहिणी-तपः तस्मिन् रोहिणीतपसि सप्तमासाधिकसप्तवर्षाणि यावद्रोहिणीनक्षत्रोपलक्षिते दिने उपवासः क्रियते । इह च वासुपूज्यजिनप्रतिमायाः प्रतिष्ठा पूजा च विधेया १६॥४२॥

श्रुतदेवतातपः 'एक्के' त्यादि, श्रुतदेवताराधनार्थं तपः श्रुतदेवीतपः तस्मिन् श्रुतदेवीतपस्येकादश एकादश्यः श्रुतदेवतापूजापुरस्सर[2]मुपवासैर्मौनव्रतेन च विधीयन्ते । उपलक्षणं चैतत्, ततोऽम्बातपो-ऽप्यत्र द्रष्टव्यम्, तच्च पञ्चसु पञ्चमीषु नेमिजिनाम्बिकापूजापूर्वमेकाशनादिना भवति १७ ॥४३॥

[3]सर्वाङ्गसुन्दरतपः प्राह–'सव्वंगे' त्यादि, सर्वाङ्गानि सुन्दराणि–सौंदर्योपेतानि भवन्ति यस्मात्तत्सर्वाङ्गसुन्दरं तपः, तस्मिन् सर्वाङ्गसुन्दरे तपसि क्षान्ति-मार्दवा-ऽऽर्जवाद्यभिग्रहकृताग्रहास्तीर्थ-कृत्पूजागुरुनदीनादिदानविरताश्चाष्टावुपवासान् एकान्तरितानाचाम्लेन कृतपारणकान् धवलपक्षे कुर्वन्ति ।

१ तुला–पञ्चाशकप्र.वृत्तिः १९।२५ ॥ २ ०मुपवासामौनव्रतेन वि० मु. ॥ ३ तुला–पञ्चाशकप्र.वृत्तिः १९।३०॥

अस्य च तपसः सर्वाङ्गसुन्दरत्वमानुषङ्गिकमेव फलम्, मुख्यं तु सर्वज्ञाज्ञया क्रियमाणानां सर्वेषामेव तपसां मोक्षावाप्तिरेव फलमिति भावनीयम्, एवं सर्वत्रापि १८ ॥४४॥

निरुजशिखतपः प्राह—'एव'मित्यादि, रुजानां—रोगाणामभावो निरुजं तदेव प्रधानफलविवक्षया शिखेव शिखा—चूला यत्रासौ निरुजशिखस्तपोविशेषः सोऽप्येवमेव—सर्वाङ्गसुन्दरतपोवदष्टभिरुपवासैराचाम्लपारणकैर्द्रष्टव्यः। नवरं—केवलं स—निरुजशिखस्तपोविशेषः श्यामले—कृष्णपक्षे भवति। अधिकश्च तत्र क्रियते ग्लानप्रति जागरणनियमो--ग्लानो मया पथ्यादिदानतः प्रतिचरणीयः इत्येवंरूपप्रतिज्ञाग्रहणमित्यर्थः, शेषं तु जिनपूजादिकं तथैवेति १९ ॥४५।

प्र. आ. ४४०

परमभूषणतपः प्राह—'सो' इत्यादि, परमाणि—शक्रचक्रवर्त्याद्युचितानि प्रकृष्टानि हारकेयूरकुण्डलादीनि भूषणानि—आभरणानि यस्मादसौ परमभूषणः, तस्मिन् द्वात्रिंशदाचाम्लानि पारणकान्तरितानि शक्तिसद्भावे निरन्तराणि वा करोति, तत्समाप्तौ च देवस्य मुकुट-तिलकाद्याभरणवितरणं यथाशक्ति यतिदानादिकं च कर्तव्यमिति २० ॥४६॥

आयतिजनकं तपः प्राह—'आयई' त्यादि, आयतिम्--आगामिकालेऽभीष्टफलं जनयति-करोति योऽसावायतिजनकस्तपोविशेषः, सोऽप्येवं-परमभूषणतपोवद् द्वात्रिंशताऽऽचाम्लैर्द्रष्टव्यः। नवरं केवलं सर्वासु धर्मक्रियासु—[1]वन्दनक-प्रतिक्रमण-स्वाध्याय-साधु-साध्वीवैयावृत्त्यादिषु सर्वधर्मकृत्येष्वनिगूहितबलवीर्यप्रवृत्तियुक्तैः-अगोपायितशरीरप्राणचित्तोत्साहप्रवर्तनप्रधानैः सः—आयतिजनकः कार्यः २१ ॥४७॥

१ वन्दनकप्रतिक्रमणक० सि. ॥

सौभाग्यकल्पवृक्षमाह—'एगंते'त्यादिगाथाद्वयम्, कल्पवृक्ष इव कल्पवृक्षः सौभाग्यफलदाने कल्पवृक्षः सौभाग्यकल्पवृक्षः, तत्र सौभाग्यकल्पवृक्षतपसि चैत्रमासे एकान्तरा-एकदिनव्यवहिता उपवासाः समग्रमपि मासं भवन्ति। पारणकं च सर्वरसं सविकृतिकमित्यर्थः। तथाऽत्र यथाशक्ति साध्वादिभ्यो दानं दीयते। अस्य च तपश्चरणस्य समाप्तौ शक्त्यनुसारतो जिनपतेः पुरतः पूजाकरणादिपूर्वं विशालस्थालावलिमध्ये [1]महारजतमयः सरलतण्डुलमयो वा विविधफलपटलविलसदसंख्यशाखाशिखः कल्पशाखी कर्तव्य इति २२ ॥४८-४९॥

तीर्थंकरमातृतप आह—'तित्थे'त्यादि, तीर्थंकरजननीपूजापूर्वमेकाशनानि—एकभक्तानि सप्तैव तीर्थंकरजननीनामके तपसि क्रियन्ते। अस्य च तपसो भाद्रपदे [2]मासि शुक्लसप्तम्यामारम्भः त्रयोदश्यां च समाप्तिः, वर्षत्रयं च यावदिदं तपः क्रियते २३ ॥५०॥

समवसरणतप आह—'एक्कासे' त्यादि, भाद्रपदमासि कृष्णप्रतिपद आरभ्य तत्पूजापूर्वं—समवसरणप्रतिमापूजनपुरस्सरं स्वशक्त्यनुसारेणैकाशननिर्विकृतिकाचाम्लोपवासैः षोडशभिर्भाद्रपदचतुष्के-चतुर्षु भाद्रपदेषु प्रत्येकं विहितैः समवसरणतपो भवति। अत्र च चतुर्षु भाद्रपदेषु चतुःषष्टिस्तपोदिनानि स्युः। अयं भावः-समवसरणस्यैकैकं द्वारमाश्रित्य प्रत्येकं दिनचतुष्टयं क्रियते, तत एवास्य द्वारिकेति प्रसिद्धिः २४ ॥५१॥

---

१ "कल्पवृक्षस्य सुवर्णतन्दुलादिमयस्य स्थापना च न्यासश्च—" इति पञ्चाशकप्र.वृत्तौ १९।३६ ॥
२ भाद्रपदे मासे- सि. ॥

अमावास्यातपः प्राह–'नन्दी' त्यादि पटलिखितनन्दीश्वरसुरभुवनजिनार्चनान्वितं निजसामर्थ्य-सदृशेन–स्वशक्त्यनुरूपेणोपवासादीनामन्यतमेन तपश्चरणेन भवत्यमावास्यातपोऽमावास्यावासरोद्दिष्टम्, अमावास्यादिवस इत्यर्थः। इदं च तपो दीपोत्सवामावास्यायामारभ्यते वर्षसप्तकेन च समाप्यत इति २५॥५२॥

पुण्डरीकतप आह–'सिरी'त्यादि, श्रीपुण्डरीकनामके तपसि चैत्रमासस्य पूर्णिमायाः प्रारभ्य द्वादश पूर्णिमासीः, मतान्तरेण सप्त वर्षाणि यावदेकाशनादि तपः स्वशक्त्या कर्तव्यम्, पूजनीया च तत्प्रतिमा–नाभेयजिनप्रथमगणधरस्य पुण्डरीकस्य प्रतिकृतिरिति। इह च चैत्रमासपूर्णिमास्यामस्य तपसः प्रारम्भे पुण्डरीककेवलोत्पत्तिरेव कारणम्। पुण्डरीकस्य हि भगवतश्चैत्रपूर्णिमायामुदपादि केवलज्ञानम्, तथा चावक्ष्महि श्रीपद्मप्रभचरित्रे पुण्डरीकगणधरवक्तव्यतायाम्–

"△ घणघाइकम्मकलुसं पक्खालिय सुक्कझाणसलिलेणं। चेत्तस्स पुन्निमाए संपत्तो केवलालोयं ॥१॥" इति। प्र. आ. ४४०

एवमन्यत्रापि उपयुज्य कारणं वाच्यम् २६ ॥५३॥

अक्षयनिधिमाह—'देवे'त्यादि, देवाग्रे–सर्वज्ञप्रतिमायाः पुरतः स्थापितः कलशः प्रतिदिनं क्षिप्यमाणयाऽक्षतमुष्ट्या यावद्भिर्दिनैः पूर्यते तावन्ति दिनानि स्वशक्त्यनुरूपं यत्तप एकाशनाद्यन्यतरं तद् बुधा ब्रुवते अक्षयनिधिम्, अक्षयः–सदैव परिपूर्णो निधिः–निधानं यस्मादितिकृत्वा २७ ॥५४॥ ॥६५०॥

△ घनघातिकर्मकलुषं प्रक्षाल्य शुक्लध्यानसलिलेन। चैत्रस्य पूर्णिमायां सम्प्राप्तः केवलालोकम् ॥

साम्प्रतं [1]'यवमध्यां चन्द्रप्रतिमामाह--'वड्ढइ' त्यादिगाथाचतुष्कम्, चन्द्र इव कलावृद्धि-हानिभ्यां या प्रतिमा सा चन्द्रप्रतिमा-चन्द्रायणाख्यं तप इति। सा द्विधा—यवमध्या वज्रमध्या च। [2]यवस्येव मध्ये स्थूलस्य पर्यन्तभागयोस्तु तनुकस्य मध्यं यस्याः सा यवमध्या। वज्रस्येवमध्ये तनुकस्य पर्यन्तयोस्तु स्थूलस्य मध्यं यस्याः सा वज्रमध्या।

तत्रादौ यवमध्यां व्याख्यानयति—यथा शुक्लपक्षे प्रतिपदः प्रारभ्यानुवासरं—प्रतिदिवसमेकैकया कलया चन्द्रो वर्धते यावत्पर्वणि-पूर्णिमायां सकलाभिरपि कलाभिः संपूर्णः संपद्यते। तथा--तेनैव प्रकारेण प्रतिपदि एकः कवलः। उपलक्षणमेतत्, ततो भिक्षा दत्तिर्वा एकैव गृह्यते। द्वितीयायां द्वौ कवलौ, तृतीयायां त्रयः कवलाः, एवमेकैककवलवृद्ध्या यावत्पूर्णिमायां तेषां कवलानां पञ्चदशकं भवति। पञ्चदश कवला अभ्यवह्रियन्ते इत्यर्थः। कृष्णे पक्षे च यथा प्रतिदिनमेकैकां कलां शशी मुञ्चति तथा कवलोऽपि मुच्यते यावदमावास्यायां 'सो' त्ति स कवल एको भवति। कोऽर्थः।-कृष्णपक्षप्रतिपदि पञ्चदश कवला गृह्यन्ते, द्वितीयायां चतुर्दश, तृतीयायां त्रयोदश, इत्येवं यावदमावास्यायामेक एव कवल इति। एषा यवमध्या चन्द्रप्रतिमा मासमात्रप्रमाणा भणिता २८।

इदानीं [3]पुनर्मासप्रमितां-मासप्रमाणां वज्रमध्यां चन्द्रप्रतिमां प्रकर्षेण वक्ष्यामि ॥५५-५८॥ तामेवाह—'पन्नरे' त्यादिगाथाद्वयम्, कृष्णपक्षप्रतिपदि पञ्चदश कवला गृह्यन्ते, तत एकैकहान्या तावन्नीयते यावद-

१ तुला—पञ्चाशकप्र.वृत्तिः १९।१६ तः।। २ तुला—औपपातिकसूत्रवृत्तिः सू. १९।प. ३२ A । तत्त्वार्थसूत्रस्य सिद्ध-सेनीया वृत्तिः भा. २ पृ. २६६ सू. ९।६ ॥ ३ पुनर्मासप्रतिमा—मासप्रमाणं- सि.॥

मावास्यायामेकेन कवलेन जाता, अमावास्यायामेक एव कवलो गृह्यते इति भावः। तथा प्रतिपदपि सिता–शुक्ला एकेन कवलेन जाता। कोऽर्थः ?-शुक्लप्रतिपद्यप्येक एव कवलो गृह्यते, ततो द्वितीयाया आरभ्यैकोत्तरवृद्ध्या तावन्नेयं यावत् [1]पूर्णिमास्यां पञ्चदश कवला दत्तयो वा गृह्यन्ते इति। तदेवमिमे यवमध्य-वज्रमध्ये द्वे अपि प्रतिमे भणिते इति। एष च पञ्चाशकादिग्रन्थाभिप्रायः।

[2]व्यवहारचूर्ण्यभिप्रायः पुनरयं–[3]शुक्लपक्षस्य प्रतिपदि [4]चन्द्रविमानस्य दृश्यस्य पञ्चदशभागीकृतस्य एका कला दृश्यते चतुर्दश कला न दृश्यन्ते, द्वितीयस्यां द्वे कले, तृतीयस्यां तिस्रः कलाः एवं यावत्पञ्चदश्यां [5]परिपूर्णायां पञ्चदश कलाः। ततो बहुलपक्षस्य प्रतिपदि एकया कलया ऊनो दृश्यते, चतुर्दश कला दृश्यन्ते, द्वितीयस्यां त्रयोदश, [7]तृतीयायां द्वादश, यावदमावास्यायामेकापि न दृश्यते। तदेवमयं मास आदावूनो मध्ये संपूर्णोऽन्ते पुनरपि परिहीनो, यवोऽप्यादावन्ते च तनुको मध्ये विपुलः। एवं साधुरपि भिक्षां गृह्णाति शुक्लपक्षस्य प्रतिपद्येकाम्, द्वितीयस्यां द्वे, तृतीयस्यां तिस्रो यावत्पञ्चदश्यां पञ्चदश, ततो बहुलपक्षस्य प्रतिपदि पुनश्चतुर्दश, द्वितीयायां त्रयोदश यावच्चतुर्दश्यामेकां अमावास्यामुपोषितः। ततश्चन्द्राकारतया चन्द्रप्रतिमा आदावन्ते च भिक्षायास्तनुत्वान्मध्ये विपुलत्वाद्यवमध्योपमितमध्यभागा। तथा चामुमेव यवमध्यां चन्द्रप्रतिमामधिकृत्यान्यत्रोक्तम्—

"एकैकां वर्धयेद्भिक्षां, शुक्ले कृष्णे च ह्रापयेत्। भुञ्जीत नामावास्यायामेष चान्द्रायणो विधिः ॥१॥"

१ •पूर्ण० इति पञ्चाशकप्र.वृत्तौ ११।२७॥ २ व्यवहारसूत्रम् द्रष्टव्यम् उ.१०/प. १॥ ३ तुला व्यवहारसूत्रवृत्तिः उ. १०। सू. १ प. २॥ ४ चन्द्रविमानसदृशस्य-इति व्यवहारसूत्रवृत्तौ॥ ५ परिपूर्णाः–इति व्यवहारसूत्रवृत्तौ॥ ७ तृतीयस्यां–सि.।

वज्रमध्यायां [1]चन्द्रप्रतिमायां बहुलपक्ष आदौ क्रियते, तत एवं भावना—बहुलपक्षस्य प्रतिपदि चन्द्रविमानस्य चतुर्दश कला दृश्यन्ते, द्वितीयस्यां त्रयोदश, तृतीयस्यां द्वादश, यावच्चतुर्दश्यामेका, अमावास्यायामेकापि न, ततः पुनरपि शुक्लपक्षस्य प्रतिपदि चन्द्रविमानस्य एका कला दृश्यते, द्वितीयायां द्वे, यावत्पञ्चदश्यां पञ्चदशापि । तदयं मास आदावन्ते च पृथुलो मध्ये तनुको वज्रमध्यादावन्ते च विपुलं मध्ये तनुकमेवं साधुरपि भिक्षां गृह्णाति बहुलपक्षस्य प्रतिपदि चतुर्दश, द्वितीयस्यां त्रयोदश, यावच्चतुर्दश्यामेकाममावास्यायां चोपवासयति, ततः पुनरपि शुक्लपक्षस्य प्रतिपद्येकां भिक्षां गृह्णाति, द्वितीयस्यां द्वे, यावत्पञ्चदश्यां पञ्चदशेति । तत एषापि चन्द्राकारतया चन्द्रप्रतिमा आदावन्ते च विपुलतया मध्ये च तनुकतया वज्रमध्योपमितमध्यभागा वज्रमध्येति २९ ॥५९॥६०॥

साम्प्रतं सप्तसप्तमिकाद्याश्चतस्रः प्रतिमाः प्रतिपादयति—'**दिवसे**' इत्यादिगाथात्रयम्, प्रथमे सप्तके दिवसे २ एका दत्तिर्ग्राह्या, ततः सप्तकेन सह दत्तिर्वर्धते, यावत्सप्तमे सप्तके प्रतिदिनं सप्त दत्तयो भवन्ति । इयमत्र भावना—सप्तसप्तमिकायां प्रतिमायां सप्तसप्तका दिनानां भवन्ति । तत्र प्रथमे सप्तके [2]प्रतिदिवसमेकैकां दत्तिं गृह्णाति, द्वितीये सप्तके प्रतिदिवसं द्वे द्वे दत्ती, एवं तृतीये सप्तके तिस्रः २, चतुर्थे चतस्रः २, पञ्चमे पञ्च २, षष्ठे षट् २, सप्तमे सप्त सप्तेति । एताश्च भोजनविषया एव दत्तय उक्ताः । एवमेतत्सङ्ख्या एव पानकविषया अपि प्रतिपत्तव्याः, तथा चाष्टमाङ्गसूत्रम्—

१ चन्द्रप्रतिमाया-सि॰ नास्ति । चन्द्रेण प्रतिमायाम्-इति व्यवहारसूत्रवृत्तौ ॥ २ सप्तदिवस॰ सि॰ ॥

"पढमे सत्तए एक्केक्कं भोयणस्स दत्तिं पडिगाहेइ एक्केक्कं पाणयस्स, एवं जाव सत्तमे सत्त दत्तीउ भोयणस्स पडिगाहेइ [1]सत्त पाणयस्से" [अन्तकृद्दशाङ्गसूत्र ८।३।२१ प. २८ B]त्यादि ।

अन्ये पुनरन्यथा प्रतिपादयन्ति- प्रथमे सप्तके प्रथमदिवसे एकां दत्तिं गृह्णाति, द्वितीये द्वे, तृतीये तिस्र, चतुर्थे चतस्रः, पञ्चमे पञ्च, षष्ठे षट्, सप्तमे सप्त । एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे षष्ठे सप्तमे च सप्तके द्रष्टव्यम्, उक्तं च [2]**व्यवहारभाष्ये**—

"अहवा एक्केक्कियं दत्तिं जा सत्तेक्केक्कस्स सत्तए । आएसो अत्थि एसोऽवि" [ ] त्ति । तदेवमेकोनपञ्चाशता वासरैरियं सप्तसप्तकिका प्रतिमा भवति । सप्त सप्तका दिनानां यस्यां सा सप्तसप्तकिका, सप्तशब्दककारस्य मकारः प्राकृतत्वात् । अथवा सप्त सप्तमानि दिनानि यस्यां सा सप्तसप्तमिका । यस्यां हि सप्त दिनसप्तकानि भवन्ति तस्यां सप्त सप्तमानि दिनानि भवन्त्येवेति ।

तथा अष्टाष्टमिका, नवनवमिका, दशदशमिका च प्रतिमा एवं—प्रागुक्तप्रकारेणैव द्रष्टव्या । नवरं-केवलमयं विशेषः—अष्टक-नवक-दशकवृद्धिभिः सह प्रत्येकं दत्तिर्वर्धते । इदमुक्तं भवति—अष्टाष्टमिकायां प्रतिमायामष्टावष्टकानि भवन्ति । तत्र प्रथमेऽष्टके प्रतिदिनमेकैका दत्तिगृह्यते, द्वितीयेऽष्टके प्रतिदिनं द्वे दत्ती, एवं तृतीये तिस्रः, चतुर्थे चतस्रः, एवमेकैकदत्तिवृद्ध्या तावदवगन्तव्यं यावदष्टमेऽष्टके प्रतिदिनमष्टावष्टौ दत्तयो गृह्यन्ते । अस्यां हि चतुःषष्टिर्दिनानि भवन्ति ।

---

१ सत्त सत्त–सि. ॥ २ तुला-"सत्तसत्तमिया णं भिक्खूपडिमा एगूणपन्नए राइंदिएहिं एगेण छन्नउएणं भिक्खासएण...." इति व्यवहारसूत्रे ड. ९ । सू. ३७ । प. १२ ॥

तथा नवनवमिकायां प्रतिमायां नव नवकानि भवन्ति, तत्र प्रथमे नवके प्रतिदिनमेकैका दत्तिः, द्वितीये नवके प्रतिदिनं दत्तिद्वयम्, तृतीये नवके प्रतिदिनं दत्तित्रयम्, एवमेकैकदत्तिवृद्ध्या तावदवसेयं यावन्नवमे नवके प्रतिदिनं नव नव दत्तयः, अत्र चैकाशीतिर्दिनानि ।

तथा दशदशमिकायां प्रतिमायां दश दशकानि भवन्ति, तत्र प्रथमे दशके प्रतिदिनमेका दत्तिर्गृह्यते द्वितीये दशके प्रतिदिनं दत्तिद्वयम्, एवमेकैकदत्तिवृद्ध्या तावन्नेतव्यं यावद्दशमे दशके प्रतिदिनं दश दश दत्तयः । अत्र दिनानां शतमेकम् । तदेवं नवभिर्मासैश्चतुर्विंशत्या दिनैश्चतस्रोऽप्येताः प्रतिमाः समाप्यन्ते । इह च सप्तसप्तमिकायां प्रतिमायां दत्तिपरिमाणं षण्णवत्यधिकं शतम्, अष्टाष्टमिकायामष्टाशीत्युत्तरे द्वे शते दत्तीनाम्, नवनवमिकायां पञ्चोत्तराणि चत्वारि शतानि । दशदशमिकायां पञ्चाशदधिकानि पञ्च शतानि दत्तीनामिति ३० ॥६१॥६२॥६३॥

इदानीमाचाम्लवर्धमानं तपः प्राह–'एगे'त्यादिगाथाद्वयम्, एकादिकान्येकैकवृद्धिमन्ति पर्यन्ताभक्तार्थान्याचाम्लानि क्रियन्ते यावत्तेषामाचाम्लानां शतं परिपूर्णं भवति । एतदाचाम्लवर्धमाननामकं महातपश्चरणम्, आचाम्लं वर्धमानं यत्र तपश्चरणे तदाचाम्लवर्धमानम्, अयमर्थः–प्रथमं तावदाचाम्लं क्रियते तत उपवासः, ततश्च द्वे आचाम्ले पुनरुपवासः, त्रीण्याचाम्लानि पुनरुपवासः, चत्वार्याचाम्लानि पुनरुपवासः, पञ्च आचाम्लानि पुनरुपवासः, एवमुपवासान्तरितान्येकोत्तरवृद्ध्या तावदाचाम्लानि वर्धनीयानि यावत्पर्यन्ते शतमाचाम्लानां कृत्वा एकमुपवासं करोतीति । इह च शतं चतुर्थानां तथा पञ्चाशदधिकानि पञ्च सहस्राण्याचाम्लानां भवन्ति । उभयमीलने वर्षाणि चतुर्दश मासास्त्रयो दिनानि च विंशतिरिति ३१॥६४-६५॥

अथ गुणरत्नवत्सरं तपः प्राह-'गुणे'त्यादिगाथाचतुष्टयम्, गुणानां [1]निर्जरादीनां निर्जराविशेषाणां रचनं करणं वत्सरेण सत्रिभागवर्षेण यस्मिंस्तपसि तद्गुणरचनवत्सरम्; अथवा गुणा एव रत्नानि यत्र स तथा गुणरत्नो वत्सरो यत्र तद्गुणरत्नवत्सरं तपः, एतस्मिन् गुणरत्नवत्सरे तपश्चरणे षोडश मासा भवन्ति तत्र प्रथमे मासे एकान्तरा उपवासाः कर्तव्याः, तथा दिवसे निरन्तरमुत्कटुकासनेन स्थातव्यं निशायां पुनर्नित्यमेव वीरासनकेन-वीरासनोपविष्टेन, तथा निशि भवितव्यमप्रावृतेन-निरावरणेनेत्यर्थः, एवं द्वितीयादिष्वपि मासेष्वेकोत्तरया वृद्ध्या तावदुपवासाः कर्तव्या यावत्षोडशे मासे षोडशोपवासा भवन्ति । अयमर्थः--प्रथमे मासे पारणकदिनान्तरित एकैक उपवासः कर्तव्यः, द्वितीये मासे द्वौ द्वावुपवासौ, तृतीये मासे त्रयस्त्रय उपवासाः, चतुर्थे चत्वारो यावत् [2]षोडशे मासे षोडश षोडश उपवासा भवन्ति । अत्र च त्रयोदश मासाः सप्तदश दिनाधिकास्तपःकालः त्रिसप्ततिश्च दिनानि पारणककालः । एवं चायम्- प्र. आ. ४४२

'पन्नरसवीसं चउवीस चेव चउवीस पन्नवीसा य । चउवीस एक्कवीसा चउवीसा सत्तवीसा य ॥१॥
तीसा तेत्तीसावि य चउवीस छवीस अट्ठवीसा य । तीसा बत्तीसावि य सोलसमासेसु तवदिवसा ॥२॥
पन्नरस दसऽट्ठ छप्पञ्च चउर पञ्चसु य तिन्नि तिन्नि त्ति । पञ्चसु दो दो य तहा सोलसमासेसु पारणगा ॥३॥'

इह च यत्र मासेऽष्टमादितपसो यावन्ति दिनानि न पूर्यन्ते तावन्त्यग्रेतनमासादाकृष्य पूरणीयानि अधिकानि चाग्रेतनमासे क्षेप्तव्यानि, तथा यत्प्रथमेत्यादिगाथायामुत्कटुकासनाद्यनुष्ठानं पूर्वमुक्तं तत्सम-

१ निर्जरादी(मला)ना-मु. ॥ २ षोडशमासे-मु. ॥

ग्रेष्वपि मासेसु करणीयम्, सर्वसङ्ख्यया चास्मिंस्तपसि विंशत्यूनानि पञ्च शतानि दिनानां भवन्तीति ॥६६॥६७॥६८॥६९॥

तदेवमपारः प्रवचनपारावारः तत्प्रतिपादिततपसां च प्रभूताः कर्तार इत्यतोऽनेकानि स्कन्दकप्रमुखपुरुषविशेषैराचीर्णानि तपांसि श्रूयन्ते कियन्तीह वैविक्त्येन वक्तुं शक्यन्ते ?, दिङ्मात्रं च किञ्चिदेतदुपदर्शितम्, ततः शेषाणां तपोविशेषाणामतिदेशमाह–'तहे' त्यादि, तथाशब्दः प्रागुक्तापेक्षया समुच्चये, अङ्गानाम्–आचारादीनाम्, उपाङ्गानाम्–औपपातिकादीनाम्, चैत्यवन्दनाया- ऐर्यापथिकी-शक्रस्तव-स्थापनार्हत्स्तव-नामस्तव-श्रुतस्तव-सिद्धस्तवस्वरूपायाः पंचमङ्गलमहाश्रुतस्कन्धस्य आदिशब्दात्प्रकीर्णकानां च देवेन्द्रस्तवादीनामुपधानानि–तपोविशेषरूपाणि येन विधिना भणितानि तथैव समयात्–सिद्धान्ताद् भवन्ति ज्ञेयानि । इह च साम्प्रतं मुग्धलोकहिताय बहुश्रुतसूरिपरम्पराप्रवर्तितान्यपराण्यपरिमितानि तपांसि प्रचरन्ति दृश्यन्ते, परं नेह तानि प्रतन्यन्ते, ग्रन्थप्रपञ्चप्रसङ्गात् । [1]तदर्थिना चास्मदुपरचिता सामाचारी निरीक्षणीया ॥७०॥२७१॥

इदानीं 'पायालकलस' त्ति द्विसप्तत्युत्तरद्विशततमं द्वारमाह–

[2]पणनउइ सहस्साइं ओगाहित्ता चउद्दिसिं लवणं ।
चउरोऽलिंजरसंठाणसंठिया होंति पायाला ॥७१॥

[1] आचारदिनकरः (पत्र ३३४–३७३) द्रष्टव्यः ॥ [2] तुला–स्थानाङ्गसूत्रवृत्तिः-४-२-३०४ प. २२८ ॥

वलयामुह [1]केयूरे जुयगे तह ईसरे य बोद्धव्वे ।
सव्ववइरामयाणं कुड्डा एएसि दससइया ॥७२॥
जोयणसहस्सदसगं मूले उवरिं च हौंति विच्छिन्ना ।
मज्झे य सयसहस्सं तत्तियमित्तं च ओगाढा ॥७३॥
पलिओवम [2]ट्ठिईया एएसिं अहिवई सुरा इणमो ।
काले य महाकाले वेलंब पभंजणे चेव ॥७४॥
अन्नेवि य पायाला खुड्डालिंजरगसंठिया लवणे ।
अट्ठ सया चुलसीया सत्त सहस्सा य [3]सव्वेसिं ॥७५॥
जोयणसयविच्छिन्ना मूलुवरिं दस सयाणि मज्झंमि ।
ओगाढा य सहस्सं दसजोयणिया य सिं कुड्डा ॥७६॥
पायालाण विभागा सव्वाणवि तिन्नि तिन्नि बोद्धव्वा ।
हिट्ठिमभागे वाऊ मज्झे वाऊ य उदगं च ॥७७॥
उवरिं उ दगं भणियं पढमगबीएसु वाउसंखुभिओ ।
[4]उड्ढं वामे उदगं परिवड्ढइ जलनिही खुभिओ ॥७८॥

१ केऊए जुयग-इति स्थानाङ्गसूत्रवृत्तौ ॥ २ ०ट्ठियाए-ता. ॥ ३ सव्वेवि-इति स्थानाङ्गवृत्तौ ॥
४ वामे उदगं तेण य-इति स्थानाङ्गवृत्तौ ॥

परिसंठिअंमि पवणे पुणरवि उदगं तमेव संठाणं ।
वड्ढेइ तेण उदही परिहायइऽणुक्कमेणेव ॥७९॥

जम्बूद्वीपमध्य मध्यासीनस्य मन्दराचलस्य चतसृषु पूर्वादिषु दिक्षु प्रत्येकं पञ्चनवतियोजनसहस्राणि लवणार्णवमवगाह्य अत्रान्तरे चतसृषु दिक्षु प्रत्येकमेकैकभावेन चत्वारः पातालाः--'पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्' पातालकलशाः, ते च किंसंस्थाना इत्याह—अलिञ्जरं—महापिहिडं तत्संस्थानसंस्थितास्तदाकारा इत्यर्थः ॥७१॥

अथ तेषां नामादिकमाह—'वलये'त्यादिगाथात्रयम् , मेरोः पूर्वस्यां दिशि पातालकलशो वडवामुखो वडवामुखनामा वलयामुखो वा, दक्षिणस्यां केयूपः केयूरो वा, समवायाङ्गटीकायां तु केतुकः । अपरस्यां तु यूपः, उत्तरस्यामीश्वरः । एते चत्वारोऽपि सर्ववज्रमयाः—सर्वात्मना वज्रमयाः, तेषां च—सर्ववज्रमयानां कुड्यानि-ठिक्करिकाः सर्वत्र बाहल्यमधिकृत्य दश शतकानि, दश योजनशतप्रमाणानि ॥७२॥

चत्वारोऽपि ते महापातालकलशा मूले—बुध्ने, उपरि—मुखे च प्रत्येकं योजनसहस्रदशकं—दश योजनसहस्राणि विस्तीर्णा भवन्ति । मध्ये—उदरप्रदेशे पुनः शतसहस्रं—योजनलक्षं विस्तीर्णाः । तथा तावन्मात्रं—योजनलक्षमात्रमवगाढा—भूमौ प्रविष्टाः । इदमुक्तं भवति—चत्वारोऽप्येते पातालकलशा एकैक योजनलक्षमुद्वेधेन, तथा मूले दश योजनसहस्राणि विष्कम्भेन, तत ऊर्ध्वमेकप्रादेशिक्याः श्रेण्या विष्कम्भतः प्रवर्धमानाः २ मध्ये एकैकं योजनलक्षं विष्कम्भेन, तत ऊर्ध्वं भूयोऽप्येकप्रादेशिक्या श्रेण्या

विष्कम्भतो हीयमाना हीयमाना उपरि-मुखमूले दश योजनसहस्राणि विष्कम्भत इति ॥७३॥

साम्प्रतमेतेषां पातालकलशानामधिपतीन् देवानाह-एतेषां पातालकलशानामधिपतयः सुराः पल्योपमस्थितयो महर्धिका इमे-एवंनामानः । तद्यथा-वडवामुखे कालः, केयूरे महाकालः, यूपे वेलम्बः, ईश्वरे प्रभञ्जन इति ॥७४॥

सम्प्रति लघुपातालकलशवक्तव्यतामाह-'अन्नेऽवी'त्यादिगाथाद्वयम्, लवणे-लवणसमुद्रे तेषां पातालकलशानामन्तरेषु तत्र तत्र प्रदेशेषु बहवोऽन्येऽपि क्षुल्ला-लघवः पातालाः--पातालकलशाः, क्षुल्लालिञ्ज[1]संस्थिता-'लघुपिहडकसंस्थानसंस्थिताः सन्ति । तत्र सर्वेषामपि सर्वसङ्ख्या सप्त सहस्राण्यष्टौ शतानि चतुरशीत्युत्तराणि । एकैकस्य महापातालकलशस्य परिवारे एकसप्तत्यधिकैकोनविंशतिशतसङ्ख्यानां लघुपातालकलशानां भावादिति ॥७५॥

एते च लघुपातालकलशाः प्रत्येकमर्धपल्योपमस्थितिकैर्देवैः परिगृहीताः । सम्प्रत्येतेषां प्रमाणमाह-सर्वेऽपि लघुपातालकलशा मूले-बुध्ने उपरि-मुखे प्रत्येकं योजनशतं विस्तीर्णाः । मध्ये-मध्यभागे जठरप्रदेशे दश शतानि-दश योजनशतानि विस्तीर्णाः, तथाऽवगाढा-भूमौ प्रविष्टाः सहस्रं-योजनसहस्रम्, तथा 'सि' ति एतेषां लघुपातालकलशानां कुड्यानि-ठिक्करिका बाहल्यमधिकृत्य दशयोजनकानि-दशयोजनप्रमाणानि ॥७६॥

सम्प्रति गुरूणां लघूनां च पातालकलशानां वाय्वादिविभागमाह-'पायालाणे' त्यादिगाथात्रयम्,

---

१ लघुपिहडक० सि. ॥

सर्वेषामपि गुरूणां लघूनां पातालकलशानां त्रयस्त्रयो विभागा भवन्ति। तद्यथा–अधस्तनो मध्यम उपरितनश्च, तत्र महापातालकलशानामेकैकस्त्रिभागस्त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि योजनशतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि त्रिभागश्च योजनस्य। लघुपातालकलशानां तु त्रीणि योजनशतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि त्रिभागश्च योजनस्य। एतेषु च सर्वेषु महापातालकलशेषु लघुपातालकलशेषु च मध्ये प्रत्येकमधस्तने त्रिभागे वायुः, मध्यमे त्रिभागे वायुरुदकं च, उपरितने त्रिभागे उदकं भणितं तीर्थकर-गणधरैः।

तत्र तथाजगत्स्वाभाव्यादेव समकालं प्रतिनियते कालविभागे सर्वेष्वपि पातालकलशेषु प्रत्येकं प्रथमे द्वितीये च त्रिभागे बहवोऽन्येऽन्ये उदारा वायवः संमूर्च्छन्ति, तदनन्तरं क्षुभ्यन्ते, जातमहाद्भुतशक्तिकाः संत ऊर्ध्वमितस्ततो विप्रसरन्तीत्यर्थः, क्षणेन च तथा परिणमन्ति यथा तैरुदकमतितरामूर्ध्वमुच्छाल्यते, ततः प्रथमद्वितीयेषु त्रिभागेषु वायुः संक्षुब्धः सन्नूर्ध्वमुदकं वमयति–निःसारयति। तेन चोर्ध्वं निःसार्यमाणेन जलनिधिः क्षुभितः सन परिवर्धते। परिसंस्थिते–उपशमं गते पुनः पवने पुनरप्युदकं तदेव संस्थानमाश्रयति। भूयोऽपि कलशेषु मध्ये प्रविशतीति भावः, तेन कारणेनानुक्रमेणैव परिहीयते। अहोरात्रमध्ये च द्विकृत्वः प्रतिनियते कालविभागे–पक्षमध्ये चतुर्दश्यादिषु तिथिष्वतिरेकेण ते वायवः क्षुभ्यन्ते। तेन प्रत्यहोरात्रं द्वौ वारौ पक्षमध्ये चतुर्दश्यादिषु तिथिषु वार्धिर्वर्धते हीयते चेति। एते च सर्वेऽपि गुरवो लघवश्च पाताल-कलशा लवणवारिनिधावेव विद्यन्ते, न पुनः [1]शेषसमुद्रेष्वपीति ॥७७॥७८॥७९॥२७२॥

इदानीम् 'आहारगस्सरूवं' ति त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

१ शेषसमुद्रेष्विति-मु. ॥

समओ जहन्नमंतरमुक्कोसेणं तु जाव छम्मासा ।
आहारसरीराणं[1] उक्कोसेणं नव सहस्सा ॥८०॥
चत्तारि य वाराओ चउदसपुव्वी करेइ आहारं ।
संसारम्मि वसंतो एगभवे दोन्नि वाराओ ॥८१॥
तित्थयररिद्धिसंदंसणत्थमत्थोवगहणहेउं वा ।
संसयवुच्छेयत्थं वा गमणं जिणपायमूलंमि ॥८२॥

चतुर्दशपूर्वधरैस्तथाविधप्रयोजनप्रसाधनाय विशिष्टलब्धिवशादाह्रियन्ते—निर्वर्त्यन्ते इत्याहारकाणि शरीराणि । 'कृद्बहुल' [ ] मिति वचनात्कर्मणि वुन् । यथा पादहारक इत्यत्र । तानि च वैक्रियशरीरापेक्षयाऽत्यन्तशुभानि स्वच्छस्फटिकशिलाशकलवदतिशुभ्रपुद्गलसमूहघटनात्मकानि पर्वतादिभिरप्यप्रतिहतानि । तत्रैतानि कदाचिल्लोके सर्वथा न भवन्त्येव, ततोऽभवनलक्षणमन्तरमेषाम्—आहारकशरीराणां जघन्यत एकः समयः, उत्कर्षतः षण्मासाः । उक्तं च—

प्र.आ.
४४४

√ "आहारगाइं लोए छम्मासा जा न होंतिवि कयाई । उक्कोसेणं नियमा एक्कं समयं जहन्नेणं ॥१॥"

यत्पुनर्जीवसमासादिषु—'आहारमिस्सजोगे वासपुहुत्तं' [गा. २६०] इत्यादिवचनत आहारकमिश्रस्य वर्षपृथक्त्वमन्तरमुक्तं तन्मतान्तरं संभाव्यते इति । यदापि भवन्ति तदापि जघन्यत एकं द्वे त्रीणि वा

१ ०ईं—ता. ॥
√ आहारकशरीराणि लोके षण्मासान् यावन्न भवन्त्यपि कदाचित । उत्कर्षेण नियमात् एकं समयं जघन्येन ॥१॥

उत्कर्षतः सहस्रनवकम् । अवगाहना चाहारकशरीरस्य जघन्यतोऽपि[1] देशोना—किञ्चिदूना रत्निः—हस्तः, तथाविधप्रयत्नभावतस्तथाऽऽरम्भकद्रव्यविशेषतश्च प्रारम्भसमयेऽपि तस्या एतावत्या एव भावात् । न त्वौदारिकादेरिवाङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रता प्रारम्भकाले इति भावः । उत्कर्षतः पुनः परिपूर्णा रत्निः । उक्तं च समवायाङ्गे—

"आहारगसरीरस्स जहन्नेणं देसूणी[2] रयणी, उक्कोसेणं पडिपुण्णा रयणी" [ ] ति ॥८०॥

साम्प्रतमेकजीवस्य सर्वभवेष्वेकभवे च कियन्त्याहारकशरीराणि भवन्तीत्येतत्प्रतिपादनायाह—'चत्तारी' त्यादि, चतुर्दशपूर्वधरः संसारे निवसन्नुत्कर्षतोऽपि वारचतुष्टयमेवाहारकशरीरं करोति । चतुर्थवेलायां कृते तद्भव एव मुक्त्यवाप्तेरिति भावः । एकस्मिन्स्तु भवे वारद्वयमेवेति ॥८१॥

अथ चतुर्दशपूर्वधरोऽपि किमर्थमाहारकशरीरमारचयति ?, उच्यते, तीर्थकरपादपीठोपकण्ठगमनाय, तदपि किंनिमित्तमित्यत आह—'तित्थयरे' त्यादि, तीर्थकरर्द्धिसंदर्शनार्थम् अर्थावग्रहणहेतोर्वा, यद्वा संशयव्यवच्छेदार्थं जिनपादमूले चतुर्दशपूर्वविदो गमनं भवति । इदमैदम्पर्यमत्र—सकलत्रैलोक्यातिशायिनीमष्टमहाप्रातिहार्यादिकामनुपमामार्हतीं समृद्धिमखिलामालोकयितुमुत्पन्नकुतूहलस्तथाविधान् वा नवनवार्थसार्थान् जिघृक्षुः अथवा कस्मिंश्चिदर्थेऽत्यन्तगहने संदिहानस्तदर्थविनिश्चितये कश्चिच्चतुर्दशपूर्वविद्विदेहादिक्षेत्रवर्तिवीतरागचरणकमलमूलमाहारकशरीरेण समुत्सर्पति । न खल्वौदारिकेण वपुषा शक्यते तत्र गन्तुम्,

१ ०ऽपि–मु. नास्ति ॥ २ ०णा-मु. ॥

तत्र च भगवन्तमालोकितसमस्तलोकालोकमालोक्य परिनिष्ठितप्रयोजनः पुनरागत्य तमेव देशं यत्र प्राग्गच्छन्नौदारिकमनाबाधबुद्ध्या न्यासकवन्निक्षिप्तं स्वप्रदेशजालावबद्धं तदवस्थमास्ते ततो याचितोपकरणवद्विमुच्याहारकमुपसंहृत्यात्मप्रदेशजालं द्रागौदारिकमेवानुप्रविशति । एष च प्रारम्भात्प्रभृति विमोचनावसानः सर्वोऽप्यन्तर्मुहूर्तपरिमाणः कालो भवतीति ॥८२॥२७३॥

साम्प्रतं 'देसा अणारिय' त्ति चतुःसप्तत्युत्तरद्विशततमं द्वारमाह—

सग जवण सबर बब्बर काय [1]मुरुंडोड्ड [2]गोड्ड पक्कणया ।
[3]अरबाग होण रोमय पारस खस खासिया चेव ॥८३॥
दुंबिलय [4]लउस बोक्कस [5]भिल्लंध पुलिंद कुंच [6]भमररुआ ।
कोवाय चीण चंचुय मालव दमिला कुलग्घा या ॥८४॥
केक्कय किराय हयमुह खरमुह गयतुरयमिंढयमुहा य ।
हयकन्ना गयकन्ना अन्नेऽवि अणारिया बहवे ॥८५॥
पावा य चंडकम्मा अणारिया निग्घिणा निरणुतावी ।
धम्मोत्ति अक्खराइं सुमिणेऽवि न नज्जए जाणं ॥८६॥

शकाः, यवनाः, शबराः, बर्बराः, कायाः, मुरुण्डाः, उड्डाः, गोड्डाः, [7]पक्कणगाः, अरबागाः, हूणाः,

१ मरुंडोड्ड ता. ॥ २ गोण- मु. ॥ गोड्ड- ता. सि. ॥ ३ अरवागा- सि. ॥ ४ वउस- ता. । लक्कुस-सि. ॥
५ भिलिंध-सि. R. ॥ ६ भमरमया कोवाय चीय-सि. R. ॥ ७ पक्कणका -सि. ॥

रोमकाः, पारसाः, खसाः, खासिकाः, [1]द्रुम्बिलकाः, लकुशाः, बोकशाः, भिल्लाः, अन्ध्राः, पुलिन्द्राः, कुञ्चाः, भ्रमररुचाः [2]कोपाकाः, चीनाः, चञ्चुकाः, मालवाः, द्रविडाः, कुलार्घाः, केकयाः, किराताः, हयमुखाः, खरमुखाः, गजमुखाः, तुरङ्गमुखाः, मिण्ढकमुखाः, हयकर्णाः, गजकर्णाश्चेत्येते देशा अनार्याः, [3]आराद्-दूरेण हेयधर्मेभ्यो याताः-प्राप्ता उपादेयधर्मैरित्यार्याः । 'पृषोदरादय' [सिद्धहेम० ३/२/१५५] इति रूपनिष्पत्तिः, तद्विपरीता अनार्याः, शिष्टासंमतनिखिलव्यवहारा इत्यर्थः । न केवलमेत एव, किंत्वपरेऽप्येवंप्रकारा बहवोऽनार्या देशाः **प्रश्नव्याकरणा**दिग्रन्थोक्ता विज्ञेयाः ॥८३॥८४॥८५॥

अथ सामान्यतोऽनार्यदेशस्वरूपमाह-'पावे'त्यादि, एते सर्वेऽप्यनार्यदेशाः 'पापाः' पापम्-अपुण्यप्रकृतिरूपम् , तद्बन्धनिबन्धनत्वात्पापाः, तथा चण्डं-कोपोत्कटतया रौद्राभिधानरसविशेषप्रवर्तितत्वादतिरौद्रं कर्म-समाचरणं येषां ते चण्डकर्माणः । तथा न विद्यते घृणा-पापजुगुप्सालक्षणा[4] येषां ते निर्घृणाः, तथा निरनुतापिनः-समासेवितेऽप्यकृत्ये मनागपि न पश्चात्तापभाज इति भावः, किंच-येषु धर्म इत्यक्षराणि स्वप्नेऽपि सर्वथा न ज्ञायन्ते[5] , केवलमपेयपाना-ऽभक्ष्यभक्षणा-ऽगम्यगमनादिनिरताः शास्त्राद्यप्रतीतवेषभाषादिसमाचाराः सर्वेऽप्यमी अनार्यदेशा इति[6] ॥८६-२७४॥

---

१ द्रुम्बिलाः सि. R ॥ २ कोपकाः-मु. ॥ ३ तुला-प्रज्ञापनासूत्र... ...-सि. R ॥ ५ ते-सि० R ॥
६ तुला-म्लेच्छास्तु शाका यवनाः शवरा बर्बरा अपि । बृहत्कल्पभाष्यवृत्तौ प. १०५॥ ...: पक्वणका अपि ॥६७९॥
अरपाकाश्च हूणाश्च रोमकाः पारसा अपि । खसाः कुशावर्ता... । कुशावर्तास्तलकाश्च लकुसा अपि ॥६८०॥
मिल्ला अन्धा बुक्कसाश्च पुलिन्दाः कौञ्चका अपि । भ्रमररूना... , चीन-चञ्चुक-मालवाः ॥६८१॥

'सम्प्रति 'आयरियदेस' त्ति पञ्चसप्तत्यधि[लाक]शति । एष च प्रारम्भा

रायगिह मगह १ चंपा अंगा २ ... । य ३ ।
कंचणपुरं कलिंगा ४ वणारसी चेव कासी य ५ ॥८७॥

द्रविडाश्च कुलक्षाश्च, किराताः कैकया अपि । हयमुखा गजमुखास्तुरगा-ऽजमुखा अपि ॥६८२॥
हयकर्णा गजकर्णा अनार्या अपरेऽपि हि । मर्त्या येषु न जानन्ति धर्म इत्यक्षराण्यपि ॥६८३॥
॥ इति त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरिते द्वितीये पर्वणि तृतीयसर्गे ॥

१ तुला–"द्विधाऽऽर्य-म्लेच्छभेदात् ते, तत्रार्याः षड्विधा इह । क्षेत्र-जाति-कुल-कर्म-शिल्प-भाषाविभेदतः ॥६६४॥
क्षेत्रार्याः पञ्चदशसु जायन्ते कर्मभूमिषु । तत्रेह भारते सार्धपञ्चविंशतिदेशजाः ॥६६५॥
ते चार्यदेशा नगरैरुपलक्ष्या इमे यथा । राजगृहेण मगधा अङ्गदेशस्तु चम्पया ॥६६६॥
वङ्गा पुनस्ताम्रलिप्त्या वाराणस्या च काशयः । काञ्चनपुर्या कलिङ्गाः साकेतेन च कोसलाः ॥६६७॥
कुरवो गजपुरेण शौर्येण च कुशार्तकाः । काम्पील्येन च पञ्चाला, अहिच्छत्रेण जाङ्गलाः ॥६६८॥
विदेहास्तु मिथिलया, द्वारवत्या सुराष्ट्रकाः । वत्साश्च कौशाम्बीपुर्या, मलया भद्रिलेन तु ॥६६९॥
नान्दीपुरेण सन्दर्भा वरुणाः पुनरच्छया । वैराटेन पुनर्मत्स्याः, शुक्तिमत्या च चेदयः ॥६७०॥
दशार्णा मृत्तिकावत्या, वीतभयेन सिन्धवः । सौवीरास्तु मथुरया, सूरसेनास्तु पापया ॥६७१॥
मङ्गया मासपुरीवर्ताः, श्रावस्त्या च कुणालकाः । कोटीवर्षेण लाटाश्च श्वेतव्या केतकार्धकम् ॥६७२॥
आर्यदेशा अमी एभिर्नगरैरुपलक्षिताः । तीर्थकृच्चक्रभृत–कृष्ण–बलानां जन्म येषु हि ॥६७३॥
॥ इति त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरिते द्वितीयपर्वणि तृतीयसर्गे ॥

साकेयं कोसला[1] ६ गयपुरं च कुरु ७ सोरियं कुसट्टा य ८।
कंपिल्लं पंचाला ९ अहिछत्ता जंगला चेव १० ॥८८॥
बारवई य सुरट्ठा ११ [2]मिहिल विदेहा य १२ वत्थ कोसंबी १३।
नंदिपुरं संडिल्ला १४ भद्दिलपुरमेव मलया य १५ ॥८९॥
वइराड मच्छ १६ वरुणा अच्छा १७ तह मत्तियावइ दसन्ना १८।
सोत्तीमई य चेई १९ वीयभयं सिंधुसोवीरा २० ॥९०॥
महुरा य सूरसेणा २१ पावा भंगी य २२ मासपुरी वट्टा २३।
सावत्थी य कुणाला २४ कोडीवरिसं च लाढा य २५ ॥९१॥
सेयवियावि य नयरी केयइअद्धं २५ च आरियं भणियं।
जत्थुप्पत्ति जिणाणं चक्कीणं रामकण्हाणं ॥९२॥

[प्रज्ञापनापद १ सूत्र १०२, गा. ११२-७]

राजगृहं नगरं [3]मगधदेशः, चम्पानगरी अङ्गदेशः, तथा तामलिप्ती नगरी वङ्गा जनपदः, काञ्चनपुरं नगरं कलिङ्गदेशः, वाणारसी नगरी काशयो देशाः, साकेतं नगरं कोशला जनपदः, गजपुरं नगरं कुरवो देशः, [4]सौरिकं नगरं [5]कुशार्ता देशः, काम्पिल्यं नगरं [6]पाञ्चाला देशः, अहिच्छत्रा नगरी [7]जङ्गला

१ ०ल्ला-सि R ॥ २ ०विदेह महिला य वच्छ-इति बृहत्कल्पभाष्यवृत्तौ प. १०५॥ ३ मगधो-मु. । मगध-सि. । मगधा-जे. ॥ ४ शौर्यपुर-इति लोकप्रकाशे ७।३१ । ५ कुशार्तो-मु. । कुशावर्तेषु-इति प्रज्ञापनामलयवृत्तौ प. ५० ॥ ६ पाञ्चालो-मु. ॥ ७ जङ्गलो-मु. ॥

देशः, द्वारवती नगरी [1]सुराष्ट्रा देशः, मिथिला नगरी विदेहा जनपदः, वत्सा देशः कौशाम्बी नगरी, नन्दिपुरं नगरं शण्डिल्यो शाण्डिल्या वा देशः, भद्दिलपुरं नगरं मलया देशः, वैराटो देशो वत्सा राजधानी; [2]अन्ये तु वत्सा देशो वैराटं पुरं नगरमित्याहुः । वरुणानगरं अच्छादेशः, अन्ये तु वरुणेषु [3]अच्छापुरीत्याहुः । तथा मृत्तिकावती नगरी [4]दशार्णा देशः, शुक्तिमती नगरी चेदयो देशः, वीतभयं नगरं सिन्धुसौवीरा जनपदः, मथुरा नगरी सूरसेनाख्यो देशः, पापा नगरी भङ्गयो देशः, मासपुरी नगरी वर्तो देशः, अन्ये त्वाहुः-चेदिषु सौक्तिकावती, वीतभयं सिन्धुषु, सौवीरेषु मथुरा, सूरसेनेषु पापाः, भङ्गिषु मासपुरीवट्टेति, [5]तदतिव्यवहृतम् , परं बहुश्रुतसंप्रदायः प्रमाणम् , तथा श्रावस्ती नगरी कुणाला देशः, कोटीवर्षं नगरं [6]लाढा देशः, श्वेतम्बिका नगरी केकयजनपदस्यार्धम् ।

एतावदर्धषड्विंशतिजनपदात्मकं क्षेत्रमार्यं भणितम् । कुत इत्याह-'जत्थुप्पत्ती' त्यादि; यस्मादत्र एतेष्वर्धषड्विंशतिमङ्ख्येषु जनपदेषूत्पत्तिर्जिनानां-तीर्थकराणाम्, चक्रिणां-चक्रवर्तिनाम् ; रामाणां-बलदेवानाम् कृष्णानां-वासुदेवानां [7]च तत आर्यम् , एतेन क्षेत्रस्यार्यानार्यव्यवस्था दर्शिता-यत्र तीर्थकरादीनामुत्पत्तिस्तदार्यं शेषमनार्यमिति । आवश्यकचूर्णौ पुनरित्थमार्यानार्यव्यवस्था उक्ता-

"जेसु केसुवि पएसेसु मिहुणगादिपइट्ठिएसु हक्काराइया नीई परूढा ते आयरिया, सेसा अणायरिया"

[1] सुराष्ट्रो-मु. ॥ २ तुला-प्रज्ञापनामलय. वृत्तिः प. ५८ ॥ ३ अच्छ० मु. ॥ ४ दशार्णो-मु. । ५ तदत्र बहुश्रुत० सि. ॥ ६ लाटापु-इति प्रज्ञापनामलयवृत्तौ प. ५८ ॥ ७ च-सि. नास्ति ॥

इति, एते च प्रत्यासत्त्या भरतक्षेत्रवर्तिन एवार्या उक्ताः, उपलक्षणत्वाच्चैषामन्येऽपि महाविदेहान्तर्वर्ति-विजयमध्यमखण्डादिष्वमी बहवो द्रष्टव्या इति ॥८७-९२॥२७५॥

इदानीं 'सिद्धेगत्तीसगुण' त्ति षट्सप्तत्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

[1]नव दरिसणंमि ९ चत्तारि आउए ४ पंच आइमे अंते ५ ।
सेसे दो दो भेया ८ खीणभिलावेण इगतीसं ॥९३।
पडिसेहण संठाणे य वन्नगंधरसफासवेए य ।
पण ५ पण ५ दु २ पण ५ ट्ठ ८ तिहा एगतीसमकाय १ ऽसंग २ ऽरुहा ३ ॥९४॥

दर्शने—दर्शनावरणीये कर्मणि चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-केवलदर्शनावरण-निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्धिलक्षणा नव भेदाः । तथाऽऽयुषि नारकतिर्यग्नरामरायुर्लक्षणाश्चत्वारः, तथाऽऽदिमे—ज्ञानावरणीये मति—श्रुता—ऽवधि—मनःपर्यवकेवल[2]ज्ञानावरणस्वरूपाः पञ्च, अन्त्येऽप्यन्तरायाख्ये कर्मणि दान लाभ-भोगोपभोग-वीर्यान्तरायरूपाः पञ्चैव भेदाः । शेषे च कर्मचतुष्के प्रत्येकं द्वौ द्वौ भेदौ तत्र वेदनीये साताऽसातात्मकौ, मोहनीये दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीयलक्षणौ, नामकर्मणि शुभनामा-ऽशुभनामकौ गोत्रे चोच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्राभिधौ भेदौ भवत इति । तदेवमेते सर्वेऽपिभेदाः क्षीणाभिलापेन—क्षीणशब्दविशेषितत्वेन प्रोच्चार्यमाणा एकत्रिंशत्सङ्ख्याः सिद्धानां गुणा भवन्ति । क्षीणचक्षुर्दर्शनावरण-इत्यादिकश्चाभिलापः कार्यः ॥९३॥

१ तुला—आवश्यकहारिभद्री वृत्तिः प. ६६ ॥ २ ज्ञानावरणीय स्वरूपाः—मु. ॥

अथवा प्रकारान्तरेणैकत्रिंशत्सिद्धगुणानाह-'पडिसेहे'-'त्यादि, प्रतिषेधेन-निषेधेन-संस्थान-वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शवेदानां क्रमेण पञ्च-पञ्च-द्वि-पञ्चाऽष्ट-त्रिभेदानां तथा अकाया-ऽसङ्गारुहपदत्रितयेन चैकत्रिंशत्सिद्धगुणा भवन्ति । तत्र संतिष्ठन्ते एभिरिति संस्थानानि-आकाराः; तानि च पञ्च परिमण्डल-वृत्त-त्र्यस्र-चतुरस्रा-ऽऽयतभेदात्, तत्र परिमण्डलं संस्थानं बहिर्वृत्तावस्थितप्रदेशजनितमन्तःशुषिरं यथा वलयस्य तदेवान्तः पूर्णं वृत्तं यथा दर्पणस्य त्र्यस्रं-त्रिकोणं यथा शृङ्गाटकस्य चतुरस्रं-चतुष्कोणं यथा स्त-म्भाधारकुम्भिकायाः, आयतं-दीर्घं यथा दण्डस्य । घन-प्रतरादिप्रतिभेदव्याख्या च 'बृहदुत्तराध्ययन-टीकादिभ्योऽवसेया । तथा वर्णः पञ्च श्वेत-पीत-रक्त-नील कालभेदात् । गन्धो द्विधा-सुरभीतर-भेदात् । रसाः पञ्च तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदात् । स्पर्शा अष्टौ गुरु लघु-मृदु-कर्कश-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-भेदात् । वेदास्त्रयः ²स्त्री-पुंनपुंसकभेदात् । तथा सिद्धा अकाया-औदारिकादिकायपञ्चकविप्रमुक्ताः, तेषां सिद्धत्वप्रथमसमय एव सर्वात्मना त्यक्तत्वात् । तथा असङ्गा-बाह्याभ्यन्तरसङ्गरहितत्वात् । तथा अरुहा-न रोहन्ति भूयः संसारे समुत्पद्यन्ते इत्यरुहाः । संसारकारणानां कर्मणां निर्मूलकाषंकषितत्वात् । उक्तं च—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥१॥"
[तत्त्वार्थे अप. कारिका ८]

तदेवमष्टाविंशतिसङ्ख्यानां संस्थानादीनां निषेधादकायत्वासङ्गत्वारुहत्वविधानाच्च सिद्धानामेकत्रिंशद्गुणा भवन्ति । संस्थानाद्यभावाकायत्वादिसद्भावौ च सिद्धानां सुप्रसिद्धावेव, तथा चाचाराङ्गे ॥६७०॥

---

१ अध्ययन १ निर्युक्तिगाथा ३८ व ३९ ॥ २ पुंस्त्री नपुंसक० सि. ॥

[1]"से न दीहे न वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किले सुब्भिगंधे न दुब्भिगंधे न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्खडे न मउए न गरुए न लहुए न न सीए न उण्हे न निद्धे न लुक्खे न काए न संगे न रुहे न इत्थीए न पुरिसे न नपुंसे" [अ. ५] इत्यादि ।

एतच्च सिद्धगुणप्रतिपादकद्वारं प्रकृष्टमङ्गलभूतं शास्त्रस्य शिष्य-प्रशिष्यादिवंशगतत्वेनाव्यवच्छित्तिर्भूयादिति अन्तमङ्गलत्वेन पर्यन्ते सूत्रकारेणोपन्यस्तमिति ॥१३-१४॥२७६॥

तदेवं व्याख्यातानि षटसप्तत्यधिकद्विशतसङ्ख्यानि द्वाराणि, तद्व्याख्यानाच्च समर्थितः समग्रोऽप्ययं ग्रन्थः ॥

सांप्रतं प्रस्तुतप्रकरणकर्ता निजान्वयप्रकटनपूर्वकं स्वकीयं नामप्रदर्शयन्नेतत्प्रकरणे कारणमात्मनोऽनुद्धतत्वं च प्रतिपादयितुमाह—

धम्मघकद्धरणमहावराहजिणचंदसूरिसिस्साणं ।
सिरिअम्मएवसूरीण पायपंकयपराएहिं ॥९५॥
सिरिविजयसेणगणहरकणिट्ठजसदेवसूरिजिट्ठेहिं ।
[3]सिरिनेमिचंदसूरिहिं सविणयं सिस्सभणिएहिं ॥९६॥

---

१ तुला–आव. हारि. प. ६६३ ॥ २ धम्मधुरधरण० मु. । धम्मधरधरण-सि. । धम्मधकद्धरण० ता. ॥
३ सूरिनेमि. मु. ॥

समयरयणायराओ [1]रयणाइं पिव [2]सयत्थदाराइं ।
निउणनिहालणपुव्वं गहिउं संजत्तिएहिं व ॥९७॥
पवयणसारुद्धारो रइओ सपरावबोहकज्जंमि ।
जंकिंचि इह अजुत्तं बहुस्सुआ तं विसोहंतु ॥९८॥ [3]जुम्मं ।

धर्मः–सर्वज्ञप्रणीतः स एव जीवादिपदार्थाधारत्वेन धरा–पृथिवी तस्या यदुद्धरणं–[4]स्वरूपभ्रंशरक्षणाद्यथावस्थिततत्वेनावस्थापनं तद्विषये महावराहा–आदिवराहा ये श्री **जिनचन्द्रसूरयस्तच्छिष्याणां** श्रीआम्रदेवसूरीणां पादपङ्कजपरागैः–क्रमकमलकिञ्जल्कभूतैः **श्रीमद्विजयसेनगणधरकनिष्ठैर्यशोदेवसूरीणां** च ज्येष्ठैः **श्रीनेमिचन्द्रसूरिभिः** सविनयं शिष्यभणितैः सांयात्रिकैरिव–प्रावहणिकैरिव समयरत्नाकरात–सिद्धान्तसमुद्राद्रत्नानीव सदर्थानि–शोभनाभिधेयानि षट्सप्तत्युत्तरद्विशतसङ्ख्यानि द्वाराणि निपुणनिभालनपूर्वं गृहीत्वा **प्रवचनसारोद्धारो** नाम ग्रन्थः स्वपरावबोधकार्यनिमित्तं रचितो–निर्मितः, यच्चेह किञ्चिदयुक्तमुक्तं तद्बहुश्रुता विशोधयन्तु ॥ इह यद्यपि यद्भवितव्यं तदेव भवति तथापि शुभाशयफलत्वाच्छोभनार्थेष्वाशंसा विधेयेति दर्शनार्थमाशंसां कुर्वन्नाह—

प्र. आ.
४४८

जा विजयइ भुवणत्तयमेयं रविससिसुमेरुगिरिजुत्तं ।
पवयणसारुद्धारो ता नंदउ [5]बुह पढिज्जंतो ॥१५९९॥

---

१ रयणाणं- मु. । रयणाइं-जे. ता. सि. ॥ २ समत्थदाराइ-मु. । सयत्थदाराइं–ता. जे. सि. R ॥
३ प्रवचनसारोद्धारः समाप्तः । छ । १६०६-ता. ॥ ४ स्वरूपभ्रंशलक्षण० सि. ॥ ५ बहु-मु. । बुह-जे. R ॥

यावदेतद्विजयते भुवनत्रयं–स्वर्ग-मर्त्य-पाताललक्षणम् , रवि-शशि-सुमेरुगिरियुक्तं–दिनकरतुहिनकरसुरगिरिपरिगतं तावदयं **प्रवचनसारोद्धारग्रन्थो** बुधैः–तत्त्वावबोधबन्धुरबुद्धिभिः पठ्यमानो नन्दतु–शिष्यप्रशिष्यपरम्पराप्रचारितरूपां समृद्धिमासादयतु ॥१५९९॥ (ग्रन्थाग्रं १८०००) इति श्री**सिद्धसेनसूरिविरचिता प्रवचनसारोद्धारवृत्तिः समाप्ता** ॥

सिद्धान्तादिविचित्रशास्त्रनिकरव्यालोकनेन क्वचित् , क्वाप्यात्मीगुरूपदेशवशतः स्वप्रज्ञया च क्वचित् ।
ग्रन्थेऽस्मिन् गहनेऽपि शिष्यनिवहैरत्यर्थमभ्यर्थितस्तत्त्वज्ञानविकाशिनीमहमिमां वृत्तिं सुबोधां व्यधाम् ॥१॥
मेधामन्दतया चलाचलतया चित्तस्य शिष्यावलीशास्त्रार्थप्रतिपादनादिविषयव्याक्षेपभूयस्तया ।
यत्सिद्धान्तविरुद्धमत्र किमपि ग्रन्थे निबद्धं मया, तद् भूतावहितैः प्रपञ्चितहितैः शोध्यं सुधीभिः स्वयम् ॥२॥
श्री चन्द्रगच्छगगने प्रकटितमुनिमण्डलप्रभाविभवः । उदगान्नवीनमहिमा श्री**मदभयदेवसूरि**रविः ॥३॥
तार्किकागस्त्यविस्तारिमत्प्रज्ञाचुलुकैश्चिरम् । वर्धते पीयमानोऽपि येषां **वादमहार्णवः** ॥४॥
तदनु **धनेश्वरसूरि**र्जज्ञे यः प्राप पुण्डरिकाख्यः । निर्मथ्य वादजलधिं जयश्रियं **मुञ्जनृपपुरतः** ॥५॥
भास्वानभूत्नवीनः श्री **मदजितसिंहसूरि**रथ यस्य । तपसोल्लासितमहिमा ज्ञानोद्योतः क्वनः स्फुरितः ? ॥६॥
श्री **वर्धमानसूरि**स्ततः परं गुणनिधानमजनिष्ट । अतनिष्ट सोममूर्त्तेरपि यस्य सदा कलाविभवः ॥७॥
अथ **देवचन्द्रसूरि** श्रीमान् गोभिर्जगज्जनं धिन्वन् । रजनीजानिरिवाजनि नास्पृश्यत यः परं तमसा ॥८॥
श्रीचन्द्रप्रभमुनिपतिरवति स्व ततः स्वगच्छमच्छमनाः । अचलेन येन महता सुचिरं चक्रे क्षमोद्धरणम् ॥९॥

अथ मद्रप्रभुवोऽभूवन् श्रीमद्भेश्वरसूरयः । ये दधुर्विधुतारीणि तपांसि [1]च यशांसि च ॥१०॥
शिष्यास्तेषामभवन् श्रीमदजितसिंहसूरयः शमिनः । भ्रमरहितैः कुसुमैरिव शिरसि सदा यैः स्थितं गुणिनाम् ॥११॥
श्री [2]देवप्रभसूरिप्रभवोऽभूवन्मथोन्मथितमोहाः । सूरिधुरेखा येषामाद्यैव बभूव भूवलये ॥१२॥
अप्रमेयप्रमेयोर्मिनिर्माणेऽर्णवसन्निभाः । यैः प्रमाणप्रकाशोऽयं, मथ्यते विबुधैर्ननु ॥१३॥
श्री श्रेयांसचरित्रादि प्रबन्धाञ्जनसञ्जिनी । यद्वाणी लास्यमुल्लास्य, कस्य नो मुदमादधे ? ॥१४॥
प्रज्ञावैभवजृम्भणादहरहर्दैवेज्यसम्प्रक्षमियैर्वाग्बक्ष विनेयवृन्दहृदयक्षेत्रान्तरुप्तं तथा ।
नित्याभ्यासघनाम्बुवृष्टिघटनादङ्कूरितं पूर्णतामायातं फलति स्म वादिविजयैर्दत्तप्रमोदं यथा ॥१५॥
नाप्लान्यंत कति स्मयोद्धुरधियो यद्गद्यगुम्फोर्मिभिः, यद्वाग्वैभवभङ्गिभिः कति नहि प्राप्यन्त हर्षं नृपाः ।
यत्नोन्नतमुद्रया कति न चानीयन्त चित्रं जना, यद्वा किं बहु जल्पितेन निखिलं यत्कृत्यमत्यद्भुतम् ॥१६॥
तेषां गुणिषु गुरूणां शिष्यः श्रीसिद्धसेनसूरिरिमाम् । प्रवचनसारोद्धारस्य वृत्तिमकरोदतिस्पष्टाम् ॥१७॥
[3]करिसागररविसङ्ख्ये १२४८ श्रीविक्रमनृपतिवत्सरे चैत्रे । पुष्यार्ककदिने शुक्लाष्टम्यां वृत्तिः समाप्ताऽसौ ॥१८॥
तारकमुक्तोच्चूले शशिकलशे गगनमरकतच्छत्रे । दण्ड इव भवति यावत् कनकगिरिर्जयतु तावदियम्[4] ॥१९॥

इति श्रीमन्नेमिचंद्रसूरीश्वरनिर्मितः श्रीमत्सिद्धसेनसूरिपुरंदरसूत्रिततत्त्वज्ञानविकाशिनीवृत्तिसहितः

१ अ. मु. ॥ २ श्री देवभद्रसूरि. सि. ॥ ३ कर० जे. सि. ॥ ४ इतोऽग्रे खि०-प्रतौ–"सूत्रसमं सर्वसंख्यया ग्रंथाग्रं १६८०० प्रवचनसारोद्धारसूत्रवृत्तिसहितं पुस्तकं समाप्तम् ॥

❀ श्री प्रवचनसारोद्धारः समाप्तः ❀

卐 परिशिष्टानि 卐

१ विशेषटिप्पनम्

भा. २ पृ २४० पं. ४ अत्रान्तरे -

"अत्र मुत्तुणत्ति गाथा दृश्यते सा उत्तराध्ययनचूर्णावपि उपेक्षितेति नि(न) व्याख्याता। परं यदि सहृदयानां प्रतिभाति तदेत्थं गमनिका कार्या-मुक्त्वाऽवधिमृत्युमावीचीमात्यन्तिकं च शब्दा[त्] तद्भवमृत्युं च, शेषमरणानि तद्भवमृत्युना ज्ञातव्यानि यतो गाथायामपि मरणं [त]द्भवमरणविषयेन (?) ज्ञातव्यानीत्यर्थः ॥" इति विषमपदवृत्तौ प.११४ B ॥

उत्तराध्ययननिर्युक्तेः हेमचन्द्राचार्य ज्ञानमन्दिर पत्तनस्थ १०३१३ क्रमाङ्क हस्तलिखितप्रतावपि इत्थं गाथा दृश्यते—

"मुत्तुण उहि मरणं आवीई अंतराइय चेव । सेसा मरणा सव्वे तब्भवमरणेण नेयव्वा ॥ प. ३ B

१०४२७ क्रमाङ्कप्रतौ"मोत्तूण उहिमरणं आवीयो आइयं तु तं चेव । सेसा मरणा सव्वे तब्भवमरणेण णेयव्वा ॥ प. ७ A

परिशिष्टं-२

श्रीहेमचन्द्रसूरिशिष्यश्रीश्रीचन्द्रमुनीन्द्रसन्दृब्ध

श्रीलघुप्रवचनसारोद्धारः ।

नमिऊण तमाइजिणं जस्संसे सोहए जडामउडो कप्पाकप्पवियारं पच्चक्खाणे भणिस्सामि ॥१॥
तिविहं पच्चक्खाण दुतिचउविहमेयमित्थ निद्दिट्ठं । बहुविहमभिग्गहं पुण चउहाहारं भवे [1]णिच्चं ॥२॥
दव्वओ [2]खित्तओ चेव कालओ [3]भावओ तहा । पच्चक्खाणं चउहा णायव्व [4]निउणबुद्धीहिं ॥३॥
जं जं [5]वत्थं वत्थुमुद्दिस्साणेगदव्वओ होइ । खेत्ताओ समयखित्तं भावेणाहागहियभंगं[6] ॥४॥
अद्धाओ पुण दसहा भावपमाणेहिं वण्णियं समए । अइया १ णागय २ कोडीसहियं ३ सागार ४ मनियट्टं ५ ॥५॥
परिमाण ६ विगइगय ७ संकेयं ८ निरवसेस ९ अद्धा १० य । अडभेयं सविसेस संकेयं अट्ठहा होइ ॥६॥
अगुट्ठमुट्ठिगठीघरसेउस्सासथिबुगजोइक्खे । पचक्खाणं[7]विचालेकिच्च[8]मणभिग्गहो सुचिरं ॥७॥
पव्वविसेसे पुव्वं कारिज्जइ [9]जं तय तमिह [10]भावि । गुरु-गण गिलाण-सिक्खग-तवस्सि[11]कज्जाउलत्तेणं ॥८॥
तेणेव हेउणा जं किज्जइ तमइक्कमं च विण्णेयं । पोसे उववासाइ काऊण य बीयदिवसे वि ॥९॥
गोसे ति चउआहारं पच्चक्खाइ[12] तमेव मत्तट्ठं । इय कोडीदुगमिलणे कोडीसहिय ति नामेणं ॥१०॥

---

१ निच्चं-DL ॥ २ खे० DL ॥ ३ अथवा प्रत्याख्यानं चतुर्धा-द्रव्यतो भावतश्च सुश्रावकसंयतानां १ द्रव्यतो नोभावतोऽभव्यादीनां २ भावतो नोद्रव्यतोऽविरतसम्यग्दृशां संविग्नपाक्षिकगीतार्थादीनां ३ न द्रव्यतो नोभावतश्च नास्तिकादीनां मिथ्यादृक्कुलिंगादीनां चेति ४ । ४ निउणबुद्धिहिं-मु. ॥ ५ वत्थुदव्वं-D ॥ ६ यथाग्रहीतभंगं ॥ ७ मध्ये । ८ मिणभिग्गहेसुविय-इति प्रवचनसारोद्धारे ॥ ९ तं-मु ॥ १० अनागतं ॥ ११ कार्याकुलत्वेन ॥ १२ ई-मु. ॥

अहवा जं जं विहियं तमसंपुण्णे करेइ जं बीयं । अहियं वा ऊण वा तं कोडिसहियमुद्दिट्ठं ॥११॥
अमुगदिणम्मि य नियमा कायव्वोऽमुगतवो चउत्थाइ । हिट्ठेण गिलाणेण व नियट्टिय तं जिणा बिंति ॥१२॥
अहवा चव कलाण वुड्ढीहाणीहिं पक्खमुभयदिणे । जं कायव्वं णिय[2] त पच्चक्खाणमनियट्टी ॥१३॥
[3]चउदसपुव्विसु जिणकप्पिएसु पढमम्मि चेव संघयणे । एय वोच्छिण्ण चिय [4]पाय थेराण मा विसयं ॥१४॥
चउचत्ता आगारा तेहिं जुय ज तमित्थं सागार । आगारविरहियं पुण भणियमणागारयं नाम ॥१५॥
चउयाला आगारा [5]पुरिमड्ढे [6]सत्तेव छच्च [7]उदगम्मि । एगो य चोलपट्टे [8]विगइए हुंति चत्तारि ॥१६॥
सोलस [9]काउस्सग्गे छच्चेव य [10]दसणम्मि चत्तारि । [11]एगासणम्मि भणिया अववायपएहिं आगारा ॥१७॥
महत्तरयागाराइ[12]आगारेहिं जुयं तु सागार । ज किंचि पच्चक्खाणे अन्नसहट्ठुगंपि कारिज्जा ॥१८॥
दुब्भिक्ख-वित्ति कतार-गाढरोगाइए वि जं कुज्जा । सलेहण[13]पमुहेहिं तमणागारं जिणेहिं [14]मयं ॥१९॥
दत्ती-कवल घरोवहि पेडाइ भिक्खदव्वजोगेहिं । जो भत्तपरिच्चाय करेइ परिमाणकडमेयं ॥२०॥
असणं पाण खाइम-साइममिह चउव्विहं पि वोसिरइ । सव्वं त निरवसेसं सव्व सविसेसमण्णं च ॥२१॥
केय गेहं सह तेण सकेय केय चिधमहवा जं । साकेय संकेय सकियमासकियं चउहा ॥२२॥

---

१ चंद्रकलाना वृद्धिर्वाहानिर्वा यथा भवति प्रतिपदादिपूर्णिमान्ता वृद्धिरमावास्यंता हानिस्तत्प्रमाणकवलोपेतं तपश्चन्द्रकलावृद्धिहानिरूपं चेति ।। २ ०तं-मु ।। ३ चऊ D L ।। ४ थेरा वि तया करेसि य-इति प्रवचनसारोद्धारे ।। ५ अन्न० सह० पच्छ० दिसा० साहु० सव्व० महेति सप्त ।। ६ सत्तवत्थ-D L ।। ७ लेवा० भले० अच्छे० बहु० ससित्थे० असित्थे० इति पानकस्य षट् ।। ८ लेवा० गिह० उक्खि० पडुच्च इति चत्वारो विकृतेः । ९ अन्नत्थ ऊससिएणमित्यादयः षोडश ।। १० राया० गणा० बला० देवा० गुरुनिग्गह० वित्तिकंता० इति षडागाराः ।। ११ सागा० आउ० गुरु पारि० इति चत्वारः । १२ ०आगाराइ-D L ।। १३ पमुएहिं-मु. ।। १४ कयं-D L ।।

अद्धापच्चक्खाणं दसभेयं पवयणे भणियं ॥२३॥
अद्धा कालो तस्स य पमाणमद्धं तु जं भवे तमिह । तहवि हु जहन्नकालो मुहुत्तमित्तो मुणेयव्वो ॥२४॥
अद्धापच्चक्खाणे कालपमाणं न नियमओ भणिओ । नवकारेण समेया नवकारसी पच्चचूला वा ॥२५॥
रयणीपच्चक्खाणस्स तीरणरूवा सिहा समुद्दिट्ठा । अभिग्गहो विगई¹ ॥२६॥
नवकार-पोरसीए पुरिमड्ढेगासणेगठाणे य । आयबिलभत्तट्ठे चरिमे य पुरिमड्ढे एगासणगम्मि अट्ठेव ॥२७॥
दो चेव नमोक्कारे आगारा छच्च पोरसीए उ । सत्तेव य पुरिमड्ढे एगासणगम्मि अट्ठेव ॥२७॥
सत्तेगट्ठाणस्स य अट्ठेव य अंबिलम्मि आगारा । पंचेव य अभत्तट्ठे छप्पाणे चरिम चत्तारि ॥२८॥
पण चउरोऽभिग्गहिए निव्वीए अट्ठ नव य आगारा । अप्पावरणे पच य हवति सेसेसु चत्तारि ॥२९॥
नवणीउग्गाहिमगे अद्दवदहिपिसियघयगुडे चेव । नव आगारा एसिं सेसदव्वाणमट्ठेव ॥३०॥
निसिपच्चक्खाणं नमु चउहार होइ मुणीण नियमेणं । पोरसीयाइ सव्वं तिविहं वा चउव्विहं होइ ॥३१॥
नमु-पोरसी सड्ढाण चउहार होइ पुरिम तिविह वा । दु-ति-चउहाहारं पुण सड्ढाणं हुंति रयणीए ॥३२॥
निसिपच्चक्खाणं पुण न ²पारणिज्जं मुणीण सड्ढाणं । तिविहाए (हार) पोरसीए पारिज्जा तत्थ दुगवेल ॥३३॥
अचित्तभोइयाण सड्ढाण मुणीण हुंति आगारा । पाणस्स य छच्चेव उ निसि नो तिविहे सचित्ताणं ॥३४॥
नमु-पोरसी सड्ढ-पुरीमड्ढवटठ भत्तट्ठ निव्विगइ विगई³ । एयाणि ⁴अपारियाणी हवति अहियाणि अहियाणि ॥३५॥
आयामभिग्गहेगट्ठाणाणि पारिऊण अहियाणि । छट्ठट्ठममाईणि नो पुव्वं संगयं कुज्जा⁵ ॥३६॥

१ ०इ-मु. ॥ २ रात्रिप्रत्याख्यानम् अन्यथाऽभिग्रहप्रत्याख्यानम् च न पारणीयं निसि पच्चक्खाणमणट्ठाभिग्गह संकियंण पारिज्जा, इति वचनात्, दिवसचरिमपच्चक्खाइ इत्येवं पाठरूपं दिनस्य चरिमो भागो रात्रिः यथा शेषदिवसप्रत्याख्यानं क्रियते तथा शेषरात्रिप्रत्याख्यान न भवति क्रियन्त्यामपि गतायां रात्रौ 'दिवसचरिमपच्चक्खाइ' इत्येव भवति, अन्यथा प्रतिक्षणं प्रत्याख्यानस्य भिन्नत्वापत्ते, एवं सर्वत्र भाव्यम् ॥ ३ ०इ-मु. ॥ ४ अपारणि आणी-L ॥ ५ छुज्जा-DL । षष्ठाष्टमादिप्रत्याख्यानं पूर्वसंगतं न भवति, एतावता तस्मिन्नेव दिने पिण्डीकृत्य भवति पार्थक्येन न भवति पूर्वमेकोपवासो विहितो द्वितीयदिने यद्यष्टमेच्छुस्तदा षष्ठं एवं प्रत्याख्यति न त्वष्टमादिः ॥

सड्ढाणं दुविहारे चउहारं तत्थ हुंति रयणीए । तिविहारे तह अचित्तभोइणो पाणगाहारं ॥३७॥
दुविहारं पुण जइणो न हुंति कइया अभिग्गहे मयणा । पडिमोवहाणि सड्ढाण मुणीण पुण पाणगाहारं ॥३८॥
असणं ओयण सत्तुग मंडग-पय रब्ब-विदल-जगाराइ । कंदगजाई सव्वा खज्जगविहि सत्तविगई य ॥३९॥
असणम्मि सत्त विगइ साइमि गुल-महु सुरा य पाणम्मि । खाइम पक्कन्नफलाणं ओहेण य सव्वअसणम्मि[1] । ४०॥
चणउट्ट[2]-मसूर-तुवरी कुलत्थ-[3]निप्फाव-मुग्ग-मासा य । चवल-कलाया-[4]राइपमुहं दुदलं च निण्णेहं ॥४१॥
तिल-अयसि सिंलिद कंगू-कुद्दव-[5]अणुयाइं सिणेहं जं । भण्णति केइ दुदलं पायं [6]धनुव्व तं सव्वं ॥५२॥
कद्दुदल पक्कन्नं तक्कर-दहि-दुद्धपायमीस जं । जमणतकायजाय पत्तफलं पुप्फ वीयं च ॥४३॥
*पुढवीकाओ सव्वो बलंभिभप्पमिइसव्वतिणधन्नं । [8]लवणहिंगू उच्छुप्पमिइ असणं बहुविहं जं ॥४४॥
उस्सेइम ससेइम पुप्फरसो रत्तपमिइतणुजायं । आउक्काओ सव्वो सोवीर जवोदगाईयं ॥४५॥
उच्छुरस-मेरय-सुराऽऽसव-बप्फय सिरिफलाइफलनीरं । हिम-कर-वहरतणाइचित्तं पाणं विणिद्दिट्ठं ॥४६॥
[9]भत्तीस दंताइ टोप्पर-खारिक्क-दक्ख-खज्जूरं । अंबग-फणस चिंची[10]चारुलिया [11]पत्तसागं ज । ४७।
महुं धन्नं सव्व बदाम-अक्खोड-उच्छुगडुलिया । फल-पक्कन्नं सव्वं बहुविहं खाइमं नेयं ॥४८॥
दतवणं तंबोलं चित्त तुनसो-कुहेडगाईयं । महु-पिप्पलि-सुंठि-मरीपणग [12]जाइफलाणं च ॥४९॥
एलादुग लविंग अजमोयतियं तियं च [13]अभयाणं । कप्पूर-कविट्ठाई[14]हिंगुल-चिणयाण अडगं च ॥५०॥
विडलवण वडिंग वद्दुल [15]कटकरुक्खाण छल्लिया सव्वा । फोफल-[16]कसेल्ल-पुक्खर-[17]जवासपण कूलगयछल्ली ॥५१॥
* छिक्का हिक्का रुक्खाण पत्त थलजं च मिढ सिगाय । उम्मायकरं जं वा भेसज्जं ओसहाईयं ॥५२।

१ ०म्मो-मु. ॥ २ उट्टेत्ति गुवारधान्यं प्रतीतं । ३ निप्फाव-मु. ॥ ४ राई-D । ५ अणु याइयं-D L ॥ ६ धन्नुं व्व-मु. ॥ ७ पुढविक्काउ-D L ॥ ८ हिंगुलवणं-मु. ॥ ९ ०स-मु. । सं--D L पञ्चाशके प्रवचनसारोद्धारे च ॥ १० चारुलिया-मु. ११ पत्तसागजं-मु ॥ १२ काई ०मु० ॥ १३ हरीतकी १ बहेडा २ आमला ३ इति अभयात्रिकम् । १४ इ-मु. ॥ १५ कंटकरु० मु० ॥ १६ कसेल-मु० ॥ १७ जवासपूण-L । जवासमूल-इति धर्मसंग्रहवृत्तौ ॥ * इयं गाथा मु. नास्ति ॥

[1]तियडुय सुगंधिधन्नय पत्त-जडी-पप्पडी-वरड्डा य । रसजाइभेसज्जपमुहं साइममणेगविहं ॥५३॥
दुविहारे कप्पिज्जइ पाणं साइममणेगहा सव्वं । तिविहारे पाणं पुण चउहारे किमपि नो कप्पं ॥५४॥
साइमगयाणिमाणि न कप्पए तह पसंगदोसाओ । गुड-लवण-हिंगु-सिंधव-[2]जीरय—धाणा—वरड्डा य ॥५५॥
अजमोअतियकविट्ठ आमलगं तह कपूरकंदा य । [3]अबोलगं च सूया एमाइ असणम्मि ववहारे[4] ॥५६॥
चउहारे रयणीए कप्पिज्जइ जाणिमाणि वत्थूणि । समभागकया तिहला मूनींबो[5] सीरचंदणयं ॥५७॥
गोमुत्तं कडुरोहिणी वग्घो अभया य रोहिणी तुगा । गुग्गुल—वया—[6]करीरय—लिंब—पंचंगभासगणो ॥५८॥
तह - आसगंधि[7]बंभी—चीड—हलीद्दा य [8]कुदुरुकुड्डा । विस [9]नाइय धमासो बोलयबीया अरिट्ठा य ॥५९॥
मोंढल—[10]मजीठ—कंकेल्लि-कुमारि-कंथेर—बेर-कुट्ठा य । कप्पासबीयपत्तय अगुरु—तुरुक्का य तंतुवडा ॥६०॥
धवखयर—पलासाइ कटकरुक्खाण छल्लिया साणा । जं कडुयरसपरिगयं आहारंपि हु अणाहारं ॥६१॥
इच्चाइ जं अणिट्ठं पंकुवमं तं भवे अणाहारं । जं इच्छाए भुंजइ त सव्वं हवइ आहारं ॥६२॥
अह एयाणं जं ज कालपमाणं भणामि सव्वेसिं । भत्तं सिद्धं वियलं कट्ठदल हिंगुसहियं जं ॥६३॥
पुप्फ—फल—पत्तसाय बीयछल्ली विणा य आमफलं । [11]मडगमपूवाइय—जललप्पसि—वडय—पप्पडया ॥६४॥
चउपहरमाणमेसिं ओयणमड बारजाम जगराए । तह तक्करबलछुभिए अहियं परिमाणमवि वुत्तं ॥६५॥
दहि-तक्कर-राईणं कजिय[12]-सागाण सोल जाम च । वासासु पक्ख हेमंतमासुसिणु वीसदिणमाणं ॥६६॥
[13]पक्कन्नस्सय कालो विण्णेओ [14]कुलिकाए पक्कन्ने[15] । वासासु सगदिणं वा चलियरस जत्थ जं जाइ ॥६७॥

---

१ हरीतकी १ बहेडा २ आमला इति त्रिकटुकम् । २ जीराय-मु. ॥ ३ अ० DL ॥ ४ ०रो-मु. ॥ ५ भूनिंबो-मु. । 'भुवि निम्ब इव भूनिम्बः' इति निघण्टुशेषवृत्तौ गा. २२९ ॥ ६ कारी० मु. ॥ 'करीआतु' इति भाषायाम् ॥ करीरमूल-इति धर्मसंग्रहे भा. १ प. १८६ ॥ ७ बंभी मु. ॥ ८ कुंद० DL ॥ कुन्दरु-इति धर्मसंग्रहे । ९ नाईअ-मु । नाहिआ इति धर्मसंग्रहे भा. १ प. १८६ A ॥ १० मजिठ्ठ-मु । ११ मंडयमपूवाइयं-य 0 L॥ १२ कंजिण-D L ॥ १३ पक्कन्नयस्स-मु. ॥ १४ कुलिकाए-D L ॥ १५ ०न्नो-मु. ॥

निठिवगयं पक्कन्न असणजुयं तस्सिमेव परिमाणं । उच्छुवियारगयाणं चलियरसे तं तहा जाण ॥६८॥
घय-तिल्ल-गुडाईणं वण्ण-रस-गंध-पमुहपज्जासे । कालपरिमाण[1]मुत्तं जाणिज्जा नो तहा पायं ॥६९॥
इत्थ य चलियरसम्मि जीवा बेइंदिया समुच्छन्ति । पुप्फिए एगिंदिया [2]वट्टति दुवेवि समगं वा ॥७०॥
अवित्तजले [3]सचित्तीभवणे एगिंदिया समुच्छंति । अण्णरसुज्झियमिलिए पणिंदी समुच्छिमा हुंति ॥७१॥
तिल-मुग्ग मसूर चवलय-मास कुलत्थय-कलाय-तुवरीणं । वल्लाण वट्ट-चणयाण पंचग वरिसप्पमाणं च ॥७२॥
सालि-वीहि-जव-जुगंधरी-गोहुम-तिण धन्न तिल-कपासाणं । वासतियं परिमाणं तत्तो विद्धंसए जोणी ॥७३॥
लट्टा-कंगू-अयसी-सण- [4]कोडूसग-वरट्ट-सिद्धत्था । रालय-कुद्दव-मेही मूलग-बीया-च वट्टा य ॥७४॥
[5]पिहियाण लित्ताणं उक्कोसठिई उ सत्त वासाइं । होइ जहण्णेण पुणो अंतमुहुत्तं च समग्गाणं ॥७५॥
पिप्परि- [6]खज्जूर-मिरी-मुद्दिय अभया-बदाम खारिक्का । एला-जाइफल[7] पुण कंकोलं चारुकुलिया य ॥७६॥
विद्धसिज्जइ जोणी एएसिं जल थलोवभोगेहिं । संघाडय- [8]जलफलाईयाण जोणी तहाचित्ता ॥७७॥
[9]जोयणसयं जलम्मि थलम्मि सट्ठीए भंडसंकंतो । वायागणिधूमेहिं पविद्धजोणी हवइ तेसिं ॥७८॥
हरियालं[10]लवण-मणसिल-पुग-सेयाल-नालिकेरा य । एमेव अणाइन्ना विद्धत्ता अवि मुणेयव्वा ॥७९॥
सियसिंधव पासकरणी,[11] कयहिंगुलजाइ-[12]-वडिग-नागाइ[13]। अचित्तजोणिया कंदा साणाद्दय-मिढल-मजिट्ठा ॥८०॥
पिट्ठं मिस्समसुद्ध [14]पण-चउ-[15]तियदिणपमाणमापक्ख । सावणासोय पोसेसु जुअलम्मि य एस अणुओगो ॥८१॥
[16]पण-चउ-तिय जामाण माहदुगे चित्तजुयल-जिट्ठदुगे । तह भज्जियधण्णाण दालीण विपज्जए पायं ॥८२॥

१ ०मत्त-D L ॥ २ वट्ठति-D L ॥ ३ सच्चित्ती० D L ॥ ४ कोंडु० मु. ॥ कोडू० D L प्रवचनसारोद्धारे [गा, ६९९] च ॥ ५ पहि० मु. ॥ ६ खजूर-D L ॥ ७ ०ला D L ॥ ८ जलफलयाईयाण- D L ॥ ९ प्रवचनसारोद्धारे १५५ तमं द्वारं द्रष्टव्यम् ॥ १० ०लं-मु. ॥ ११ फटकडी ॥ १२ ०ई-मु. ॥ १३ ०इ-मु. ॥ १४ पण्णा० मु. ॥ १५ तियजामाणमापक्खं-D ॥ १६ पण्णा० मु. ॥

चालिय-छड्डिय-तुसरहिय-सुक्कं जा ताव मिस्सियं नेयं । लोणजुयं जं सागं भज्जिय तलिएण तं सुद्धं ||८३||
अन्ने भणंति भज्जियधण्णाणं पक्क--तलियमिव कालो । सग--पणदस--दसदिणं वासाइसु मिस्सलोणस्स ||८४||
अंतमहुत्तं [1]मोयस्स चोवोसं जाम धाउपत्तगय । गोमुत्तं जइ केवलमह साइमं रस विवज्जासे ||८५||
खाइमि [2]तले[3] विच्चासे ति-चउ--पण जाममुसिणनीरस्स । वासाइसु तम्माणं फासुजलस्सावि एमेव ||८६||
[4]उस्सेइम संसेइम तंदुलनीरं तिलोदगं वावि । तुस जव आयामं वा सोवीरं सुद्धवियडं च ।८७||
अब कविट्ठाऽऽमलगं अवाडग माउलिंग खज्जूरं । दक्खा दाडिम कयरं चिंचा नालियर कोलजलं ||८८||
पुव्वतिय भत्तट्ठे, छट्ठे तिल-तुस-जवोदगं भणिय । आयामं सोवीर [5]अट्ठमे उसिणनीर च ।|८९||
अच्छमसित्थं गलिय तियदंडुक्कलिय--परिमियमलेवं । परकडजईण [6]कप्पइ न कप्पइ[7] अण्णमुरुदोसा ||९०||
उस्सेइम संसेइम तंदुल-तिल--तुस-जवाण नीरं च । आयामं सोवीर सुद्धं वियडं जलं नवहा ||९१||
तिहला तमालपत्त मुत्थय कुट्ठं च खयरमाईहिं । फासुकयं खज्जाईहिं कारणओ कप्पणिज्जं तु ||९२||
जिट्ठतवेऽभत्तट्ठे पडिमुव[8]हाणेसु अभिग्गहा यामे । सड्ढाणं चिय कप्पइ [9]उण्हजल अणसणे वि तहा ||९३||
फलचिंचोदगमिगजाममायाम धण्णनीरमुहुत्ततिगं । उच्छुरसे सोवीरे जामदुगं धोयणंतमुहु ||९४||
वण्ण-रस गंध पज्जवभेयविमिस्सं खु हवइ फासुजल । सक्कर-गुड-खंडाइवत्थुविभेएहिं परिणमियं ||९५||
गो-एलग महिसोण खीरं पण-अड-दसदिणाणुवरि सुद्धं । तिदिणाणुवरि बलद्धो[10]नवप्पसूयाण एमेव ||९६||
चउपहरोवरि जाय दहिं सुद्धं हवइ कप्पणिज्ज च। तक्करजुयखीरेयी बीयदिणे होइ सा कप्पा ||९७||
निण्णीरं तिलमिस्सं संधाणं तह वियारियफलाणं । अचित्तभोइणो पुण कप्पइ तक्करमणुग्गलियं ||९८||
[11]निच्छलिल-निब्बीयं फलमामगम मुहुत्तमुवरिकय । बियल तक्करमिस्स न [12]कप्पमुसणीकएण विणा ||९९||

---

१ प्रभवणस्य ॥ २ तलशब्देन मध्यगतगर्भः ॥ ३ तल-D ॥ ४ उस्सेइम संसेइमं-D ॥ ५ अट्ठमे-D ॥
६ कप्पं D L ॥ ७ ०ई-मु. ॥ ८ ०हासु- D L ॥ ९ उण्हजले अण्ण० मु. ॥ १० ०ट्ठी-D L ॥
११ निछल्लि-निबीयं-मु ॥ १२ कप्पइमु० D L ॥

[1]मोयाफलं [2]पडोली[3] घोसाडफल च रुक्खगुंदाइ । तप्पडिबद्धं जं नो हवइ तं कप्पमचित्त ॥१००॥
उक्किट्ठ-जहन्न-मज्झिममेएहिं होइ तिविहमभत्तट्ठं । चउहार-सचित्त-परिच्चाएणुक्किट्ठभेएण ॥१०१॥
तिविहारेण जहन्ने मज्झिमए कयसचित्तवावारो । तत्थाणाहारवत्थु कप्पइ सव्वावि रयणीए ॥१०२॥
❀ आयंबिलमवि तिविहं उक्किट्ठ जहन्न मज्झिमपएहिं । [4]निण्णेहं ज वियलपू(सू)वाईपकप्पए तत्थ ॥१०३॥
सिंयसिंधव [5]सुंठि मिरी मेही सोवच्चल च बिडलवणं । हिंगु-सुगंधिसुयाइं पकप्पए साइम वत्थू ॥१०४॥
कारणजाएण जईण अमणे सित्त्र हविज्ज तिमियं वा । पिट्ठं जलेण रद्धं घुग्घुरि ठुट्ठाइ [6]सिद्धेणं ॥१०५॥
[7]पप्पड वडिया रुक्खा सिद्धा[8]तिमणी कया हवइ कप्पा । भज्जियधण्ण [9]तिण्णधण्ण कट्ठदलं सिणेहवियल जं ॥१०६॥
सव्वाणं धण्णाणं पिहुया दुद्धेण सिद्ध साइमयं । वेसण-वग्घाराई हलिद्दपभिई अकप्पं च ॥१०७॥
[10]जं तिमिउ काउ नो सक्कइ ता त न कप्पइ रयाइ । [11]पाय हिंगु न कप्पइ[12]दुकयदोसप्पसंगओ जम्हा ॥१०८॥
दतवणं तंबोल कायव्वं नेव अंबिलम्मि तवे । जलमिन्नम[13] णाहार कप्पइ सव्वपि तत्थ ठिए ॥१०९॥
सोवीरमुसिणजल कप्पइ नो अण्णमेस विहि पाय । सोवीर सिद्धपिट्ठ निण्णेहं वियलमुक्किट्ठे ॥११०॥
मज्झमि[14]घुग्घुरियाइ [15]हिंगुपमुहा कप्पए मयणा । भज्जियधण्णाईय सव्वंपि[16]पकप्पइ जहन्ने ॥१११॥

---

१ कयलीफलम् । २ पंडोली-मु. । "पटोले तु पाण्डुफल. कुलक: कर्कशच्छद । राजीफल कफहरो राजमान्योऽमृताफल:" इति निघण्टुशेषे गा ३६० 'परवर' इति तत्र परिशिष्टे प. ३१८ ॥ ३ पटोला लघुद्राक्षा तथा पटोला अं डिकाकारफलविशेषा ॥ ❀ इय गाथा D L नास्ति ॥ ४ 'तिविहं जं वियलपूवाई' इति अभिधानराजेन्द्रकोशे 'आयंबील' शब्दे ॥ ५ सूंठि-मिरि-मु. ॥ ६ सिद्धं न- D L ॥ ७ पप्पवडिया-D L । पप्पडि वडया- मु. ॥ ८ तिमयी-D L ॥ तिमणी-इति अभिधान राजेन्द्रकोशे आयबीलं शब्दे ॥ ९ तिण-D L ॥ १० रक्तादि काठिन्यसहितं मण्डक-खाखरा-पर्पटिकादि यत्स्तिमितुम आर्द्रीकर्तुं न शक्यते तत् आचाम्लेऽकल्प्यम् । ११ पाय-मु. ॥ १२ कयदोसपसंगओ- D L ॥ १३ ०मण्णा० मु. ॥ १४ घुग्घ० D L ॥ १५ हिंगुप्पमुहा-मु. । हिंगुपमुहाए-D L १६ पकप्पए-D L ॥

दु-ति-चउअंगुलमाणं नीरं जइ हवइ सिद्धभत्तुवरि । आयंबिल विसुद्धं हविज्ज तो सव्वकट्ठहरं ॥११२॥
जगरा-जीरयजुत्तं ओयणमिह कप्पए जईण पुणो । सड्ढाणं नो कप्पइ तूयरिलट्टाइयं वि पुणो ॥११३॥
निव्विगयं पुण तिविहं इग-बीयासणेगठाण-दत्तितवे । वग्घारियतिमण-खज्जग-विगइगयं नोऽवभुंजेइं ॥११४॥
[1]जत्थ अलेव भुंजइ खाइमवत्थूवि नोऽवभुंजेइ । उक्किट्ठं निव्विगई मज्झिमओ खाइमं भुंजे ॥११५॥
तत्थ जहन्ने सव्वं विगइगय भुंजए अकारणओ । संपइ इगासणम्मि य किज्जइ निव्विगयपच्चक्खाणं ॥११६॥
सोवीरमुसिणनीर पकप्पए तिविहनिव्विगयम्मि[२] । पाय सचित्तचाओ किज्जइ बहुदिणतवे मयणा ॥११७॥
रइयं पगरणमेयं मुणीण[३] माहारमेयनाणट्ठं । सिरिसिरिचंदमुणिंदेण हेमसूरीण सीसेण ॥११८॥

॥ इति श्रीलघुप्रवचनसारोद्धारः समाप्तः ॥

१ अत्थ-मु. ॥ २ गइयंमि- L ॥ ३ माहारमेय० मु. ॥



परिशिष्टं-३

❁ उद्धरण सूचिः ❁

आवरिए सुत्तपोरसिं १।५०१
आया चेव उ हिंसा २।२७७
आरामुज्जाणाइसु १।१७८
आलबणाण भरिओ २।२७ आवश्यकनि. ११८८
आलोगो मणुएसुं १।५९७
आलोयणपडिक्कमणे १।१७८
आलोयणापरिणओ २।१००
आवन्ननिव्विगइयस्स १।१४७
आवायदोस तइए १।५९९ पञ्चवस्तु ४१८, बृ.क.भा ४३७
आशसया विनिर्मुक्तः १।१६३
आहाकम्मनिमंतण १।२०३ पिंडनिर्युक्ति १८२
आहारउवहिसेज्जासु १५३२ पञ्चवस्तु १६५२
बृ.क भा १३१८
आहारगसरीरस्सा २।६६३
आहारगाइं लोए २।६६२
आहारपज्जत्तीए अप० २।४६४
आहारमिस्सजोगे २।६६२
आहासुहुमो य एएसुं १६१३
इइ नयणविसममाणं २।३२१
इगवीस खलु लक्खा २।३२१
इत्तरियथेरकप्पे १।४६५ पञ्चवस्तु १५२४,
बृ.क.भा १४२६

इत्तरियाणुवसग्ग १।४६५ पञ्चवस्तु १५२६
बृ.क. भा. १४२८
इत्थ इम विन्नेय २।७७ पञ्चाशकप्र. १४।१०
इत्थं चायरियाण २।५८५
इत्थीए जाव पणपन्न० २।५३७
इत्थीए मलियसयणा० १।१३६३
इवितो नुम् १३६३ (पा. ७-१-५०)
इन्द्रियाणां जये यस्माद् १।४८१
इमोसे ण भंते ! रयण० २।२८७
इयरे पुण आयरियं १।१०२
इयाणि नपुंसया वस २।४५ निशीथचूर्णिः गा. ३७३६
इ तस्सऽणुगच्छणया १।१७९
इं वियकसायजोए १।१७७
उक्कोसो मणुएसु २।३५५
उक्खित्तमाइचरगा १।१७५ पञ्चवस्तु ३०३,
बृ. क. भा. १६५२
उच्चालियम्मि पाए २।४५३ ओघनिर्युक्तिः ७४८
उच्चासणं समीहइ २।३६
उज्जुगंतु पच्चा० १।१७५ पञ्चाशक ३००
उड्डुं जाव सरो चेव १।५६१ बृ. क. भा. गा. ६७५

❀ निशानारायणकविरचितोऽयं श्लोकः सुभाषितरत्न-
भाण्डागारे लक्ष्मीस्तुतिप्रकरणे उपलभ्यते ॥

तह कायठिइकालादम्रो २।३१० (विशेषणवती गा. ५६]
तह तह उवहयमईम्रो १।५३४ [पंचव. १६५६
बृ क. मा. १३२५

तह देसकालजाणए १।१८१
तहारूव ण भंते ! समण० १।६१
तहि दुरालोइय २।११ ओघनि.मा २७४
तहि देवा वंतरिया २।३४८ बृहत्सं० चत्रं गा० ३३
त च कहं वेइज्जइ २।२७७ प्राव नि. १८३
तासां भदनपतिनिकाय० २।३४१
ताहे हराहि भाग २।१४२ व्यवहार मा. उ. १ गा. १७]
तिण्णि सया तेत्तीसा उ. १।३२१ प्रा. नि १६६
तित्थयरधम्मप्रायरिय० १।१८०
तित्थेत्ति नियमओच्चिय २।४१७ पंचव० १४११
तिलमोयगतिलवट्टि १।१४८
तिविह निमित्तं एक्केक्क १।५३२ बृ० क० भा० १३१८
पचव० १६५२

तिविह तिविहेण० २।५०८
तिविह होइ निमित्त १।५३१ बृ. क. मा० १३१३
तिहि नावापूरएहि २।३४ पचव० टीका गा. ४२६
तुच्छत्तणेण गव्वो २।५४०

तुच्छा गारवकलिया २।२४६ (अनुयोगद्वार सू. ३७२
तुरगैरिव तरलतरैः १।१८१
तेण वालग्गा नो अग्गी २।२४६ अनुयोगद्वार-सूत्र ३७२
तेन चरति १।११ पा० ४-४-८
त्वगुरुधिरमांसमेद० १।५६५
त्रिविधं त्रिविधेनेत्यपि २।५०३
थिरकरणा पुण थेरो १।६३ [आव. नि. १२०७]
दक्षिणपार्श्वे स्पन्दन० २।५६०
दग्धे बीजे यथाऽत्य० २।३६४ तत्त्वार्थभाष्य १०।७ गा.८
दव्वाईअभिग्गहविचित्त० १।५०० पं. व. १५०१
दशसूनासमश्चक्री १।१६७ मनुस्मृतिः ४।८५
दस एक्को य कमेणं १।६०४ पंचव.४०५
दस पणयाल विसोत्तर १।६०४ प चव. ४०४
दंडओ इक्कारसमो १।४८३ नि. चू मा. २ पृ० ११४
दाणं न होइ अफल १।४२५ पिण्ड नि० ४५५
दावानलमज्झगओ १।१४८
दिसमदिसा तिरिया १।५६६ बृ० क० भा० ४२४
पंचव-४१२ ओ० नि ३०२
दितगपडिच्छगाणं १।१७५ पंचव-३०२ बृ० क० भा० १६५१

पढमम्मि य संघयणे २।२४५ [ववहार भा. उ. १० । गा.५७]
पढमम्मि सव्वजीवा १।३८७ [ओ. नि ७९१]
पढमा उवस्सयम्मि य १।३५९ बृ.क.भा.१३२५]
पणवीस जोयणाइं २।३५६
पण्हो य होइ पसिणो १।५३० पंचव. १६४५ बृ. क. भा. १३११
पत्तं पत्ताबंधो २।१०३ [ओ नि ६७४ पंचव-७७२]
परदारवज्जिणो पंच १।११७
परपक्खेऽवि य दुविह १।५९६ [पंच ४०१ बृ.क.भा.५२२- ओघ.नि.२९९]
परियट्टीए अभिहडे १। ४५१
पवरेहि साहूर्णेहि १। ३७ पचाशक ४ १६ संबोध प्र. देवाधि १६७
पव्वावेई न एसो (॥) १।५०१
पसिणापसिण सुमिणे १।५३१ पञ्च १६४६ बृ. क भा. १२३१
पश्चाद्याद्यंताप्रादिमः १ १८ [पा. ४-३-२३]
पंचपव्वा य जा लट्ठी १।५५५
पंचविहाए पज्जत्तीए २।४९५ भगवतीसूत्रवृत्तिः ३।१।१२९
पंचविहायारविसुद्धि. १।१०४
पंचविहे आयारे १।३७७ [बृ. क. भा. २४३]
पंचसमिया तिगुत्ता २।२५
पंचसु सक्ताः पंच विनष्टाः २।४८१
पागयमणुयाण बत्तीस २।५६२ निशीथ १३।१६। ४२९३
पाणा सीयल कु थाइया १।३७४
पापनिवेदनगर्भः १।३८ षोडशक ६।७
पायपमज्जणहेउं १।३३४
पायाई सागरिए १।३८९
पायान्नेमिजिनः स १।५३
पार्थिवयेनोक्ततत्वात् २।३५२
पालेज्जसु गणमेयं १।३६३
पासत्थो अच्छइ १।७३
पिण्डक्रियागुणगतैः १।३८ षोडशक ६।६
पिता रक्षति कौमारे १।११९ [मनुस्मृति ९।३]
पीढफलगाइगहणे १।३७४
पुढविकाइयाणं पुच्छा २।१९९ प्रज्ञापना पद १९ सू.१४०२
पुढवी आउक्काए १।४५५ ओघनिर्युक्तिः २७४
पुढवीपरिणामाइं २।३१५ विशेषणवती गा. ७
पुरओ जुगमायाए १। ४५३ दशवैकालिक ५।१।३

पुरिसाणाय तिविहं १।५६६ [पच ४१०।१०
बृ. क. भा. ४२३ ओ नि ३००]
पुरुष एवेद सर्वं २। ३८० ऋग्वेद १०।६०।२
पुलागस्स णं भंते ! २। ६१६
पुव्वविसि देवरमणो २।६११ नन्दीश्वरप्रकरणसदोह
पुव्वपवण्णं विणय १। ३६३ [बृ क. भा १३७२
पुव्वपुरिसा जहोदिय १। १८७
पुव्वाहियं सूयं से १।३४६ आव चूर्णि पृ ७५।
पुव्वाहियं तु तय १।५६८ पच १४६६]
प्रति प्रति प्रवर्त्तन वा १।१०३
प्रतिसेवना पञ्चाना १। ६१८ तत्त्वार्थभाष्य
अध्याय ६ सू ४६
प्रयोजनमनुद्दिश्य १। २
प्रवरैः साधनैः प्रायो १। ३८
पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची १। ३१३
बत्तीस कवला पुरि० १।६२३
बत्तीस किर कवला १। ११६, १७३
बत्तीस धणुयाइं १। २१३ [सू १५७ गा ३६]
बलावरोधि निर्दिष्ट १। ६२६
बहुं परघरे अत्थि २। ५६७ [दशवै ५। २। २७]

बध वह छविच्छेय १। १८६
बभलोए कप्पे देवाणं २। ३४४ प्रज्ञापना पद.४ सू.४१६
बादरपृथिवीकायिक० २। २५० अनुयोगद्वारमूलटीका प ८६
बायरपज्जत्तसु २।२३२
बाहत्तरि छायाला २।५१६
बाहत्तरि छाहत्तरि २।५१६
बिटट्ठाइं सुरभि १। २९४ आव. निर्युक्ति ५४६
भत्ती तह बहुमाणो १। १७६
भयव उसमसामी २। १२७ वसुदेवहिंडी पृ. १८५
भव्वावि न सिज्झिस्सति २। ४०६
भावलेश्याः षडपीष्यन्ते २। ३५२ तत्त्वार्थ भाष्य मूलटीका
भावादिमप् १।१३२ [पा. ४-४-२०]
भावियजिणवयणाण १। ६२६, २। २४२
भासइ दुयं दुय गच्छ० २।५२६ [पच-१३३४
बृ. क. भा १३००]
भिनत्ति सोम मध्येन २।५६१
भिन्नंपि मासकप्पं १।५४६ [बृ. क. भा.६४३६]
भुमनयणदसणच्छद० १। ५२५ [बृ. क. भा. १२९७]
मूईए मट्टियाइ ब १।५३० [पंच. १६४५
बृ. क. भा. १३११

सज्जेण लब्भए वित्ति २।५६१
सत्तममहिनेरइया २।३२५
सत्तावीस जहन्ना १।५०० [प.व.१५-३५]
सदारसंतोसिस्स १।११६
सद्देसु य भद्दयपावएसु १।७७ [ज्ञाताधर्म-१७।१६]
सन्निति असन्निति य २।१६१
सपडिक्कमणो धम्मो १।१०४
समगंपि हुंति नवरं २।४१४
समतुरगेमाणा० २।२८८
समयं वक्कंताणं २।४३७ [प्रज्ञापना पद १।सू.५४।११]
समिओ नियमा गुत्तो १।४८६ [बृ. क. भा. ४४५१ निशीथ भा. ३७]
सम्मत्तदेसविरया २।७०
सम्मत्तनाणसंजम० १।६३
सम्मत्तस्स य तिसु २।२९१
सम्यग्भावपरिज्ञानात् १।५
सरदहतलायसोसो १।१६८
सर्वज्ञोपदेशेन १।५
सर्वप्रदेशपर्यन्त० २।३२०

सर्वे धातवः करो० १।१२४
सव्वगुसिद्धदेवाणं २।३१९
सव्वं च असणपाणं २।२४३ महा पच्चक्खाण पयन्नो गा.३४
सव्वं च पएसतया २।१७६
सव्वाए इड्ढीए सव्वाए १।३५
सव्वावि य अज्जाओ २।२४४ [निशीथ-भा.गा. ३९१८]
सव्वाहि लद्धीहिं २।२४५
सव्वुवसमो २।४५०
सव्वे य मिहो भिन्नं २।३७५
सव्वे नया मिच्छवाइणो २।७८
सव्वेवि य अइयारा २।७२ [आ. नि. २१२]
सव्वे सव्वद्धाए २।२४५
सव्वेहिंपि जिणेहिं २।१७५
ससमयपरसमयविऊ १।३७७ बृ. क. भा. २४१-४
सहसेगारस दुसया २।१५६
संकप्पो संरंभो १।३८९
संकमणाए दसगं १।३१६ [गा. ४५]
संगहगाहाए जो न १।८७
संघट्टइत्ता पाएणं १।९०
संघयणं संठाणं १।३१२ १।५७३ आ. नि. १६०

परिशिष्टं–४ विशेषनामानि

परिशिष्टम्-५ क्षेत्रनामानि

परिशिष्टम्-६ शास्त्रनामानि

परिशिष्टं ७ समानग्रंथगाथांकाः

विक्रमीयचतुर्दशे शतके श्री प्रद्युम्नसूरिविरचिते नवशतगाथात्मके विचारसाराख्यप्रकरणे सपादशतत्रयाधिका गाथाः प्रवचनसारोद्धारगाथाभि समाना. वर्त्तन्ते। अत्र तासां गाथानामंका प्रदर्श्यन्ते–आद्यौ प्र. सा. गाथासूचकाङ्क., ततः =) एतादृशं साम्यचिह्नं, ततः विचारसारगाथाक्रमांक. इति सर्वत्रावसेयम्।

६६-७=६६४-५	२१८-२०=७६८-७०
६६-७६=६६६ ६, ६७४, ७००	२३६-४०=७८४-८
७८=७०३	२४२=७८६
८०-२=७०६, ७१०, ७१२	२४७-८=६८७-८
८४-५=६७६-७	२६४-८२=४०४-६, २८७-८, ४१०-२०
८७-८=६७६, १४५	२८४-६=४२२-३, ४२६
६०-१=६८४-५	२८८-६०=५७-६।
६३-१०३=७२०-५, ७२७-८, ७३०-२	३००=३६३
१२४-६=७३६, ७३७, ७३८	३०४=६०४
१२८-३१=७३८-४०	३०७=१८३
१५०-४=७४१-५	३१०-२=५१-३
१७७-८=१६२-३	३२०-३४=६१,६२,८८-९, ६३, ६०, ४४८, १७७-८२, १८६
१८१-३=३७०-१, ३७३	३६४-७६=३७८-८६, ४३०-३
१८६=३७२	३७६-३८५=१०८-१११, १२६-७, ११६
२०१-२१६=७५३-४, ७५७-६०, ७६२-६, ७७४-८	

३८८ = ४३५
४३०-२ = ४५९-६०, ६६१
४३९-४० = ६०२, ४६१
४५२ ४ = ४६३, ६८२, १३३
४५७ = ६२
४८५ = ८५१
४९० १ = १७२, १९७
४९९ ५१७ = १९९, २०१-२१७
५२९-५३० = २२३-३
५३९ = २२४
५५०-५ = ३४७, २७१, २८१-३
५५६-५७४ = २८२-२९०, २९३-३०४
५७७ = ३०६
५८९-९१ = ३०८-१०
५९३ = ३११
५९५-६ = ३१३-४
६४८ = ७४७
६६०-३ = ५९०, ५९८-६००

६६९-६७० = ५८९, ३३२
६८१ = २४८
६८५-६ = २५९-२६०
६९२-४ = २६१, ४९१, ३६५
६९९ = ३६६
७३४-७ = ३१५-८
७३९ = ३२३
७५: = २६२
७९०-१ = २४९-२५०
७६८-७० = २५१, ३६४, २४६
७९७ = ३७०
८११-५ = २५३-६
८३९-४२ = ३५५-८
८५०-३ = ३२६-९
८६०-५ = ७२६, ३७७, २६३, २५८,
२६५-६ ८६७ = ३२७
८८१-२ = २५७-८
८८५-९ = ४६४-८

९६८-९ = ८००-१
९७४ = ७७९
१००१—३ = ३३८, ३४०-१
१०५३ = ५३
१०६८—७० = २०-२२
१०८७—८ = ८१-२
१२१०-५ = ५४२, ५६७, ५६६,
५६८, ५४९, ५७६
१२१८ = ५५२
१२४९-१२६५ = ८१८-८२२,
८२४, ८२७-८३७
१२६७—७५ = ८३९—८४७
१२८३—५ = ८०४—६
१२८७—९ = ८०९—११
१३००—१ = ७८१, ८०२
१३५१-२ = ८७४, ८७६
१३५७—८ = ३८८—९
१२४८ = १२४
१५८६—९२ = ४०—५०

—

परिशिष्ट ८ समानविषयग्रन्थस्थाननिर्देशः

प्रवचनसारोद्धारे अनेकाः मूलगाथाः विविधशास्त्रेभ्य उद्धृताः सन्ति । अस्माभिः यासां पञ्चशताधिकानां गाथानां मूलस्थल प्राचीनशास्त्रेषु दृष्ट तेषां सूचिरत्र प्रदर्श्यते । प्रथमाङ्क [आङ्गलस्थूलसीसकाक्षरमुद्रितः]प्रवचनसारोद्धार-गाथासत्क तत (=) एतादृशचिह्नानन्तराङ्काः-तत्र तत्र उल्लिखितमूलशास्त्रस्य तत्तत्प्रकरणादिसूचका इति ज्ञेयम् ।

आचाराङ्गनिर्युक्ति 925 = ३९
अङ्गुलसप्तति 1389 = २, 1394—५ = ४ – ५
अनुयोगद्वारसूत्रम् 1390 = ३४३।१००, 1391 = ३३९ सू.
[1] आवश्यकनिर्युक्तिः
98 = १२०२, 124 = ११९८, 183–4 = १५३१–२
203-6 = १५९९-१६०२, 247 = १५४६,
310 2 = १९९—१८१,
319-324 = ३८५-९, 328-9 = २६६-७, 381-2 =
३७६—७, 383-4 = २२४–५, 385-390 = ३०३-५,
३०८-३१०, 454–6 = २२८, २५५, ३०६
482-9 = ९७०, ९६९, ९६७, ९६५, ९५९, ९७१-३,
694 = १२१   700 = ११६   750 = १४१८
759-764 = ६६६-८, ६८२, ६८८, 767 = ६९७

778 = ११७२, 837-8 = ८५७-८, 847-8 = ७५४,७५१
1084 = ४७, 1303 = १४, 1448 = २१४,
1456-1467 = १३३१-२, १३३४-,५ १३३७-८,१३४२,
१३४४, १३४७, १३५०-२ 1470-1 = १३५५-६
आवश्यकभाष्यम्
1211-3 = ४१, ४०, ४२ 1454 - 5 = २१६-७
1468—9 = २१९, २२०
उत्तराध्ययन सूत्रम्-
771 = २४।७
960-60 = २८।१६, १८-२७
उत्तराध्ययन निर्युक्तिः-
691 = ८२, 760-1 = ४८२-३
1006-12 = २१२, २१३, २१५,
२१६, २१७,२१३, २२१

[1] इद तु बोध्यम्-आवश्यकनिर्युक्ति-आवश्यकभाष्यगाथाङ्कानि आवश्यकहारिभद्रीयवृत्तियुतआवश्यकनिर्युक्ति ग्रन्थानुसारेण दत्तानि ।

प्रवचन सारोद्धारे सटीके

1014-6 = २२२-४
उपदेशपदम् 1094 = १७
ओघनिर्युक्तिः—491-5 = ६६८-९,
506 518 – ७०३, ७०५, ७०८, ७११, ७१३, ७१४,
७२१, ७२३, ७१०, ७१२, ६६१, ७०६, ७२७,
529-530 = ६७३ ७ 670 = ७३०,
709-710 = ३१३-४, 770 = १२१, 786 = ३१६,
789 = ३१७ 861 = ६६०, 864-5 = ३५१-२
ओघनिर्युक्ति भाष्यम्-
631-8 = ३१३-३२०,
551 = २, 562 = ३, 787-8 = १८४-५
कर्मग्रन्थः (प्राचीन)
1241 = १।५, 1251 = १।७, 1262-1273 = १।०१-८२,
1276 = ४।७६, 1300 = ४।३,
1302 = ४।२६, 1305 = ४।३४, 1317 = ११३६
चेइअवंदण महाभास-
66 = १८०, 247 = ४७८
249-262 = ४८०-४६ 432 = ६३
जीवसमास -
963-7 = ४०-४, 1018-1032 = ११७-

||७१०|

१२२, १२५-६, १३१, १२३ १२४, १२७, १३०, १३२,
१३३, 1133-4 = १६-२०, 1303 = ६ 1311 = १६२,
1317 = २५, 1319 = ८२, 1391 = ६८, 1394 = १०३
ज्योतिष्करण्डक प्र
1020 = ७१ 1390-1 = ७३ ७४
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः 1390 = २१६
धर्मरत्नप्रकरणम्—1356-8 = ५-७
दशवैकालिकनिर्युक्तिः—
270-1 = ४७८, 549-550 = ३२५-६,
555 = ४६, 559-560 = ४७-८, 891-5 = २७३-७,
1004-5 = २५२-३, 1062-5 = २५६-२६२
धर्मसङ्ग्रहणी
1263-5 = ६१८-२०,
निशीथ भाष्यम्—
493-4 = १३१०-१, 497 = १३१२
676-8 = ४००३, ४००१-२, 790-1 = ३५०६-७,
793 = ३५६१, 795-6 = ३७०६-१० 800-8 = ११४४-
५-६-८, ११५८-९, ११६०-२ 850-3 = ५०८७, ५०८६,
५०८८, ५०८९ 1001-3 = ४८३३-५
पंचकल्पभाष्यम्-7901 = २००-१

||७१०||

पञ्चसङ्ग्रह.-1274 = ३।११. 1254 = ३।४,1298 = १४३
पञ्चनिर्ग्रन्थी प्रकरणम्-
719= ४, 723-6=५.१३,२३, ७६; 728 9=३२,४१,
पञ्चाशकप्रकरणम्-
72-6=३।१७-२१, 203·5=५।८-१०,
207-10=५।२७-३०, 563=१३।३ 574-8=१८।३-७
647=१७।२६, 650-4=१७।१०, ८, १२, १६, ३२
656-8=१७।३७ १ 750=१६।२ 760-1=१२।२-३
763-4 = १२।१०,१४ 839 845=१४।२-९
862=१५।४१ 985-7=१०।१७-९
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्-
217=३७१, 494=७७५,
533=८२७,611-4 = १५३८-४१,623-8 = १५४७-५२,
709-710 = ३९६-४०० 745 = ३००, 768 = २३०,
772-3 = ८९५ ६, 780 2 = १३२८-३०
871 6 = ७०७-९-९, १५७४-५ 885-6 = ६२६-७
पिण्डविशुद्धिः-
564-5 = ३-४
पिण्डनिर्युक्ति -
566-8 = ४०८-९, ५२०,
734-8 = ६६२-६ 864-870 = २६-७, ६४२ ६५०-३

प्रज्ञापनासूत्रम्:-
891-2 = पद ११/८९२-३, 895 = ८६६,
928 = सू. ११०/गा १३१, 950-2 = सू. ११०/गा.
११९, १२१, १२२ 1131 = १९४।१५१
1587-92 = १।सू. १०२ गा. ११२-७
बृहत्संग्रहणी-
968-9 = ३५१-२, 1072-3 = २३९, २५५
1075-6 = २३३-४, 1079-83 = २७९-२८२, २८६;
1091-8 = २८४-६, ३३३-४, ३१२-४, 1099 = ३०७;
1102 4 = ३११, ३१०, ३०८; 1110 = 342; 1117-20 = १७०, १६६,१७१-२, 1124-7 = ३३७-८,३४०-१,
1129-1130 = ४२,५८, 1138-40 = ५, ६, ४
1143 = १२, 1146 = १७ 1147-54 = ३५-७, ५५,
११७-२०, 1155-8 = १४३-४४, १४८, १५०, 1161-5
= २२०-४, 1167-71 = १५०-४, 1172-4 = १५५-१५६, १८०,1177-8 = १५७, १८४, 1180-5 = १९८-९
२००-२, २१४,1187 = २१५,1215-7 = ३०३-८, ३१२,
1317 = ३६३, 1439 = १८१,
बृहत्कल्पभाष्यम्—
498 = १३२८, 614 = १४३९, 624-8 = १४४१-५

650 = ६२६१, 663 = १७७५, 709-710 =
४४३-४, 770 = ६८८ 775-6 = ४२८६-७, 783-9 =
१५०६-८, ४५६-६ 797-9 = ३८६०-२, 800-3 =
३५२५-६, ३५३०, ३५२६ 805-8 = ३५३६-४१, ३५-४३,
850-3 = २८३२, २८३१, २८३३, २८३४, 871-3
५८२-४ 879-80 = १४६४-५, 1001-3 = ६७३-५

विशेषणवती–1396 = १

भगवतीसूत्रम्–1449 = ६।५।२४३
760 = २५।७।८०१ 1085 = ३ ७।४, 1443 = ६।५।२४३

व्यवहारसूत्रभाष्यम्–750 = ५३, 770 = उ. २ गा. २०
780-1 उ. ३ । गा. १५ ६

समवायागसूत्रम्–१०८६ = सू १५, 1209-10 = १५८।४७-८

स्थानाङ्गसूत्रम्–885-6 = सू ७७१
1218-31 = ६।६७३।१-१४

संतिकर— 373-6 = ७-१०,

सप्ततिशतस्थानप्रकरणम् 440 = २०८

संबोधप्रकरण
103 = २१८, 106 = २।१२ 120 = २।१७,
238 = ७।६२, 264 = ७।१४१, 267 = ७।१४६, 269 =
७।१४८, 271-2 = ६।१५०-१, 277-80 = ७।३७,
४७, ४८, ६४, 283 = ७।११८, 286 = ५।१३८
432 = १।८७, 443-5 = १/५४-६ 452 – १।१४
491 = २।१८, 551-2 = २ २३०, २३, 557 = २।६८,
562 = २।२३१, 565-6 = २।२७०-१ 568 = २।२७३
636 = २।२३४, 640 = ३।२३८, 641 = २।२३६,
644 = २।१६, 719 = २।२४१, 728 = २४६
734 = २।२७४, 739 = २७७, 745 = २।२८०,
754-8 = १२।५०-६, 809 = ११।३८, 836 = ४।३०
837 = ४।३२, 855 = १२।६७, 858 = १२।७०, 859 =
१२।७१, 891 = २।५२, 927 = ४ ६०, 928 = ४।६१
934 – ४।६८, 945 = ४।८४, 946 = ४।८५, 949 = ४।८८,
950 = ४।८६, 977 = ७।१, 980 = ६।८८ 981-2 = ६।८६-
६० 949 = ४।८८, 950 = ४।८६, 984 = ६ ६६,
986 – ६।६८ 989 = ६।१०४, 992-3 = ६।१०३, ११०
1057 = २।४५, 1064-5 = २।६५, ६६, 1238 = ३।३२,
1242-3 = ३।३७-८ 1244 = ३।३१, 1247 = २।४२,
1354-5 = ३।१६६-२००, 1356-8 – ५।६, ७, ८

श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्–1323-50 = २-१४, १६-२८,
३०, ४०

❀ शुद्धिपत्रकम् ❀

पत्र	पंक्ति	शुद्धम्
१	६	अष्ट०
११	६	पयविभाग०
१७	१	०साधुभ्यः
२०	११	निग्गयत्तं
२५	८	तत्रैव
२६	७	तस्मिन्
२७	३	आलम्बनान्वे०
२७	१८	आलम्बनं करोति
२६	१०	पंचमि०
३६	६	०दर्शनात्
४३	३	भ्र युग्म०
४७	६	जंमुल्ल
६४	१	दिट्ठी
६४	५	क्रियास्थान
६४	१२	तृतीय
६५	१	निसृजति
६५	१	काण्डादिक
६५	६	दिट्ठिविवज्जामउ
६६	७	कारणा-

पत्रं	पंक्ति	शुद्धम्
६६	८	०समुद्भूत
६९	५	०मुत्कर्षतो
७०	३	संमत्त०
७३	१३	दशविध
८०	१६	पाठः ॥
८४	७	साक्षात्करण
८७	७	तस्माद्भाव०
९०	४	०निष्पत्ति०
९०	५	०निष्पन्नं
९०	६	०परिकर्म०
९०	१०	गृहणद्भि
९३	११	धारणा तह
९४	५	केवली
९४	७	जानात्येव
९७	१४	श्राद्धजीत०
१००	४	गुरोरन्वेषणा
१००	७	०षणार्थं
१०२	११	धुवति
१०४	१०	सध्दजणस्स

पत्रं	पंक्ति	शुद्धम्
१०६	५	भागो
११०	४	खघे
११२	८	०र्प्राहु येति
११३	५	तिदंडु०
११४	१	ग्लाना-
११८	६	धर्मकथा
११६	३	पद्मनाभ०
११६	१३	०नागपुरादव०
११६	१५	०नायिता
१२४	६	हरिहरिणी
१२६	१२	०ज्जाज्वल्य०
१०६	१३	मुमोच
१२७	८	सम्पत्तिरुज्जु
१२८	१५	वसुदेवहिंडिग्रन्थे
१३४	१४	०भाषणम्
१३६	४	अद्धा
१३६	१५	न मृषा
१३६	१६	नास्ति
१४३	७	चदे
१४६	१०	जय

पत्रं	पंक्ति	शुद्धम्
१४७	१	माघवईए
१५०	१३	पङ्कप्रभाया
१५१	१३	अडवीसा
१५४	७	जायते
१५५	१२	षट्
१६४	१	॰भाषणा॰
१६५	१३	कुदंम॰
१६६	१३	सवेगो॰
१६७	६	कंतार॰
१६७	८	'वुच्छ॰
१७०	४	°त्तथापि
१९३	८	॰ष्टगाम्
१९३	११	सम्बध्यते,
१९६	१३	॰पुञ्ज॰
१९७	११	ताद्भविकम्
२००	१६	॰कोटीनां
२०६	८	पच
२०९	१६	जीवाविका
२१०	१०	॰च्छुक्क

पत्रं	पंक्ति	शुद्धम्
२१०	१५	(१४)
२१२	१६	महीयसी-
२२४	५	तिष्ठति
२३१	८	'वाया॰
२३२	१६	दृश्यते
२३३	१	नीयते
२४०	७	तेऽमी
२५४	३	मर्वाग्निष्टयो
२५६	४	वशमिश्र
२५७	४	पल्योपमयोर्वा॰
२७०	२	गृह्यन्ते
२७१	१४	॰भागबन्ध॰
२७२	३	तथा च तत्सू॰
२७७	१३	तिविहेण
२८२	१	रुक्खेसु
२८४	७	॰केयूर॰
२९२	१५	॰नामिद्र ता॰
२९६	८	॰संखा
३०५	८	तिरय

पत्रं	पंक्ति	शुद्धम्
३०५	८	सामन्न
३ ५	११	तह
३४९	७	१११
३५२	६	तत्त्वार्थ
३५७	११	सन्निज्ञा
३७६	१३	अयं
३८६	५	सती
३८६	१०	षष्ठ कुन्थुनाथ
३९१	१	गोमूत्रकाण्यनेनेकस्यां
४१६	१५	चतुर्थी
४१९	१२	॰तंजस॰
४२४	१४	स्त्यानर्द्ध्युदये
४२८	१	जातिः
४३२	१	गुरुवंज्ञा॰
४४३	५	सर्वसङ्ख्यया
४५१	४	चांशस्य
४५४	१	॰प्रभृतयः
४६२	१	आरुपिणः
४७०	३	॰ऽप्रमत्तो

पत्रं	पंक्ति	शुद्धम्
४७६	१४	क्षायोपशमिकक्षायिकौ-पशमिकभेदात्
४८१	१३	परलोकगमनम्
४८५	१२	दड
४८९	१६	प्रज्ञापनाया
५०३	११	क्वचिद०
५०६	१	उत्तरगुण०
५११	३	अष्टमनवमयोर्नवन-वेत्येव
५१२	५	षड् मङ्गया तथा एक०
५१२	११	स्थूल प्रा०
५१३	१	स्थूल
५१६	स्थापनायाम् प. ५१४	१२३
५१६	,,	८,२ १६५
५१८	१४	अग्रह०
५२३	४	षट्त्रिंशच्च
५२७	२	मायामृषां
५३७	७	वर्ण०
५४१	३	०निष्पद्यते

पत्रं	पंक्ति	शुद्धम्
५४२	७	हीनानि
५४४	८	॥१॥ २४६ ॥
५४६	१४	भूभागे
५४८	७	प्रायगुलेण
५४९	८	०दुच्छ्लक्षण०
५५३	१३	दैर्घ्यं
५५४	९	वर्धमा०
५६४	६	०मसाइ
५६४	१४	पुणो
५६५	५	यवनिष्पन्न
५६७	१०	द्वितीय
५६९	९	०णाधिक
५७२	६	चतुर्णां वि०
५७६	९	द्वीपः
५७८	१०	पलिय०
५८८	८	गिज्जति
५९४	६	०पडिए
५९८	११	महागर्जितसमो ध्वनि०
६०१	१	नोदितस्तावद०

पत्रं	पंक्ति	शुद्धम्
६०८	१०	कंकेल्लि०
६१२	९	शतसमुच्छ्रितं०
६२३	११	बीज०
६२६	११	दसणमि य चरणमि
६२६	१३	निर्वि०
६३३	६	बीयाइ
६३३	१२	नवरं
६४०	७	ततोऽष्टौ
६४१	६	०शोभिता
६४६	५	०मेतानि
६६६	१६	एभिर्नगरं०
६६६	१६	० बलानां
६६७	१२	ताम्रं लप्ति
६७३	१२	यव न स्कु०
६७६		अत्र लघु प्रवचनसारोद्धारे मुद्राक्षरभङ्गेन अनुस्वारबिन्द्वादय स्पष्ट न दृश्यते-ते तु वाचकेन स्वयम् अभ्यूह्या ।

॥ समाप्तम् ॥

❀ सटीके ❀

प्रवचन सारोद्धारे:

卐  卐

द्वितीयः खण्डः —

समाप्तः



॥ श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ॥